

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२



प्रकाशक :

अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा



प्रकाशक

अखण्ड ज्योति संस्थान

मथुरा-२८१ ००३



© सर्वाधिकार सुरक्षित



द्वितीय संस्करण १९९८

www.awgp.org

www.vicharkrantibooks.org



मूल्य १२५)



मुद्रक

जनजागरण प्रेस, मथुरा

समर्पणम्

ॐ वन्दे भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगद्गुरुम् ।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

मातृवत् लालयित्री च पितृवत् मार्गदर्शिका ।
नमोऽस्तु गुरुसत्तायै श्रद्धा-प्रज्ञा युता च या ॥

भगवत्याः जगन्मातुः, श्रीरामस्य जगद्गुरोः ।
पादुकायुगले वन्दे, श्रद्धाप्रज्ञास्वरूपयोः ॥

नमोऽस्तु गुरवे तस्मै गायत्रीरूपिणे सदा ।
यस्य वागमृतं हन्ति विषं संसारसंज्ञकम् ॥

असम्भवं सम्भवकर्तुमुद्यतं प्रचण्डझञ्झावृतिरोधसक्षमम् ।
युगस्य निर्माणकृते समुद्यतं परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये ।



विराट गायत्री परिवार एवं उसके संस्थापक-संरक्षक एक संक्षिप्त परिचय

इतिहास में कभी-कभी ऐसा होता है कि अवतारी सत्ता एक साथ बहुआयामी रूपों में प्रकट होती है एवं करोड़ों ही नहीं, पूरी वसुधा के उद्धार-चेतनात्मक धरातल पर सबके मनो का नये सिरे से निर्माण करने आती है। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य को एक ऐसी ही सत्ता के रूप में देखा जा सकता है जो युगों-युगों में गुरु एवं अवतारी सत्ता दोनों ही रूपों में हम सबके बीच प्रकट हुई, अस्सी वर्ष का जीवन जीकर एक विराट् ज्योति प्रज्वलित कर उस सूक्ष्म ऋषि चेतना के साथ एकाकार हो गयी जो आज युग परिवर्तन को सन्निकट लाने को प्रतिबद्ध है। परमवन्दनीया माताजी शक्ति का रूप थीं जो कभी महाकाली, कभी माँ जानकी, कभी माँ शारदा एवं कभी माँ भगवती के रूप में शिव की कल्याणकारी सत्ता का साथ देने आती रही हैं। उनसे भी सूक्ष्म में विलीन हो स्वयं को अपने आराध्य के साथ एकाकार कर ज्योतिपुरुष का एक अंग स्वयं को बना लिया। आज दोनों सशरीर हमारे बीच नहीं हैं किन्तु, नूतन सृष्टि कैसे ढाली गयी, कैसे मानव गढ़ने का साँचा बनाया गया, इसे शान्तिकुंज, ब्रह्मवर्चस, गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान एवं युगतीर्थ आँवलखेड़ा जैसी स्थापनाओं तथा संकल्पित सृजन सेनानीगणों के वीरभद्रों की करोड़ों से अधिक की संख्या के रूप में देखा जा सकता है।

परमपूज्य गुरुदेव का वास्तविक मूल्यांकन तो कुछ वर्षों बाद इतिहासविद, मिथक लिखने वाले करेंगे किन्तु, यदि उनको आज भी साक्षात् कोई देखना या उनसे साक्षात्कार करना चाहता हो तो उन्हें उनके द्वारा अपने हाथ से लिखे गये उस विराट् परिमाण में साहित्य के रूप में युग संजीवनी के रूप में देखा सकता है जो वे अपने वजन से अधिक भार के बराबर लिख गये। इस साहित्य में संवेदना का स्पर्श इस बारीकी से हुआ है कि लगता है लेखनी को उसी की स्याही में डुबोकर लिखा गया हो। हर शब्द ऐसा जो हृदय को छूता, मन को व विचारों को बदलता चला जाता है। लाखों-करोड़ों के मनो के अंतःस्थल को छूकर उसने उनका कायाकल्प कर दिया। रूसो के प्रजातंत्र की, कार्लमार्क्स के साम्यवाद की क्रान्ति भी इसके समक्ष बौनी पड़ जाती है। उनके मात्र इस युग वाले स्वरूप को लिखने तक में लगता है कि एक विश्वकोश तैयार हो सकता है, फिर उस बहुआयामी रूप को जिसमें वे संगठनकर्ता, साधक, करोड़ों के अभिभावक, गायत्री महाविद्या के उद्धारक, संस्कार परम्परा का पुनर्जीवन करने वाले, ममत्व लुटाने वाले एक पिता, नारी जाति के प्रति अनन्य करुणा बिखेरकर उनके ही उद्धार के लिए धरातल पर चलने वाला नारी जागरण अभियान चलाते देखे जाते हैं, अपनी वाणी के उद्बोधन से एक विराट् गायत्री परिवार एकाकी अपने बलबूते खड़े करते दिखाई देते हैं तो समझ में नहीं आता, क्या-क्या लिखा जाये, कैसे छन्दबद्ध किया जाय, उस महापुरुष के जीवनचरित को।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् १९६७ (२० सितम्बर, १९११) को स्थूल शरीर से आँवलखेड़ा ग्राम जनपद आगरा जो जलेसर मार्ग पर आगरा से पन्द्रह मील की दूरी पर स्थित है, में जन्मे श्रीराम शर्मा जी का बाल्यकाल-कैशोर्य काल ग्रामीण परिसर में ही बीता। वे जन्मे तो थे एक जमींदार घराने में, जहाँ उनके पिता श्री पं. रूपकिशोर जी शर्मा आप-पास के, दूर-दराज के राजघरानों के राजपुरोहित, उद्भट विद्वान, भागवत कथाकार थे किन्तु, उनका अंतःकरण मानव मात्र की पीड़ा से सतत विचलित रहता था। साधना के प्रति उनका झुकाव बचपन में ही दिखाई देने लगा। जब वे अपने सहपाठियों को, छोटे बच्चों को अमराइयों में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे, छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उनसे संबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है एवं वहीं वे जा रहे थे। किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी यह सत्ता वस्तुतः अगले दिनों अपना घर वहीं बनाएगी। जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। जातिगत मूढ़ता भरी मान्यता से ग्रसित तत्कालीन भारत के ग्रामीण परिसर में एक अछूत वृद्ध महिला

की जिसे कुछ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवा कर उनसे घरवालों का विरोध तो मोल ले लिया पर अपना व्रत नहीं छोड़ा। उस महिला ने स्वस्थ होने पर उन्हें ढेरों आशीर्वाद दिये। एक अच्छूत कहलाने वाली जाति का व्यक्ति जो उनके आलीशान घर में घोड़ों की मालिश करने आता था, एक बार कह उठा कि मेरे घर कथा कौन कराने आएगा, मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ। नवनीत जैसे हृदय वाले पूज्यवर उसके घर जा पहुँचे एवं कथा पूरे विधान से कर पूजा की, उसको स्वच्छता का पाठ सिखाया, जबकि सारा गाँव उनके विरोध में बोल रहा था।

किशोरावस्था में ही समाज सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उनसे चलाना आरम्भ कर दी थीं। औपचारिक शिक्षा स्वल्प ही पायी थी किंतु, उन्हें इसके बाद आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि जो जन्मजात प्रतिभासम्पन्न हो वह औपचारिक पाठ्यक्रम तक सीमित कैसे रह सकता है। हाट-बाजारों में जाकर स्वास्थ्य-शिक्षा प्रधान परिपत्र बाँटना, पशुधन को कैसे सुरक्षित रखें तथा स्वावलम्बी कैसे बनें, इसके छोटे-छोटे पैम्फलेट्स लिखने, हाथ की प्रेस से छपवाने के लिए उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। वे चाहते थे, जनमानस आत्मावलम्बी बने, राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान उसका जागे, इसलिए गाँव में जन्मे इस लाल ने नारी शक्ति व बेरोजगार युवाओं के लिए गाँव में ही एक बुनताघर स्थापित किया व उसके द्वारा हाथ से कैसे कपड़ा बुना जाय अपने पैरों पर कैसे खड़ा हुआ जाय यह सिखाया।

पंद्रह वर्ष की आयु में वसंत पंचमी की वेला में सन् १९२६ में उनके घर की पूजास्थली में, जो उनकी नियमित उपासना का तब से आगार थी, जबसे महामना पं. मदनमोहन मालवीय जी ने उन्हें काशी में गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, उनकी गुरुसत्ता का आगमन हुआ अदृश्य छायाधारी सूक्ष्म रूप में। उनसे प्रज्वलित दीपक की लौ में से स्वयं को प्रकट कर उन्हें उनके द्वारा विगत कई जन्मों में सम्पन्न क्रिया-कलापों का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हें बताया कि वे दुर्गम हिमालय से आये हैं एवं उनसे अनेकानेक ऐसे क्रियाकलाप कराना चाहते हैं, जो अवतारी स्तर की ऋषिसत्ताएँ उनसे अपेक्षा रखती हैं। चार बार कुछ दिन से लेकर एक साल तक की अवधि तक हिमालय आकर रहने, कठोर तप करने का भी उनसे संदेश दिया एवं उन्हें तीन संदेश दिए- १. गायत्री महाशक्ति के चौबीस-चौबीस लक्ष्य के चौबीस महापुरुषचरण जिन्हें आहार के कठोर तप के साथ पूरा करना था। २. अखण्ड घृतदीप की स्थापना एवं जन-जन तक इसके प्रकाश को फैलाने के लिए समय आने पर ज्ञानयज्ञ अभियान चलाना, जो बाद में अखण्ड ज्योति पत्रिका के १९३८ में प्रथम प्रकाशन से लेकर विचार-क्रान्ति अभियान के विश्वव्यापी होने के रूप में प्रकटा तथा ३. चौबीस महापुरुषचरणों के दौरान युगधर्म का निर्वाह करते हुए राष्ट्र के निमित्त भी स्वयं को खपाना, हिमालय यात्रा भी करना तथा उनके संपर्क से आगे का मार्गदर्शन लेना।

यह कहा जा सकता है कि युग निर्माण मिशन, गायत्री परिवार, प्रज्ञा अभियान, पूज्य गुरुदेव जो सभी एक-दूसरे के पर्याय हैं, की जीवन यात्रा का यह एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था, जिसमें भावी रीति-नीति का निर्धारण कर दिया। पूज्य गुरुदेव अपनी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखते हैं कि- "प्रथम मिलन के दिन समर्पण सम्पन्न हुआ। दो बातें गुरुसत्ता द्वारा विशेष रूप से कही गई- संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना एवं दूसरा यह कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने की तपश्चर्या में जुट जाना- जौ की रोटी व छाछ पर निर्वाह कर आत्मानुशासन सीखना। इसी से वह सामर्थ्य विकसित होगी जो विशुद्धतः परमार्थ प्रयोजनों में नियोजित होगी। वसंत पर्व का यह दिन गुरु अनुशासन का अवधारण ही हमारे लिए नया जन्म बन गया। सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा।"

राष्ट्र के परावलम्बी होने की पीड़ा भी उन्हें उतनी ही सताती थी जितनी कि गुरुसत्ता के आदेशानुसार तपकर सिद्धियों के उपार्जन की ललक उनके मन में थी। उनके इस असमंजस को गुरुसत्ता ने ताड़कर परावाणी से उनका मार्गदर्शन किया कि युगधर्म की महत्ता व समय की पुकार देख-सुनकर तुम्हें अन्य आवश्यक कार्यों को छोड़कर अग्निकाण्ड में पानी लेकर दौड़ पड़ने की तरह आवश्यक कार्य भी करने पड़ सकते हैं। इसमें स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के नाते संघर्ष करने का भी संकेत था। १९२७ से १९३३ तक का समय उनका एक सक्रिय स्वयं सेवक-स्वतंत्रता सेनानी के रूप में बीता, जिसमें घरवालों के विरोध के बावजूद

पैदल लम्बा रास्ता पार कर वे आगरा के उस शिविर में पहुँचे, जहाँ शिक्षण दिया जा रहा था, अनेकानेक मित्रों-सखाओं-मार्गदर्शकों के साथ भूमिगत हो कार्य करते रहे तथा समय आने पर जेल भी गये। छह-छह माह की उन्हें कई बार जेल हुई। जेल में भी वे जेल के निरक्षर साथियों को शिक्षण देकर व स्वयं अँग्रेजी सीखकर लौटे। आसनसोल जेल में वे श्री जवाहरलाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्री रफी अहमद किदवाई, महामना मदनमोहन मालवीय जी, देवदास गाँधी जैसी हस्तियों के साथ रहे व वहाँ से एक मूलमंत्र सीखा जो मालवीय जी ने दिया था कि जन-जन की साझेदारी बढ़ाने के लिए हर व्यक्ति के अंशदान से, मुट्ठी फण्ड से रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाना। यही मंत्र आगे चलकर एक घण्टा समयदान, बीस पैसा नित्य या एक दिन की आय एक माह में तथा एक मुट्ठी अन्न रोज डालने के माध्यम से धर्मघट की स्थापना का स्वरूप लेकर लाखों-करोड़ों की भागीदारी वाला गायत्री परिवार बनाता चला गया, जिसका आधार था प्रत्येक व्यक्ति की यज्ञीय भावना का उसमें समावेश।

स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान कुछ उग्र दौर भी आये, जिनमें शहीद भगतसिंह को फाँसी दिये जाने पर फैले जनआक्रोश के समय श्री अरविन्द के किशोर काल की क्रान्तिकारी स्थिति की तरह उनसे भी वे कार्य किये, जिनसे आक्रान्ता शासकों के प्रति असहयोग जाहिर होता था। नमक आन्दोलन के दौरान वे आततायी शासकों के समक्ष झुके नहीं, वे मारते रहे परन्तु, समाधि स्थिति को प्राप्त राष्ट्र देवता के पुजारी को बेहोश होना स्वीकृत था पर आन्दोलन से पीठ दिखाकर भागना नहीं। बाद में फिरंगी सिपाहियों के जाने पर लोग उठाकर घर लेकर आये। जरारा आन्दोलन के दौरान उनसे झण्डा छोड़ा नहीं जबकि, फिरंगी उन्हें पीटते रहे, झण्डा झीनने का प्रयास करते रहे। उनसे मुँह से झण्डा पकड़ लिया, गिर पड़े, बेहोश हो गये पर झण्डे का टुकड़ा चिकित्सकों द्वारा दाँतों में भींचे गये टुकड़े के रूप में जब निकाला गया तब सब उनकी सहनशक्ति देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उन्हें तब से ही आजादी के मतवाले उन्मत्त श्रीराम मत्त नाम मिला। अभी भी आगरा में उनके साथ रहे या उनसे कुछ सीख लिए अगणित व्यक्ति उन्हें मत्तजी नाम से ही जानते हैं। लगानबन्दी के आँकड़े एकत्र करने के लिए उनसे पूरे आगरा जिले का दौरा किया व उनके द्वारा प्रस्तुत वे आँकड़े तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के मुख्यमंत्री श्रीगोविन्द वल्लभ पंत द्वारा गाँधीजी के समक्ष पेश किये गये। बापू ने अपनी प्रशस्ति के साथ वे प्रामाणिक आँकड़े ब्रिटिश पार्लियामेंट भेजे, इसी आधार पर पूरे संयुक्त प्रान्त के लगान माफी के आदेश प्रसारित हुए। कभी जिनने अपनी इस लड़ाई के बदले कुछ न चाहा उन्हें सरकार ने अपना प्रतिनिधि भेजकर पचास वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर शांतिकुंज में सम्मानित किया। उसी सम्मान व स्वाभिमान के साथ सारी सुविधाएँ व पेंशन उनसे प्रधानमंत्री राहत फण्ड के नाम समर्पित कर दीं। वैरागी जीवन का सच्चे राष्ट्र संत होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है?

१९३५ के बाद उनके जीवन का नया दौर शुरू हुआ, जब गुरुसत्ता की प्रेरणा से वे श्री अरविन्द से मिलने पाण्डिचेरी, गुरुदेव ऋषिवर रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांति निकेतन तथा बापू से मिलने साबरमती आश्रम, अहमदाबाद गये। सांस्कृतिक, आध्यात्मिक मोर्चे पर राष्ट्र को कैसे परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त किया जाय, यह निर्देश लेकर अपना अनुष्ठान यथावत् चलाते हुए उनसे पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया, जब आगरा में 'सैनिक' समाचार पत्र के कार्यवाहक संपादक के रूप में श्रीकृष्णदत्तपालीवाल जी ने उन्हें अपना सहायक बनाया। बाबू गुलाब राय व पालीवाल जी से सीख लेते हुए सतत स्वाध्यायरत रहकर उनसे अखण्ड ज्योति नामक पत्रिका का पहला अंक १९३८ की वसंत पंचमी पर प्रकाशित किया। प्रयास पहला था, जानकारीयाँ कम थीं अतः पुनः सारी तैयारी के साथ विधिवत् १९४० की जनवरी से उनसे परिजनों के नाम पाती के साथ अपने हाथ से बने कागज से बने कागज पर पैर से चलने वाली मशीन से छापकर 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका का शुभारंभ किया जो पहले तो दो सौ पचास पत्रिका के रूप में निकली, किन्तु क्रमशः उनके अध्यवसाय घर- घर पहुँचाने, मित्रों तक पहुँचाने वाले उनके हृदयस्पर्शी पत्रों द्वारा बढ़ती-बढ़ती नवयुग के मत्स्यावतार की तरह आज दस लाख से भी अधिक संख्या में विभिन्न भाषाओं में छपती व एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों द्वारा पढ़ी जाती है।

पत्रिका के साथ-साथ 'मैं क्या हूँ' जैसी पुस्तकों का लेखन आरम्भ हुआ। स्थान बदला, आगरा से मथुरा आग गये, दो-तीन घर बदलकर घीयामण्डी में जहाँ आज अखण्ड ज्योति संस्थान है, आ बसे। पुस्तकों

का प्रकाशन व कठोर तपश्चर्या, ममत्व विस्तार तथा पत्रों द्वारा जन-जन के अंतःस्थल को छूने की प्रक्रिया चालू रही। साथ देने आ गयीं परमवंदनीया माताजी भगवती देवी शर्मा, जिन्हें भविष्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अपने आराध्य इष्ट गुरु के लिए निभानी थी। उनके मर्मस्पर्शी पत्रों ने, भाव भरे आतिथ्य, हर किसी को जो दुःखी था- पीड़ित था, दिये गये ममत्व भरे परामर्श ने गायत्री परिवार का आधार खड़ा किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि विचारक्रान्ति में साहित्य ने मनोभूमि बनायी तो भावात्मक क्रान्ति में ऋषियुगल के असीम स्नेह ने ब्राह्मणत्व भरे जीवन ने शेष बची भूमिका निभायी।

'अखण्ड ज्योति' पत्रिका लोगों के मनों को प्रभावित करती रही, इसमें प्रकाशित 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ से लोगों को गायत्री व यज्ञमय जीवन जीने का संदेश मिलता रहा, साथ ही एक आना से लेकर छह आना सीरज की अनेकानेक लोकोपयोगी पुस्तकें छपती चली गयीं। इस बीच हिमालय के बुलावे भी आये, अनुष्ठान भी चलता रहा जो पूरे विधि-विधान के साथ १९५३ में गायत्री तपोभूमि की स्थापना, १०८ कुण्डी यज्ञ व उनके द्वारा दी गयी प्रथम दीक्षा के साथ समाप्त हुआ। गायत्री तपोभूमि की स्थापना के निमित्त धन की आवश्यकता पड़ी तो परमवंदनीया माताजी ने जिनने हर कदम पर अपने आराध्य का साथ निभाया, अपने सारे जेवर बेच दिये, पूज्यवर ने जमींदारी के बाण्ड बेच दिये एवं जमीन लेकर अस्थायी स्थापना कर दी गयी। धीरे-धीरे उदारचेताओं के माध्यम से गायत्री तपोभूमि एक साधना पीठ बन गयी। २४०० तीर्थों के जल व रज की स्थापना वहाँ की गयी, २४०० करोड़ गायत्री मंत्र लेखन वहाँ स्थापित हुआ, अखण्ड अग्नि हिमालय के एक अति पवित्र स्थान से लाकर स्थापित की गयी जो अभी तक वहाँ यज्ञशाला में जल रही है। १९४१ से १९७१ तक का समय परमपूज्य गुरुदेव का गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान में सक्रिय रहने का समय है। १९५६ में नरमेध यज्ञ, १९५७ में सहस्रकुण्डी यज्ञ करके लाखों गायत्री साधकों को एकत्र कर उनसे गायत्री परिवार का बीजारोपण कर दिया। कार्तिक पूर्णिमा १९५८ में आयोजित इस कार्यक्रम में दस लाख व्यक्तियों ने भाग लिया, इन्हीं के माध्यम से देशभर में प्रगतिशील गायत्री परिवार की दस हजार से अधिक शाखाएँ स्थापित हो गयीं। संगठन का अधिकाधिक कार्यभार पूज्यवर परमवंदनीया माताजी पर सौंपते चले गये एवम् १९५९ में पत्रिका का संपादन उन्हें देकर पौने दो वर्ष के लिए हिमालय चले गये, जहाँ उन्हें गुरुसत्ता से मार्गदर्शन लेना था, तपोवन नंदनवन में ऋषियों से साक्षात्कार करना था तथा गंगोत्री में रहकर आर्ष ग्रन्थों का भाष्य करना था। तब तक वे गायत्री महाविद्या पर विश्वकोश स्तर की रचना गायत्री महाविज्ञान के तीन खण्ड लिख चुके थे, जिसके अब तक प्रायः पैंतीस संस्करण छप चुके हैं। हिमालय से लौटते ही उनसे महत्वपूर्ण निधि के रूप में वेद, उपनिषद्, स्मृति, आरण्यक, ब्राह्मण, योगवाशिष्ठ, मंत्र महाविज्ञान, तंत्र महाविज्ञान जैसे ग्रन्थों को प्रकाशित कर देव संस्कृति की मूलधाती को पुनर्जीवन दिया। परमवंदनीया माताजी ने उन्हीं वेदों को पूज्यवर की इच्छानुसार १९९१-९२ में विज्ञानसम्मत आधार देकर पुनर्मुद्रित कराया एवं वे आज घर-घर में स्थापित हैं।

युग निर्माण योजना व 'युग निर्माण सत्संकल्प' के रूप में मिशन का घोषणा पत्र १९६३ में प्रकाशित हुआ। तपोभूमि एक विश्वविद्यालय का रूप लेती चली गयी तथा अखण्ड ज्योति संस्थान एक तप-पूत की निवास स्थली बन गया, जहाँ रहकर उनसे अपनी शेष तप साधना पूरी की थी, जहाँ से गायत्री परिवार का बीज डाला गया था। तपोभूमि में विभिन्न शिविरों का आयोजन किया जाता रहा, पूज्यवर स्वयं छोटे-बड़े जन सम्मेलनों के द्वारा विचार क्रान्ति की पृष्ठभूमि बनाते रहे, पूरे देश में १९७०-७१ में पाँच १००८ कुण्डी यज्ञ आयोजित हुए। स्थायी रूप से विदाई लेते हुए एक विराट सम्मेलन (जून १९७१) में परिजनों को विशेष कार्य-भार सौंप परमवंदनीया माताजी को शांतिकुंज, हरिद्वार में अखण्ड दीप के समक्ष तप हेतु छोड़कर स्वयं हिमालय चले गये। एक वर्ष बाद वे गुरुसत्ता का संदेश लेकर लौटे एवं अपनी आगामी बीस वर्ष की क्रिया-पद्धति बतायी। ऋषि परम्परा का बीजारोपण, प्राण प्रत्यावर्तन, संजीवनी व कल्प साधना सत्रों का मार्गदर्शन जैसे कार्य उनसे शांतिकुंज में सम्पन्न किये।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापना अपनी हिमालय की इस यात्रा से लौटने के बाद ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की थी, जहाँ विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों पर शोध कर एक नये धर्म वैज्ञानिक धर्म के मूलभूत आधार रखे जाने थे। इस सम्बन्ध में पूज्यवर ने विराट परिमाण में साहित्य लिखा, अदृश्य जगत के

अनुसंधान से लेकर मानव की प्रसुप्त क्षमता के जागरण तक, साधना से सिद्धि एवं दर्शन-विज्ञान के तर्क, तथ्य, प्रमाण के आधार पर प्रस्तुतीकरण तक। इसके लिए एक विराट ग्रन्थागार बना व एक सुसज्जित प्रयोगशाला। वनौषधि उद्यान भी लगाया गया तथा जड़ी-बूटी, यज्ञ विज्ञान तथा मंत्र शक्ति पर प्रयोग हेतु साधकों पर परीक्षण प्रचुर परिमाण में किये गये। निष्कर्षों ने प्रमाणित किया कि ध्यान साधना, मंत्र चिकित्सा व यज्ञोपैथी एक विज्ञानसम्मत विधा है। गायत्री नगर क्रमशः एक तीर्थ, संजीवनी विद्या के प्रशिक्षण का, एकेडमी का रूप लेता चला गया एवं जहाँ ९-९ दिन के साधना प्रधान, एक-एक माह के कार्यकर्ता निर्माण हेतु युगशिल्पी सत्र सम्पन्न होने लगे।

कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठों विनिर्मित हुई, जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे- सुसंस्कारिता व आस्तिकता संवर्धन एवं जन-जाग्रति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरंभ हुए थे, प्रज्ञासंस्थान, शक्तिपीठ, प्रज्ञामण्डल; स्वाध्याय-मण्डल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ फैल गयीं, ४६०० से अधिक भारत में निज के भवन वाले संस्थान विनिर्मित हो गये, वातावरण गायत्रीमय होता चला गया।

परमपूज्य गुरुदेव ने सूक्ष्मीकरण में प्रवेश कर १९८५ में ही पाँच वर्ष के अंदर अपने सारे क्रिया-कलापों को समेटने की घोषणा कर दी। इस बीच कठोर तपसाधना कर मिलना-जुलना कम कर दिया तथा क्रमशः क्रिया-कलाप परमवंदनीया माताजी को सौंप दिये। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंप कर राष्ट्र देवता की कुण्डलिनी जगाने हेतु उनने अपने स्थूल शरीर छोड़ने व सूक्ष्म में समाने की, विराट से विराटतम होने की घोषणा कर गायत्री जयन्ती २ जून, १९९० को महाप्रयाण किया। सारी शक्ति वे परमवंदनीया माताजी के दे गये व अपने व माताजी के बाद संघशक्ति की प्रतीक लाल मशाल को ही इष्ट-आराध्य मानने का आदेश देकर ब्रह्मबीज से विकसित ब्रह्मकमल की सुवास को देवसंस्कृति दिग्विजय अभियान के रूप में आरंभ करने का माताजी को निर्देश दे गये।

एक विराट श्रद्धांजलि समारोह व शपथ समारोह जो हरिद्वार में सम्पन्न हुए, में लाखों व्यक्तियों ने अपना समय समाज के नवनिर्माण, मनुष्य में देवत्व के उदय व धरती पर स्वर्ग लाने का गुरुसत्ता का नारा साकार करने के निमित्त देने की घोषणा की। परमवंदनीया माताजी द्वारा भारतीय-संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने, गायत्री रूपी संजीवनी घर-घर पहुँचाने के लिए पूज्यवर द्वारा आरम्भ किये गये युग संधि महापुरश्चरण की प्रथम व द्वितीय पूर्णाहुति तक विराट अश्वमेध महायज्ञों की घोषणा की गयी। वातावरण के परिशोधन, सूक्ष्मजगत के नवनिर्माण एवं सांस्कृतिक व वैचारिक क्रान्ति ने सारी विश्ववसुधा को गायत्री व यज्ञमय, वासंती उल्लास से भर दिया। स्वयं परमवंदनीया माताजी ने अपनी पूर्व घोषणानुसार चार वर्ष तक परिजनों का मार्गदर्शन कर सोलह यज्ञों का संचालन स्थूल शरीर से किया व फिर भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर, १९९४ महालय श्राद्धारंभ वाली पुण्य वेला में अपने आराध्य के साथ एकाकार हो गयीं। उनके महाप्रयाण के बाद, दोनों ही सत्ताओं के सूक्ष्म में एकाकार होने के बाद मिशन की गतिविधियाँ कई गुना बढ़ती चली गयीं एवं जयपुर के प्रथम अश्वमेध यज्ञ (नवम्बर ९२) से छब्बीसवें अश्वमेध यज्ञ शिकागो (यू. एस. ए. जुलाई ९५) तक प्रज्ञावतार का प्रत्यक्ष रूप सबको दीखने लगा है।

गुरुसत्ता के आदेशानुसार सतयुग के आगमन तक १०८ महायज्ञ देवसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने हेतु सम्पन्न होने हैं। युग संधि महापुरश्चरण की अंतिम पूर्णाहुति उसी के बाद होगी। प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९४ में कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर युगपुरुष पूज्यवर की जन्मभूमि आँवलखेड़ा में मनायी गई। उनके द्वारा लिखे गये समग्र साहित्य के वाङ्मय का जो एक सौ आठ खण्डों में फैला है, विमोचन भी यहीं सम्पन्न हुआ। विनम्रता एवं ब्राह्मणत्व की कसौटी पर खरे उतरने वाले वरिष्ठ प्रज्ञापुत्र ही उनके उत्तराधिकारी कहे जाएँगे, यह गुरुसत्ता का उद्घोष था एवं इस क्षेत्र में बढ़-चढ़कर आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा करने वाले अनेकानेक परिजन अब उनके स्वप्नों को साकार करने आगे आ रहे हैं। 'हम बदलेंगे-युग बदलेगा' का उद्घोष दिग-दिगन्त तक फैल रहा है एवं इक्कीसवीं सदी उज्ज्वल भविष्य, सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार होता चला जा रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

□□□

भूमिका

महापुरुषों का जीवन प्रसंग जनसामान्य के लिए अनुकरणीय माना गया है। उनमें भी जो जन्मजात कठिनाइयों से, अभाव और असहायता की परिस्थितियों से संघर्ष करके ऊँचा उठते हैं, वे और भी आदरणीय होते हैं और उन्हीं को हम अपना मार्गदर्शक चुन सकते हैं। कारण यही है कि साधन, सुविधा और सहायकों के पूरी तरह होने पर तो सभी आगे बढ़ सकते हैं और ऊँची पदवी प्राप्त कर सकते हैं, पर जो लोग विपन्न और विपरीत परिस्थितियों के होते हुए भी अपने परिश्रम, लगन, त्याग और तपस्या के आधार पर आगे बढ़ते हैं, वे ही सामान्य लोगों के लिए मार्गदर्शन करा सकते हैं। वे देखने अथवा सुनने में सामान्य ही जान पड़ते हैं, पर उनमें कोई ऐसा सत्य तथ्य निहित रहता है कि बहुत समय व्यतीत हो जाने पर भी हम उनको याद करते और उनसे उत्तम प्रेरणा ग्रहण करते रहते हैं।

सामान्यतया देखा यह जाता है कि जो लोग साधन सम्पन्न हैं, सामर्थ्यवान हैं, विद्या और बुद्धि की दृष्टि से प्रसिद्ध हैं और धर्म, नीति, दर्शनशास्त्र के सिद्धान्तों के भी ज्ञाता हैं, वे भी व्यवहार में प्रायः अनुचित मार्ग का अवलम्बन करते हैं। व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए देश, समाज व संस्कृति की तरफ से आँखें फेर लेते हैं और जब कोई उनके गलत कार्यों पर आक्षेप करता है तो यही बहाना पेश करते हैं कि आजकल की दुनिया में चालाकी, तिकड़म और असत्य के बिना काम ही नहीं चल सकता। कितने ही व्यक्ति इस संसार को एक प्रपंच कहते हैं, माया का खेल बताते हैं और इन्हीं बातों की ओट में प्रायः अपनी बहुत-सी त्रुटियों, अनैतिक कार्यों को क्षम्य समझ लेते हैं। वे कहते हैं कि इस संघर्षमय और आपाधापी से भरे संसार में रहकर मनुष्य सदैव सत्य, न्याय, समानता आदि का व्यवहार नहीं कर सकता।

पर महापुरुषों का, देशभक्तों का, शहीदों का मार्ग इससे भिन्न होता है। वे अपने सामने एक ऊँचा आदर्श रखते हैं और उसके लिए आवश्यकता होने पर न केवल स्वार्थ का बलिदान करने, वरन् अपने जीवन का उत्सर्ग करने को भी तैयार रहते हैं। उनकी कथनी और करनी एक होती है। यही कारण है कि वे जो कहते हैं वही कर भी दिखाते हैं। वे अपनी सफलता द्वारा यह सिद्ध कर देते हैं कि निर्धनता, शारीरिक त्रुटियाँ या साथी-सहायकों का अभाव ऐसी बातें नहीं हैं जिनके कारण हम प्रगति पथ पर अग्रसर होने से निराश हो जायें वरन् कठिनाइयों की ऐसी अग्निपरीक्षा मनुष्य में वह शौर्य-साहस, संकल्पशक्ति, दृढ़ निश्चय और कर्मण्यता का गुण उत्पन्न कर देती है, जिनसे वह निर्धारित लक्ष्य की ओर प्रगति मार्ग में बहुत तेजी से बढ़ता है और शक्ति, बुद्धि एवं साधन सम्पन्न लोगों से आगे निकल जाता है।

परमपूज्य गुरुदेव की लेखनी के वाङ्मय के इस खण्ड में भारतवर्ष ही नहीं, वरन् संसार भर के शौर्य, साहस एवं बुद्धि, कर्म की धनी प्रतिभाओं, महामनीषियों, महामानवों, उत्कट देशभक्तों एवं सफल जननायकों के प्रेरणाप्रद चरित्रों, जीवन प्रसंगों का संकलन किया गया है। प्रस्तुत खण्ड में जिन महापुरुषों के जीवन प्रसंग दिये गये हैं उनमें यही विशेषता है कि उन्होंने जन-जीवन में अपने देश को खपा देने एवं परतंत्रता की बेड़ी को उखाड़ फेंकने को ही सबसे बड़ी आत्मसाधना और परमात्मा की प्राप्ति समझा और तदनुसार आजीवन ऐसे कार्यों में लगे रहे जिनसे दूसरे लोगों का कल्याण हो, उनके दुःख और अभावों में कमी हो सके। साधारण स्थिति से जीवन आरंभ करते हुए इन महामानवों ने संसार में ऐसे महान कार्य कर दिखाये, जिनसे करोड़ों लोगों का कल्याण हुआ और

जिसके लिए आज भी उनका नाम न केवल बड़े आदर और श्रद्धा के साथ लिया जाता है, वरन् वे हम सबके लिए प्रेरणा स्रोत बने हुए हैं।

वाङ्मय के इस खण्ड में उन महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंगों को लिया गया है जिन्होंने अपना सारा जीवन देश, समाज और संस्कृति की रक्षा में खपा दिया। तप, त्याग, बलिदान और लोकमंगल ही जिनका जीवनोद्देश्य रहा, ऐसे महामानवों के जीवन चरित्र आज भी उतने ही प्रासंगिक एवं प्रेरणादायी हैं जितने कि तब थे। प्राचीनकाल में भारत के ऋषि-मुनि अरण्यों में निवास करते हुए भी देश-हित को सर्वोपरि मानते थे। उनके लिए आध्यात्मिकता का प्रथम पाठ देशभक्ति ही था और उसी के लिए वे समर्पण भाव धारण कर कर्मरत रहते थे। आज भी वह परम्परा जीवित है। स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, महात्मा गाँधी, सुभाषचन्द्र बोस आदि महानता की जिस ऊँचाई तक पहुँच सके, उसकी मूल प्रेरणा और शक्ति उनकी स्वदेश भक्ति में ही निहित रही है। परम पूज्य गुरुदेव ने भी अपनी जीवन साधना का शुभारम्भ देशभक्ति से करते हुए अपने जीवन की अंतिम श्वास तक स्वदेश चिंतन की आहुति देते हुए अपने जीवन यज्ञ को पूर्णाहुति प्रदान की।

प्रस्तुत खण्ड के पाँच अध्यायों में देश-विदेश के जिन कर्मवीरों, देशभक्तों एवं लोकनायकों के जीवन चरित्रों को लिया गया है उनमें छत्रपति शिवाजी, महाराणा प्रताप, भामाशाह, सरदार पटेल, लाला लाजपतराय, राष्ट्रपति कैनेडी, मेजर शैतान सिंह, वन्देमातरम् के दृष्टा-बंकिमचन्द्र, चन्द्रगुप्त, विद्यारण्य, बहादुरशाह 'जफर', सिकन्दर, नैपोलियन जैसे शौर्य और साहस के सुदृढ़ स्तंभ सम्मिलित हैं। महाराणा राजसिंह से लेकर आइजन हावर तक एक ओर जहाँ बुद्धि, कर्म व साहस की धनी प्रतिभाएँ हैं, वहीं दूसरी ओर भारत के अमर शहीदों व स्वतंत्र भारत के आधार स्तंभों के प्रेरणादायी जीवन प्रसंग हैं। महात्मा गाँधी, गोखले, लिंकन आदि से लेकर हेमर शोल्ड तक एवं मार्शल जुकोब से लेकर जार्ज वाशिंगटन, चर्चिल तथा जार्ज पाम्पीद तक विश्व प्रसिद्ध सफल जननायकों के महत्वपूर्ण जीवन प्रसंगों को वर्णित किया गया है। इन देशभक्तों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का प्रेरणादायी परिचय पाठकों को अपने जीवनोद्देश्य को पहचानने में निश्चित ही सहायता प्रदान करेगा।

-ब्रह्मवर्चस्



विषय-सूची

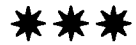
विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अध्याय-१		देशसेवा में सर्वस्व अर्पण करने वाले-	
शौर्य और साहस के सुदृढ़ स्तम्भ	१.१	चिदम्बरम पिल्ले	१.५२
मूर्तिमान शौर्य-शिवाजी	१.१	जो अनाथ बालक से राष्ट्र निर्माता बना-	
आदर्शों के हिमालय-महाराणा प्रताप	१.५	चन्द्रगुप्त मौर्य	१.५४
भामाशाह का अनोखा त्याग	१.८	'विक्रमादित्य' चन्द्रगुप्त	१.५७
मध्य युग का महान क्रान्तिकारी-हरसिंह	१.९	राष्ट्रीयता का उपासक-सम्राट समुद्रगुप्त	१.५९
पराधीनता से संघर्ष करने वाले-गैरीवाल्डी	१.११	संस्कृति की रक्षार्थ बलिदान-स्कन्दगुप्त	१.६१
वीरवर-राणा साँगा	१.१३	राष्ट्र रक्षार्थ सम्राट यशोधरा का	
लौह पुरुष-सरदार वल्लभ भाई पटेल	१.१३	प्रबल पुरुषार्थ	१.६३
अत्याचार के विरुद्ध अनवरत संघर्षशील-		शौर्य साहस का धनी-पुष्यमित्र शुंग	१.६४
जनरल हम्बर्टो डेलगाडो	१.१६	निष्काम लोकसेवी-महाराजा हर्षवर्धन	१.६६
जीवित शहीद गैरिसन	१.१७	दक्षिण भारत के चाणक्य-विद्यारण्य	१.६८
जीवन ज्योति पंजाब केसरी-लाला लाजपतराय	१.१८	जिन्होंने राष्ट्र रक्षा के लिये तलवार थामी-	
आजीवन अन्याय से जूझने वाले क्रान्तिकारी-		'विक्रमादित्य' हेमू	१.७१
बापट	१.२०	मुगल राज्य के हिन्दू प्रशासक-टोडरमल	१.७२
महान सत्याग्रही, जनसेवी-		मेवाड़ के भीष्म-राजकुमार चूड़ामणि	१.७४
सैमुअल इवान्स स्टोक्स	१.२२	स्वतन्त्रता, स्वाभिमान और संस्कृति	
जिन्होंने मृत्यु और असत्य में से मृत्यु को चुना-		के संरक्षक-महाराजा छत्रसाल	१.७६
यानहुस	१.२३	महत्वाकांक्षी वीर-महादाजी सिंधिया	१.७८
अमेरिका के महान नीग्रो-श्री रिचर्ड ऐलेन	१.२६	साहस व धैर्य के धनी-बहादुर शाह 'जफर'	१.८०
जो हब्सियाँ के लिए बलिदान हो गये-		अपनी मुक्ति छोड़ने वाले-सन्त गौरीनाथ	१.८२
प्रेसीडेन्ट कैनेडी	१.२८	जिनका बल-विक्रम निरर्थक ही रहा-	
आदर्शों के लिये खतरों से टकराने वाले-		राजा जसवन्तसिंह	१.८३
डा. हाल्डेन	१.२९	नौकर से बादशाह बने-शेरशाह	१.८५
जो फाँसी के तख्ते तक हँसता रहा-		पीड़ितों के सहायक-वीर हम्मीरदेव	१.८७
टामसमोर	१.३१	संकल्पों का धनी-अलक्षेन्द्र सिकन्दर	१.८९
अमेरिका के महान् नीग्रो-फ्रैंडरिक डगलस	१.३२	शोषण से संघर्ष को दायित्व मानने वाले-	
जो सिकन्दर के आगे झुका नहीं-		अर्नेस्ट गोवेरा	१.९४
देशभक्त पुरु	१.३४	प्रेम, कर्तव्य विमुखता नहीं सिखाता-	
'सोचो नहीं, मोर्चा लो' के आदर्श-बैजहाफ	१.३६	संयोगिता	१.९६
अनीति से आजन्म लड़ने वाले-दीक्षित जी	१.३८	नैपोलियन की निराशा	१.९६
राष्ट्र निर्माता-बैजामिन फ्रेंकलिन	१.३९	अध्याय-२	
अदम्य साहस के प्रतीक-मेजर शैतानसिंह	१.४१	बुद्धि, कर्म व साहस की धनी प्रतिभायें	२.१
क्रान्ति के सन्देशवाहक-नाजिम हिकमत	१.४२	बुद्धि, बल व साहस के धनी-	
अमर हुतात्मा-श्री गणेश शंकर विद्यार्थी	१.४३	महाराणा राजसिंह	२.१
'वन्देमातरम्' मन्त्र के दृष्टा-बंकिमचन्द्र	१.४८	लुटेरे गजनवी का मानमर्दन करने वाले-	
गोवा के प्रखर देशभक्त-डा. माशकार हंस	१.५०	राजा संग्राम राज	२.२

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
स्वातन्त्र्य सेनानी-नाना साहब पेशवा	२.५	श्रम, सम्पदा व सद्भाव का धनी-	
१८५७ की क्रान्ति के सर्वोच्च सेनापति-		हेनरी फोर्ड	२.४७
ताँत्या टोपे	२.७	महाराष्ट्र मण्डल के चाणक्य-	
निष्ठा और संकल्प के धनी-टीपू सुल्तान	२.९	नाना फड़नवीस	२.४९
आदर्शों के लिए अड़े रहने वाले-बुँडेज	२.१०	महाराष्ट्र के पुनर्प्रतिष्ठापक-पेशवा बाजीराव	२.५१
कर्मयोगी हचिसन	२.१२	जिनका शरीर नहीं चरित्र सुन्दर था-	
एक अपराजेय देशभक्त-		महाराजा रणजीत सिंह	२.५३
खान अब्दुल गफ्फार खाँ	२.१२	संस्कृति की आन पर शहीद-	
बंगला देश के निर्माता-शेख मुजीबुर्रहमान	२.१५	हरीसिंह नलवा	२.५६
जिनकी रग-रग में क्रान्ति भरी थी-		साहसी बुँचे	२.५९
डॉ. राम मनोहर लोहिया	२.१६	न्यायशील नौशेरवाँ	२.६०
स्वदेश और समाज के उद्धारकर्ता-		'स्वतन्त्रता या मृत्यु' के मन्त्र द्रष्टा-	
डा. सनयातसेन	२.१८	पैट्रिक हेनरी	२.६१
राष्ट्र के लिये सर्वतोभावेन समर्पित-पोहलूराम	२.२०	कर्तव्यरत-वीर दुर्गादास	२.६३
संग्राम के अमर अहिंसक सैनिक-		संघर्ष, पुरुषार्थ और श्रम के प्रतीक-	
फुलेना प्रसाद	२.२२	देवजी भीमजी	२.६३
सच्चे देशभक्त-श्री बदरुद्दीन तैयब जी	२.२४	जिन्होंने सोते हुए कुमायूँ को जगाया-	
निर्भीक जनसेवक-श्री हीरालाल शास्त्री	२.२५	बद्रीदत्त वैष्णव	२.६५
क्रान्तिकारी जीवन के मार्गदर्शक-सोहनसिंह	२.२५	राष्ट्रीय स्वाभिमान के रक्षक-	
आशावादी-डंकन	२.२८	बालाजी विश्वनाथ	२.६७
देशभक्तों के निर्माता-वारीन्द्र कुमार घोष	२.२९	सम्प्रदायवाद से आजीवन लड़ने वाले-	
महान बलिदानी-भाई मतिदास	२.३१	मजहरुल हक	२.६९
प्रसिद्ध क्रान्तिकारी-कन्हाई लाल दत्त	२.३२	विद्वान देशभक्त-श्री श्यामकृष्ण वर्मा	२.७१
एक सच्चे भारतीय-		जो अनीति से जूझ पड़ा-	
श्री कान्त अनन्त राव आपटे	२.३४	अमर सिंह महतो परिवार	२.७३
सफलता संकल्पवानों को मिलती है-निराला	२.३६	शोषण के विरुद्ध बगावत करने वाले-	
जड़-जगत में आदर्शवादिता का खोजी-		मौलवी अहमदुल्ला	२.७५
जानसन	२.३६	मनस्वी आइजन हावर	२.७६
न्याय के लिए संघर्ष	२.३८	अध्याय-३	
पचास का काम अकेले करने वाले-		स्वतन्त्र भारत के आधार स्तम्भ	३.१
विनोद कानूनगो	२.३९	स्वतन्त्र भारत के कीर्ति स्तम्भ	३.१
दो हजार कुशितयौ लड़ने वाला-किंग कांग	२.४०	जिनकी अध्यात्म साधना सार्थक रही-	
असमय बुझी दोषग्रस्त प्रतिभा-पैरासेलसस	२.४१	सुभाष बोस	३.२
मातृभूमि का बलिदानी-		क्रान्तिधर्मी-लाला हरदयाल	३.५
सोहन लाल पाठक	२.४३	स्वतन्त्रता संग्राम के क्रान्तिकारी-	
सतहत्तर साल के नौजवान-दाताराम	२.४३	शम्भुनाथ आजाद	३.७
फिर न मिलेगा अवसर ऐसा	२.४५	काकोरी काण्ड के शहीद-	
टैंक युद्ध के अनुभवी विजेता-जनरल चौधरी	२.४५	चन्द्रशेखर आजाद	३.९

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
महत्व व्यक्ति को नहीं आदर्शों को देना		उद्देश्य के लिए संसार भर की खाक छानने	
श्रेयस्कर है-सरदार भगतसिंह	३.१३	वाले क्रान्तिकारी-सरदार अजीत सिंह	३.६४
सर्वस्व समर्पित करने वाले आहुत आत्मा-		निष्ठावान क्रान्तिकारी-बटुकेश्वर दत्त	३.६६
महावीर सिंह	३.१५	जाति अभिमानी-सुरेन्द्र नाथ बनर्जी	३.६७
अमर शहीद-रामप्रसाद बिस्मिल	३.१८	राष्ट्रसेवी-आचार्य गिडवानी जी	३.६९
स्वतन्त्रता संग्राम का बीज बोने वाला-		देशबन्धु चित्तरंजनदास	३.७१
खुदीराम बोस	३.२०	राष्ट्रभक्त बाबू शिवप्रसाद गुप्त	३.७४
शहादत की अद्वितीय मिशाल-बन्दा वैरागी	३.२२	आजन्म देशसेवी-विजय सिंह 'पथिक'	३.७६
एक और बाल्मीकि-ठाकुर रोशन सिंह	३.२४	पेशावर विद्रोह प्रणेता-चन्द्रसिंह गढ़वाली	३.७८
महान क्रान्तिकारी देशभक्त-		स्वातन्त्र्य यज्ञ के अमर होता-पं. रामनाथ	३.७९
विनायक सावरकर	३.२६	स्वतन्त्रता के अमर पुजारी-	
वीर बालक-हकीकत राय	३.३०	श्री रासबिहारी बोस	३.८२
स्वातन्त्र्य युद्ध का प्रथम सैनिक-		अमर बलिदानी-भगवती चरण वोहरा	३.८४
मंगल पाण्डे	३.३१	राष्ट्र की स्वतंत्रता को समर्पित-	
जौरापुर का राजा बालक	३.३२	बारहट परिवार	३.८६
भारतीय सशस्त्र क्रान्ति के प्रथम नायक-		क्रान्तिवीर रामचरण लाल	३.८८
वासुदेव बलवंत फड़के	३.३४	अत्याचार के विरुद्ध सतत संघर्षशील-	
महान जनसेवक-लाला लाजपतराय	३.३६	मुकुंदीलाल	३.९०
स्वतंत्रता संग्राम का नन्हा सैनिक-		बहते रहे उत्सर्ग के निर्झर ऐसे ही-	
योगेन्द्रनाथ	३.३७	बशेशर नाथ	३.९२
अत्याचार से लड़ने वाले-चाफेकर बन्धु	३.३८	आजादी के दीवाने-हेमचन्द्र दास	३.९४
मातृभूमि पर सर्वस्व निष्ठावर करने वाले-		यशस्वी क्रान्तिकारी-बाबू कुँअरसिंह	३.९५
रोशनलाल मेहरा	३.४०	आततायी से निपटने वाला-	
अकेले एक मिशन-पं. काशीराम जोशी	३.४२	सरदार ऊधम सिंह	३.९८
अमर शहीद-पिंगले	३.४४	विस्मृत क्रान्तिवीर-पं. गैदालाल दीक्षित	३.९९
अमर शहीद-डा. मथुरासिंह	३.४५	भारतीय शौर्य परम्परा के प्रतीक-	
अमर शहीद-शिवराम राजगुरु	३.४६	कप्तान चन्द्रनारायण सिंह	३.१०१
देशप्रेम और धर्मनिष्ठा के अनूठे प्रतीक-		एक संघर्षशील व्यक्तित्व-	
अशफाक उल्ला	३.४८	त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती	३.१०२
अनूठे देशप्रेमी क्रान्तिकारी-बन्ता सिंह	३.५०	असहयोग के आद्य प्रवर्तक-बाबा रामसिंह	३.१०४
भारत माता के वीर पुजारी-		वीर सेनानी-सुखवीर सिंह और मथुरा दास	३.१०६
ज्योतिन्द्र नाथ मुखर्जी	३.५१		
राजनैतिक और सामाजिक क्रान्ति के		अध्याय-४	
सूत्रसंचालक-मास्टर अमीरचन्द्र	३.५६	उत्कट देशभक्ति के प्रतीक महामानव	४.१
एक और भगतसिंह-हेमूकलानी	३.५८	युग-दृष्टा - राजर्षि गोखले	४.१
विप्लवी वीर-भाई बालमुकुन्द	३.६०	जिन्होंने भारतीय संस्कृति को नूतन गति दी-	
जो राष्ट्रहित में बलिदान हो गये-		गुरु गोलवलकर	४.३
सूफी अम्बा प्रसाद	३.६२	छोटी-छोटी बातों से महात्मा बने-गाँधीजी	४.६

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
कठिनाइयों से जूझने वाले-अब्राहम लिंकन	४.१५	ब्रिटेन के प्रधानमंत्री-एडवर्ड हीथ	४.८१
सद्ग्रहस्थ राजनीतिज्ञ -		गिनि बिसाऊ का स्वातंत्र्य सृष्टा-	
पं. जवाहर लाल नेहरू	४.२१	एमिलकार किब्राल	४.८२
प्रामाणिकता हो तो गंगाधर शास्त्री जैसी	४.२४	एडमण्ड जी. रास का अनूठा साहस	४.८४
उत्कट देशभक्ति के प्रतीक-राव तुलाराम	४.२६	महान जननेता-अलबर्ट लुथिली	४.८६
जिन्होंने जनता को नया स्वर दिया-		जो विश्व शांति के लिये जिये, विश्व शांति	
ठाकुर दयानन्द	४.२७	के लिए मरे-डाग हेमर शोल्ड	४.८८
दासबाबू की दानशीलता	४.२९		
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन	४.३०	अध्याय-५	
राष्ट्रीय सेवावृत्ती महान वैज्ञानिक-		विश्व प्रसिद्ध सफल जन नायकों के	
प्रफुल्ल चन्द्र राय	४.३२	जीवन प्रसंग	५.१
जिनका धर्म ही अन्याय से लड़ना है-		हीरो ऑफ द सोवियत यूनियन-	
रानाडे	४.३५	मार्शल जुकोब	५.१
सेवा एवं मानवता की मूर्ति-		जनता के स्वामी, जापान के उन्नायक-	
महामना मालवीय जी	४.३८	मुत्सु हीटो	५.३
सरलता की प्रतिमूर्ति-डॉ. राजेन्द्र प्रसाद	४.४२	राष्ट्र धर्म का प्रचारक-मेजिनी	५.५
भारतीय परम्परा के आधुनिक ऋषि-		कनाडा का जनक-मेकडोनाल्ड	५.७
डॉ. राधाकृष्णन्	४.४५	निष्काम कर्मयोगी-यिरास	५.९
जिन्होंने हर क्षेत्र में अनूठा कार्य किया-		मॉरीशस के मसीहा-	
राजाजी	४.४९	डॉ. शिवसागर रामगुलाम	५.११
जिन्होंने राजनीति को राष्ट्रसेवा का		प्रजातन्त्र के त्राता-सिसरो	५.१३
माध्यम बनाया- रफी अहमद किदवाई	४.५२	सहकारी समाज व्यवस्था के जनक-	
मानव रत्न-लाल बहादुर शास्त्री	४.५५	रॉबर्ट आवेन	५.१४
भारतीय जीवन दर्शन के साधक-		हंसमुख रूजवेल्ट	५.१७
डॉ. सम्पूर्णानन्द	४.६१	जो सच्चे अर्थों में राष्ट्रपति बने-	
कर्मयोग के उपदेष्टा-लोकमान्य तिलक	४.६४	रेस्ट्रेपो लिरास	५.१८
देश को महाशक्ति बनाने वाले-		जिनकी साधना शहादत से सफल हुई-	
माओ-त्से-तुंग	४.६८	डॉ. लिबिंग्सटन	५.२०
आत्मबल सम्पन्न पुरुषार्थियों के		बूट पॉलिश करने वाला एक दिन	
प्रेरणाप्रद प्रसंग	४.७०	उपराष्ट्रपति बना-लिण्डन बी. जानसन	५.२२
महान योद्धा-नेल्सन	४.७२	जिसकी चेरी बनी प्रतिभाएँ-	
जिन्होंने निःशस्त्र उपनिवेशवाद से		लियोनार्दो दा विंची	५.२३
संघर्ष किया- डॉ. जगन	४.७४	सच्चे नेतृत्व के प्रतीक-लियोनिद ब्रेझनेव	५.२५
किसान पुत्र से राष्ट्रपिता पद तक-		युद्धोत्तर फ्रांस के राष्ट्र निर्माता-लुई अर्माद	५.२८
च्यांग काई शेक	४.७६	जिन्होंने सामन्तशाही के विरुद्ध	
पुरुषार्थी गारफील्ड	४.७८	आवाज उठायी- लू-शुन	५.३०
जिन्हें देशभक्ति के पुरस्कार में		व्यवस्थित जीवन की कुँजी-समय की पाबन्दी-	
मिला मृत्युदण्ड-कैप्टन तनामा	४.७९	जार्ज वार्शिंगटन	५.३२

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
शान्ति और स्वतंत्रता का अमर उपासक- विलियम पेन	५.३३	सैद्धान्तिक क्रान्ति के स्रष्टा-टॉमस जैफर्सन	५.५९
आत्मविश्वास के धनी-विंस्टन चर्चिल	५.३५	मृत्यु को निमंत्रण देने वाले-	
विश्व शान्ति के लिए समर्पित जीवन- विली ब्राण्ट	५.३७	टेरेन्स मैकस्विनी	५.६०
औचित्य और न्याय के प्रबल समर्थक- विलियम वेडर बर्न	५.३९	जनहित के लिए संघर्षरत सेनानी-	
विल्सन की विपत्ति पाठशाला	५.४१	डेविड मोर्स	५.६२
सफल जननायक-हिटलर	५.४१	प्रारब्ध बड़ा या पुरुषार्थ? सदेह उत्तर-	
पुर्तगाल के चाणक्य-सालाजार	५.४३	डॉ. तहाहुसेन	५.६४
केलिफोर्निया के गाँधी-सेसार कावेज	५.४४	जर्मनी में पुनर्प्राण प्रतिष्ठा करने वाले-	
लौह पुरुष-स्टालिन	५.४६	वान थेडन	५.६४
गरीबों के साथ गरीब बनकर रहो	५.४८	विश्व शान्ति और विश्व बंधुत्व के स्वप्न दृष्टा-	
अमेरिका के ३१वें राष्ट्रपति-		निकोलाई रोरिख	५.६६
महान हर्बर्ट हूवर	५.४९	चैकोस्लोवाकिया के गाँधी-मैसरिक	५.६८
सविनय-असहयोग आन्दोलन के प्रवर्तक- हेनरी थोरी	५.५०	हजारों की प्राण रक्षा करने वाले-	
कर्मयोगी सन्त-सम्राट हिरोहितो	५.५१	डॉ. आटमर कोहलर	५.७०
अफसोस कि मेरे पास एक ही जीवन है-		काँग्रेस के जन्मदाता-सर एलेन ह्यूम	५.७२
हैलनैथन	५.५३	मानवीय समता का प्रतिष्ठापक-	
नाजी दुरभिसन्धि से जूझने वाला-होराल्ड	५.५४	कार्ल मार्क्स	५.७४
वियतनाम के राष्ट्रपति- हो ची मिन्ह	५.५६	जाम्बिया के गाँधी-राष्ट्रपति कैनेथ कोण्डा	५.७७
		कर्मयोगी ऐसे ही होते हैं-डॉ. चार्ल्स	५.७९
		धर्म एक और सनातन है	५.८१
		जिन्होंने फ्रांस को नयी सामर्थ्य दी-	
		जार्ज पाम्पीद	५.८१



शौर्य और साहस के सुदृढ़ स्तम्भ

मूर्तिमान शौर्य-शिवाजी

औरंगजेब के शासन का मध्याह्न सूर्य तप रहा था। अधिकांश हिन्दू नरेश आत्मसमर्पण कर चुके थे। शहंशाह की भूकुटि का एक वक्र संकेत किसी का भी भाग्य निर्णायक बन जाता था। चारों ओर भय, आशंका, कठोरता तथा लूट-पाट का आतंक छाया हुआ था।

पर ऐसे समय में भी देशभक्ति मरी नहीं थी। कुछ नर केसरी उसे अपनी र्शासों से जीवन दे रहे थे। धार्मिक तथा राष्ट्रीय भावनाओं का जैसा सुन्दर समन्वय इस काल में हुआ शायद ही किसी काल में हुआ हो।

शाहजहाँ के समय में ही एक दुर्दमनीय शक्ति पनपना प्रारम्भ हो गई थी। वे थे शाहजी भौसले नामक एक मराठा सरदार। वे पहले अहमदनगर की रियासतों में और फिर बीजापुर में उच्च पद पर कार्य करते रहे।

नरकेसरी वीर शिवाजी को जन्म देने का श्रेय इन्हीं को है। शेरों के शेर ही हुआ करते हैं। पर यहाँ तो पुत्र का साहस-बल तथा पुरुषत्व पिता से भी दो कदम आगे था। शिवाजी का जन्म १० अप्रैल, १६२७ को शिवनेरी के पर्वतीय दुर्ग में हुआ था।

अपनी मातृभूमि को पराधीनता के पाश से निकालने के लिए शिवाजी ने अपने जीवन का कण-कण, क्षण-क्षण विसर्जित कर दिया था, जन्म के कुछ काल पश्चात् ही पिता का संरक्षण विधाता ने उठा लिया, पर इनकी माता जीजाबाई भी भारतीय वीरांगना थीं। उन्होंने पिता का अभाव खलने नहीं दिया और उन्होंने वे समस्त कार्य शिवाजी को स्वयं अपनी देख-रेख में सिखाये जो पिता का कर्तव्य हुआ करता है। राष्ट्रीयता की भावना को तो उन्होंने माता के दूध में ही दान किया था।

१६-१७ वर्ष के किशोर के मन में यही दृढ़ मचा रहता था कि किस प्रकार इन नर हत्यारों से अपनी भारत माँ को स्वतंत्र कर लूँ? पास में कोई बड़ी सेना न थी—बड़े साधन न थे। हाँ, हिम्मत अवश्य ही बहुत थी।

इनके व्यक्तित्व को गढ़ने का श्रेय इनकी माता को तो है ही पर इन्हें नर-पुंगव बनाने में जो योगदान इनके गुरु-समर्थ गुरु रामदास का है वह भी अतुलनीय तथा असीम है।

शिवाजी उनके सर्वाधिक प्रिय शिष्य थे। राष्ट्रीयता की उत्कट भावना सागर की उताल तरंगों की भाँति हृदय में हिलोरें लिया करती थीं।

इन्होंने सोचा कि बड़ी सेना इकट्ठी करने तथा बड़े पैमाने पर साधन एकत्रित करने को तो पर्याप्त समय चाहिए, क्यों न जो कुछ अपने पास है उसी को अञ्जलि में भरकर माँ के चरणों में समर्पित कर दिया जाय और इन्होंने छोटे-

छोटे कई संगठित दलों का निर्माण किया। स्वामी रामदास के आदेशानुकूल— शिवाजी के नेतृत्व में मर मिटने के लिए तैयार कई जवान आगे आये और शिवाजी ने इन छोटे-छोटे दलों को लेकर ही अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया।

उन्होंने सहयाद्री पर्वत पुत्रों—मालवा आदिवासियों की सहायता से एक-एक करके बीजापुर सल्तनत और मुगलों के अधीन किले छीनने आरंभ किए और अपने राज्य का विस्तार किया। उन्हें अपने सजातीय बंधुओं से आरंभ में सहयोग नहीं मिला। स्वाभिमानी और सरल स्वभाव मालवा वीरों ने शिवाजी के ध्येय की पूर्ति के लिए जो बलिदान किए वे इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठ बन चुके हैं। बाजीराव देशपांडे का बलिदान हमारे इतिहास की गौरवपूर्ण थाती है।

१९ वर्ष का युवक, जहाँ भी औरंगजेब के अत्याचारों की प्रबलता देखता वहाँ अपने इस छापामार दल के साथ टूट पड़ता। सर्वप्रथम पूना के समीप इन्होंने एक छोटा किला अपने बलबूते पर अपने अधिकार में किया। इससे सभी का साहस बढ़ा। नेतृत्व करने की कुशलता शिवाजी को दैविक देन के ही रूप में प्राप्त हुई थी उसे निखारा स्वामी रामदास ने और उसका खुलकर उपयोग किया शिवाजी ने अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए—अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिये—अपने धर्म की रक्षा के लिए।

धर्म का वास्तविक उद्देश्य क्या है यह हमें इसी काल में क्रियान्वित होता दृष्टिगोचर होता है। गाँव-गाँव मन्दिर स्थापित किये गये। नित्य ही सब वहाँ भगवद्-भजन के बहाने एकत्रित होते। नव-युवकों में स्वामी रामदास राष्ट्रीय भावना जाग्रत करते। बड़े-बड़े अखाड़ों का भी निर्माण किया गया जहाँ युवकों को अपने शरीरों को बनाने तथा शस्त्र-विद्या में कुशलता प्राप्त करने का प्रशिक्षण दिया जाता था।

शिवाजी सभी से सम्पर्क स्थापित करते। स्वयं सबको निज के भाई जैसा ही स्नेह प्रदान करते तथा मरने-मारने में सदा आगे रहते। स्थान-स्थान पर इन्होंने इसी प्रकार कई छोटे-छोटे किले जीते। यद्यपि इनके सहयोगियों की संख्या औरंगजेब की सेना की तुलना में बहुत ही अल्प थी। परन्तु रणबाँकुरों का साहस, उत्सर्ग की भावना तथा कार्यकुशलता इतनी अधिक थी कि इनका एक-एक सिपाही मुगल सेना के बीस-बीस सैनिकों के लिये पर्याप्त सिद्ध होता था।

शिवाजी की सफलता का रहस्य उनका संगठन—राष्ट्रीय निष्ठा तथा कुशल नेतृत्व तो था ही पर एक वस्तु और थी वह थी यदि काल भी सामने आ जाये तो उससे

१.२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

भी जूझ जाने का संकल्प पूर्ण साहस । इसी साहस के बल पर वे अपनी छोटी-छोटी टुकड़ियों को लेकर किलों पर हमला करते और विजयी होते।

शिवाजी के इस अदम्य उत्साह तथा पराक्रम से औरंगजेब अभिभूत हो उठा था । उसने इन्हें धोखे से आगरे बुलवाया पर यहाँ उसे ही मुँह की खानी पड़ी । राजनीति में साम, दाम, दण्ड और भेद चारों ही नीतियाँ काम में लाई जाती हैं । जब जैसी आवश्यकता हो ।

दक्षिण के मुगल अधिकारी तो इनके आतंक से इतने भयभीत हुए कि लगान का चौथा भाग इन्हें देने लगे, जो 'चौध' के नाम से आगे भी मराठे सरदार तथा राजे सदा वसूल करते रहे ।

अब तक शिवाजी कई किले आधीन कर चुके थे । अधिकांश दक्षिणी प्रदेश इनके अधिकार में था । सन् १६७४ में शिवाजी का रायगढ़ में धूमधाम के साथ राज्याभिषेक किया गया और अब वे एक अच्छी खासी व्यवस्थित शक्ति के स्वामी थे ।

सन्त तुकाराम तथा रामदास के भजन लोकमानस में वह उमस उत्पन्न करते थे जिससे राष्ट्रीयता के प्रति लोगों के हृदय से स्नेह निर्झर फूट पड़ते थे । शिवाजी यद्यपि स्वयं राजा बन गये थे तथापि समस्त राज्य संचालन वे स्वामी रामदास के आदेशानुसार ही करते थे ।

शिवाजी ने जीवन भर न स्वयं चैन की साँस ली न औरंगजेब को ही चैन से सोने दिया । वे आजीवन अपनी मातृभूमि के लिये युद्ध करते रहे । दाहिने हाथ में शस्त्र तथा बाएँ हाथ में शास्त्र की जो उक्ति है उसे हम शिवाजी के जीवन काल में चरितार्थ हुआ देखते हैं ।

शिवाजी जितने कुशल प्रशासक थे, उतने ही चतुर राजनीतिज्ञ भी थे । राजनीति के गुर उन्होंने दादाजी कौणदेव जैसे अनुभवी व्यक्ति से सीखे थे । दुष्टों के दलन के लिए छल-बल का सहारा लिया जाय तो इसे अनीति नहीं कहा जा सकता । अतः उन्होंने अपने अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए साम, दाम, दंड और भेद की नीति का सहारा लिया । इसका अर्थ यह कदापि नहीं लिया जा सकता कि वे चारित्रिक दृष्टि से दुर्बल थे । उस काल के अन्य राजाओं से दीखते हुए भी वे उन सबसे निराले थे ।

उन्होंने बीजापुर और दिल्ली की शत्रुता का भरपूर लाभ उठाया । पहले बीजापुर साम्राज्य की शक्ति क्षीण करने के लिए उन्होंने मुगल सम्राट औरंगजेब का साथ दिया और जब बीजापुर साम्राज्य दुर्बल पड़ गया तो उससे काफी प्रदेश छीन लिया । उन्होंने दगाबाज के साथ दगा भी किया तो विश्वासी के विश्वास की पूरी रक्षा भी की ।

शिवाजी के सैनिक मुगलों व बीजापुर सल्तनत की सेनाओं की रसद व गोला-बारूद तथा मालगुजारी में वसूल किया गया धन भी मौका देखकर लूट लिया करते थे, पर उनकी यह नीति दुष्टों के साथ ही थी । एक बार जब उनका एक सेनापति एक किले की विजय के बाद

किलेदार की रूपमती पुत्र वधू को भी पकड़ लाया तो शिवाजी को अपने सरदार की इस नासमझी पर बड़ा क्षोभ हुआ । उन्होंने अपने सरदार से कहा-“यदि हम भी ऐसा करने लगे तो हममें और लुटेरों में क्या अन्तर रह जाएगा?” भविष्य में कभी ऐसी भूल न करने का निर्देश देते हुए उन्होंने उस रूपवती रानी से अपने सरदार की नासमझी के लिए क्षमा माँगी तथा उसे ससम्मान अपने पति के पास भिजवा दिया ।

शिवाजी का यह नैतिक आदर्श और राष्ट्र प्रेम की उत्कट भावना जहाँ उनके साथियों में उनके लिए हँसते-हँसते प्राण न्योछावर करने की प्रेरणा भर देती थी वहीं शत्रु पक्ष के लोगों के दिलों में भी उनके प्रति प्रेम पैदा कर देती थी । जयपुर के राजा जयसिंह उनके इन्हीं गुणों पर रीझे थे । आगे चलकर जब औरंगजेब ने इन्हें आगरे के किले में बंदी बनाकर रखा, तो जयसिंह के पुत्र रामसिंह से उन्हें भरपूर सहायता मिली ।

शिवाजी काँटि से काँटा निकालना बखूबी जानते थे । दुष्ट व्यक्ति से सद्व्यवहार की आशा करना व्यर्थ होता है । उसको तो वैसे ही आचरण से जीता जा सकता है जैसा कि उसके साथ उचित है । अफजल खाँ शिवाजी के प्राण हरने का षडयंत्र रचकर बीजापुर सुल्तान की हैसियत से उनसे मिलने आया था । वे उससे मिलने में धोखे की पूरी संभावना समझे हुए थे अतः पूरी तैयारी करके उससे मिलने गए और वह अपने षडयंत्र को सफल कर पाता उसके पहले ही शिवाजी ने उसका काम तमाम कर दिया ।

जयपुर के राजा जयसिंह की राय से शिवाजी औरंगजेब के दरबार में उपस्थित हुए ताकि औरंगजेब जोधपुर नरेश जसवंत सिंह तथा जयपुर नरेश जयसिंह की तरह उन्हें भी अपने दरबार में उच्च स्थान देकर अपना मांडलिक बना ले । इसके पीछे उनकी यह नीति थी कि यदि औरंगजेब ऐसा कर लेता है तो उन्हें आगे के लिए मुगल सेनाओं से लोहा नहीं लेना पड़ेगा तथा वे जयसिंह तथा जसवंत सिंह जैसे हिन्दू राजाओं को भी अपनी ओर मिलाकर मुगल सल्तनत का सदा के लिये अन्त कर देंगे । किन्तु औरंगजेब भी एक ही काँड़ियाँ था वह शिवाजी को यह मौका नहीं देना चाहता था कि वे कोई खुराफात कर सकें । उसने वहाँ शिवाजी को वह सम्मान नहीं दिया जिसकी वे सोच रहे थे । वे मात्र पंचहजारी मनसबदार बनाए गए । वे अपने इस अपमान को सहन न कर सके । वे औरंगजेब के काँड़ियाँपन को पूरी तरह समझ गए थे अतः अब उसके सामने झुकना भी नहीं चाहते थे । वे किसी भी शर्त पर उसे अपना सम्राट स्वीकारने को तैयार नहीं हुए ।

आगरा के दीवाने-खास और दीवाने-आम में शिवाजी ने औरंगजेब की जो उपेक्षा की उसने उनके स्वाभिमान को उस बुलंदी पर ले जा चढ़ाया जो बड़े

गर्व की बात है। औरंगजेब ने इन्हें आगरा के किले में बंदी बनाकर रख दिया। बंदीगृह से निकल भागने में उन्हें कई महीने लग गए पर औरंगजेब इस सिंह को अपने पिंजरे में बंद करके रख न सका। वे चतुराई से उसमें से निकल गए।

जितने समय तक वे महाराष्ट्र से बाहर रहे उनके थोड़े से सरदारों ने महाराष्ट्र में किसी प्रकार की अराजकता या उपद्रव नहीं होने दिया। बाहर से होने वाले आक्रमणों को भी उन्होंने इसी प्रकार रोके रखा। उनका कोई सरदार सपने में भी उनसे विद्रोह करने की सोच तक नहीं सकता। इसके मूल में शिवाजी की निस्पृहता और धर्म राज्य स्थापित करने की उत्कृष्ट कामना ही थी। उन्होंने कभी अपने को राजा नहीं माना। वे सदा महाराष्ट्र के एक सामान्य सेवक की तरह ही रहे। ऐसे व्यक्ति से भला कौन विद्रोह कर सकता था?

औरंगजेब को भी राजा जसवंत सिंह को भेजकर उनसे संधि करनी पड़ी और उन्हें एक स्वतन्त्र राजा स्वीकार करना पड़ा। यह सब उसने इसलिए किया था कि उसे दूसरे क्षेत्रों में उठ रहे विद्रोहों को दबाना था। थोड़े ही समय बाद फिर उसे महाराष्ट्र से लड़ना पड़ा। शिवाजी ने इसके लिए तैयारियाँ कर ही रखी थीं। जीवन भर औरंगजेब महाराष्ट्र को दबाने की पुरजोर कोशिश करता रहा पर वह सफल नहीं हो सका।

शिवाजी को ऐसे-ऐसे वीर साथी मिले जो देश के लिए प्राणों पर खेलने में हिचकिचाते नहीं थे। बाजीराव देशपांडे और तानाजी मालसरे जैसे सहस्रों वीर उनकी सेना में थे। महाराष्ट्र की पृष्ठभूमि तो समर्थ गुरु रामदास ने जनमानस में तैयार कर ही रखी थी उसे क्रियात्मक रूप शिवाजी ने दे डाला।

युद्ध कौशल और नीति कुशलता में ही नहीं राज्य प्रबंध के मामले में भी वे तत्कालीन राजाओं से निराले थे। उन्होंने वास्तव में सुशासन दिया था जनता को। उन्होंने राज्य प्रबंधकों के लिए अष्ट प्रधान मंडल की जिस परम्परा का प्रचलन किया जो आगे के लिए भी महाराष्ट्र मंडल की रीढ़ बना रहा।

वे पहले राजा थे जिन्होंने जागीरदारी व जमींदारी की प्रथा बंद करके भू-राजस्व वसूल करने के लिए सरकारी कर्मचारी नियुक्त किए। उनकी शासन व्यवस्था मौलिक थी पारम्परिक नहीं। इसमें प्रजा की उन्नति व सुख-सुविधा की भरपूर व्यवस्था थी।

शिवाजी ने राज्य की अधिकतम शक्ति अष्ट प्रधान मंडल के अधीन रखी व स्वयं नाममात्र के राजा रहे। उन्होंने जिस सुराज्य के लिए लड़ाईयाँ लड़ी थीं, वह सुराज्य उन्होंने अपने सुप्रबंध द्वारा लाकर बताया भी सही। लगातार छत्तीस वर्ष तक उन्होंने वन पर्वत एक करके अनेकानेक युद्ध करके सशक्त महाराष्ट्र की स्थापना का स्वप्न साकार किया जो उस समय की आवश्यकता थी।

उसके बीज लोगों के दिलों में विद्यमान थे पर उन्हें अंकुरित करके पल्लवित-पुष्पित पादप का रूप देने का श्रेय उन्हें मिला। महाराष्ट्र ही नहीं वे तो सारे भारत को मुस्लिम शासन से मुक्त देखना चाहते थे। बुंदेलखंड केसरी महाराज छत्रसाल को प्रारंभिक अवस्था में सहायता व मार्गदर्शन शिवाजी से ही मिला था। इस परंपरा को शिवाजी के उत्तराधिकारियों ने भी निभाया।

सन् १६८० में शिवाजी का देहावसान हो गया। उन्होंने अपने समय के एक युगपुरुष की भूमिका निभायी। उनका यह जीवन आदर्शों का एक चिरंतन प्रेरणा स्रोत है। उनके जीवन के कुछ प्रेरक प्रसंग इस प्रकार हैं -

गढ़ आया पर, सिंह चला गया

शिवाजी को सूचना मिली कि कोडलगढ़ में औरंगजेब द्वारा नियुक्त अधिकारी एक हिन्दू कन्या के साथ बलात् निकाह पढ़वाने वाला है। उन्होंने इस अनैतिक को रोकने के लिए कोडलगढ़ विजय के लिये तुरन्त कूच करने की आज्ञा अपने प्रिय योद्धा तानाजी के पास भेज दी।

उन्हीं दिनों ताना जी के पुत्र का विवाह होने वाला था, किन्तु उन्होंने कर्तव्य की गरिमा समझी तथा तुरन्त प्रस्थान किया। समय पर पहुँच कर कन्या का उद्धार किया तथा गढ़ जीत लिया, किन्तु उस अभियान में स्वयं भी बलिदान हो गये।

शिवाजी को गढ़-विजय तथा तानाजी के बलिदान का समाचार मिला तो उनके मुख से निकला- गढ़ आया पर, सिंह चला गया, दुर्ग का नाम सिंहगढ़ ही रख दिया गया।

ईश्वर की कृपा

अनावृष्टि से संकटग्रस्त जनता की सहायता के लिए छत्रपति शिवाजी एक बाँध बनवा रहे थे। मजूरी करके सहस्रों व्यक्ति उदर-पोषण का आधार प्राप्त कर रहे थे।

शिवाजी ने एक दिन उन्हें देखा तो गर्व से फूले न समाये कि वे ही उतने लोगों को आजीविका दे रहे हैं। यदि वे यह प्रयास न करते तो इतने लोगों को भूखा मरना पड़ता।

समर्थ गुरु रामदास उधर से निकले, शिवाजी ने उनका सम्मान, सत्कार किया और उदार-अनुदान की गाथा कह सुनाई।

समर्थ उस दिन तो चुप हो गये, पर जब दूसरे दिन चलने लगे तो शान्त भाव से एक पत्थर की ओर संकेत करके शिवाजी से कहा इस पत्थर को तुड़वा दो।

पत्थर तोड़ा गया तो उसके बीच एक गड्ढा निकला, उसमें पानी भरा था और एक मेंढकी कछेरकर रही थी।

समर्थ ने शिवाजी से पूछा- इस मेंढकी के लिए सम्भवतः तुमने ही पत्थर के भीतर यह जीवन-रक्षा की व्यवस्था की होगी? शिवाजी लज्जा से पानी-पानी हो गये।

गुरुदक्षिणा

“शिवाजी ! तू बल की उपासना कर, बुद्धि को पूज, संकल्पवान बन और चरित्र की दृढ़ता को अपने जीवन में उतार, यही तेरी ईश्वर-भक्ति है । भारतवर्ष में बढ़ रहे पाप, हिंसा, अनैतिकता और अनाचार के यवनी-कुचक्र से लोहा लेने और भगवान की सृष्टि को सुन्दर बनाने के लिये इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है ।” समर्थ गुरु रामदास ने सम्झाया ।

“आज्ञा शिरोधार्य देव ! किन्तु यह तो गुरु-दीक्षा हुई अब, गुरु-दक्षिणा का आदेश दीजिये ।” शिवाजी ने दृढ़ किन्तु विनीत भाव से प्रार्थना की ।

गुरु की आँखें चमक उठीं । शिवाजी के शीश पर हाथ फेरते हुए बोले- “गुरु-दक्षिणा में मुझे एक लाख शिवाजी चाहिए, बोल देगा ?”

“दूँगा गुरुदेव ! एक वर्ष एक दिन में ही यह गुरु-दक्षिणा चुका दूँगा ।” इतना कहकर शिवाजी ने गुरुदेव की चरण धूलि ली और महाराष्ट्र के निर्माण में जुट गये ।

पहले छोटे लक्ष्य पूर्ण करो

शिवाजी उन दिनों मुगलों के विरुद्ध छापामार युद्ध लड़ रहे थे । रात को थके मँडि वे एक वनवासी बुढ़िया को झोपड़ी में जा पहुँचे और कुछ खाने-पीने की याचना करने लगे ।

बुढ़िया के घर में कोदों थी सो उसने प्रेमपूर्वक भात पकाया और पत्तल पर उसके सामने परोस दिया ।

शिवाजी बहुत भूखे थे । सो सपाटे से भात खाने की आतुरता में अँगुलियाँ जला बैठे और उन्हें मुँह से फूँक कर जलन शान्त करने लगे ।

बुढ़िया ने आँखें फाड़कर उसे देखा और बोली- सिपाही तेरी शक्ल शिवाजी जैसी लगती है और साथ ही यह भी लगता है कि तू उसी जैसा मूर्ख भी है ।

शिवाजी स्तब्ध रह गये । उन्होंने बुढ़िया से पूछा- भला शिवाजी की मूर्खता तो बताओ और साथ ही मेरी भी ।

बुढ़िया ने कहा- तू ने किनारे-किनारे से ठण्डी कोदों खाने की अपेक्षा बीच के गरम भात में हाथ मारा और अँगुलियाँ जलालीं । यही बेअकली शिवाजी करता है, वह दूर किनारों पर बसे छोटे किलों को आसानी से जीतते हुए शक्ति बढ़ाने की अपेक्षा बड़े किलों पर धावा बोलता है और मार खाता है ।

शिवाजी को अपनी रणनीति की विफलता का कारण विदित हो गया । उन्होंने बुढ़िया की सीख मानी और पहले छोटे लक्ष्य बनाये और उन्हें पूरा करने की रीति-नीति अपनाई । छोटी सफलताएँ पाने से उनकी शक्ति बढ़ी और अन्ततः बड़ी विजय पाने में समर्थ हुए ।

जाति द्रोह का प्रतिफल

वीर शिवाजी और औरंगजेब के मध्य बीजापुर के शासक मसऊद खाँ के विरुद्ध सम्मिलित युद्ध अभियान की सन्धि हो गई । सन्धि की शर्तों के अनुसार शिवाजी को अपने पुत्र सम्भाजी को मुगल दरबार में रहन रहना पड़ा । मराठे औरंगजेब की कूटनीति जानते थे । अतएव वे मुगल-मराठा सन्धि के पक्ष में नहीं थे । सम्भाजी को मुगल दरबार में बन्धक रखना तो और भी अपमानपूर्ण लगा किन्तु शिवाजी को मराठों की वीरता पर विश्वास था इसलिये सन्धि-शर्तों के पालन में कोई दिक्कत न आई । मुगल सल्तनत में प्रवेश के साथ ही सम्भाजी की पहली दृष्टि पड़ी सुरा और सुन्दरियों पर । कर्म के दूरवर्ती परिणामों पर विवेकजन्य विचार न करने वालों, इन्द्रियों के आकर्षणों पर अंकुश न रख सकने वालों के समान ही सम्भाजी का भी इस तरह पतन प्रारम्भ हुआ और उसका अन्त अपने पिता के प्रति विद्रोह के रूप में आ प्रस्तुत हुआ ।

सम्भाजी को मालूम था कि दुश्चरित्रता भारतीयों में सबसे बड़ा अपराध होती है । शासक और मार्गदर्शक के लिए तो वह अक्षम्य भी होती है । एक बार स्थिति बिगड़ जाने पर सत्ता का उत्तराधिकार प्राप्त करना भी अनिश्चित था अतएव सम्भाजी पूरी तरह पाप-पंक में डूबे, वासना के कुचक्र में ही नहीं फँसे वरन् उन्होंने राष्ट्रघात भी किया । औरंगजेब को पिता की सेना, दुर्ग, कोष के ठिकानों का सारा अता-पता दे दिया । भारतीय इतिहासज्ञों का कथन है कि यह सब औरंगजेब के संकेतों पर हुआ किन्तु दोष सम्भाजी को ही दिया जाना चाहिए जो बुद्धिमान होकर भी विवेक स्थिर न रख सके यह जानते हुए भी वासना और राष्ट्रघात दोनों ही पतन के घर हैं अपने आपको वे नियन्त्रित न कर सके ।

औरंगजेब ने निश्चय किया कि अब बीजापुर विजय का श्रेय अकेले ही लूटना चाहिए, सो उसने सम्भाजी को लालच देकर लड़ने के लिए राजी कर लिया । शिवाजी के साथ हुई शर्त उसने ठुकरा दी और अपने क्रूर सेनापति दिलेर खाँ के साथ सम्भाजी को बीजापुर युद्ध में भेज दिया । शिवाजी मर्माहत हो उठे । बदला लेने के लिए उन्होंने बीजापुर नरेश का साथ दिया और अपने पुत्र व दिलेर खाँ के विरुद्ध मसऊद खाँ के साथ लड़ाई में भाग लेकर मुगल सेना को परास्त कर दिया ।

वे सम्भाजी को पकड़ना चाहते थे पर वह दिलेर खाँ के साथ पहले ही लड़ाई का मैदान छोड़कर भाग खड़ा हुआ । भारतीय लड़ाइयों में यवन शासकों की अधिकांश पराजय का कारण उनकी चरित्रहीनता ही रही है, जिसके कारण साहस और बल की दृष्टि से वे सदैव खोखले ही रहे और इस तरह प्रायः प्रत्येक युद्ध हारते रहे ।

हार का बदला क्रूरता । यह उनका दूसरा सिद्धान्त था । दिलेर खाँ जो कभी सम्भाजी का बड़ा मित्र बनता था । सम्भाजी की सहायक मराठी सेना को नष्ट हुआ देख कर छल कर बैठा । मार्ग में तिकोटा पड़ता था । यह स्थान मराठी सल्तनत का भाग था और सम्भाजी यहाँ के बच्चे-बच्चे से परिचित थे । इन सबके बाबजूद दिलेर खाँ ने नृशंसता की और मुगल सैनिकों ने तिकोटा को खूब जी भर कर लूटा ।

सन्ध्या हुई । सम्भा विचारमग्न लेटे हुए थे तभी पास के कोने से कराहने की आवाज आई । स्वयं उठकर देखने की हिम्मत नहीं थी तभी क्रूर हँसी के साथ दिलेर खाँ प्रविष्ट हुआ और सम्भाजी को उस खेमे में पकड़ ले गया जहाँ सैकड़ों भारतीय ललनाओं को बन्दी बनाकर उनके साथ अमानुषिक अत्याचार किया जा रहा था । सम्भाजी अपनी ही बहिनों पर अत्याचार देखकर सिहर उठे, हृदय चीत्कार उठा पर एक राष्ट्रघाती शर्म से सिर झुका लेने के अतिरिक्त कर भी क्या सकता था ?

प्रायश्चित्त उनकी धर्मपत्नी येसुबाई ने सुझाया । उसी रात सम्भाजी मुगलों के चंगुल से भाग निकले । पिता ने इन्हें क्षमा भी कर दिया पर जो भूल हो चुकी थी, जिसके कारण उन्होंने अपनी आँखों, अपनी संस्कृति को अपमानित होते देखा था उसके पश्चाताप की आग में वे मृत्युपर्यन्त झुलसते रहे ।

आदर्शों के हिमालय—

महाराणा प्रताप

महाराणा प्रताप और छत्रपति शिवाजी— ये दो नाम ऐसे हैं जिन्हें सुनकर आज भी हमारे रक्त में एक सन-सनाहट-सी उपजने लगती है । यदि हमारा रक्त पानी नहीं बन गया है तो निश्चय ही ये नाम उसमें प्यार उपजाए बिना नहीं रहते । इन महापुरुषों के व्यक्तित्व और कर्तव्य को काल की परिधि में नहीं बाधा जा सकता, ये चिरंतन हैं । अमर हैं । आज भी और हर काल भी ये नाम उतने ही प्रभामय और प्रेरक हैं और रहेंगे ।

व्यक्ति की अपनी नैतिकता अपना आदर्श और अपना स्वाभिमान तथा राष्ट्रीय-गौरव वह अलंकरण है जिनके आगे राज्य वैभव और विलास के समस्त साधन तुच्छ हैं । वह जीवन भी क्या जीवन है जिसका कोई मानवोचित आदर्श नहीं । वह व्यक्ति क्या व्यक्ति है जो अनीति अनाचार और दुष्टता से समझौता कर ले । ऐसे व्यक्ति की साँस भले ही चल रही हो पर वह निष्प्राण है, निर्जीव, चेतनाहीन । महाराणा प्रताप का जीवन इसी आदर्श का प्रतीक है ।

महाराणा प्रताप का जन्म सन् १५४० में मेवाड़ के महाराणा राजवंश में हुआ । यह वही राजवंश था जिसने

महाराणा सांगा और महाराणा कुम्भा जैसे आदर्श प्रजा सेवी शासक व मातृभूमि के रक्षकों को जन्म दिया था । महाराणा सांगा के पौत्र होने का जहाँ प्रताप को गर्व था वहीं महाराणा उदयसिंह के पुत्र होने का दुःख भी । उदय सिंह अपने पिता और मेवाड़ की शौर्य परम्परा को निभाने में असमर्थ ही रहे थे । उनके पिता ने ठेठ आगरा के पास खानवा के मैदान में जाकर भारत पर आक्रमण करने वाले बाबर से लोहा लिया था पर उदयसिंह उसके पौत्र अकबर से चित्तौड़ की रक्षा नहीं कर सके । वे वहाँ से भाग खड़े हुए ।

प्रताप की माता यद्यपि राजकुमारी नहीं थीं । वे उदयपुर के निकटवर्ती ग्राम देवारी के देगड़ा वंश की कन्या थीं । उनके पिता कृषि कर्म करते थे । वे पढ़ी-लिखी भी नहीं थीं । पर संतान का निर्माण कैसे किया जाता है इस कला में वे अति प्रवीणा थीं । शरीर से पूरी तरह स्वस्थ और मन से पूरी तरह निर्मल माता ने जहाँ राणा प्रताप को भीम का-सा शारीरिक बल दिया वहीं हिमालय की-सी आदर्शनिष्ठा और मनोबल भी दिया था । शिवाजी को छत्रपति बनाने का श्रेय जो उनकी माता जीजाबाई को है, वही महाराणा प्रताप को स्वाधीनता के अमर रक्षक और महान तपस्वी बनाने का श्रेय उनकी माता को ही है ।

उदयसिंह ने चित्तौड़ छोड़कर अरावली पर्वतों में सुरक्षित स्थल पर उदयपुर नगर का निर्माण किया था । उन्हीं पर्वतों में आखेट करते समय उन्होंने एक दिन एक स्वस्थ सबल कृषक कन्या को अरावली की खड़ी चढ़ाई में सिर पर भारी बोझ और हाथों में चार छह गाय के बछड़ों को पकड़े, जो अपनी बाल सुलभ मस्ती में पीछे की ओर लटक रहे थे, बड़ी सहजता से चढ़ते देखा तो उनके मन में विचार उठा कि इस कन्या के कोई पुत्र हो तो कैसा बलिष्ठ होगा । उनका यह विचार ही इस कृषक कन्या को मेवाड़ की महारानी बनाने का कारण बना ।

राणा प्रताप का जिरह-वख्तार लोहे का टोप व भाले आदि का वजन ही इतना था कि अकेला आदमी उसे उठा नहीं सकता फिर उनका शरीर कैसा होगा ? इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है । उनकी माता यद्यपि राज कन्या नहीं थी पर जिस कुल की वह वधू बनी थी उसकी मान मर्यादा और गौरव का उन्हें पूरा ध्यान था । उन्होंने राणा प्रताप को तन और मन दोनों से इतना सबल बना दिया कि वे मुगल सम्राट से बराबर की टक्कर ले सकें । एक ओर उन्हें वीर और त्यागी महापुरुषों की कहानियाँ सुना-सुना कर उनमें उच्च भावनाएँ भरें दूसरी ओर शस्त्र संचालन सिखाने और उनके शारीरिक बल सम्बर्द्धन की ओर भी उनकी माता ने पूरा ध्यान दिया ।

महाराणा उदयसिंह का ध्यान अपनी स्वतंत्रता की रक्षा से अधिक हासविलास में लगता था । उनका

अधिकांश समय इन्हीं में बीतता था। राणा प्रताप की सौतेली माता ने जो एक राज कन्या थी, उनसे अपने पुत्र जयमल को महाराणा बनाने का वचन ले लिया था। प्रताप की जननी ने अपने पुत्र के व्यक्तित्व व चरित्र निर्माण पर अधिक ध्यान दिया था, न कि उसे महाराणा बनाने पर। इस कारण आरम्भ से ही उनका लक्ष्य मातृभूमि की सेवा करना था न कि राजा बनकर सुख भोगने का। राणा कोई भी रहे वे तो मेवाड़ को स्वाधीन देखना चाहते थे— चित्तौड़ को मुगलों के अधिकार से मुक्त करना चाहते थे।

मेवाड़ के वीर सरदार उदयसिंह की कायरता पर क्षुब्ध थे। उनकी नजर प्रताप पर लगी थी। अपने दादा के समस्त गुण वे पौत्र में देख रहे थे जिनके नेतृत्व में वे देश की रक्षा के लिये बाबर से जुड़े थे। मेवाड़ी वीरों की अपनी राष्ट्रीय परम्परा रही थी। वे सारे भारत को अपना देश मानते थे तभी तो मुहम्मद गोरी के आक्रमणों के समय हर बार वे रावल समरविक्रम के साथ पानीपत के मैदान में लड़ने गये।

उदयसिंह की मृत्यु पर उनकी इच्छा के अनुसार जयमल को सिंहासन पर नहीं बैठने दिया, सरदारों ने प्रताप को ही महाराणा बनाया। प्रताप के लिये महाराणा बनने का अर्थ ही दूसरा था। वे सिंहासन पर पीछे बैठे पहले उन्होंने प्रतिज्ञा की— “मैं जब तक चित्तौड़ पर केसरिया ध्वज नहीं लहराऊँगा तब तक थाली में नहीं पत्तल पर भोजन करूँगा, भूमि पर शयन करूँगा, झोपड़ी में रहूँगा और नगाड़ा नहीं बजाऊँगा।”

हर कर्म का एक उद्देश्य होता है। यह उद्देश्य ही मनुष्य को क्षुद्र और महान बना देता है। जहाँ व्यक्तिगत स्वार्थ व सुख के लिये कुछ किया जाता है वहाँ क्षुद्रता और जहाँ किसी आदर्श के लिये कार्य किया जाता है वहाँ महानता की बात होती है। प्रताप ने महाराणा का पद अधिकार भोगने के लिये नहीं— कर्तव्य निभाने के लिये— व्यक्तिगत सुख भोग के लिये नहीं— राष्ट्रीय गौरव के लिये स्वीकारा। ये उनकी महानता का परिचायक है। महानता का पथ यही है। पथ तो प्रस्तुत रहा है, अभाव तो पथिकों का ही है।

प्रताप ने राज्य सिंहासन पर बैठते ही मेवाड़ की बिखरी शक्ति को पुनर्गठित करना आरम्भ कर दिया। महाराणा उदयसिंह के काल में यह लगभग उपेक्षित ही रही थीं। मेवाड़ के स्वाधीनता प्रिय सरदारों के हृदय में एक नया जोश उत्पन्न हो गया अपने इस नायक को देख कर। किन्तु प्रताप कुछ इससे भी दूर की बात सोच रहे थे। अब तक राज्य की रक्षा का काम थोड़े से सामन्तों और उनके सहायकों का कार्य रहा था। राजा-सामन्त और प्रजा ये उस समय की राजनैतिक समाज व्यवस्था के तीन आधार थे। इनमें एक आधार जो प्रजा अर्थात् नागरिकों

का था वह प्रायः राज्य की गतिविधियों में कोई भाग नहीं लेता था। वे तो राजा यदि अच्छा हुआ तो उसके राज्य में थोड़ी-सी राहत पा लेते थे और बुरा हुआ तो उसके राज्य के अन्याय को सह लेते थे। राज्य-व्यवस्था और राज्य की सुरक्षा के सम्बन्ध में यह वर्ग न तो अपना कोई कर्तव्य समझता था न अधिकार। यह तो बेचारी प्रजा थी जिस पर राजा और उसके मुट्ठी भर सामन्त शासन करते थे।

प्रताप को यह व्यवस्था कुछ उचित और युक्तिसंगत न जान पड़ी। उन्होंने राजा, सामन्त और प्रजा के बीच की दीवारों को तोड़ने का प्रयास किया। उदयपुर और उसके आप-पास के क्षेत्र में जो कि अरावली पर्वत श्रेणियों के कारण निरा बीहड़ था, कृषि योग्य भूमि बहुत कम थी। सब ओर जंगल ही जंगल था। इस जंगल में भील और मीणा नाम के आदिवासी लोग रहते थे, जो सभ्यता में पिछड़े होकर भी अपनी नैसर्गिक ईमानदारी, विश्वास और श्रमनिष्ठा के लिये प्रसिद्ध थे। महाराणा प्रताप ने इन लोगों को अपना सहयोगी बनाया। वे उनमें एक राजा की तरह नहीं उनके देशवासी भाई की तरह रहे, उनका हृदय जीता और उनमें यह भावना जगायी कि यह धरती उनकी है, उसकी रक्षा का दायित्व उनका भी है तथा राज्य की गतिविधियों में उनका भी हक है।

महाराणा प्रताप एक ओर अपने सरदारों-सामन्तों को अपनी मातृभूमि के खोये हुए भाग की पुनः प्राप्ति के लिये संगठित व शक्तिशाली बना रहे थे वहीं दूसरी ओर आदिवासियों में राष्ट्रीय भावना जगा रहे थे तभी दुर्योग से जयपुर के राजा मानसिंह का, जो अकबर की अधीनता स्वीकार कर चुका था, साथ ही अपनी बहिन का विवाह भी उससे कर चुका था, दक्षिण विजय करता हुआ इधर होकर निकला। उदयसागर के तट पर महाराणा अपने आदिवासी सहायकों के साथ शिविर डाले हुये थे। थोड़े ही दिनों में महाराणा ने इन प्रकृति पुत्रों का हृदय जीत लिया था। महाराणा उनके साथ बिना किसी दुःख के रहते थे। मानसिंह का महाराणा ने अच्छा स्वागत सत्कार किया। उसके स्वागत में अच्छा खासा भोजन दिया, पर जहाँ साथ बैठकर भोजन करने की बात थी, राणा टाल गये। स्वतंत्रता प्रेमी भील आदिवासियों के साथ एक ही पंगत में बैठकर भोजन करने वाले राणा को अपने स्वार्थ और सुख के लिये अपने जातीय और राष्ट्रीय स्वाभिमान को भुलाकर विधर्मी, विदेशी अकबर की अधीनता स्वीकार करने व अपनी बहन ब्याह देने वाले आदर्शच्युत मानसिंह के साथ बैठकर भोजन करना गँवारा न हुआ। उन्होंने कहला भेजा उनके सिर में दर्द है।

मानसिंह दर्द की समझ गया। अगले ही वर्ष वह इस दर्द की दवा करने शाहजादा सलीम के साथ एक विशाल सेना लेकर आ उपस्थित हुआ। महाराणा की तैयारी अभी अधूरी ही थी मुगल सेना की तुलना में उनके पास बहुत कम सेना थी। हल्दी घाटी के मैदान में दोनों का जमकर

मुकाबला हुआ। महाराणा प्रताप और उनके देशभक्त साथियों की वीरता देखते ही बनती थी। राणा पूरे जोश में थे और उनके सैनिक भी। लगता था कि वे मुगल सेना को गाजर-मूली की तरह काटकर रख देंगे। सलीम मरते-मरते बचा। मानसिंह भय के मारे सामने नहीं आया संख्या में कम होने के कारण राणा के साथी कटकर मरने लगे। इस युद्ध में उन्हें भयंकर हानि उठानी पड़ी।

अपने थोड़े से साथियों के साथ उन्हें वन-वन भटकना पड़ा। ऐसे समय में पर्वत पुत्र आदिवासियों ने अपने देश के वीर नायक की भरपूर सहायता की। वे हल्दी घाटी के युद्ध में भी लड़े थे उनके साथ। मुगल सेना पीछे पड़ी थी। खाने के लिए घास की रोटियाँ, मिलती कभी वे भी नहीं मिलतीं। राजकुमार के हाथ से वन विलाव घास की रोटी छीन कर भाग खड़ा होता है। महाराणा रोटी के अभाव में बिलखते राजकुमार को देखते हैं तो आँखें भर आती हैं। सोचते हैं वे भी झुक-जायें अनीति के आगे हार मान लें ? नहीं, फिर आदर्शों के लिये कौन कठिनाइयों-कष्टों को सहन करेगा।

महाराणा का यह स्वातंत्र्य प्रेम का उच्चादर्श भारतीय इतिहास की अनमोल धाती बनकर रह गया है। आज भी उनकी जयंतियाँ मनाई जाती हैं उनकी प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की जाती हैं क्योंकि उन्होंने एक महानतम भावना को उच्चतम विकास दिया था। कवि बाँकीदास ने उनके लिये लिखा है—

“अकबर घोर अंधार उघाणा हिन्दु अबर।

जागे जग दातार पोहरे राणाप्रताप सी।”

अकबर रूपी घोर अंधकार भरी रात्रि में सब भारतीय सो गये हैं किन्तु इस संसार के रचने वाले ईश्वर के महानतम अंश को स्वयं में जगाये हुए राणा प्रताप प्रहरी बने जागकर राष्ट्र और संस्कृति की रक्षा कर रहे हैं। आज जब सारा संसार अनैतिकता के अंधकार में डूबा हुआ है, तब इस अनैतिकता को मिटाने की शक्ति भर प्रयास करने वाले थोड़े से नैतिक लोगों के लिये उनका यह साहस क्या छोटा-मोटा सम्बल है ?

सत्य है महाराणा प्रताप के एक-एक करके सभी किले मुगलों के अधिकार में चले गये थे। उन्हें वर्षों तक बीहड़ वनों में अपने परिवार व अपने मुट्ठी भर साथियों के साथ घोर अभाव व कष्टों भरा जीवन व्यतीत करना पड़ा। जिन राजकुमारों के पाँव मखमल की सेजों से नीचे नहीं पड़ते थे वे घास की रोटी के लिये तरसे। किन्तु इस तप ने राणा की नैतिक विजय का लोहा उन हिन्दू राजाओं को ही नहीं मनवा दिया जिन्होंने स्वार्थ और सुख के लिये अपनी स्वतंत्रता व अपने राष्ट्रीय गौरव को बेच दिया था, वरन् स्वयं अकबर ने भी माना। कोई व्यक्ति बिना राज्य और बिना किसी सम्पदा के भी महान हो सकता है। यह उसने भी जाना।

अकबर का दरबारी रत्न अब्दुरहीम खानखाना राणा की महानता पर मुग्ध था। बीकानेर महाराज का भाई

पृथ्वीराज राठौर उसके मुँह के सामने महाराणा के अपराजेय व्यक्तित्व और स्वातंत्र्य प्रेम के गीत गाता था। मानसिंह और अन्य राजा भी मन ही मन अपनी क्षुद्रता को समझ रहे थे। इन सबके सामने उसे हल्दीघाटी के यद्ध में हुई अपनी विजय फीकी लगती थी।

उनकी जो प्रतिज्ञा थी कि उनका मस्तक केवल ईश्वर के सामने झुक सकता है, इस प्रतिज्ञा में उनका अहम् नहीं वरन् इनकी ईश्वर-निष्ठा, संस्कृति-निष्ठा व राष्ट्र-निष्ठा ही बोल रही थी। वे मातृभूमि छोड़ने और सिंध के रेगिस्तान में जाकर नयी शक्ति संगठित करने के लिये तैयार थे, पर वे अपने देश की स्वतंत्रता को व्यक्तित्व सुखों के लिये बेचने को तैयार नहीं हुए। कहना न होगा कि स्वतंत्र भारत उस समय राणा के हृदय में अवस्थित था। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय समस्त फ्रांस पर जर्मनी की सेना का अधिकार था पर जनरल दगाल के साथ फ्रांस का अस्तित्व व व्यक्तित्व इंग्लैण्ड में सुरक्षित था। ठीक उसी प्रकार राणा प्रताप सारे देश की स्वतंत्रता के प्रतीक बन चुके थे जबकि वे खाली हाथ थे, राज्य छिन चुका था।

राणा का तप पूरा हुआ। “भामाशाह के रूप में ईश्वर ने उनकी मनोकामना पूरी कर दी। भामाशाह ने अपने कोष की कुंजी इनके चरणों में रख दी जिससे २५ हजार व्यक्ति बारह वर्ष तक गुजर कर सकते थे। इस धन से उन्होंने पुनः शक्ति संगठित की और एक-एक करके बत्तीस किले मुगलों से छीन लिये।” केवल चितौड़ और माण्डलगढ़ के दो दुर्ग जीतने शेष रहे थे कि यह अमरविभूति इस संसार को छोड़ गयी। महाराणा प्रताप का यह स्वातंत्र्य प्रेम, आदर्शमय जीवन यदि हमारे रक्त में उबाल न लाए और हम इस अनैतिकता की सर्वभक्षी विभीषिका से स्वयं मुक्ति पाने और समाज को मुक्ति दिलाने के लिए व्यक्तिगत सुखों का मोह न त्याग सके तो इससे बड़ी लज्जा की बात और क्या होगी ?

विपत्तियाँ भी जिन्हें आदर्शों से डिगा नहीं सकतीं

स्वतन्त्रता संग्राम में जूझते हुए राणा प्रताप वन-पर्वतों में अपने छोटे परिवार सहित मारे-मारे फिर रहे थे। एक दिन ऐसा अवसर आया कि खाने के लिये कुछ भी नहीं था। अनाज को पीसकर उनकी धर्मपत्नी ने जो रोटी बनायी थी उसे भी वन-बिलाव उठा ले गया। छोटी बच्ची भूख से व्याकुल होकर रोने लगी।

राणा प्रताप का साहस टूटने लगा। वे इस प्रकार बच्चों को तड़पकर भूख से मरते देखकर विचलित होने लगे। एक बार मन में आया शत्रु से सन्धि कर ली जाय और आराम की जिन्दगी बितायी जाय। उनकी मुख-मुद्रा गम्भीर विचारधारा में डूबी हुई दिखाई दे रही थी।

१.८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-९

रानी को अपने पतिदेव की चिन्ता समझने में देर न लगी। वे स्नेहपूर्वक बोलीं-- नाथ ! किस चिन्ता में पड़ गये ? बच्ची भूखों मर थोड़े ही जायेगी। मर भी जाये तो राष्ट्र पर जहाँ बड़ों-बड़ों का बलिदान हो रहा है, एक बालिका और सही। हम अपने परिवार को अनीति के विरुद्ध संघर्ष के लिए एक आदर्श इकाई के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। हमें देखकर ही समाज में कठों से जूझकर आगे बढ़ने का उत्साह उभरेगा। इस साधना में बच्चे भी तो सहयोगी बनेंगे।

महाराणा को अपना संकल्प याद आ गया। राष्ट्र निर्माण की अपनी इकाई को आदर्श निष्ठा बनाये रखकर अपनी मंजिल की ओर बढ़ गये।

आदर्श के लिए लड़ने वाले योद्धा

शक्तिसिंह ने सामने खड़ी मेवाड़ के रणबाँकुरे राजपूतों की छोटी-सी सेना को एक नजर से देखा। पुनः सलीम और मानसिंह की इस संयुक्त-वाहिनी को देखा। वह मन ही मन हैसा- ये मुट्ठी भर सैनिक स्वयं ही मृत्यु के ग्रास बनने को आ रहे हैं। विभिन्न प्रकार के हथियारों से सुसज्जित इस विशाल सेना के सामने ये कहाँ तक टिक सकेंगे। अब राणाप्रताप का वह गर्व मिट्टी में मिलकर ही रहेगा तथा मेरे हृदय-कुण्ड में जल रही प्रतिशोध की अग्नि का शमन होगा।

रणभेरी बजी। दोनों ओर के सैनिक एक दूसरे पर झपट पड़े। तलवारों जौहर दिखाने लगीं। राजपूत जिन्होंने मरना सीखा था जीना नहीं, मुगलसेना के सैनिकों को ऐसे काटने लगे जैसे थोड़े से किसान विशाल खेत को काटने के लिए जुट पड़े हों और देखते ही देखते मैदान खाली हो जायगा। राणाप्रताप की तलवार जिधर भी चलती उधर मुण्ड ही मुण्ड छितरा जाते, मैदान साफ हो जाता। मुगल सैनिकों के पाँव उखड़ने लगे।

एक ओर सच्चे देशभक्त थे जो अपनी मातृभूमि की रक्षा हेतु प्राणोत्सर्ग करने को प्रस्तुत थे। दूसरी ओर वेतन भोगी कर्मचारी मात्र।

राणा प्रताप का घोड़ा गजासीन सलीम के निकट जा पहुँचा ? चेतक ने कूदकर अपने अगले दोनों पाँव हाथी के कानों पर रख दिये। राणा प्रताप ने उसे लक्ष्य कर भाला मारा। सलीम अपनी प्राणरक्षा के लिए हौदे में छिप गया। उसी समय किसी मुगल सैनिक ने चेतक का पिछला पाँव काट दिया।

इसी समय सादड़ी के सरदार मन्ना झाला ने देखा कि राणाप्रताप के प्राण संकट में हैं। वे न रहे तो हिन्दुओं का सूर्य अस्त हो जायगा। मैं तो बड़ा हो चला, मर भी गया तो कोई हानि न होगी। शीघ्र ही यह निर्णय ले वह राणा है प्रताप के पास आया और उनके राज चिह्न धारण कर लड़ने लगा। मुगल सेना उसको राणा समझ कर उस पर टूट पड़ी। घायल चेतक अपने स्वामी को न चाहते हुए भी

उन्हें सबन बन की ओर लेकर भाग चला। सरदार मन्ना झाला ने अपने प्राणों की आहुति देकर महाराणा की जान बचाली।

शक्तिसिंह ने राणा को मैदान छोड़कर जाते देख लिया। दो मुगल सैनिकों को भी यह ज्ञात हो गया। उन्होंने राणा का पीछा किया। शक्तिसिंह भी उनके पीछे ही चला कि वे बचकर न निकल जायें।

रणभूमि में शक्तिसिंह के घोड़े की टापों तले योद्धाओं के शव कुचलते जा रहे थे। पन्द्रह बीस मुगल सैनिकों के ढेर के निकट इक्का-दुक्का राजपूत खेत रहा था। शक्ति सिंह के मन में विचार उठा- मेवाड़ की मिट्टी व रक्त से सींचे पौधे, बड़े होकर आज धरती की गोद में सदा के लिए सो गये हैं। कितने भाग्यशाली हैं ये ? मातृभूमि की रक्षा के लिये हैंसते-हैंसते बलि हो गये। तभी उसके भीतर से किसी ने पूछा- "और तुम प्रताप के छोटे भाई होकर?" उसके अन्तर में सोया देश प्रेम जाग उठा। वह स्वयं को धिक्कारने लगा। कितना अभागा हूँ मैं ? "प्रतिशोध लेने चला था अपने ही भाई से, प्रकारान्तर में मातृभूमि से।" आज कितनी ही क्षत्राणियों की माँगों के सिंदूर पुछ गये, रक्त की नदियाँ बह गईं और मैं अपनी मातृभूमि के किसी काम न आ सका। कैसे इस पाप का प्रायश्चित्त करूँगा ?

उसने देखा दोनों मुगल सैनिक राणा का पीछा कर रहे हैं। राणा के प्राण संकट में हैं। उसने अपना घोड़ा दौड़ाया और उनके समीप पहुँच गया। जहाँ दोनों सैनिक राणा को तलवार का निशाना बनाना चाहते थे। उसी समय शक्तिसिंह आ पहुँचा। उसने अपनी तलवार के चार से दोनों मुगल सैनिकों को धराशायी कर दिया।

चेतक मूर्च्छित होकर गिर पड़ा था, प्रताप के समक्ष शक्तिसिंह अपराधी के समान खड़ा था राणा ने कहा- मेरे प्राण शेष हैं वह भी ले ले। इतने राजपूतों के खून से भी तेरा प्रतिशोध पूरा नहीं हुआ ?

किन्तु शक्तिसिंह की आँखों से प्रायश्चित्त के आँसू बह रहे थे। वह राणा प्रताप के चरणों पर गिर पड़ा।

भामाशाह का अनोखा त्याग

स्वतन्त्रता के अमर पुजारी महाराणा प्रताप मेवाड़ रक्षा का अन्तिम प्रयास करते हुये भी निराश हो चले थे। सारा राज्यवैभव समाप्त हो गया। अकबर की विशाल सेना का मुकाबला मुट्ठी भर राजपूत ही कर रहे थे। अपने शौर्य, पराक्रम और वीरता से उन्होंने दुश्मनों के दाँत खट्टे कर दिये थे। परन्तु बेचारे करते क्या ? इधर अल्पसंख्यक राजपूत, उधर टिड्डी दल की तरह मुगलों की अपरमित सेना। जब एक सेना समाप्त हो जाती, दूसरी पुनः लड़ने के लिये भेज दी जाती। जब एक जगह का रसद पानी समाप्त हो जाता, दूसरे जगह से शीघ्र ही सहायतार्थ पहुँचा दिया जाता। अकबर की विशाल सेना और अतुल साधनों का

मुकाबला महाराणा अपने थोड़े सैनिकों और अल्प-साधनों से अब तक करते आ रहे थे ।

अन्त में समय ऐसा आ गया जब सारा धन और सारी सेना समाप्त हो गई । अब न पास में पैसा रहा और न अन्य साधन ही जिससे पुनः सेना तैयार करते । मातृभूमि की रक्षा के लिये एक भी उपाय सोचे बिना नहीं चूके, परन्तु क्या करते अब एक भी बश नहीं चल रहा था । उधर शत्रु सेना बढ़ती ही चली आ रही थी । अरावली की पहाड़ियों में भी छिपकर जीवन बिता लेने की कोई सुरत न दीख रही थी । शत्रुदल वहाँ भी अपनी टोह लगाये बैठा हुआ था ।

अपने जीवन की ऐसी विषम घड़ियों में एक दिन महाराणा व्यथित-हृदय एकान्त में विचार करने लगे — “अब मातृभूमि की रक्षा न हो सकेगी । माँ की रक्षा न कर सकने वाले मुझ अधमरे को इस समय देश का त्याग कर कम से कम अपनी रक्षा तो कर ही लेनी चाहिए जिससे भविष्य में कभी दिन लौट है और पुनः माँ को शत्रु के हाथों से स्वतन्त्र कर सकूँ ।”

दूसरे दिन प्रातः अपने परिवार और बचे खूबे साधियों सहित वे सिन्ध प्रदेश की तरफ चल दिये । अभी थोड़ी ही दूर गये होंगे कि पीछे से किसी ने आर्त भरी आवाज लगाई “महाराणा ठहरो हम अभी जीवित हैं । राणा ने पीछे मुड़ कर देखा तो उनके राज्य के पुराने मन्त्री भामाशाह दौड़ते-हाँफते हुए उनकी तरफ चले आ रहे हैं । उन्होंने अभी-अभी राणा के देश त्याग का समाचार पाया था ।

समीप पहुँचकर डबडबायी आँखों से भामा बोले— “राजन् आप निराश हो जायेंगे तो आशा फिर किस के सहारे जीवित रहेगी ?” मुख मलीन किये हुए राणा प्रताप बोले, “मन्त्रिवर ! देश रक्षा के मेरे सारे साधन समाप्त हो चले । किसी साधन की खोज में ही कहीं चल पड़ा हूँ । यदि सुयोग हुआ तो फिर लौट सकूँगा वरना सदा के लिये मातृभूमि से नाता तोड़ के जा रहा हूँ ।”

स्वतन्त्रता के पुजारी और मेवाड़ के सिंह की बातें बड़े भामाशाह के कलेजे में तीर जैसी जा चुर्भी वे हाथ जोड़कर बोले— “अपने छोड़े की बाग मेवाड़ की तरफ मोड़िये और नये सिरे से लड़ाई की तैयारी कीजिये । इसमें जो कुछ भी खर्च पड़ेगा मैं दूँगा । मेरे पास आपके पूर्वजों की दी हुई पर्याप्त धन राशि पड़ी हुई है । जिस दिन मेवाड़ शत्रु के हाथों चला जावेगा, उस दिन वह अतुल सम्पत्ति भी तो उसी की हो जावेगी । फिर इससे अधिक सुयोग और क्या हो सकता है जब मातृ-भूमि से उपार्जित कमाई का एक-एक पैसा उसकी रक्षा में लगा दिया जाय ।

भामाशाह के इस अपूर्व त्याग और देशभक्ति की बातें सुनकर महाराणा प्रताप का दिल भर आया । वे वापस लौटे और उस सम्पत्ति से एक विशाल सेना तैयार करके शत्रु से युद्ध हेतु जा डटे और सफलता प्राप्त की । कहते हैं कि भामाशाह ने इतनी सम्पत्ति अर्पित की जिससे महाराणा की पच्चीस हजार सेना का बारह वर्ष तक का खर्च चला

था । भामाशाह चले गये और सभा भी अब नहीं है पर उनकी कृतियाँ अब भी हैं और सदा तक रहेंगी । देश को जब भी आवश्यकता पड़ेगी, उनकी प्रेरणाएँ अनेक राणा तैयार करेंगी और उसी प्रकार अनेक भामाशाह भी पैदा होते रहेंगे जो अपनी धिर-संधित पूँजी को मातृभूमि के रक्षार्थ अर्पित करते रहेंगे ।

मध्य-युग का महान क्रान्तिकारी— हरसिंह

कुमार्य और गढ़वाल के प्रत्येक गाँव में उस क्रान्तिकारी के स्मारक बने हुए हैं जिन्हें ‘थान’ कहा जाता है । किसी बड़े पेड़ के नीचे सोहे के त्रिशूल और चिमटे गढ़े होना और पेड़ की टहनियों पर लाल और सफेद रंग के धीरे बँधे होना ‘थान’ की निशानी है । आज भी कोई वृद्धा, निर्बल, निर्धन, विधवा या असहाय व्यक्ति किसी सामर्थ्यवान, सत्त्वान व्यक्ति द्वारा सताया जाने पर यहाँ आकर चावल-अक्षत खड़ाता है और अपनी सहायता करने की प्रार्थना करता है । लोगों का विश्वास है कि उस महान क्रान्तिकारी जिसने आजीवन अत्याचार और शोषण से पीड़ित मनुष्यों की रक्षा की, उसकी आत्मा उनकी पुकार को सुनती है और उनकी सहायता करती है । पहाड़ी जनता का आज भी ऐसा विश्वास है । अपने सुकृत्यों के द्वारा मृत्यु के पाँच सौ वर्ष बाद भी इतना सम्मान, इतनी श्रद्धा और इतना विश्वास पाने वाला यह क्रान्तिकारी था हरसिंह, जो सम्भवतः हमारे देश का पहला क्रान्तिकारी था ।

कुमार्य और गढ़वाल में आज भी उसके गीत गाये जाते हैं । इन गीतों को ‘जागर’ कहा जाता है । जागर का अर्थ है जगाने वाले । सबसे बड़ा जागर हरसिंह का ही है । बुन्देलखण्ड में ‘आल्हा’ जितना जनप्रिय है उतना ही गढ़वाल और कुमार्य में जागर । यद्यपि मुस्लिम इतिहासकार इस सन्दर्भ में प्रायः मौन रहे हैं । वे अपने सम्राटों के विरुद्ध क्रान्ति करने वालों के विषय में विस्तर से क्यों कहेंगे । उनमें तो संक्षिप्त विवरण भर मिलता है । किन्तु पर्वतीय जनता ने इस क्रान्तिवीर को अपने लोक गीतों के माध्यम से अमर कर दिया है । हरसिंह का जागर सामूहिक रूप से ग्यारह रात और ग्यारह दिन तक गाया जाता है ।

हरसिंह तत्कालीन राजाओं की परम्परा से सर्वथा अलग-थलग जन प्रतिनिधि क्रान्तिकारी के रूप में उभरे, न तो वे राजवंश कुलोत्पन्न थे और न ही उन्होंने अन्य राजाओं की तरह अपना पारम्परिक राज्य ही स्थापित करने का प्रयास किया । वरन् उन्होंने जनता को संगठित करके मुगल शासन और कच्ची हिन्दू राजाओं के शोषण से पर्वतीय जनता को मुक्ति दिलाने के लिये अपना जीवन होम दिया था । वे इतिहासकारों की दृष्टि में कटेहर के राजा थे किन्तु सही बात तो यह थी कि वे जनक्रान्ति के नेता थे ।

हरसिंह का बचपन बहुत असहाय अवस्था में बीता । उनका काल सन् १३९० से १४७५ था । उनके जन्म के साथ अत्यन्त करुण और वीभत्स कहानी जुड़ी हुई है । उनकी माता अपने परिवार के सहित उत्तराध्यायी के अवसर पर हरिद्वार में कुम्भ का मेला देखने गयी थी । वह अविवाहिता ही थी । इस मेले के अवसर पर अचानक तुर्कों ने हरिद्वार पर आक्रमण कर दिया । भयंकर लूट-पाट, हत्या और कुकर्म किये तुर्कों ने । कालिनारा (हरसिंह की माता) अपने शील की रक्षा हेतु गंगा में कूद पड़ी पर एक तुर्क ने उसे बचाकर उसके साथ जघन्य कर्म किया और जंगल में असहाय छोड़ चलता बना ।

कालिनारा ने इस पाप से मुक्ति पाने के लिये कई बार आत्मघात करने का प्रयास किया पर योगी गोरखनाथ द्वारा बचा ली गयी । हरसिंह और सैम नामक दो जुड़वाँ पुत्रों को जन्म देने के बाद वह सदा के लिये गंगा की गोद में समा गयी । योगी गोरखनाथ ने दोनों बच्चों को पाला ।

कुछ वर्षों तक तो ये बालक योगी गोरखनाथ के आश्रम में पलते रहे । गोरखनाथ के साधना हेतु स्थान परिवर्तन के कारण वे अनाथ हो गये । भटकते-भटकते वे हंसुलागढ़ पहुँचे वहाँ कुछ दिन एक सहृदय गोपालक की गायें चराते हुए दिन काटते रहे । अवैध सन्तान होने के कारण उन्हें समाज से अपमान और तिरस्कार ही मिला । लोग उनसे अंत्यज की तरह व्यवहार करते ।

एक दिन तुर्क सैनिक कुछ गौओं के साथ सैम को भी पकड़कर ले गये । हरसिंह अपने भाई के इस प्रकार पकड़े जाने पर बहुत दुःखी हुए और इस अत्याचार का बदला लेने की सोचने लगे ।

गुरु गोरखनाथ के साथ कुछ वर्षों तक रहने के कारण हरसिंह के बाल मन पर कुछ ऐसे संस्कार पड़ गये थे कि वे समय पाकर असर दिखाने लगे । अन्याय का प्रतिकार करने के लिये शक्तिशाली बनना आवश्यक था । अतः वे शक्ति-सम्बर्द्धन में लगे । उन्होंने साधु का वेश धारण किया और संयम-नियम से रहते हुए जनशक्ति संग्रह के लिये अलख जगाने लगे । कुमार्ग यात्रा करते हुए उन्हें चम्पावत ग्राम में गोरिया नामक सहायक मिला । उसके पास धन भी था और स्वल्प जन-शक्ति भी थी । इन दोनों ने मिलकर सैम को कारागार से मुक्त कराया ।

अन्याय, अत्याचार का प्रतिकार करने के उद्देश्य से उन्होंने अपनी शक्ति बढ़ायी और वे कटेहर के प्रशासक बने । यों उनका जीवन संन्यासी का-सा ही रहा, व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं से शून्य । उन्हें कटेहर का प्रशासक या राजा कहने की अपेक्षा उस क्षेत्र की जनता को संगठित करके तत्कालीन शासकों के अन्याय, अत्याचार के विरुद्ध खड़ा करके उस क्रान्ति का नेतृत्व करने वाला नायक कहना ही उपयुक्त होगा ।

जनता कर इसलिये देती है कि राजा उसकी सुरक्षा करे- उसे सुशासन दे, जबकि उस समय के तुर्क राजा गयासुद्दीन बलबन, मुहम्मद बिन तुगलक आदि केवल

अपनी सेना बढ़ाने, अपने ऐशो-आराम के साधन जुटाने और प्रजा पर अत्याचार करने के अतिरिक्त और कुछ करते ही नहीं थे । फिर उन्हें कर देने का क्या औचित्य ? यह बात हरसिंह ने उन्हें बतायी । किन्तु वे अपने को कमजोर और सामर्थ्यहीन समझते थे । इस पर हरसिंह उन्हें समझाते-“कर वसूलने के लिए पाँच दस सिपाही आते हैं और गाँव के दो-सौ आदमियों से कर वसूल कर ले जाते हैं कर नहीं देने पर मारते, पीटते और अपमानित करते हैं, ऐसा क्यों होता है । क्योंकि हम कभी एक होकर नहीं सोच सकते । हम यदि संगठित होकर विरोध करें तो पाँच-तो क्या पाँच सौ से भी भारी पड़ें । किन्तु हम संगठित होना नहीं जानते, संगठन की शक्ति से परिचित नहीं होते ।”

उनकी इन बातों का लोगों पर जादू का-सा असर होता । लोग जागने लगे । धीरे-धीरे उनके पास हजारों स्वयं सेवक सैनिक तैयार हो गए जो वक्त आने पर अपना काम छोड़ कर सैनिक बन जाया करते थे । हरसिंह ने कटेहर (वर्तमान रुहेलखण्ड) को दिल्ली साम्राज्य की पराधीनता से मुक्त कर लिया ।

यह उस काल की अपूर्व घटना थी । मध्ययुग में दिल्ली साम्राज्य का विरोध करने के लिये जनता में राजनैतिक चेतना जगाने का यह अपूर्व काम हरसिंह ने किया था । उनके द्वारा चलाया गया ‘कर न दो’ आन्दोलन वस्तुतः बहुत बड़ी क्रान्ति थी । जिस प्रकार अँग्रेज इतिहासकारों ने भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की सच्ची तस्वीर अपने इतिहास में नहीं खींची वैसा ही मुस्लिम इतिहासकारों ने भी किया है ।

‘तारीख-ए-मुबारक शाही’ पुस्तक के अनुसार सन् १४१८ में दिल्ली के शासक खिज़्र ख़ाँ सैयद ने कटेहर के इस जन-विद्रोह जिसका नेतृत्व हरसिंह कर रहे थे, को कुचलने के लिए सेनापति ताजुल मुल्क के नेतृत्व में विशाल शाही सेना भेजी थी । इस विशाल सेना का मुकाबला जनता के जवान करने में समर्थ नहीं थे अतः हरसिंह पीछे हट गये । इस युद्ध में उनकी पराजय हुई । किन्तु यह पराजय क्षणिक थी । शाही सेना के लौटते ही १४२० में उन्होंने पुनः कटेहर को स्वतन्त्र कर लिया । तीन वर्ष तक उस प्रदेश से कर के नाम पर एक पैसा भी शाही खजाने में जमा नहीं हुआ था ।

१४२४ में खिज़्र ख़ाँ का ध्यान पुनः कटेहर की ओर गया । उसने अपने पुत्र शेख मुबारक शाह सैयद को एक बहुत बड़ी सेना देकर हरसिंह को परास्त करने के लिए भेजा । मुबारक शाह की इस विशाल सेना को परास्त करने के लिए हरसिंह ने कत्यूरी नरेश पृथ्वीपाल से सहायता चाही । पृथ्वीपाल ने उसे सहायता दी जिससे वह शाही सेना के दौत खट्टे करके पीछे हटाने में सफल हुए । ‘रहब’ नदी के तट पर जहाँ पृथ्वीपाल और हरसिंह की सम्मिलित सेना ने तुर्क सेना को हराया था वहाँ नैनीताल के रानीबाग नामक स्थान पर आज भी प्रतिवर्ष उन्हीं दिनों

विजयोत्सव मनाया जाता है। इतिहासकार इस पर मौन रहे हों पर वहाँ के लोकगीतों ने आज भी उस विजय की याद को ताजा बना रखा है।

कटेहर के एक सामान्य से विद्रोही होने पर भी हरसिंह अनूठे और प्रेरणादायक व्यक्तित्व के धनी थे। आज भी कुमायूँ का लोकमानस भूला नहीं है। पृथ्वीपाल के दरबारी कवि धरमदास ने हिमालय की उपत्यिकाओं में निवास करने वाले पर्वत-पुत्रों में आत्मसम्मान, स्वतन्त्रता, भ्रातृभाव और संगठन-शक्ति का प्रचार करने के लिये हरसिंह के जीवन पर काव्य-ग्रन्थ रचकर उसे अमरत्व प्रदान कर दिया है। जिसे मुसलमान साहित्यकारों के द्वारा लिखे गये पक्षपातपूर्ण इतिहास की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक और विश्वस्त कहा जा सकता है। लोक-साहित्य की तो वह निधि है ही।

एक अनाथ और असहाय बालक की दयनीय स्थिति से ऊपर उठकर उस प्रदेश की जनता का नेतृत्व करने-अपने स्वाभिमान की रक्षा ही नहीं जातीय स्वाभिमान और मानवीय मूल अधिकार-स्वतन्त्रता के लिए प्रबल जन आन्दोलन खड़ा करने वाला यह प्रखर व्यक्तित्व मनुष्य की आत्म-शक्ति और संकल्प-शक्ति का अनूठा उदाहरण है। अन्यायपूर्ण मुस्लिम शासन से कटेहर की जनता को मुक्ति दिलाने वाला यह व्यक्ति कभी जन-जन द्वारा उपेक्षित किया गया, ठुकराया गया था पर उसने समाज से घृणा नहीं की। उसने समाज के उपकारों की ओर ही ध्यान दिया। यदि योगी गोरखनाथ उनका पालन-पोषण नहीं करते, समाज में जहाँ दस ने उनकी उपेक्षा की, दो ने प्यार भी दिया था। उस प्यार का प्रतिदान चुकाने के लिये उसने जीवन समर्पित किया तो वही उपेक्षित 'हर' हरसिंह बन गया और सदियों तक पूजा गया। यह कीर्ति, यह अमरत्व उसका अपना उपार्जित किया हुआ था।

हरसिंह ने मुस्लिम शासन से कुमायूँ की जनता को मुक्त कराने का उद्योग ही नहीं किया वरन् समाज के पीड़ित और शोषित वर्ग का प्रतिनिधि बनकर उसने निस्संतान विधवाओं को भूमि का अधिकार दिलाने के लिए संघर्ष भी किया। हिन्दू-राजाओं द्वारा प्रजा पर लगाये गये अतिरिक्त कर भार के विरुद्ध आन्दोलन किया। केदारनाथ मन्दिर के लिए जनता पर लगाया गया 'देवकर' उसी के प्रयासों से बन्द हुआ।

उनके इन क्रान्तिकारी जन-आन्दोलनों के कारण कुछ सम्पन्न ब्राह्मण और क्षत्रीय उसके विरोधी हो गए। वीर सिंह मनारी नामक एक क्षत्री ने उसके सेनापति मोरिया का वध कर दिया। उसका भाई सैम पहले ही युद्ध में काम आया था। इस प्रकार अपने दो निकट सहयोगियों की मृत्यु हो जाने पर भी उन्होंने अपने इस आन्दोलन को स्थगित नहीं किया। उनके इन प्रयासों से कुमायूँ में निरंकुश शासक अन्याय और अत्याचार के पक्ष से विरत हो सुशासन की रीति-नीति अपनाने को विवश हुए।

हरसिंह, सैम और गोरिया तीनों आजन्म अविवाहित रहे। पर्वतीय जनता में संगठन और आत्मसम्मान की भावना जगाने और निरंकुश शासन पर अंकुश लगाने का जो महत्वपूर्ण काम उन्होंने अपने हाथ में लिया था उसमें घर-परिवार की जिम्मेदारियाँ उठाने के लिए स्थान नहीं था। अतः एक ही ध्येय को समर्पित होकर उन्होंने अपने काम में सफलता हासिल की। उन्हें कुमायूँ की जनता आज भी 'निरधारी निरकारी दयाल ठाकुर' के नाम से श्रद्धा सहित याद करती है। निर्बलों के सहायक और अत्याचार के प्रबल विरोधी के रूप में उनका व्यक्तित्व सामान्य मानव से ऊपर उठकर देव स्तर तक पहुँच चुका है। उनका यह जीवन आज भी उतना ही प्रेरक और स्मरणीय है।

पराधीनता से संघर्ष करने वाले - गैरीवाल्डी

पराधीनता मनुष्य के लिये बहुत बड़ा अभिशाप है वह चाहे व्यक्तिगत हो अथवा राष्ट्रीय, उससे मनुष्य के चरित्र का पतन हो जाता है, गुणों का हास होने लगता है और तरह-तरह के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इसीलिये कवियों ने पराधीनता को एक ऐसी 'पिशाचिनी' की उपमा दी है जो मनुष्य के ज्ञान, मान, प्राण सब का अपहरण कर लेती है।

दूसरे को पराधीन बनाना संसार में सबसे बड़ा अन्याय और दुष्कर्म है। भगवान् ने संसार में अनेक प्रकार के छोटे-बड़े, निर्बल-सबल, मूर्ख-चतुर, प्राणी बनाये हैं। ईश्वरीय नियम तो यह है कि जो अपने से छोटा, कमजोर, नासमझ हो उसको आगे बढ़ने में, उन्नति करने में सहायता दी जाय, प्रगति-क्षेत्र में उसका मार्गदर्शन किया जाय पर इसके विपरीत जो कमजोर को अपना भक्ष्य समझे हैं, छलबल से उसके स्वत्व का अपहरण करने को ही अपनी विशेषता समझते हैं, उन्हें कम से कम 'मानव' पद का अधिकारी तो नहीं कह सकते। इनकी गणना तो उन क्रूर, हिंसक पशुओं में ही की जा सकती है, जिनका स्वभाव ही खूँखार बनाया गया है और जो सब के लिये भय के कारण होते हैं।

इटली के गैरीवाल्डी (जन्म १८०७) संसार के उन महापुरुषों में से थे जिनको इस प्रकार की पराधीनता घोर अन्याय जान पड़ती थी और जिन्होंने अपने ही देश में नहीं वरन् जहाँ भी सामने अवसर आया अथवा कर्तव्य की पुकार सुनाई दी, वहीं उसके विरुद्ध प्राणपण से संघर्ष किया। यद्यपि वे इटली के निवासी थे और वहीं के लिये वे स्वाधीनता-संग्राम में सैनिक बने थे, पर उन्होंने दक्षिण अमरीका के भी कई छोटे राष्ट्रों के स्वाधीनता-संग्राम में प्रमुख भाग लेकर उनको पराधीनता के बन्धनों से छुड़ाया।

गैरीवाल्डी के पिता एक निर्धन मल्लाह थे, इससे छोटी आयु से ही उन्हें समुद्र में नाव चलाने का काम करना

पड़ा और कुछ ही समय में वे कुशल नाविक बन गये । इस कला ने उनका आजीवन साथ दिया और उन्होंने विभिन्न देशों के स्वाधीनता-संग्रामों में समुद्री सेना संगठन तैयार करके पर्याप्त सहायता पहुँचाई । २७ वर्ष की आयु में वे उन्नति करते-करते एक जहाज के कप्तान बन गये इस कार्य में उन्होंने अनेक देशों की यात्रा की और संसार की स्थिति का बहुत कुछ अनुभव प्राप्त किया । उनको यह देखकर बड़ा दुःख होता था कि उनका देश, जो एक प्राचीन सभ्यता का जन्मदाता है और सैकड़ों वर्षों तक समस्त योरोप पर शासन करके अनेक पिछड़ी जातियों को सभ्यता का पाठ पढ़ा चुका है, आज बड़ी गई-गुजरी दशा में परमुखापेक्षी बना हुआ है । इन दिनों फ्रान्स, जर्मनी, आस्ट्रेलिया आदि इटली पर तरह-तरह के अन्याय करते रहते थे और मनमाने ढंग से उसका बँटवारा कर देते थे, मानो वह उन्हीं की जायदाद हो ।

गैरीवाल्डी पर भी इस दयनीय परिस्थिति का प्रभाव पड़ा और वह इस सम्बन्ध में कुछ कार्य करने का विचार करने लगे । उसी समय उन्हें पता लगा कि जिनोआ नगर में मेजिनी नामक देशभक्त ने तरुण इटली नाम की एक गुप्त संस्था स्थापित की है, जिसका लक्ष्य इटली को स्वाधीन करके प्रजातन्त्र शासन की स्थापना है । गैरीवाल्डी तुरन्त जिनोआ पहुँचकर इस संस्था में शामिल हो गये और देश के शत्रुओं को भगाने की योजनाएँ रचने लगे । निश्चय हुआ कि गैरीवाल्डी अपने साथियों को लेकर जिनोआ के तोपखाने पर अधिकार कर लेंगे और मेजिनी 'पीडमॉन्ट' को कब्जे में करके वहाँ प्रजातन्त्र की घोषणा करेंगे । योजना बहुत कुछ कार्यान्वित हो चुकी थी कि एक साथी के विश्वासघात के कारण उसका रहस्य सरकारी कर्मचारियों को मालूम पड़ गया । बहुत से लोग पकड़े गये और उन्हें प्राणदण्ड की सजा दी गई । पर गैरीवाल्डी एक किसान का भेष बनाकर पहाड़ी मार्ग से नाइस नगर पहुँच गये और वहाँ से एक जहाज पर सवार होकर दक्षिण अमरीका चले गये ।

दक्षिण अमरीका में वे ६ वर्ष तक रहे और इस बीच में 'रिओडिजेनरो' तथा 'अरुग्वे'— के देशों के विद्रोह में साथ देकर विदेशियों के अन्यायी शासन को हटाने का श्रेय प्राप्त किया । यहीं पर एनिटा नामक महिला से उनका विवाह हो गया, जिसने आजीवन उनके उद्देश्य की पूर्ति में सक्रिय भाग लिया और अनेक युद्धों में वह उनके साथ बन्दूक लेकर लड़ती भी रही । अन्त में इटली की राजधानी रोम के संग्राम में उसने इतना अधिक परिश्रम किया कि वह अशक्त होकर स्वर्ग सिधार गई । १४ वर्ष तक विदेशों में समय निकालने के पश्चात् इटली से, नवीन क्रान्ति की तैयारी का समाचार आया । वे तुरन्त अपने ५६ वीर साथियों को लेकर एक जहाज से इटली पहुँच गये । पहले तो इटली के शासक के दब्बूपन के कारण काम

रुका रहा पर क्रान्तिकारियों के उत्साह के फलस्वरूप २८ अप्रैल, १८४९ को रोम में स्वाधीन प्रजातंत्र की घोषणा कर दी गई । रोम का पोप इसके विरुद्ध था और फ्रांस के शासक ने उसकी सहायता के लिए एक सेना दल भेज दिया । क्रान्तिकारियों को जो भी हथियार मिला उसी से उसने दुश्मन का सामना किया और तीन मास तक रोम की गली-गली में गुप्त और प्रकट रूप से युद्ध करते रहे । अन्त में फ्रांस और आस्ट्रिया की हथियारबन्द शक्तिशाली सेनाओं ने विद्रोह को कुचल दिया, पर गैरीवाल्डी ने तब हार नहीं मानी और घोड़े पर सवार होकर जोर से कहा— "वेनिस (नगर) और गैरीवाल्डी कभी हार नहीं मानते । जिसमें हिम्मत हो मेरे पीछे आये इटली अभी जीवित है ।" वे २०० साथियों को लेकर पहाड़ी दरों के बड़े भयंकर रास्ते से समुद्र के किनारे पहुँच गये जहाँ उनको वेनिस ले जाने को १३ नावें तैयार थीं । पर शत्रु के सैनिक भी अन्य मार्ग से वहाँ पहुँच गये और नौ नावों को पकड़ लिया । गैरीवाल्डी फिर भी लड़ते-भिड़ते निकल गये और कुछ समय पश्चात् फिर अमरीका पहुँच गये ।

अमरीका में उनको अपना समय बड़ी कठिनाइयों में बिताना पड़ा । न्यूयार्क के पास 'स्टेटन' नामक टापू में झोंपड़ी बनाकर रहते थे और मोमबत्तियाँ बनाकर अपना निर्वाह करते थे । डेढ़ वर्ष बाद उनको फिर एक जहाज के कप्तान की नौकरी मिल गई और वे पेरू तथा चीन के बीच आवागमन करने लगे । उन दिनों में इस मार्ग से गुलामों का व्यापार आमतौर से हुआ करता था, पर गैरीवाल्डी ने; जो स्वाधीनता के उपासक थे, आज्ञा दे रखी थी कि उनका जहाज दास-व्यापार के लिये काम में न लाया जाय ।

अन्त में समय फिर बदला और योरोप की राजनीतिक स्थिति के बदल जाने से इटली की स्वाधीनता का अवसर निकट आ गया । इटली के नए शासकों को गैरीवाल्डी की याद आई और उसे बुलाकर सेना का सर्वोच्च अधिकारी बना दिया । उसकी पुरानी लाल कमीज और लम्बे अंगरखे को देखकर सेना और जनता में जोश उमड़ पड़ा और उसने कितनी ही लड़ाइयों में ऐसी वीरता दिखायी कि आस्ट्रिया की सेना ने फिर इटली की ओर मुँह करने का साहस न किया और गैरीवाल्डी का जो स्वप्न था वह पूरा हो गया ।

गैरीवाल्डी का अन्तिम जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत हुआ । अपने देशोद्धार के कार्यों के लिये वे देश-विदेशों में प्रसिद्ध हो गये और जहाँ-कहाँ वे गये उनका उत्साहपूर्वक स्वागत किया गया । सन् १८७४ में वे इटली की लोकसभा के सदस्य चुने गये । उनके सम्मान में सारा नगर सजाया गया और वहाँ की पार्लियामेन्ट के सब

सदस्यों ने उठकर उनका सम्मान किया। अपने स्वप्न को साकार होते देखकर हर्ष के आवेग से उनकी आवाज थरथराने लगी। इस प्रकार सार्वजनिक प्रेम और सम्मान को प्राप्त करते हुए सन् १८८२ ई० में उनका देहावसान हो गया।

वीरवर- राणा साँगा

राणा संग्रामसिंह भारतीय इतिहास के एक प्रकाशमान नक्षत्र हैं। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन देश व धर्म की रक्षा में लगा दिया था।

राणा संग्राम सिंह, जिन्हें राणा साँगा भी कहा जाता है, मेवाड़ के शासक थे। मेवाड़ एक छोटा-सा राज्य था। उसके साधन भी सीमित थे। तब भी राणा साँगा के शौर्य, साहस और धर्मनिष्ठा के कारण वह अजेय बना रहा। जब तक राणा साँगा जीवित रहे, देश-धर्म की रक्षा के लिये निरन्तर संघर्ष करते रहे। राज-भोग क्या होता है, आराम का जीवन कैसा होता है? राणा साँगा ने इसका अनुभव करने की कभी कामना न की थी। उनके जीवन का केवल एक ही लक्ष्य था और वह था देश-धर्म की रक्षा के लिये संघर्ष करते रहना।

उन दिनों भारत पर मुसलमानों का राज्य था और वे हिन्दू धर्म को मिटाकर भारत को इस्लामी देश बना देना चाहते थे। राणा-साँगा को यह दुरभि-सन्धि जरा भी सहन न हुई। पहले तो उन्होंने देश के सारे हिन्दू-राजाओं को समझा-बुझा कर एक झण्डे के नीचे लाने का प्रयत्न किया किन्तु जब देखा कि वे सब अपना जातीय गौरव खो चुके हैं तो धर्म की रक्षा के लिये खुद अपने बलबूते पर खड़े हो गये।

कायर और विलासी राजाओं ने राणा साँगा को बहुत बार समझाया कि वे अपनी हानि-लाभ देखें, देश-धर्म के चक्कर में न पड़ें और उन्हीं की तरह ही निश्चिन्त और निर्विघ्न जीवनयापन करें। आजकल मुसलमानों का सितारा बुलन्द है और हिन्दू-धर्म के नक्षत्र कमजोर पड़ गये हैं, इसलिये उसका पक्ष करने से कोई लाभ न होगा, बल्कि मुसलमान बादशाहों से शत्रुता हो जायेगी और उनकी शक्ति का शिकार बनना पड़ेगा किन्तु धर्मवीर राणा साँगा पर कायर और स्वाभिमानरहित राजाओं के उपदेश का कोई प्रभाव न पड़ा। वे अपने स्वाधीनता और धर्म-रक्षा के व्रत पर डटे रहे।

राणा साँगा को अपने व्रत-पालन में लगभग अस्सी-नब्बे लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं, जिसमें उन्हें अपार क्षति उठानी पड़ी। एक बार नहीं अनेक बार प्राणों का संकट उठाना पड़ा। आपत्ति के समय इस आशा पर उन्होंने हिन्दू राजाओं से धर्म-युद्ध में सहयोग करने के लिये कहा, लेकिन सदा ही उनसे कोरा उत्तर ही मिला। तथापि राणा साँगा निराश न हुए और न उन्होंने अपना साहस ही खोया। धर्म का आश्रय लेकर धर्मयुद्ध में लगे रहे।

न केवल राणा साँगा को ही बल्कि उनके पूरे परिवार को भी अपार कष्ट उठाने पड़े। शत्रुओं से अपनी रक्षा के लिये महीनों तक लुक-छिप कर इधर-उधर मारे-मारे फिरना पड़ा। किन्तु कर्तव्य-परायण राणा साँगा ने परिवार के मोह में आकर अपने व्रत से मुख न मोड़ा। उन्होंने उस सारी शारीरिक और मानसिक वेदना को कर्तव्य-पालन का प्रसाद ही माना और उत्साहपूर्वक अपने कर्तव्य-पथ पर बढ़ते रहे।

जिस समय मध्य-एशिया से मुगल-नायक बाबर ने भारत पर आक्रमण किया, उस समय किसी भी हिन्दू अथवा मुसलमान राजा का साहस उसका सामना करने का न पड़ा। सारे देश में निराशा का वातावरण छा गया था। बाबर प्रदेश पर प्रदेश विजय करता हुआ आगे बढ़ रहा था। देशभक्त साँगा को बाबर का बढ़ना सहन न हुआ। उन्होंने अपने जो थोड़े-बहुत साधन थे, इकट्ठे किये और साहसपूर्वक बाबर के टिड्डी दल से जूझ पड़े। इस युद्ध में राणा साँगा ने जिस शौर्य एवं साहस का परिचय दिया, वह इतिहास की एक अमर घटना बन गई।

इस युद्ध में साँगा का एक हाथ, एक पैर और एक आँख जाती रही, साथ ही उनके शरीर में अस्सी घाव आये, तब भी वे रणभूमि में घोड़े पर डटे हुए, युद्ध करते ही रहे और तब तक करते रहे, जब तक बाबर सन्धि करने पर विवश न हो गया। धन्य थे राणा साँगा।

लौहपुरुष-

सरदार वल्लभ भाई पटेल

सरदार वल्लभ भाई पटेलकी शिक्षा का श्रीगणेश मन्द गति के साथ ही हुआ। जिस समय इनके पिता प्रातःकाल खेत पर हल लेकर जाते, सरदार भी उनके साथ जाते और पिता से पहाड़ा सीखा करते थे।

सरदार वल्लभ भाई पटेल के पिता श्री झबेर भाई एक साधारण किसान थे किन्तु सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य-संग्राम में महारानी लक्ष्मीबाई की सेना में रहने से देशप्रेम की भावनायें इनके हृदय में गहराई तक बसी हुई थीं। पिता की इन भावनाओं का प्रभाव पुत्र पर पड़ा और वे बाल्यकाल से ही स्वाधीनता प्रिय देशभक्त बन गये।

परिश्रमपूर्ण वातावरण के बीच प्रारम्भिक शिक्षा स्वयं देकर श्री झबेर भाई ने अपने पुत्र को पेटलाद की पाठशाला में भरती कराया। परिश्रम तथा कर्मठता तो मानों सरदार वल्लभ भाई पटेल को घुट्टी में ही पिला दी गई थी। अतएव उसके बल पर उन्होंने पाठशाला की परीक्षाओं उच्च श्रेणी में उत्तीर्ण कर नडियाद के हाईस्कूल में दाखिल हुये।

साहस, निर्भीकता तथा उत्साह आपके पैतृक गुण थे जिससे नये-नये शहर में आकर भी उनमें कोई हीन भावना, संकोच अथवा दबूपन नहीं आया। वे निर्भीकता

से स्कूल में रहते, लगन से अध्ययन करते और भविष्य में जीवन की सार्थकता के लिए विचार करते। किन्तु अन्यायपूर्ण व्यवहार किये जाने से अनेक अध्यापकों की इन से अनबन हो गई, जिससे यह कालिज छोड़कर पुनः नडियाद वापस आ गये और वहीं से इन्ट्रेन्स की परीक्षा पास की।

इन्ट्रेन्स की शिक्षा तक जिन बल्लभ भाई ने पिता को व्यय का कष्ट दिया था वह अब आगे उनको कष्ट न देना चाहते थे। उनका कहना था कि जो किशोर अपने पैरों पर खड़ा होने लायक हो जाये उसे किसी पर भारस्वरूप होकर रहने का कोई अधिकार नहीं है। बढ़ने का रास्ता मिल जाने पर हर नवयुवक को अपने पैरों बढ़ना चाहिए, किसी का सहारा लेकर नहीं।

निदान उन्होंने इन्ट्रेन्स पास करने के बाद आगे न पढ़कर मुख्तारी की परीक्षा पास की और गोधरा में वकालत करने लगे। जिसके हृदय में काम करने का उत्साह है, शरीर में परिश्रम की स्फूर्ति है, मस्तिष्क में स्वावलम्बन का स्वाभिमान है वह पुरुषार्थ के बल पर पानी पर राह बना लेता है, बालू में तेल खोज लेता है।

वकालत का आर्थिक मार्ग पाकर सरदार वल्लभ भाई पटेल ने परिवार से उस निर्धनता नाम की पिशाचिनी को सदा के लिये खदेड़ देने का संकल्प करके मुकदमों के कार्यों में अपने को डुबा दिया, जिसने आगे पढ़ने से रोक दिया था। वे पैरवी के लिये मस्तिष्क के अन्तिम छोर तक सोचते और तथ्य को तेजस्विता के साथ प्रतिपादित करते जिससे उनकी वकालत में सफलताओं की होड़-सी लग गई। जो परिश्रमी हैं, जिसने लगन के साथ मस्तिष्क में योग्यता के स्वस्थ एवं उर्बर बीज बोये हैं जो अपने विषय का सच्चा जानकार और कार्य को ईमानदारी-तल्लीनता से करने में विश्वास करता है सफलता उसके पास न आकर क्या संदिग्ध योग्यता, अर्पूण-अभ्यास वाले और श्रमहीन आलसी के पास जायेगी?

जहाँ परिश्रम-चोर अयोग्य वकील, मजिस्ट्रेटों और जजों की चाटुकारिता कर अपने मुकदमों जीतने और अधिकारियों को अन्याय का प्रश्रय देते वहाँ सरदार वल्लभ भाई पटेल अपने शक्तिशाली तर्कों तथा परिपूर्ण विधि के बल पर अपना विषय प्रतिपादित करते। एक तो सत्य यों ही तेजवान होता है किन्तु जब वह किसी चरित्रवान की वाणी से निसृत होता है तो वह अपना असाधारण प्रभाव छोड़ता है। सरदार पटेल के तर्कों का भी न्यायशीलों पर विशेष प्रभाव पड़ता था।

वकालत के साथ-साथ वल्लभ भाई पटेल अवसर आने पर जनसेवा का पुण्य लाभ कमाने से भी नहीं चूकते थे। जिन दिनों उन्हें मुकदमों से फुर्सत न मिलती थी उन्होंने दिनों गोधरा में महामारी का प्रकोप हो गया और प्लेग पीड़ितों की सेवा करते-करते स्वयं प्रभावित हो गये। फिर भी जब तक रोग शय्या पर पड़कर विवश न हो गये अपना सेवा कार्य नहीं छोड़ा। अपने आत्मविश्वास,

आत्मबल तथा आत्मसंयम के साथ उपचारपूर्ण उपायों से स्वयं तो शीघ्र ही अच्छे हो गये, किन्तु प्रभावित पत्नी को आप्रेशन के लिए बम्बई भेजना पड़ा। कार्य और कर्तव्य की बहुतायत से स्वयं साथ न जा सके।

पत्नी को भेजने के बाद उन्हें अपने कर्तव्य के अतिरिक्त कुछ याद ही नहीं रहा। मुकदमों की पैरवी में बहस के दौरान उन्हें पत्नी की मृत्यु का तार मिला तो उन्होंने उसे पढ़कर मेज पर रख दिया और फिर यथावत स्थिति में बहस करने लगे। सफलता और समृद्धि की देवियाँ ऐसे ही संयमी, संतुलित, शान्त एवं आत्मवान, कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों को वरण करने के लिए गली-गली घूमा करती हैं।

आवश्यक धन उपार्जित करने के बाद प्रगति-प्रिय सरदार पटेल जी ने विलायत जाकर बैरिस्ट्री पास करने के लिये पासपोर्ट बनवाया किन्तु अपने बड़े भाई विठ्ठलभाई की इच्छा देख अपना जाना स्थगित करके पासपोर्ट उनके नाम करा दिया और उनके वापस आने पर स्वयं गये।

विदेश में देश की प्रतिभा की धाक जमाने के लिये सरदार वल्लभ भाई पटेल ने अपनी परिश्रमशीलता को कई गुना बढ़ा दिया। वे अपने निवास-स्थान से ११ मील दूर उत्तर टेम्पूल के सम्पन्न पुस्तकालय को लन्दन की विकट सड़कों में प्रातःकाल उठकर जाते, दोपहर का भोजन वहीं करते और सत्रह-सत्रह घंटे निरन्तर अध्ययन करने के बाद पैदल लौटकर आते। इस तपो-पूर्ण परिश्रम का फल यह हुआ कि बैरिस्ट्री की परीक्षा में वे सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुए, जिससे शुल्क मुक्ति के साथ ५० पाँड की छात्रवृत्ति से पुरस्कृत किये गये।

विलायत से वापस आने के बाद सरदार वल्लभ भाई अहमदाबाद में पुनः वकालत करने लगे, जिससे वे कुछ ही समय में इतने धनवान हो गये कि राजाओं जैसे ठाट-बाट से रहने लगे। परिवार से गरीबी को मार भगाने का उनका संकल्प पूरा हो गया। सम्पन्नता, सम्मान और शान-शौकत होने पर भी उनकी आत्मा में एक अनजान असंतोष करवट लिया करता था। जिसे वे यदा-कदा अनुभव तो करते थे किन्तु समझ न पाते थे।

कुछ समय बाद गांधीजी के सम्पर्क में आने पर उन्हें अपने अनजान असंतोष का स्पष्ट रूप दिखाई पड़ा, जिसको दूर करने और सम्पूर्ण मानसिक शान्ति तथा आत्मसंतोष के लिये सरलता और सादगी से सुशोभित जीवन अपना लिया। जीवन के सच्चे और अकृत्रिम मार्ग पर उन्हें पता चला कि ऐश्वर्य के विभ्रम में वे जिस प्रदर्शनपूर्ण जीवन क्रम को अपनाते चले जा रहे थे, उसमें आगे चलकर प्रमाद-जन्य पतन के कितने गहरे गतों की सम्भावना थी, किन्तु शीघ्र ही सुरक्षित दिशा में आ जाने पर उन्हें ऐसा संतोष हुआ मानो संयोगवश किसी भयंकर खतरे में पड़ते-पड़ते बच गये हों। प्राप्त संतोष की इस पुलकपूर्ण अनुभूति ने उनके सादगीपूर्ण सहज जीवन क्रम को मुहरबंद कर दिया।

गौंधी जी के सम्पर्क में आकर जहाँ सरदार ने सादगी का सौंदर्य देखा वहाँ जन-सेवा का महत्व भी समझा। उनके हृदय में पीड़ित मानवता के प्रति हार्दिक करुणा उमड़ पड़ी, वे अपने व्यवसाय से समय निकालकर सेवा कार्य करने लगे। जन-सेवा में उनका पहला काम था गुजरात से बेगार प्रथा उठवा देना। बेगार प्रथा जमींदारी शासन का भयंकर अभिशाप थी। जमींदार लोग अपनी जमींदारी में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति पर अपना स्वत्व समझते थे। अपने किसी भी छोटे-बड़े काम के लिये गरीब आदमियों को बुला लेते और दिन-दिन भर काम लेकर उन्हें यों ही भूखा-प्यासा मजदूरी को बिना दिये भाग देते थे। इस प्रकार यह बेगार प्रथा सारे देश में फैली हुई थी। इस घोर पराधीनतापूर्ण बेगार प्रथा से कराहती मानवता को मुक्त कराने के लिये सरदार वल्लभ भाई पटेल व्याकुल हो उठे और गोधरा के प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन के सभापति की हैसियत से उन्होंने उसके विरुद्ध कार्यवाहियाँ करनी शुरू कर दीं। इस विषय में सरदार वल्लभ भाई पटेल की संकल्प शक्ति से भयभीत होकर सरकार ने गुजरात में बेगार प्रथा को अवैध घोषित कर दिया।

इसी बीच गुजरात के खेड़ा क्षेत्र में अकाल पड़ गया और जनता भूख की ज्वाला में आहुति बनने लगी। चारों ओर हाहाकार मचने लगा। उस पर सरकार लगान वसूली की सख्ती कर रही थी। जनता पर यह अन्याय देखकर सरदार पटेल की मनुष्यता आहत हो गई और उन्होंने खेड़ा की जनता को संगठित करके लगान वसूली के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ दिया। जिसका फल यह हुआ कि सरदार पटेल के सुयोग्य नेतृत्व में जनता की विजय हुई और किसानों से लगान वसूली माफ हो गई। इसके अतिरिक्त उन्होंने गाँव-गाँव घूमकर नंगों, भूखों के लिये अन्न-वस्त्र की व्यवस्था की, इस प्रकार अकाल पीड़ित जनता की सहायता के लिये याचना की झोली फैलाते संकोच न हुआ। यही नहीं उन्होंने अपनी सम्पत्ति का एक बड़ा भाग अकाल पीड़ितों की सेवा में खर्च किया।

गौंधीजी द्वार स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रयास स्वरूप छेड़े गये असहयोग तथा बहिष्कार आन्दोलन के समय देश-सेवा की भावना तथा समय की पुकार पर अपनी हजारों रुपयों माहवार की कालत छोड़ दी, यद्यपि उस समय अपने पुत्र और पुत्री को पढ़ाने के लिये विलायत भेजने वाले थे। उन्होंने भारत माता के हजारों लाखों पुत्र-पुत्रियों की मंगल कामना में अपनी सन्तान के व्यक्तिगत उत्कर्ष की सम्भावना को न्योछावर कर दिया।

बहिष्कार आन्दोलन से प्रेरित स्कूल-कालिज छोड़ देने वाले विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रश्न उपस्थित होने पर सरदार वल्लभ भाई पटेल ने राष्ट्रीय स्कूलों की स्थापना की योजना चलाई, जिसके लिये आवश्यक धनराशि इकट्ठी करने के लिये संपूर्ण देश से लेकर वर्मा तक दौरा किया और जब तक १० लाख रुपये इकट्ठे नहीं कर लिये चैन

की सांस नहीं ली। अनेक राष्ट्रीय स्कूलों की स्थापना के साथ उन्होंने गुजरात विद्यापीठ की भी स्थापना की जिससे विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रश्न बहुत दूर तक हल हो गया।

गुजरात के बोरसद तालुका में डाकुओं का आतंक फैल गया। सरकार उनको पकड़ने में असफल हो रही थी। उस इलाके में सरकार ने गाँव की रक्षा के लिये जो पुलिस तैनात की थी उसका खर्च वह ग्रामवासियों से लेती थी। एक ओर डाकु धन लूट रहे थे, दूसरे सुरक्षा के बहाने सरकार ने लूटना प्रारम्भ कर दिया। इस दोहरी मार से त्रस्त होकर जनता ने सरदार वल्लभभाई पटेल की याद की। जनता पर भयानक संकट का समाचार पाते ही बिना किसी भय अथवा विलम्ब के बोरसद जा पहुँचे। अपने विश्वस्त एवं वीर नेता को अपने बीच पाकर जनता का साहस बढ़ गया। सरदार ने २०० स्वयं सेवकों का एक दल बनाया और ग्राम-रक्षा में नियुक्त करके ग्रामवासियों में आत्मरक्षा की भावना जगाई। जिससे शीघ्र ही इलाके से डाकुओं का आतंक समाप्त हो गया।

नागपुर इन्डा सत्याग्रह में विजयी होकर सरदार वल्लभभाई पटेल ने अहमदाबाद म्युनिसिपल बोर्ड का सभापति पद सँभाला और नगर के कायाकल्प में लग गये। उन्होंने मोहल्ले-मोहल्ले, गली-गली घूमकर जनता को सफाई का महत्व बताया तथा स्वयं ने भी नगर की सफाई के कार्यक्रमों में भाग लिया, जिससे नगर की सारी गन्दगी दूर हो गई और जनता में सफाई की एक स्थायी चेतना जाग्रत हुई। इस काल में उन्होंने बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया और नगरपालिका की पाठशालायें खुलवायीं तथा बच्चों के स्वास्थ्य की देख-रेख का प्रबन्ध किया।

सरदार वल्लभ भाई पटेल के अहमदाबाद नगरपालिका के सभापतित्वकाल में गुजरात में भयंकर बाढ़ आ गई। गाँव के गाँव बह गये, लोगों के घर तबाह हो गये। जगह-जगह जनता असाध्य परिस्थितियों में फँसकर भूखों मरने लगी। ज्यों ही सरदार पटेल को इसकी खबर लगी वे २००० स्वयंसेवक लेकर बाढ़ पीड़ित क्षेत्र में जा पहुँचे और लोगों को अपनी सेवा तथा सहायता से सान्त्वना देने लगे। सरदार अपने स्वयंसेवकों के साथ, पानी के बीच फँसे मनुष्यों तथा पशुओं को बचाने के लिये बिना किसी साधन के स्वयं तैर कर जाते और उनको निकाल कर बाहर लाते। इस प्रकार वे अपने महान जन-सेवा की भावना के बल पर हजारों जीवों के प्राण बचाने में सफल हुए।

अभी बाढ़ के प्रकोप से गुजरात की जनता की रक्षा करने की व्यस्तता कम न होने पाई थी कि तब तक अकाल तथा भूखमरी से मरती हुई जनता ने अपने सहायक तथा निष्काम सेवक-सरदार वल्लभ भाई पटेल को पुकारा ! बिना एक क्षण का विलम्ब किये सरदार पटेल अकाल पीड़ितों की सहायता करने चल पड़े। बाढ़ के समय सरदार की सच्ची सेवा देखकर सरकार ने अपना

१.१६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

विरोधी होने पर भी डेढ़ करोड़ रुपये की धनराशि अकाल पीड़ितों की सहायता के लिये सरदार पटेल के ही हाथ में दी, जिसका समुचित उपयोग कर सरदार ने शीघ्र ही अकाल पर नियन्त्रण कर लिया। इसके अतिरिक्त जो उन्होंने ३ लाख रुपया स्वयं चन्दा किया था उसका भी एक-एक पैसा खर्च कर नंगे-भूखों तथा बेघरवार व्यक्तियों के लिये अन्न, वस्त्र तथा मकानों का प्रबन्ध किया। अनवरत प्रयत्नों के धनी सरदार पटेल जिस काम में भी लग जाते थे पूरा किये बिना बैन न लेते।

समाज सेवा के साथ-साथ सरदार पटेल राजनीति के माने हुए नेता थे। वे खेड़ा सत्याग्रह, असहयोग आन्दोलन, नागपुर झण्डा सत्याग्रह, बारदोली सत्याग्रह आदि आन्दोलनों के प्रमुख नेता, संचालक तथा प्रबन्धक रहे। अपनी देश-सेवा के सिलसिले में वे अनेकों बार जेल गये और अगणित यातनाएँ सहनीं पर कठिनाइयाँ उन्हें कभी विचलित न कर सकीं।

सरदार पटेल की परदुःखकातरता

घटना सन् १९३५ की है सरदार वल्लभ भाई पटेल एक लम्बी सजा काटकर कारावास से लौटे ही थे। उनका स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया था और नाक में बेहद पीड़ा हो रही थी। चिकित्सकों ने तुरन्त आपरेशन का परामर्श दिया और उसकी तैयारी होने लगी।

तभी उन्हें बोरसद में फैली महामारी की सूचना मिली और यह भी पता चला कि सरकार कोई ध्यान नहीं दे रही है और लोग बुरी तरह मौत के मुँह में जा रहे हैं। बस फिर क्या था सरदार अपनी पीड़ा भूल गये और बोरसद की ओर दौड़ पड़े। शल्य-क्रिया के सारे उपक्रम जहाँ के तहाँ रह गए। साथियों, शुभचिन्तकों और श्रद्धालुओं ने उन्हें वैसी दशा में महामारी-क्षेत्र में न जाने के लिए सलाह दी, किन्तु परदुःख-कातर सरदार भला कब रुकने वाले थे।

धीर, वीर और नेमी

घटना सन् १९४६ की है। बम्बई बन्दरगाह के नौसैनिकों ने बिद्रोह का झंडा छड़ा कर दिया। अंग्रेज अधिकारियों ने उन्हें गोली से भून देने की धमकी दी थी साथ ही भारतीय नौ-सैनिकों ने बचाव में उनको ख़ाक कर देने की चुनौती दे रखी थी।

बड़ी भयानक स्थिति थी। उस समय बम्बई का नेतृत्व सरदार पटेल के हाथ में था। लोग उनकी तरफ बड़ी घबड़ाई नज़रों से देख रहे थे। किन्तु सरदार पर परिस्थिति का रंच-मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा न तो वे अधीर थे और न विचलित।

बम्बई के गवर्नर ने उन्हें बुलाया और काफी तुर्सी दिखाई। इस पर सरदार ने शेर की तरह दहाड़ कर गवर्नर

से कह दिया कि वह अपनी सरकार से भूख ले कि अंग्रेज भारत से मित्रों के रूप में विदा होंगे या लाखों के रूप में।

अंग्रेज गवर्नर सरदार का रौद्र रूप देखकर काँप उठा और फिर उसने कुछ ऐसा किया कि बम्बई प्रसंग में अंग्रेज सरकार को समझौता करते ही बना।

अत्याचार के विरुद्ध अनवरत संघर्षशील—

जनरल हम्बर्टो डेलगाडो

“एक वीर योद्धा की भाँति राजनैतिक पैश्र्वाधिकाता से लड़कर राष्ट्रवासियों के लिये अपने सुख, वैभव व प्रतिष्ठा को दाँव पर लगा देता है और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करते-करते अपने प्राण भी न्योछावर कर देता है।” इतनी-सी कहानी है हमारे चरित्रनायक की। उसे पुर्तगाल की लोकतन्त्रप्रिय जनता-स्वतन्त्रता का देवदूत हम्बर्टो डेलगाडो के नाम से पुकारती है।

अभी कुछ वर्ष ही बीते हैं उस वीर की नृशंस हत्या अत्याचारी सालाजार की शासन-सत्ता ने की थी। न उस पर मुकदमा चलाया गया और न ही गोली या फाँसी दी गई। नंगे शरीर पर बेलों की इतनी बौछार की गई कि उसकी असह्य पीड़ा से बहादुर जनरल का देहान्त हो गया।

दुनिया में ऐसे पराक्रमी और पुरुषार्थी पुरुष कम ही होते हैं, जो दूसरों के हित के लिए जाँबाजी कर दिखाते हैं। डेलगाडो उन्हीं चिरस्मरणीय महापुरुषों की श्रेणी में आते हैं।

वह पुर्तगाल की सेना के एक छोटे से अफसर थे। अथक परिश्रम, कर्तव्यपरायणता, दृढ़ता, सत्यता और लगन से काम करते-करते डेलगाडो एक दिन सालाजार के विश्वासपात्र जनरल बने पर जिस दिन उन्हें वह महत्वपूर्ण पद प्रदान किया गया उस दिन उन्हें मालूम हुआ कि उनकी सम्पूर्ण सेवा निरंकुशता के पक्ष में गई। उन्होंने जो कुछ त्याग और तप किया उससे देशवासियों की कुसेवा ही हुई।

डेलगाडो ने जो प्रतिष्ठा अर्जित की थी, चाहते तो उससे अपने जीवन के भोग-विलास बढ़ा लेते और ऐश्वर्य का जीवन बिताते, पर जब उन्हें सच्चाई मालूम हुई तो उन्होंने अपना मुँह, अपनी आवाज, अपना कदम अत्याचार के विरोध में मोड़ दिया।

सालाजार की पुलिस का नाम गार्डा रिपब्लिकाना है, उसके अत्याचारों के उदाहरण दिये जाते हैं। शासक सालाजार की निरंकुशता के विरुद्ध कोई भी आवाज उठाये वह उससे बच नहीं सकता। उसे लिस्बन या ओपोनों की जेल भेज दिया जाता है। उसका दण्ड पूर्व निश्चित होता है दण्ड भी ऐसा कि उसे घुट-घुट कर मरना पड़े। आवाज निकाले तो बेलों से मुँह तोड़ दिया जाता है।

जब इस बात का असली पता डेलगाडो को चला तो उसका राष्ट्रप्रेमी वक्ष आत्माभिमान से फूल उठा। उसने कहा- मैंने जिस मातृभूमि का अन्न खाया है, दूध पिया है, जिस देवी की गोद में पल कर बढ़ा, बढ़ा हुआ और आमोद-प्रमोद किया उसे नृशंसता से, राजनैतिक विषमता से छुटकारा दिलाना भी मेरा परम कर्तव्य है मैं मुक्ति का उद्घोष करता हूँ और अपने देशवासियों को अत्याचार से बचाने के लिये सतत् संघर्ष की प्रतिज्ञा लेता हूँ।

उस दिन से डेलगाडो ने अपने सुख पूर्ण जीवन को तिलांजलि दे दी। अपने एक परमप्रिय मित्र को सम्बोधित करके उसने कहा- अभी तक मैंने एक ठर्रे का जीवन जिया है, सुख के साधनों की खोज की है और अब जब मुझे कुछ महत्वपूर्ण काम करने हैं तो आवश्यक है कि संघर्षों के लिये तैयार होऊँ।

यह कहकर करोड़ों मूक-मानवों के हित के लिये डेलगाडो ने अपना जनरल पद त्याग दिया और सालाजार के विरुद्ध जनमत मजबूत करने लगे। इसके लिये उन्होंने अपना सारा धन, मकान, सामान बेच दिया। इससे भी यह काम न हो सकता था। इसलिये धन की और कमी को पूरा करने के लिये वे दर-दर भटकने लगे।

सालाजार को इन सब बातों का पता चल गया तो उसके अत्याचार और भी बढ़ गये। मुक्ति-मोर्चे को सहायता पहुँचाने वाले लोगों का दमन और भी कठोरता से किया जाने लगा। डेलगाडो के पीछे मौत निजी छाया-सी घूमने लगी।

अब उन्हें पुर्तगाल छोड़ना पड़ा। बच्चों से बिछड़ने का कितना भावनात्मक दुःख रहा होगा पर उन्होंने उसकी भी परवाह न की। उन्होंने ब्रिटेन, फ्रांस व इटली जाने की योजना बनाई पर उन्हें अनुमति ही नहीं मिली। अनेक वर्षों तक केवल निराशा ही निराशा रही। वे अल्जीरिया गये पर वहाँ से शीघ्र ही भागना पड़ा। इस बीच बीमार पड़ गये, अतः इलाज के लिये चेकोस्लोवाकिया गये। वहाँ भी बैचैन से रहे पर इन सब आपत्तियों के बावजूद भी उन्होंने साहस न हारा और क्रान्ति की ज्योति बराबर जलाये रखी।

इस बीच डेलगाडो की लोकप्रियता बहुत अधिक बढ़ गई। देशवासी इस प्रतीक्षा में थे कि डेलगाडो अब अपने देश लौटें और मुक्ति आन्दोलन में उनका नेतृत्व करें पर ईश्वर को कुछ और ही मंजूर था। अल्जीरिया में सालाजार के सिपाही उन्हें पकड़ने में सफल हो गये। छलपूर्वक अपहरण कर लिया गया।

इसके बाद यह शर्त रखी गई कि वे आत्मसमर्पण करें। अपना अपराध स्वीकार करें और उसके लिये क्षमा याचना करें। पर डेलगाडो ने कहा- मैं अपने देशवासियों प्रजा के साथ विश्वासघात नहीं करूँगा, इसके बदले में उन्हें बैतों की कर्कश मार दी गई उनके प्राण लेकर ही छोड़े।

डेलगाडो का संकल्प था अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष अनवरत संघर्ष। उसने इस व्रत को प्राणाहुति देकर भी पूरा किया। यह बलिदान बेकार नहीं गया।

जीवित शहीद गैरिसन

१ जनवरी, १८६३ को अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने दास प्रथा समाप्त करने की घोषणा की और चालीस लाख गुलामों को आजादी से साँस लेने का अवसर मिला। जब यह घोषणा-उत्सव चार्ल्स्टन नगर में मनाया जा रहा था तो विलियम गैरिसन भी उसमें पधारे। गैरिसन को अपनी जीवन साधना की सफलता पर सन्तोष था। जनता ने जब उस महामानव को देखा तो वह हर्ष से उन्मत्त हो गई। उसे कंधे पर उठा लिया गया और सबने उस मुक्तिदाता का हार्दिक अभिनन्दन किया।

जो कानून पार्लियामेन्ट ने बनाया था उसकी घोषणा लिंकन के द्वारा सम्पन्न हुई थी, पर जिस अमानवीय दास-प्रथा के कारण चालीस लाख मनुष्य पशुओं से भी गया बीता जीवन बिताने के लिए मजबूर थे, उसे समाप्त कराने में अनेक व्यक्तियों को प्राणपण से प्रयत्न करना पड़ा, बड़े से बड़े जोखिम उठाने पड़े और तिल-तिल करके सारी जिन्दगी इसी संघर्ष में जला देनी पड़ी। ऐसे ही जीवित बलिदानियों में एक गैरिसन भी थे।

विलियम गैरिसन का बाप मल्लाह था। वह समुद्र यात्रा पर गया तो एक तूफान के थपेड़े में पड़कर अपनी नाव समेत उसी में विलीन हो गया। उसकी माँ दाई का काम करती थी। बाप मर गए, माँ को रात-धिरात दूसरों के घर काम करने जाना पड़ता था। बेचारा नन्हा-सा अकेला बालक घर में रहता। उसका जीवन बीहड़ के झाड़ू-झंखाड़ू पौधे की तरह था, जिसकी देखभाल केवल ईश्वर करता है। विलियम दस साल का भी न हुआ था कि उसे पेट की आग बुझाने के लिये अपने पैरों पर खड़ा होना पड़ा। पहले एक मोची की दुकान पर जाने लगा, पीछे एक बढ़ई के यहाँ जगह ढूँढ़ी। थोड़ा बढ़ा हुआ तो एक छापेखाने में अक्षर जोड़ने का काम सीखा। अब तक वह सिर्फ इतना पढ़ पाया था कि अक्षर पढ़ले। प्रेस में काम करते हुए उसने अपना अभ्यास बढ़ाया। जो किताबें छपने आतीं उन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ता। जो छपाने आते उनसे कुछ पूछ-ताछ करता, उनसे परिचय बढ़ाकर उनके घर जाता और पुस्तकें माँगकर पढ़ने हेतु लाता। यह क्रम उसका तेजी से चलता रहा। सोलह वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते उसने इतना ज्ञान बढ़ा लिया कि अखबारों में छपने लायक लेख लिख सके।

उसकी हैसियत कम्पोजीटर की थी, उम्र में १६ वर्ष का था, इससे उसे डर लगा कि कोई सम्पादक उसके व्यक्तित्व का पता चलने पर उसके लेख न छापेगा। इसलिए उसने 'बूढ़ा ब्रह्मचारी' कल्पित नाम से लेख लिखने प्रारंभ किए। वे सम्मानपूर्वक पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगे। उन दिनों अमेरिका में गुलामों के खरीदने बेचने का व्यापार खूब फल-फूल रहा था। उन्हें जीवित रहने भर को रोटी दी जाती थी और इतना काम कराया

जाता था कि जवानी में ही वे मर खप जाते थे। जरा-जरा-सी बात पर उनको निर्दयता के साथ पीटा जाता था, जिसमें कई बार तो वे मर तक जाते थे। इस अन्याय के कई दृश्य गैरिसन ने अपनी आँखों देखे थे। उसे इस प्रथा के विरुद्ध इतनी तीव्र घृणा हुई कि उसने और कुछ करने की अपेक्षा अपना जीवन इसी के विरुद्ध संघर्ष करने में लगा देने की ठानी।

इक्कीस वर्ष की आयु में उसने अपना स्वतन्त्र अखबार निकाला- 'फ्री प्रेस' आर्थिक कठिनाइयों के कारण वह न चल सका। फिर उसी का जैसा फकड़ एक और साथी मिल गया- बेजामिन लुण्डी। दोनों मिलकर 'विश्व उद्धार का देवता' नामक एक और अखबार निकालने लगे। अखबार क्या था - 'दिलजले की आह' थी दास प्रथा के प्रति इतने कठोर शब्द इस्तेमाल किये जाते थे कि एक बार तहलका मच गया और इससे जिनके स्वार्थों की हानि तथा बदनामी होती थी वे उनकी जान के ग्राहक बन गये। एक ने मानहानि का मुकदमा चला दिया। फलस्वरूप गैरिसन को जेल की सजा भुगतनी पड़ी। छूटने के बाद वे गाँव-गाँव अपना सन्देश सुनाने के लिए घूमने लगे। उन्होंने ढेरों भाषण दिये। पर कहीं उनका स्वागत न हुआ। आखिर बोस्टन में छोटा-सा मकान उन्हें अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाने के लिए लिया। सन् १८३१ में उन्होंने 'मुक्तिदाता' नामक एक और अखबार निकाला। दक्षिण अमेरिका के लोग तो खुलेआम दास व्यापार करते ही थे, पर उत्तरी अमेरिका के लोग भी चुपके-चुपके उस प्रथा को जारी रखना चाहते थे। क्योंकि उन लोगों के कारखाने भी गुलामों के सस्ते श्रम से ही फल-फूल रहे थे। निदान वहाँ भी गैरिसन शत्रु ही बन गया।

आखिर उसे खतरनाक खूनियों की श्रेणी में रख दिया गया और कई राज्यों के लोग उसे पकड़ने और मार डालने तक पर उतारू हो गये। दक्षिणी कैरोलिना की ओर से घोषणा हुई कि जो 'मुक्तिदाता' के प्रचारकों को पकड़वा देगा उसे छह हजार रुपया इनाम दिया जायगा। उत्तरी कैरोलिना ने भी उसके नाम वारंट निकाला। जार्जिया राज्य ने उसे पकड़ लाने के लिए बीस हजार रुपया इनाम की घोषणा की। बोस्टन में एक बार उसे घेर लिया गया। शत्रुओं ने कमर में रस्सा बाँधकर उसे घर से बाहर निकाला और सड़क पर घसीटने लगे। लगता था कि अब कुछ ही क्षण में उनके टुकड़े-टुकड़े किये जाने वाले हैं। यह खबर जब वहाँ के शासनाध्यक्ष को लगी तो वे स्वयं दौड़े आये और भीड़ से उसे छुड़ाया तथा उसकी जीवन रक्षा की दृष्टि से हवालात में बन्द कराया, तब कहीं उसकी जान बची।

यह तो उसकी जीवन-घटनाओं में से कुछ थोड़ी-सी बातें हैं। वस्तुतः चौबीसों घण्टे वह इस एक ही कार्य में लगा रहता था कि दासता का अन्त कैसे कराया जाय? उसका दिमाग इसी विचार में डूबा रहता, इसी की योजनायें बनाया करता और शरीर उन योजनाओं को पूर्ण

करने में लगा रहता। गैरिसन को जीवित शहीद कहा जा सकता है। फौसी या गोली से थोड़ी देर कष्ट सहकर प्राण विसर्जन कर देना सुगम है, पर तिल-तिल करके सारे जीवन को किसी आदर्श के लिए उत्सर्ग करना और उसके लिए निरन्तर अभावों, कष्टों और आपत्तियों को सहन करते रहना कठिन है। इस कठिन कार्य को उस महापुरुष ने हैसते-हैसते सम्पन्न कर दिया।

कई लोग यह कहते रहते हैं कि क्या करें हमारी परिस्थिति अनुकूल नहीं, हमारा कोई सहायक नहीं, हम अल्पशिक्षित हैं, अकेला घना भाड़ को नहीं फोड़ सकता, आदि-आदि। वे यह नहीं जानते कि व्यक्ति के भीतर छिपी हुई चेतना इतनी सशक्त है कि यदि व्यक्ति उसका ठीक प्रकार उपयोग करे, अपना मूल्य और महत्व समझे तो वह प्रत्येक दिशा में आगे बढ़ सकता है। उस दिशा में भी जिसमें कि पग-पग पर शत्रुता, विरोध, कष्ट, अभाव और यहाँ तक प्राणों से हाथ धोने का भी संकट मौजूद है।

जीवित शहीद गैरिसन आत्मविश्वास की सजीव मूर्ति थे। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि दूसरों से सहायता की अपेक्षा न करके भी अपनी अयोग्यताओं को समझते हुए भी, व्यक्ति अपनी शक्ति को पहचान ले तो किसी व्यक्ति से, किसी समस्या से ही नहीं, एक सशक्त समाज से भी टक्कर ले सकता है। इस सिद्धान्त को उन्होंने व्याख्यानों और लेखों से नहीं अपने जीवन को एक प्रत्यक्ष उदाहरण बनाकर स्पष्ट कर दिखाया।

जीवन ज्योति पंजाब केसरी-

लाला लाजपतराय

"मेरे शरीर पर लाठी का एक-एक प्रहार ब्रिटिश शासन के कफन की एक-एक कील सिद्ध होगा"- ये शब्द थे पंजाब केसरी लाला लाजपतराय के, जो उन्होंने साइमन कमीशन के विरोध में अपने पर हुए लाठी चार्ज के समय अन्तिम बार कहे थे। वास्तव में हुआ भी वैसा ही लालाजी के बलिदान से पंजाब ही क्या सारे भारत में क्रान्ति की ज्वाला इस प्रचण्ड रूप से धधकी कि आखिर ब्रिटिश हुकूमत उसमें जलकर खाक ही हो गई।

जन-मन की यह श्रद्धा पाने के अधिकारी लालाजी का निर्माण धर्म की आधार भूमि पर हुआ था। उनके घर का वातावरण धार्मिक तो था ही, उन्हें स्वयं भी उसका अध्ययन करने की बड़ी जिज्ञासा थी। अपनी पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त वे रामायण, महाभारत अथवा गीता आदि कोई न कोई पुस्तक अवश्य पढ़ते और उसका तत्व समझने का प्रयत्न करते रहते थे। जिससे धीरे-धीरे उन्होंने धर्म के सच्चे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

एक ओर वे साइमन कमीशन की बहिष्कार सभा में बोल रहे थे और दूसरी ओर उन पर लाठियों से प्रहार करती हुई पुलिस, कतान सेन्डर्स की आज्ञा का पालन कर

रही थी। किन्तु धर्म के तत्व को ठीक-ठीक हृदयंगम किये हुए लालाजी प्रहार सहन करते हुए एक भाव से बोलते रहे और जब तक उनका भाषण समाप्त नहीं हो गया वे विचलित न हुए और अन्त में उपर्युक्त अन्तिम शब्द कहते हुये गिरकर मूर्च्छित हो गये। जब तक वे अपने कर्तव्य को पूरा न कर सके, लाठी का प्रहार उनके शरीर पर निष्फल ही होता रहा। ऐसा ज्ञात हो रहा था जैसे धर्म और धैर्य कवच बनकर उनकी रक्षा कर रहे थे।

समय की पुकार पर जो अपने को न्योछावर कर देते हैं वही वास्तविक महापुरुष होते हैं। साधारण व्यक्ति किसी का दुःख-दर्द देखकर या तो अनुभूत ही नहीं करते अथवा उस अनुभूति को आई गई कर देते हैं। किन्तु महान व्यक्तित्व जिस पीड़ा को एक बार अनुभव कर लेते हैं उसे दूर करने में अपने सर्वस्व की बाजी लगा देते हैं।

लालाजी के बलिदान से भारत में जो क्रान्ति का एक नवीन भूचाल आया था और समस्त जनमानस प्रचण्ड रूप से आन्दोलित हो उठा था, उसके पीछे उनकी निष्काम लोकसेवायें काम कर रही थीं। लगभग डेढ़ हजार रुपये मासिक की वकालत और बार-एसोसिएशन का सम्मानित अध्यक्ष पद छोड़ते उन्हें देर न लगी, जब राजस्थान, बिहार और उत्तर भारत में पड़े अकाल से पीड़ित मानवता की चीत्कारों ने मनुष्यता को आवाज दी।

लालाजी ने दीन दुःखियों की क्या सेवा की इसका लेखा-जोखा कोई लेना चाहे तो पंजाब के तात्कालिक अनाथालयों और आश्रय-भवनों की गणना कर ले जो उनके लिये बनवाये थे और यदि उस समय का कोई बड़ा-बूढ़ा मिल जाये तो उससे पूछकर अनुमान लगा लें कि वे कितने क्षुधार्त बन्धुओं को ईसाई मिशनरियों के जाल से निकाल कर पंजाब लाये थे और उनके सहायता कोष के लिए फैली हुई उनकी झोली कितनी बार भरी और खाली हुई थी।

मानवता के लिये उनकी सेवा का यह पहला अवसर न था। उड़ीसा और मध्य-प्रदेश के दुर्भिक्ष ने उनकी परीक्षा ली, महाराष्ट्र की महामारी और कांगड़ा के भूकम्प ने उनकी दयालुता और दानवीरता को परखा। किन्तु दुर्दैव का कोई भी कोप उनकी अखण्ड-सेवा भावना को थका न सका। अकाल पीड़ितों की भोजन व्यवस्था और भूकम्प के घायलों की दवा-दारू से लेकर महामारी के मारे हुए लोगों की सेवा सुश्रूषा करने में उन्होंने दिन रात एक कर दिया। जब तक उस भयंकर अस्त-व्यस्त स्थिति पर उन्होंने काबू नहीं पा लिया बैठकर चैन की साँस नहीं ली। इस कार्य में उन्होंने कितने दिन लगाये और कितनी रातें बिना सोये बिताई इसकी संख्या तो वही दुःखी आत्मायें ही बतला सकती हैं जिनको उन्होंने सुख दिया।

उनके हृदय में मानव का क्या मूल्य था और मानवता के लिए कितना दर्द था यह उनके उन महान कार्यों से सहज ही आँका जा सकता है जो उन्होंने पददलित हरिजनों और समाज के उपेक्षित व्यक्तियों के लिये किये थे।

जिस हरिजनोद्धार आन्दोलन को गाँधीजी ने आगे बढ़ाया उसके जन्मदाता लाला लाजपतराय ही थे। उन्होंने हरिजनों के ज्ञानवर्द्धन के लिये ४० हजार रुपये का नकद दान करके अनेक शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना की। यद्यपि उनका धर्मभीरु परिवार चली आ रही रूढ़ियों, परम्पराओं और कुरीतियों तक को यथावत मानने में ही विश्वास करता था तथापि उसे लालाजी की निस्मृह सुधार भावना से भरे इस क्रान्तिकारी कार्य को मान्यता देनी ही पड़ी। संसार में अभी तक ऐसे किसी बन्धन का आविष्कार नहीं हो सका है जो किसी सच्चे साहसी को कोई सत्कार्य करने से रोक सके।

जिस विद्या और ज्ञान ने उन्हें निष्काम सेवा का पुण्य प्रदान किया था। उसका प्रसाद जन-जन को बाँटने के लिए उन्होंने शिक्षा-संस्थाओं और विद्यालयों का जाल बिछा दिया। छोटी पाठशालाओं से लेकर रामकृष्ण हाई स्कूल और डी० ए० वी० कालिज जैसे बड़े-बड़े विद्या-मन्दिरों की स्थापना उन्हीं के परिश्रम और पुरुषार्थ का फल है। उन्होंने केवल स्थापना ही नहीं कराई अपितु अन्य सारे काम करते हुए २५ वर्ष तक अवैतनिक रूप से अध्यापन और प्रबन्ध भी किया।

इस प्रकार इतनी लोकसेवा की साधना करने के बाद लालाजी एक तपस्वी का तेज लेकर काँग्रेस के माध्यम से विदेशी शासन की जड़ उखाड़ने के लिये राजनीति में उतरे। एक प्रकार से काँग्रेस अभी तक वाद-विवाद और प्रस्तावों तक ही सीमित थी। लालाजी के प्रवेश से उसमें नवजीवन का संचार हुआ। काँग्रेस सुधार प्रस्ताव पर उनके प्रथम भाषण ने ही लोगों को अवगत करा दिया कि भारत की मोह-निद्रा भंग हो गई है और अब वह पूरी तरह चैतन्य हो चुका है। लालाजी की ओजस्विता से प्रेरित होकर मेज कुर्सी तक सीमित काँग्रेस ने भी अपना परिकर कसा तथा एक ऐसी करवट ली कि अँग्रेज साम्राज्यवादियों को अपशकुन होने लगे।

स्वाभाविक था कि अँग्रेजी शासन काँग्रेस में जागते हुए ज्वलंत राष्ट्रीयता का कारण खोजता। उसने खोजा और लाला लाजपतराय के रूप में उस शिक्षा को पहचान लिया, जिसकी आलोक-रश्मियाँ भारतीय स्वतन्त्रता का पथ प्रशस्त कर रही थीं। बिहार के अकाल पीड़ितों की सेवा के समय अपनी तत्परता से जो लाला लाजपतराय सरकार के प्रशंसा पात्र बने थे वह अब उसकी आँख के कंटक बन गये। किन्तु वह कुछ कर सकने का अवसर न देखकर मनमसोस कर रह गई। दहकते हुये अंगार को सहसा मुट्ठी में जकड़ लेने का उसे साहस न हुआ।

अस्तु, उसने इस मूल अंगार और उसकी ऊष्मा से आग पकड़ते हुये बहुत-सी चिन्तारियों पर पानी डालने के लिए इंग्लैण्ड की संसद के समक्ष भारतीय जनता का पक्ष प्रस्तुत करने के लिये काँग्रेस को आमन्त्रण दिया। निदान १९०६ में एक शिटमण्डल इंग्लैण्ड गया जिसमें लालाजी सम्मिलित थे। किन्तु आग जहाँ जायेगी गरमी पैदा करेगी।

लालाजी के तेजस्वी तर्कों और ओजस्वी भाषणों से इंग्लैण्ड के जनमत में हलचल पैदा हो गई। अस्तु, ब्रिटिश संसद ने काँग्रेस शिष्टमण्डल को कोरा वापस कर दिया।

इधर काँग्रेस के पुराने नेताओं ने लालाजी के नवीन क्रान्तिकारी कदमों के कारण अँग्रेजों से याचना में कुछ सुविधायें पा सकने की आशा को धूमिल होते देखकर उनके विचारों का विरोध करना शुरू कर दिया। जिससे काँग्रेस के नरम और गरम दो दल हो गये। लालाजी जब जेल से छूटकर आये तब उनका नाम काँग्रेस अध्यक्ष के लिए चुना गया किन्तु उन्होंने अस्वीकार कर संगठन रक्षा के लिए उदारता का परिचय दिया।

१९२० में विदेश से आते ही वे महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन में शामिल हो गये। पंजाब के विदेशी बहिष्कार नेता के रूप में अनेक प्रबल संघर्ष के फलस्वरूप पंजाब में अँग्रेजी राज्य के पैर हिलने लगे। सरकारी स्कूलों का बहिष्कार कर सारे नौजवान देश-सेवा में जुट गये। उनके समुचित विकास के लिये उन्होंने लाहौर में 'तिलक स्कूल ऑफ पॉलिटिक्स' की उन्हीं दिनों स्थापना भी की। अपने इन्हीं क्रान्तिकारी कार्यों के फलस्वरूप ये फिर गिरफ्तार करके दो वर्ष के लिए कारागार भेज दिये गये।

अनन्तर आप स्वराज्य पार्टी में सम्मिलित हुये। नेशनल पार्टी की स्थापना करके हिन्दू महासभा की स्थापना कराई। यह सब कुछ होते हुए भी आपकी मौलिक क्रान्तिकारी भावना, ज्वलन्त देश-भक्ति और हिन्दू-धर्म भावना में किंचित अन्तर न आया। वे जिस दल अथवा सभा में गये उसे एक नवीन चेतना ही दी और आखिर, ब्रिटिश हुकूमत ने कोई वश न देखकर उन्हें साइमन कमीशन की आड़ में शहीद करके अपने विनाश के बीज बो ही लिये।

आजीवन, देश-विदेश, सभा-सोसाइटी समाज-सरकार जहाँ भी रहे लाला लाजपतराय ने एकनिष्ठ स्वदेश और समाज की सेवा की तथा देश की बलि-वेदी पर उत्सर्ग होकर भारत के इतिहास में सदा को अमर हो गये।

आजीवन अन्याय से जूझने वाले क्रान्तिकारी—

बापट

सन् १९२०। महाराष्ट्र का प्रसिद्ध किसान आन्दोलन और जिसका नेतृत्व कर रहे थे पाण्डुरंग महादेव बापट। अँग्रेज सरकार ने टाटा जल विद्युत शक्ति उत्पादन केन्द्र की स्थापना के लिए सैकड़ों किसानों की भूमि को अपने कब्जे में कर लिया था और कितने ही किसान केवल मात्र अपनी जीविका साधन-भूमि के छिन जाने पर तिलमिला उठे थे पर उनमें संगठित होकर भी अँग्रेज शासन से टकर लेने की हिम्मत नहीं थी। आजीवन अन्यायों से जूझने

वाले क्रान्तिकारी बापट किसानों का दुःख-दर्द देखकर कैसे चुप रह सकते थे, उन्होंने महाराष्ट्र के समस्त किसानों को संगठित कर सत्याग्रह आन्दोलन का बिगुल बजा दिया।

बापट इस सत्याग्रह संग्राम के सफल नेतृत्व करने के कारण ही 'सेनापति' की उपाधि से विभूषित किये गये और उसके बाद महाराष्ट्र में होने वाले प्रत्येक आन्दोलन का उन्होंने बड़ी कुशलता से नेतृत्व किया। विद्युत उत्पादन केन्द्र के कार्य को शीघ्र ही पूर्ण करने की दृष्टि से सैकड़ों मजदूर कार्य कर रहे थे। काम बड़े जोरों से चल रहा था। मजदूरों से भरी मोटर उक्त केन्द्र की ओर जा रही थी। सेनापति बापट ने मोटर चालक के पैरों पर गोली दागकर श्रमिकों को कार्य करने न जाने दिया। सेनापति बापट का यह कार्य अँग्रेज शासन के लिए एक चुनौती सिद्ध हुआ। वह अपने पाशाविक बल के सम्मुख भला किसी की बात क्यों सुनने वाली थी। मोटर ड्राइवर की हत्या के प्रयास का आरोप लगाकर मुकदमा चलाया गया और अन्त में जब सब गवाहों के बयान पूरे हो गये तो न्यायाधीश ने बापट से भी अपनी सफाई देने को कहा। बापट थोड़ी देर को गम्भीर हो गये फिर बड़ी शान्ति से बोले— "मैं क्रान्तिकारी हूँ आतातायी नहीं। मुझे अपने निशाने पर पूरा विश्वास है क्योंकि मैं अच्छे ढंग से पिस्तौल चला लेता हूँ मेरा उद्देश्य ड्राइवर को मारना बिल्कुल न था। वरन् जिस अन्याय की सहायता में वह जुटा था उससे अलग करना ही मेरा उद्देश्य था। मैं अपने कार्य को विशुद्ध सत्याग्रह मानता हूँ। यदि न्यायालय मुझे दोषी मानता है तो उसके द्वारा दिये गये दण्ड को भुगतने के लिए मैं सहर्ष तैयार हूँ।"

और सेनापति बापट को १२ वर्ष का कठोर कारावास का दण्ड सुना दिया, पर बापट तनिक भी विचलित न हुये। १९२० की वह घटना आज भी राष्ट्रप्रेमियों के सम्मुख है जब राष्ट्र के लिए सम्पूर्ण जीवन लगाने का व्रत बापट ने लिया था। फिर उस व्रत के सम्मुख आने वाली अनेक बाधाओं से वह विचलित हो भी कैसे सकते थे? पूना के डेक्कन कॉलेज के छात्रावास में अपने दो अन्य मित्रों की उपस्थिति में बापट ने गंगी तलवार पर हाथ रखकर अपने व्यायाम शिक्षक श्री द० व० भिड़े के सम्मुख प्रतिज्ञा की— "मैं राष्ट्रहित में अपना सम्पूर्ण जीवन लगाऊँगा।" फिर उसी संकल्प की पूर्ति हेतु आजीवन प्रयत्न करते रहे।

क्रान्तिकारी बापट का जन्म १२ नवम्बर, १८८० ई० को महाराष्ट्र के अहमदनगर जिले में स्थित पारनेर नामक नगर के एक निर्धन परिवार में हुआ था। निर्धनता उनकी पढ़ाई में बाधक न बन सकी क्योंकि वह मेधावी छात्र थे जिससे पढ़ाई का सारा खर्च उन्हें मिलने वाली छात्रवृत्तियों से पूर्ण होता गया। पूना से स्नातक उपाधि प्राप्त कर वे विद्युत इंजीनियरिंग का अध्ययन करने इंग्लैण्ड चले गये वहाँ विद्युत तकनीक में विशेषज्ञ बनने के स्थान पर अग्नि

बम बनाने की कला में निपुण हो गए। यहीं उनकी भेंट वीर सावरकर से हुई। वीर सावरकर के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनसे उन्होंने दीक्षा ग्रहण की और क्रान्तिकारी संगठन के सक्रिय सदस्य बन गये।

क्रान्तिकारी बापट में निर्भीकता और साहस, जन्मजात गुण थे। मृत्यु की तो वह तनिक भी चिन्ता न करते थे। एक दिन उन्होंने सावरकर से ब्रिटिश संसद को अपने बमों से तहस-नहस करने की आज्ञा माँगी। किन्तु बापट को ऐसा कार्य न करने की सलाह देते हुए भारत लौटने के लिए कहा। जहाँ पहुँचकर वह क्रान्तिकारियों को बम बनाने के प्रशिक्षण से अवगत करावें। भारत में तो उस समय कितने ही क्रान्तिकारी ब्रिटिश शासन को समूल उखाड़ने के लिए सीना ताने तैयार खड़े थे।

बापट ने सन् १९०६ में भारत लौटकर लोकमान्य तिलक से भेंट की और क्रान्ति से सम्बन्धित अनेक गतिविधियों पर विचार-विमर्श किया। सन् १९०८ में मानिक बम काण्ड के सिलसिले में ब्रिटिश राज्य शासन का दमन-चक्र जोर-शोर से चल पड़ा और किसी जासूस ने बापट का भी नाम ले दिया। फिर क्या था इन्हें बन्दी बनाने के लिये पुलिस की टुकड़ियाँ जहाँ-तहाँ छानबीन कर पता लगाने लगीं और बापट का कहीं पता न चला। वह महाराष्ट्र में ही क्रान्ति की मशाल हाथ में लिये जगह-जगह घूमते रहे और नवयुवकों को बम बनाने की शिक्षा तथा अँग्रेजों को छकाने के क्रान्तिकारी ढंग बताते रहे। उन्होंने ५ वर्ष भूमिगत रहकर पुलिस को ऐसा छकाया कि वह भी नाकों चने चबा गई।

सन् १९१८ में बापट ने लोकमान्य तिलक द्वारा स्थापित 'मराठा' का सम्पादन किया। अपनी सम्पादन कला से मराठा के हजारों पाठकों को यह बता दिया कि शस्त्र उपासक सरस्वती उपासक बनकर अपनी लेखनी से हजारों व्यक्तियों के दिल और दिमाग को नई दिशा की ओर मोड़ सकता है।

कारावास की लम्बी अवधि से रिहा होकर बापट ने इण्डियन नेशनल काँग्रेस में सक्रिय रूप से कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। सन् १९३१ में महाराष्ट्र प्रदेश काँग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। सन् १९३२ में जब हिन्दू महासभा के नेता वासुदेव बलवन्त गोगाटे ने अँग्रेज गवर्नर हडसन पर पूना में गोली चलाई तब कितने ही नेताओं ने गोगाटे के इस साहसपूर्ण कार्य की कटु शब्दों में आलोचना की पर उस समय अपनी आत्मा की पुकार पर सिंह गर्जना करने वाले और गोगाटे के कार्य को प्रोत्साहित करने वाले सेनापति बापट ही थे जिन्होंने कहा था- "शाबास बहादुर ऐसा ही करना चाहिए था।"

अँग्रेज सरकार भला क्यों चुकने वाली थी वह सदा ऐसे अवसरों की तलाश ही करती रहती थी। उसने बापट को हिंसा भड़काने का दोषी बताकर बन्दी बना लिया और ५ वर्ष के कठोर कारावास की सजा सुना दी। सन् १९३७

में बम्बई में कूपर मन्त्रिमण्डल के गठित होने पर उन्हें रिहा किया गया, पर जेल जीवन की कठोर यातनाओं से घबड़ाकर वह हार मानने वाले न थे उन्होंने तो अब और अधिक सक्रियता के साथ कार्य करके लक्ष्य पूर्ति के हेतु जुटने का निश्चय कर लिया। उन्होंने १९३९ में हिन्दू महासभा और आर्य समाज के संयुक्त रूप से हैदराबाद में जन अधिकारों की सुरक्षा के लिए जो सत्याग्रह चलाया उसकी प्रथम पंक्ति में खड़े होकर नेतृत्व करते हुए अँग्रेज शासन को ललकारा। सन् १९४० में द्वितीय महायुद्ध विरोधी भावना के आरोप में उन्हें फिर बन्दी बना लिया गया और इस प्रकार जीवन के ८७ वर्षों में से उन्होंने २० मूल्यवान वर्ष जेल में ही बिता दिये।

१५ अगस्त, १९४७ को अपना देश स्वतन्त्र हो गया। स्वतन्त्रता संग्राम के लाखों सैनिकों के स्वप्न साकार हुए। सेनापति बापट की भी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। वह भी भारत माता की जय-जयकार करने लगे। अनेक सैनिकों ने अपनी सेवा और त्याग के फलस्वरूप स्वतन्त्र देश की सरकार से आर्थिक सहायता की माँग की, पर बापट ने अपनी जवानी की पूँजी को होम देने के बाद भी बदले में कुछ न चाहा। वह तो इस बात पर प्रसन्न थे कि अपने प्रयत्नों का फल स्वतन्त्रता के रूप में अपने ही जीवन में देख सके जबकि कितने ही क्रान्तिकारी प्राणोत्सर्ग करने के बाद जीवन की एक राह बनाकर ही विदा हुये थे और उस मार्ग पर आने वाले सैनिकों को भी मौत का फन्दा चूमने का आह्वान किया था।

स्वतन्त्रता मिल जाने के बाद वह चुप कैसे बैठ सकते थे? सन् १९५० में महाराष्ट्र समाजवादी दल ने अन्न आन्दोलन किया तब भी वह आगे रहे। सन् १९५५ में गोआ मुक्ति-संग्राम के समय यह कहकर आगे बढ़े कि पलंग पर लेटकर प्राण देने सो तो कहीं अच्छा, शत्रु से लड़कर मर जाना।

८६ वर्ष की आयु में मई १९६६ में बम्बई में आयोजित अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के अधिवेशन पर महाराष्ट्र मैसूर सीमा विवाद के समाधान हेतु ५ दिन तक अनशन करके महाजन आयोग की नियुक्ति करवाई। क्रान्तिकारी बापट ने केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही कार्य करके जन-जन के मन में अपना स्थान नहीं बनाया वरन् वह साहित्यिक तथा सामाजिक क्षेत्र में भी सदैव स्मरण किये जायेंगे।

हिन्दू समाज में फैले हुए झुआकूत के रोग पर जब उनकी दृष्टि गई तो वह अच्छी तरह समझ गये कि जब तक जाति-पाँति के भेदभाव से देश को मुक्त नहीं कराया जाता, तब तक वह प्रगति की दौड़ में तीव्रता से आगे नहीं बढ़ सकेगा। लोगों की विचारधारायें संकीर्ण बनी रहेंगी फिर अपने समाज तथा राष्ट्रभक्ति के लिए वे क्या सोच

१.२२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

सकेंगे ? अतः हरिजनों को सवणों के समान स्थान दिलाने के लिए वह झाड़ू लेकर हरिजन बस्तियों में सफाई करने पहुँचे और स्वच्छता का पाठ पढ़ाया ।

धर्मप्राण राष्ट्र में जन्म लेने के कारण वरेण्य क्रान्तिकारी बापट की गीता और उपनिषदों में गहरी आस्था थी । गीता के अनुसार उन्होंने अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न किया था । वह कर्म में विश्वास करते थे केवल कर्म में, फल तो ईश्वर के आधीन है, कर्म करते जायेंगे, तो ईश्वर फल अपने आप देगा । योगी अरविन्द के 'डिवाइन लाइफ' का उन्होंने मराठी में अनुवाद किया था । 'चैतन्य गाथा' उनकी प्रेरणादायी अमरकृति है जो आज भी तरुणों का आदर्श व पथ-प्रदर्शक बनी हुई है ।

सच्चे रूप में भारतमाता को अपनी माँ मानने वाले और उसके रूप को सँवारने- बनाने का पूर्ण ध्यान रखने वाले बापट २७ नवम्बर, ६७ को अपने जीवन के ८७ संघर्षमय वर्ष पूर्ण करके इस संसार से सदा-सदा के लिये विदा हो गये । पुष्प अपनी सुगन्ध वायु को समर्पित कर टहनी से झड़कर नीचे गिर जाता है उसी प्रकार अपनी सारी शक्ति देश-सेवा में लगाकर अपना नश्वर शरीर छोड़कर चले गये । युगों-युगों तक आने वाली पीढ़ियाँ उनके द्वारा प्रदत्त जीवन प्रकाश में अपनी मंजिल की ओर कदम बढ़ाती रहेंगी ।

महान सत्याग्रही, जनसेवी-

सैमुअल इवान्स स्टोक्स

एक बच्चे ने अपने पिता से एक बार कहा- "पिताजी! चार पैसे केक के लिए चाहिये ।" पिता ने सब तरफ देखा, बच्चे के लिये उसे बड़ी वेदना हुई पर पास में कुछ न निकला । उनके जीवन का यह संस्मरण पढ़ते हुए सम्भवतः लोग यह अनुमान करेंगे कि वह कोई अत्यन्त निर्धन व्यक्ति रहा होगा पर बात ऐसी नहीं । उसी दिन उसने पच्चीस हजार रुपये बंगाल के अकाल पीड़ितों के लिये भेजे थे । इसीलिए उसके पास कुछ न बचा था ।

एक अंग्रेज के हृदय में, वह भी उस समय जबकि भारतवर्ष उनके अधिकार में था, भारतीयों के प्रति निश्छल प्रेम अनोखी बात लगती है पर उन आत्माओं के लिए यह कोई अनोखी बात नहीं जो सत्य, ईमानदारी, न्याय और मानवोचित सज्जनता के लिये हर इन्सान को अपना हृदय, अपना भाई मानते हैं । अपनी कम और दूसरों की सेवा-सहानुभूति का अधिक ध्यान रखते हैं ।

ऐसा ही था वह अंग्रेज पादरी- जो २२ वर्ष की चढ़ती आयु में सन् १९०४ में भारतवर्ष भेजा गया । उसका नाम था सैमुअल इवान्स स्टोक्स । वह आया था ईसाई धर्म के प्रचार के लिये, अपनी योग्यता और क्षमता का उपयोग

भारतीयों को ईसाई बनाने में करने के लिए पर यहाँ आकर भारतीय संस्कृति और निश्छलता ने उसके आंतरिक मानव को जाग्रत किया । वह महान पादरी सच्चे अर्थों में भारतीय संन्यासी बन गया । नाम से सत्यानन्द और गुणों से सच्चा जन-सेवक ।

जिस कमरे में बैठकर सैमुअल स्टोक्स समाज-सेवा की साधना किया करते थे उसमें बड़े-बड़े अक्षरों से लिखा था- "आलसी मत बनो, जब परमेश्वर की उपासना से समय मिले तो कुछ पढ़ा-लिखा करो अथवा दूसरों की सेवा का काम किया करो ।"

"तुम सेवा के लिए आये हो हुकूमत चलाने के लिए नहीं । जान लो, परिश्रम करने और कष्ट उठाने के लिए तुम इस धरती पर आये हो । आलसी होकर अपना समय व्यर्थ वार्तालाप में नष्ट न करो ।"

यह उपदेश औरों के लिए, प्रदर्शन के लिए अंकित नहीं किये थे वरन् उस प्रेरणा को प्रखर रखने के लिए ही यह शब्द लिखे थे, जिससे पीड़ित मानवता की सेवा के लिए कभी निराशा, अर्धव्य तथा अ-लगन न उत्पन्न हो । इन आदर्शों को स्टोक्स ने अपनी क्रियाओं द्वारा जीवन भर जागृत रखा ।

इवान्स स्टोक्स की नियुक्ति शिमला जिले के कोटगढ़ स्थान में हुई थी । थानाधार से दो मील दूर एक सुन्दर पर्वतीय उपत्यका के बीच, सतलज के सुरम्य तट पर बसा कोटगढ़ कभी प्रेतगढ़ कहलाता था । निर्धनता तो वहाँ अट्टहास करती रहती थी, अँग्रेजों के कुत्सित तिरस्कार के भय ने भारतीयों को और भी दयनीय बना रखा था । कोटगढ़ की सुषमा के बीच न जाने परमात्मा का कौन-सा शाप था कि वहाँ के सैकड़ों लोग कुछ रोग से पीड़ित थे । इस कारण उन्हें और घृणा की दृष्टि से देखा जाता था । सैकड़ों निरीह जन पर्वत की चोटी से आत्महत्या कर चुके थे । इन कारणों का सम्मिलन वस्तुतः इतना भयानक हो गया था कि वह स्थान एक प्रकार से भूतों का ही डेरा बन गया था ।

इस दुःखद स्थिति ने सर्वप्रथम इवान्स स्टोक्स के हृदय में पीड़ा का रूप धारण किया । स्टोक्स दिन-रात सोचा करते थे कि इन अभाग्य मानवों के उद्धार का कोई रास्ता है क्या ? क्या ये भी सन्तोषप्रद जीवन जीने का कोई आधार पा सकते हैं । एक बार दया का गुबार कुछ इस तरह उठा कि इवान्स अपने आपको रोक न सके और वे कुछ पीड़ितों की सेवा में कूद पड़े ।

स्थिति का गम्भीर और पास से अध्ययन करने पर उन्होंने अनुभव किया कि बीमारी का मुख्य कारण स्थानीय लोगों की निर्धनता है । इसे उन्होंने सजातीयों की उपेक्षा का परिणाम समझा । काफी सोच-विचार के बाद एक युक्ति सूझी आपने यहाँ की मिट्टी की जाँच करवाई और इसके बाद अमेरिका से सेव के अच्छे पौधे मँगवाये । सेव की अच्छी फसल का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनेक

लोगों से पत्र व्यवहार किया। एक ही दिशा में अनवरत श्रम-साधना का यह परिणाम हुआ कि कोटगढ़ में सेवा की अच्छी फसल तैयार होने लगी। कुछ ही समय में यही स्थान 'सेवों की घाटी' के नाम से न केवल भारत में वरन् सुदूर विश्व में विख्यात हुआ। यहाँ से आज भी सारे देश को सेव निर्यात होते हैं।

एक ओर निर्धनता के विरुद्ध मोर्चाबन्दी और दूसरी ओर कुछ पीड़ितों की लगनपूर्ण सेवा ने उन्हें इस क्षेत्र का परमप्रिय नेता बना दिया। किन्तु इतना सम्मान पाकर भी उन्होंने अतिमानव बनने की चेष्टा नहीं की। छोटा बनकर सेवा की सिद्धि प्राप्त कर लेना इतनी बड़ी उपलब्धि है जिसके सामने संसार के सब सुख, ऐश्वर्य और वैभव फीके पड़ जाते हैं। सैमुअल इवान्स भला उससे क्यों भटकते? उन्हें जितना सम्मान मिला उतना ही उन्होंने अपने आपको छोटा, परमात्मा का सबसे छोटा अज्ञानी बालक माना और एक ही प्रार्थना परमपिता से की—“प्रभु! तेरी सृष्टि मंगलमय है, कुछ ऐसा कर कि जन-जन मंगलमय बने, किसी को दुःख न हो, किसी को पीड़ा न हो।” यह प्रार्थना भावना और व्यवहार दोनों में चरितार्थ हुई। कुछ पीड़ितों की सेवा में, अकाल और तत्कालीन कांगड़ा-भूकम्प पीड़ितों की सेवा में रात और दिन एक कर आपने सच्ची सेवापरायणता का उदाहरण प्रस्तुत किया।

अब तक स्टोक्स शरीर, मन और वेश-भूषा से भारतीय हो चुके थे। अपना नाम भी बदल कर सत्यानन्द कर लिया। विवाह के बाद जो बच्चे हुए उनके नाम भी भारतीय नामों जैसे रखे। आठ वर्षीय पुत्र ताराचन्द की स्मृति में आपने कोटगढ़ में बच्चों का एक प्यारा स्कूल स्थापित किया। 'परम ज्योति मन्दिर' की प्रतिष्ठा भी अपने हाथ से की। मन्दिर के कलश पर सोना भी चढ़वाया। उनकी भावना व्यावहारिक अधिक थी। आदर्श सिद्धान्तों या परम्पराओं के प्रति कभी अन्ध-श्रद्धा व्यक्त नहीं की। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि कुल्स्तू और काँगड़ा में जब सूखा पड़ा तो यह सोना निकलवा कर बेच डाला और उसे गरीबों में बाँट डाला।

सत्यानन्द सत्याग्रह में हिमालय की तरह अडिग और चट्टान की तरह सुदृढ़ थे। प्रलोभन या धार्मिक कट्टरता की अपेक्षा मानवीय मूल्यों को ही ईश्वरीय आदेश मानकर केवल उन्हीं का पालन किया। इसके लिए उन्होंने अँग्रेज बिरादरी के विरोध की भी परवाह नहीं की। इनकी 'एवेकिंग इण्डिया' नामक पुस्तक की भूमिका में बापू ने उनकी न्यायप्रियता, बुद्धि और विचारशीलता का समर्थन करते हुए लिखा है—“विदेशी कपड़ों को क्यों जला देना चाहिए इस विषय में स्टोक्स ने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं वे अकाट्य हैं।”

कोटगढ़ की दरिद्रता दूर करना उनका एक कर्तव्य था पर मनुष्य जीवन इतना विशाल है कि उसमें मनुष्य सैकड़ों कर्तव्यों का पालन और पूर्ति कर सकता है। स्वास्थ्य,

शिक्षा, समृद्धि, समाज-सेवा के एक से एक बढ़ कर कर्तव्यों और उद्देश्यों की पूर्ति और प्राप्ति के लिए सौ वर्ष का मनुष्य का जीवन कम नहीं। स्टोक्स यह बात कैसे भूल जाते। अब उन्होंने अपना ध्यान भारत की स्वाधीनता की ओर दौड़ाया और महात्मा गाँधी को अपना राजनैतिक गुरु मान कर स्वाधीनता संग्राम में कूद पड़े। भारतीय स्वतन्त्रता के समर्थन और अँग्रेजों की निन्दा करने में कसर नहीं छोड़ी।

वह अँग्रेज थे इसलिए अँग्रेजों का पक्ष लेना चाहिए यह स्वीकार करना स्टोक्स के लिए ही नहीं सारे विश्व के लिए अपराध है। न्याय-नीति और बुद्धि-संगत कार्य और पथ का अनुसरण करने में, चाहे वह अपने घर का हो या बाहर का समर्थन करने से नहीं हिचकिचाये, वैसे ही अनीति करने वाला अपना पिता, भाई या गुरु क्यों न हो उसका विरोध करना चाहिए—यह कोई सत्यानन्द से सीखे।

अँग्रेज इस व्यवहार से क्षुब्ध हो गये फलस्वरूप स्टोक्स गिरफ्तार कर लिये गये, उन्हें अँग्रेजों ने डराया, धमकाया और प्रलोभन भी दिया पर उनकी नीति फूस का झोंपड़ा नहीं थी जो जरा-सी आँच से जल जाती।

अब तो देश स्वतन्त्र भी हो गया। सेवों की घाटी फल-फूल रही है पर सत्याग्रही सत्यानन्द नहीं रहा। वह परमात्मा की गोद में चला गया है। अपने पीछे उन्होंने कर्तव्य परायणता, सेवा, न्याय-निष्ठा का प्रकाश छोड़ा है। उसे हम हृदयंगम कर सकें तो उसकी साधना और अपना जीवन दोनों सार्थक कर सकते हैं।

जिन्होंने मृत्यु और असत्य में से मृत्यु को चुना—

यानहुस

प्रतीक्षा में बैठी हुई उसकी पत्नी ने दरवाजे पर थप-थपाहट सुनी तो उसकी आँखों से तन्द्रा टूट पड़ी। बच्चे अभी ही खा पी कर सोये थे और वह भी खाना खा कर अपने पति का इन्तजार कर रही थी। बड़ा लड़का अभी भी दीपक के प्रकाश में पढ़ रहा था, दरवाजा खोला आशा के अनुरूप ही द्वार पर हुसीनेत्स खड़ा था— आज तक आपको कभी देरी नहीं हुई थी। क्या खेत पर कोई झगड़ा हो गया था। आपके कपड़े ऐसे अस्त-व्यस्त क्यों हैं?

“खेत पर से तो मैं शाम को ही वापस लौट आया था”

“तो फिर”

“मालिक कल सुबह रोम जा रहे हैं। उनके जाने की तैयारी में ही व्यस्त रहना पड़ा।”

“रोम ! क्यों ?”

“धर्मगुरु पोप के पास । स्वर्ग की फीस जमा करवाने । काश ! हम लोगों के पास भी पैसा होता तो हम भी परलोक का कुछ इन्तजाम कर लेते । थके हुए हुसीनेत्स ने अपनी पत्नी को ओर विवश दृष्टि से देखा और पत्नी कुछ कहे इससे पूर्व ही उनका बेटा बोल उठा स्वर्ग की फीस धर्मगुरु पोप के पास जमा करवाने । कैसी विचित्र बात कह रहे हैं पिताजी आप । स्वर्ग की भी कोई फीस होती है क्या ? मैं तो अद्भुत बात सुन रहा हूँ ।

“हाँ बेटे । मृत्यु के बाद का जीवन सुख-सुविधा भरी स्वर्गीय व्यवस्था का लाभ उठाने के लिए धर्मगुरु ने यह व्यवस्था दी है ।”

“क्या व्यवस्था दी है ?”

वे शुल्क के रूप में जो रकम यहाँ दी जाती है उस रकम के अनुसार उसी श्रेणी में स्वर्ग के लिए पोप पाल प्रवेश पत्र दे देते हैं ।

“पर मरकर तो आदमी का शरीर यहीं छूट जाता है । सुनते हैं स्वर्ग में इस संसार की कोई वस्तु प्रविष्ट नहीं हो सकती ।

प्रवेश पत्र मरने वाले के साथ ही दफना दिया जाता है । जिसे देवदूत ले जाते हैं और उस व्यक्ति को उसी श्रेणी के स्वर्ग में उठराते हैं जिसका निर्देश पोप पाल देते हैं । ढोंग-अपने एक हाथ को जोर से झटकते हुए उस किशोर ने जोर से अट्टहास किया और माता-पिता को चिन्ता हुई कि जरूर मेरे बेटे का दिमाग खराब हो गया है । कहीं धर्मगुरु पोप भी पाखण्ड कर सकते हैं । ईश्वर से तो उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है । यही नहीं वे शुल्क के रूप में प्राप्त धनराशि सीधे परमात्मा तक पहुँचाते भी हैं फिर ढोंग कैसे हुआ? जरूर मेरा बेटा पढ़-पढ़ कर अपना दिमाग खराब कर चुका है ।

घटना चैकोस्लोवाकिया के दक्षिणी बोहेलिया प्रांत की है । उन दिनों सामंतशाही का युग था और सामंत-शाही पर भी हावी थी पोपशाही । जनता में शिक्षा, विवेक, ज्ञान और विद्या का प्रचार तो था नहीं पर ब्रद्धा खूब थी उसमें धर्म के प्रति और इसी ब्रद्धा का लाभ उठा कर धर्म नेतृत्व क्या गरीब और क्या अमीर सभी वर्ग के लोगों का शोषण कर रहा था । पोप पृथ्वी का परमात्मा बन चुका था । पोप के प्रति ब्रद्धा ही प्रचलित सच्चा धर्म, पोप-पादरियों की वाणी ही धर्म का नियम और उनके निर्देशों का पालन ही सबसे बड़ी उपासना बनी हुई थी ।

धर्म के प्रति आस्थावान धर्मगुरु के संकेत पर अपनी जान भी कुर्बान कर देते थे । स्वर्ग-मोक्ष का लाभ उठाने वाली जन-शक्ति पर पोप का पूरा नियंत्रण था । इसलिए शासकवर्ग भी इन तत्वों से भय खाते थे । घोरतम विलासता का जीवन व्यतीत कर रहे इन धर्मगुरुओं ने जनसाधारण के अंतर्चक्षुओं पर पर्दा डाल रखा था और यही कारण था जिससे कि उन लोगों का जीवन सर्वसाधारण के लिए आकर्षण का केन्द्र बना हुआ था । जो लोग इस नियोजित

और स्थापित अन्धविश्वास की शक्ति की असलियत जानते थे, उन्हें भी इस विषय में कुछ कहने का साहस नहीं होता था । क्योंकि इससे जनशक्ति और राज-शक्ति के सूत्रधार उस अकेले व्यक्ति को क्षणभर में कुचल कर मिट्टी में मिला सकते थे । उनका तो बनना-बिगड़ना कुछ नहीं बल्कि उल्टे स्वयं अपने जीवन की भी हानि पहुँचाने और अपने बाद परिवार के बच्चों को भी दुर्दशाग्रस्त स्थिति भोगने के लिए छोड़ जाने का व्यर्थ खतरा कौन मोल लेता? इस समय लोग धर्म व्यवस्था के प्रति इतने निष्ठावान थे कि विचारशील व्यक्तियों को अपने अतिआत्मीय परिजनों से भी अपना दृष्टिकोण व्यक्त करते हुए भयभीत होना पड़ता था । पता नहीं कौन तथाकथित ईश्वरीय न्याय के दण्ड से बचने के लिये उसकी शिकायत कर दे ।

परन्तु जब उक्त किशोर छात्र ने इस व्यवस्था को ढोंग कहा तो माता-पिता की ममता और ईश्वरीय न्याय के मिथ्या विश्वास के बीच में ममता ही जीती । अपने पुत्र के कल्याण और सुरक्षा के लिए हुसीनेत्स ने समझाया, “यान, यह बात तुमने हमारे सामने तो कह दी परन्तु किसी और के सामने कहने का साहस न करना । क्योंकि इससे तुम्हारा जीवन खतरे में पड़ जावेगा, बेटे ।”

यानहुस नामक विद्यार्थी ने कहा-नहीं पिताजी आप मेरी चिन्ता न करना । इस मिथ्या विश्वास को तोड़ने के लिए मैं एक व्यक्ति मर भी जाऊँ तो इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए । मैं कहूँगा लोगों से । अवश्य कहूँगा कि यह पाखण्ड है, ढोंग है । क्योंकि इसी से धर्म की हानि रोकी जा सकेगी ।

“इससे फायदा कुछ नहीं होना है बेटा । हम इस गलतफहमी में आकर किसी सुदृढ़ किले से सिर टकरावें कि इस प्रकार हम इसकी दीवारें तोड़ देंगे और उसमें कैद व्यक्तियों को मुक्ति दिलवा सकेंगे तो यह भूल ही है ।”

“फायदा तो है पिताजी । फायदा क्यों नहीं । ये जो बड़े-बड़े धनपति और सेठ-सामंत हैं ना, ये जिंदगी भर पाप करते रहते हैं । आप किसान हैं न, धरती के बेटे । धरती माँ उन डाकुओं को तो निहाल करती है और आप को कंगाल ही रहने देती है क्यों ? नहीं, एक माँ अपने बेटों से फर्क नहीं रख सकती । लेकिन ये अभिजात कुल के लोग आप का भाग छीन लेते हैं । यह उस माँ की दृष्टि में अपराध है और उसके दंड का भय ही उन्हें इस अपराध से रोक सकता है । लेकिन इन लोगों को पाप के दण्ड से बचने का आसान रास्ता मिल गया है और इसी कारण इनके हाँसले भी बढ़ते जाते हैं ।”

ठीक है लेकिन इसी दिशा में प्रयास और भी अन्य कई लोग कर चुके हैं परन्तु कुछ नहीं हुआ, उन्हें जान से हाथ धोना पड़ा । यह बात युवक के लिए सचमुच उपयोगी और चिंतनीय थी अतः वह सोचने लगा कि किस प्रकार इस तंत्र को सफलतापूर्वक तोड़ा जाय । भावी जीवन की गतिविधियों और कार्यक्रमों पर विचार करते हुए यानहुस अध्ययन करते रहे ।

आगे चलकर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस पाखण्ड को नष्ट करने के लिए इन्हें भी धर्मदर्शन का गहन अध्ययन करना चाहिए। विद्यालय में भी उन्होंने अपने पाठ्य विषयों के चयन में धर्मदर्शन को ही प्रमुखता दी और उन्होंने इस विषय में विशेष योग्यता प्राप्त की। पाठ्यक्रम के अतिरिक्त भी उन्होंने इस विषय में गहराई तक प्रवेश किया। जिज्ञासापूर्ण अध्ययन के परिणाम स्वरूप वे इस विषय में इतने विद्वान हो गये कि इकतीस वर्ष की आयु में ही उन्हें चार्ल्स विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग का अध्यक्ष बना दिया गया।

सुख-सुविधाओं भरे जीवन के लिए यह पर्याप्त था। इस प्रगति पर बधाई देते हुए उनके मित्रों ने हुस को बधाई दी परन्तु यानहुस ने इस उपलब्धि को अपने कर्तव्य पालन की दिशा में आगे बढ़ने के लिए एक सीढ़ी भर ही माना। उन्होंने कहा- मैंने यह पद सुख-सुविधाओं भरे जीवन के लिए स्वीकार नहीं किया है वरन् इसलिए कि मैं इस पद पर रहते हुए उन परिस्थितियों का और अच्छी तरह अध्ययन कर सकूँगा जिनसे कि मैं निबटना चाहता हूँ और छात्रों में भी सच्चे-धर्म के प्रति चेतना उत्पन्न कर सकूँगा ताकि वे इस अंधविश्वास की जड़ें समूल नष्ट करने में समर्थ और सफल हो सकें। दर्शन विभाग के अध्यक्ष पद पर रहते हुए इसी लक्ष्य को सामने रख कर वे कार्य करते रहे। इतने चुपचाप और मूक रह कर कि उनकी योग्यता, लगन और श्रम से प्रभावित होकर प्रबन्ध समिति ने उन्हें विश्वविद्यालय का कुलपति बना दिया।

इस पद की दायित्वपूर्ण जिम्मेदारियों को समझते हुए वे उद्देश्य की ओर सीधे कदम बढ़ाने लगे। उन्होंने आरम्भ में प्रचलित पाखण्ड और अंधविश्वासों के विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा वरन् सृजनात्मक रवैया अपनाया। उन्होंने पहले अपने विद्यार्थियों को बाद में शिक्षित और अशिक्षित सभी वर्ग के श्रद्धालु लोगों को धर्म और अध्यात्म की सही सच्ची व्यावहारिक व्याख्यायें समझायीं। जनसाधारण की भाषा में, आत्मीय शैली में धर्म तथा अध्यात्म की व्याख्या करने से वे शीघ्र ही लोकप्रिय होते गये।

लोकप्रियता के अति ऊँचे स्तर को उन्होंने छू लिया। प्राग का आर्कविशप उनकी विद्वता और लोकप्रियता से लाभ उठाने का लोभ संवरण न कर सका। आर्कविशप की ओर से उन्हें बेथलेहम के विख्यात चर्च में धर्मोपदेशक का पद स्वीकार करने का आग्रह किया गया। लक्ष्य-प्राप्ति के मार्ग में इसे सहायक समझ कर उन्होंने यह आग्रह स्वीकार कर लिया।

अब वे काफी आत्मविश्वास और सुदृढ़ स्थिति बना चुके थे। यद्यपि आर्कविशप उनके व्यक्तित्व और प्रभाव का उपयोग अपने शोषण-चक्र को और अधिक सरलता पूर्वक चलाने में करना चाहते थे लेकिन यानहुस का मन्तव्य तो कुछ और ही था। वे उस मंच से अंधविश्वास का अंधकार भगाना चाहते थे। इन्हीं विषयों पर उनका

चर्च के अधिकारियों से मतभेद हो गया। यहाँ तक कि वह विवाद तक बन गया।

लेकिन यानहुस तो अपने सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ निष्ठावान थे। व्यापक जनशक्ति भी उन्होंने अपने पक्ष में मोड़ ली थी अतः उन्हें इस विवाद से कोई चिंता नहीं हुई। उल्टे वे सभी बन्धनों से मुक्त होकर जनक्षेत्र में उतर आये और स्वतन्त्र रूप से अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने लगे।

धर्म-विश्वासियों के स्वार्थ-साधना अस्त्र को उन्होंने जनशक्ति के बल पर डलवा देने का संकल्प कर लिया था। इस केन्द्र बिन्दु पर अनवरत अपनी विचारधारा का उन्होंने इस तर्कपूर्ण ढंग से प्रचार किया कि अब तक जो लोग पोप, पादरियों और विशापो के निर्दिष्ट मार्ग पर चलने के लिये जनसाधारण से कहते थे वे स्वयं पादरियों और विशापो से सच्चे धर्म का अवलम्बन लेने और उपदेश देने के लिए कहने लगे।

प्रबल जनशक्ति को एक अकेले व्यक्ति के कारण अपने विरोध में जाते देख कर पादरी लोग यानहुस के जानी दुश्मन हो गये और वे अपने पवित्र पिता-होली फादर के नाम पर हुस का विरोध करने लगे। यान हुस ने इस प्रचार तंत्र का विरोध किया। धर्म गुरुओं ने सभी उपाय अपना लिए परन्तु कोई परिणाम नहीं निकला। जनता में सच्ची धर्म-चेतना और जागरूकता फैलती जा रही थी।

निदान राज्य-सत्ता को- जो उस समय विशापो पादरी-पुरोहितों और धर्मतंत्र के कठमुल्लाओं के नियंत्रण में थी अंतिम-शस्त्र के रूप में उपयोग में लाया गया। सन् १४१४ में जर्मन के कंसटेंस नगर में एक अखिल विश्व ईसाई धर्म सम्मेलन का आयोजन किया गया। जिसमें लगभग एक हजार पादरी विशाप, आर्क विशाप और पोप के गुर्गों के अतिरिक्त करीब बीस हजार अन्य प्रतिनिधिगणों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में यानहुस को सद्भावना पूर्वक आमन्त्रित किया गया। स्वयं हुस को भी खतरे की आशंका थी परन्तु जब जर्मनी के सम्राट ने उनकी जीवन रक्षा का वचन दिया तो वे जाने को तैयार हुए।

पहले से ही नियोजित योजना के अनुसार यान को गिरफ्तार कर लिया गया और उन पर दबाव डाला गया कि अब तक के अपराधों (पोप के विरोध) के लिए वे पोप से क्षमा माँगे और आगे से ऐसा न करने का वचन दें। दृढ़तापूर्वक उन्होंने यह बात मानने से इंकार कर दी। जिसके फलस्वरूप उन्हें शैतान का ताज पहनाया गया और जीवित ही जलती हुई आग में फेंक दिया गया।

यानहुस तनिक भी नहीं छटपटाये और चुपचाप उन्होंने अपने आप को जल जाने दिया लेकिन असत्य के आगे घुटने नहीं टेके। अपने कृतित्व के माध्यम से वे जन-मानस में सच्चे धर्म बीजों का आरोपण-अंकुरण कर चुके थे जिनमें आगे चलकर सच्ची धर्मनिष्ठा के फूल लगे।

अमेरिका के महान नीग्रो-

श्री रिचर्ड ऐलेन

अमरीका का अफ्रीकन मैथोडिस्ट ऐपिस्कोपल चर्च आज एक महान राष्ट्रीय संस्था माना जाता है। यह संस्था धर्म के आधार पर संसार में सेवा और भ्रातृत्व-भाव का प्रचार करती है। इसकी ओर से संसार के प्रत्येक भाग में शिक्षा-संस्थाओं और सेवा संघों की स्थापना की गई और की जा रही है। इसके मिशनरी संसार के हर कोने में जाकर धर्म और प्रेम-भाव का प्रसार करते हैं। इस संस्था को अमेरिका की एक विशाल राष्ट्रीय-शक्ति माना जाता है।

इस संस्था का महत्व इस बात से और है कि इसके संस्थापक एक नीग्रो थे। उनका नाम श्री रिचर्ड ऐलेन था। श्री रिचर्ड ऐलेन का जन्म १७६० के आस-पास फिलडेल्फिया में हुआ था। वे एक गुलाम वंश में पैदा हुए थे। उनके माता-पिता दास थे और वे बाल्यकाल में ही डेलावेयर के एक किसान के हाथ बेच दिये गये थे।

उन दिनों अफ्रीका के हब्सियों की आत्मा का उद्धार करने के बहाने लोग उन्हें ईसाई धर्म में दीक्षित करने के लिये ले आते थे और दास बनाकर उनसे पशुओं जैसा काम लेते थे? स्वार्थ के लिये दरअसल उनकी आत्मा का हनन कर डालते थे। यद्यपि उनको दीक्षित ईसाई धर्म में ही किया जाता था किन्तु श्वेत लोग उनके साथ धर्म-बन्धुत्व का व्यवहार न करते थे। इस प्रकार अमेरिका में बहुत से अश्वेत ईसाई दास ला-लाकर रखे गये थे। उन्हीं में से एक श्री रिचर्ड ऐलेन भी थे।

श्री रिचर्ड ऐलेन में प्रारम्भ से ही धर्म और ईश्वर के प्रति बड़ी आस्था थी। वे अपने अति व्यस्त जीवन में से किसी न किसी समय ऐसे क्षण निकाल ही लेते थे, जिनमें प्रभु की प्रार्थना कर लिया करते थे। अपने परिश्रम, काम और आज्ञाकारिता से प्रसन्न कर उन्होंने आगे चलकर मालिक से खेत पर ही एक छोटी-सी प्रार्थना सभा करने की अनुमति लेली थी। ईसाई होने के नाते उसे धर्म के नाम पर वह छोटी-सी छूट देनी ही पड़ी थी। श्री रिचर्ड ने उस अवसर का पूरा लाभ उठाया और वे अन्य खेतों पर काम करने वाले नीग्रो लोगों को मध्यान्तर के समय जमा करके प्रार्थना और उपदेश करने लगे। प्रार्थना और उपदेश का विषय गुलामी से मुक्ति और आत्मा के जागरण के सिवाय और हो ही क्या सकता था? श्री रिचर्ड के सम्पर्क में आने वाले नीग्रो लोगों को अपना अस्तित्व बोध होने लगा और उनके बीच रिचर्ड का प्रभाव भी बढ़ने लगा।

किन्तु स्वार्थी श्वेत मालिक अपने मोल लिये अश्वेत दास की लोकप्रियता सहन भी कैसे कर सकता था और कैसे दूसरे श्वेत स्वामी की शिकायत करने और अपने

दासों को वर्जित करने से मान सकते थे? निदान श्री रिचर्ड की प्रार्थना-सभा पर न केवल प्रतिबन्ध ही लगा दिया गया, बल्कि अश्वेत दासों पर सख्ती और काम की मात्रा भी बढ़ा दी गई। अहंकारी और स्वार्थी लोगों का यही तो दुर्भाग्य होता है कि वे अपने लोभ और अहं के लिये धर्म की धजियाँ तक उड़ा सकते हैं।

लेकिन रिचर्ड को तो धर्मोपदेश और दासों के बीच जागरण की लगेन लग चुकी थी। वे किसी भय से ईश्वरीय कार्य से विरत भी किस प्रकार हो जाते? उन्होंने उपाय निकाला। उन्हें पता था कि दास-प्रथा में एक ऐसी मद भी है कि जो दास अपनी कीमत और उस समय तक अपने आने वाले खाने-पहनने के खर्च का भुगतान मालिक को कर दे वह दासता से मुक्त हो सकता था। रिचर्ड ने इसी उपाय का अवलम्बन लिया। अमेरिकी क्रान्ति के समय जब काम की बहुतायत हो गई और सभी को उसमें हिस्सा बँटाने का अवसर मिला तो रिचर्ड ने मालिक का काम करने के बाद अपने विश्राम का सारा-सारा समय, यहाँ तक कि रात में सोने का समय तक अतिरिक्त मजदूरी में लगा दिया। उन्होंने उन गाड़ियों, ठेलों और छकड़ों को खींचने का काम किया जिन्हें घोड़े, गधे और खच्चर खींचा करते थे। पुरुषार्थी रिचर्ड ने आदमी बनने के लिए पशुओं के योग्य परिश्रम करने से मुँह न मोड़ा। इस प्रकार धन जमा करके मालिक का सारा पैसा मय सूद-ब्याज के चुकता करके अपने को मुक्त कर लिया। दूसरे प्रायः जिस बात को असम्भव समझते थे रिचर्ड ने उसे सम्भव कर एक उदाहरण उपस्थित कर दिया।

अब रिचर्ड ऐलेन डेलावेयर से फिलडेल्फिया चले आये और एक स्वतन्त्र नागरिक की तरह रहने और काम करने लगे। यों तो अमेरिका के किसी भी चर्च में अश्वेतों को जाकर प्रार्थना करने की अनुमति नहीं थी लेकिन एक सेन्ट जार्ज चर्च ऐसा जरूर था जहाँ अश्वेतों का प्रवेश वर्जित नहीं था। पता नहीं इस उदारता का पुण्य किस भाग्यवान ने लिया था और किस मुहूर्त में मानवीय समता के भावी बीज बो गया, जिसकी फसल उस समय से लेकर अब तक फलती-फूलती चली आ रही है और उसकी उदारता निकट भविष्य में अश्वेत अमेरिकनों को दासता और श्वेत अमेरिकनों को उसके पाप से पूर्णतया मुक्त कर दे।

रिचर्ड ऐलेन इसी चर्च में जाने और प्रार्थना के साथ धर्मोपदेश करने लगे। सच्ची प्रार्थना और उसके साथ जुड़ी हुई मांगलिक मनोकामना में बड़ा प्रभाव और प्रताप होता है। रिचर्ड के व्यक्तित्व, वक्तव्य और भक्ति से खिंच कर फिलडेल्फिया के सारे अश्वेत दास उस चर्च में जाने और जागरण पाने लगे। अश्वेतों की भीड़ ने श्वेतों की संख्या नगण्य कर दी। निदान श्वेत 'बगुला भक्त' प्रभु की प्रार्थना तो भूल गये और धर्म की उस अभिवृद्धि को रोकने की दुरभिसन्धि में लग गये। पहले तो उन्होंने चर्च में अश्वेतों का प्रवेश निषिद्ध करने की सोची, लेकिन प्रस्ताव लाने का साहस न पड़ा। उसके बाद उन्होंने असहयोग और

बहिष्कार की नीति अपनाई। जिसका परिणाम उलटा निकला। संख्या के अनुपात से वे स्वयं ही बहिष्कृत से हो गये और अन्त में जब कोई वश न चला तो असुरता पर उतर आये। एक दिन चर्च के अधिकारियों ने अपने श्वेत सदस्यों की सहायता से श्री रिचर्ड ऐलेन को प्रार्थना करते समय बीच में ही रोककर बलपूर्वक चर्च से बाहर निकाल दिया। ईर्ष्या और अहंकार के वशीभूत उन्होंने यह भी न सोचा कि उनके ऐसा करने से स्वर्ग में बैठी प्रभु ईसा की आत्मा को कितना गहरा आघात पहुँचा होगा। किन्तु धर्म-धन्धकों का तो काम ही उस परम-प्रभु को दुःखित और पीड़ित करना होता है, जिसके नाम पर वे खाते, कमाते और आदर पाते हैं, और महत्व की बात यह होती है कि उनका पाप, पारिताप की ओर ले जाने के लिये इस 'अवश्यभावी परिणाम' की ओर नहीं देखने देता-

“उधरे अन्त न होइ निबाहू।

कालनेमि जिमि रावण राहू॥”

इस घटना से अश्वेतभक्तों में रोषपूर्ण असन्तोष फैल गया और अशान्ति की सम्भावना खड़ी हो गई। किन्तु शान्तिप्रिय रिचर्ड ने परिस्थिति सँभाल ली। उन्होंने अपने अनुयायी अश्वेतों को समझाया- “ईसा-धर्म के सच्चे अनुयायी दुर्व्यवहार का बदला दुर्व्यवहार से नहीं, प्यार से देते हैं। हम इस अपकार का प्रतिकार करेंगे, लेकिन सुन्दर सृजन द्वारा। वे उसे व्यक्तिगत सम्पत्ति समझकर हमें भगवान के मन्दिर से निकालते हैं निकाल दें, हम कहीं भी आकाश के नीचे खड़े होकर प्रार्थना कर लेंगे। धरती के फर्श आकाश की छत वाला यह सारा संसार भगवान का मन्दिर ही तो है। हमें ईट-पत्थरों से बनी एक ऐसी इमारत के लिए झगड़ना उचित नहीं जहाँ भगवान की जगह पर उसके ठेकेदारों का अधिकार है।”

दूरदर्शी रिचर्ड ऐलेन ने अश्वेतों के संगठन और अवसर को परख लिया और बड़े प्रयत्नों के साथ 'स्वतन्त्र अफ्रीकी समाज' नामक हितकारी संस्था स्थापित कर दी। आगे चलकर इसी संस्था के आधार पर उन्होंने अश्वेतों के लिए 'बैथेल मैथोडिस्ट ऐपिस्कोपल चर्च' भी स्थापित किया, लेकिन श्वेतों के प्रवेश पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया। यही वह चर्च है जो आज अमेरिका की शक्तियों में से एक महान शक्ति माना जाता है और जिसके इस समय दस लाख से ऊपर स्थायी सदस्य हैं।

उन्हीं दिनों फिलाडेल्फिया में पीलिया रोग का प्रकोप हुआ और इस महामारी से सैकड़ों लोगों की प्रतिदिन मृत्यु होने लगी। तथापि परिश्रम से प्राप्त सच्चे स्वास्थ्य के कारण अश्वेतों की मृत्यु संख्या कम रहती थी। महामारी से इतना भय फैल गया कि श्वेत नागरिक घर छोड़कर भागने लगे। रोगियों की सेवा करने, लाशों को दफनाने और उन्हें दवा देने वालों का अभाव हो गया। सारा नगर उजाड़ होने लगा। यह रोग प्लेग का ही एक प्रकार था और संक्रामक माना जाता था। अस्तु, छूत लगने के भय से परिवार के लोग अपने रोगियों को मरता छोड़ कर भाग

जाते थे। इस आपत्तिकाल में रिचर्ड ऐलेन ने अपने अश्वेत साथियों की सहायता से श्वेतों की महान सेवा की। उन्होंने रोगियों की परिचर्या, लाशों को दफनाने और परिवारों की व्यवस्था का प्रबन्ध किया। उनकी इन सेवाओं ने रिचर्ड ऐलेन की ख्याति दूर-दूर तक फैला दी। इसी आपत्तिकाल में रोगियों की सेवा करने के लिए रिचर्ड ऐलेन ने नीग्रो पुरुषों को डॉक्टरों का और स्त्रियों को परिचारिका का प्रशिक्षण भी दिलाया जिससे इनका सामाजिक स्तर ऊँचा हो गया।

संसार भर ने नीग्रो लोगों की इस सेवा को मान्यता दी और उनके नेता की प्रशंसा की। तब भी ऐसे अनेक श्वेतों की कमी नहीं थी जिन्होंने कृतघ्नतापूर्वक उनकी इस महानता में भी बुराई निकाली और धनोपार्जन का लाल्छन लगाया- जिसका उत्तर देते हुए रिचर्ड ऐलेन ने लिखा- “उस आपत्तिकाल में प्राप्त होने वाला धन इतना कम था कि उससे मजदूरों की मजदूरी और मृतकों के लिये कफन भी पूरा न पड़ता था। हम लोगों ने तो धर्म का आधार और ईश्वर का विश्वास लेकर पीड़ितों की सेवा करने के लिये उस अग्नि-कुण्ड में अपने को ढकेल दिया था। हमारी आस्था के अनुसार ईश्वर ने हमें समस्त भयों से मुक्त करके हमें शक्ति प्रदान की और हमारे हृदयों को अधिकाधिक परोपकारी बनने और सेवा करने की प्रेरणा दी।”

श्री रिचर्ड ऐलेन का सम्मान इतना बढ़ गया कि वे फिलाडेल्फिया की सामाजिक सभाओं और चर्चों तक के प्रधान बनाये जाने लगे। अपनी इन स्थितियों द्वारा नीग्रो के बीच संगठन और जागरण को और आगे बढ़ाया जिससे श्वेत मालिकों को भय हो गया कि कहीं अश्वेत दास शक्ति न पा लें और तब अमेरिका में अपने अधिकारों की माँग करके बराबरी में न आने लगे। अस्तु, उन्होंने नीग्रो लोगों को अफ्रीका वापस भेजने की दुरभिसन्धि रची और इसके लिये उनसे स्वीकृति हेतु जबरदस्ती हस्ताक्षर लेने लगे। श्री रिचर्ड ऐलेन ने बल-प्रयोग का डटकर विरोध किया और विरोधियों की एक न चलने दी। उन्होंने अश्वेतों की रक्षा के लिये बहुत से संघों और विशाल संगठनों का आयोजन किया और इस प्रकार नीग्रो लोगों का निष्कासन रोक दिया गया। श्री रिचर्ड ऐलेन लगभग इकहत्तर-बहत्तर वर्ष तक जीवित रहे और अपनी पूरी आयु तक इसी प्रकार नीग्रो जनों में जागरण और मुक्ति भावना का प्रचार करते रहे। १८३१ में जब उनकी मृत्यु हुई उस समय तक अमेरिकी अश्वेत दास बहुत कुछ जाग चुके थे। उनके बीच तब से अब तक जो स्वातन्त्र्य शिक्षा जलती आ रही है उसमें श्री रिचर्ड ऐलेन की तपस्या, उनके त्याग और उनकी प्रेरणा-ज्योति प्रदीप्त हो रही है। दास-मुक्ति के जिस आधार को उन्होंने अपने जीवन का क्षण-क्षण त्याग कर बनाया था उस पर अब भवन बनना प्रारम्भ हो गया है जो शायद कुछ दिनों में पूरा हो जायगा।

जो हथियों के लिए बलिदान हो गये— प्रेसीडेंट कैनेडी

मनुष्य का मूल्य उसकी मृत्यु के पश्चात् ही मालूम होता है जो जितना ही महान होता है उसे प्रायः उतना ही अधिक विरोध सहन करना पड़ता है। ये विरोधी किसी व्यक्ति के श्रेष्ठ कार्यों का भी उलटा अर्थ लगाते हैं और उसे हर तरह से बदनाम, अपदस्थ करने की चेष्टा करते हैं। चाहे कोई व्यक्ति कितना ही सच्चा, त्यागी, सेवाभावना वाला क्यों न हो, दूषित भावना वाले विरोधियों को वह छली, कपटी, दम्भी ही दिखलाई पड़ता है और वे उसके कामों में हर तरह से अड़ंगा लगाने, असफल करने की कोशिश करते रहते हैं।

सच्चे परोपकारी सज्जन इस प्रकार की विघ्न-बाधाओं की परवाह न कर के संसार की भलाई के कामों से कभी पश्चात्-पद नहीं होते। वे देखते हैं कि भगवान ने मनुष्य को कितने अपूर्व साधन और शक्तियाँ दी हैं, फिर भी वह अपनी संकीर्णता, ईर्ष्याभाव, द्वेष-बुद्धि से स्वयं ही दुःखी होता है और दूसरों को भी पीड़ित करता है। यदि मनुष्य इन दुष्प्रवृत्तियों को त्यागकर सबके साथ न्याय, समता और भ्रातृभाव का व्यवहार करने लगे तो यह पृथ्वी ही स्वर्ग बन सकती है।

अमरीका के प्रेसीडेन्ट कैनेडी (१९१७-१९६३) इसी श्रेणी के महापुरुष थे। यद्यपि प्रेसीडेन्ट बनने से पहले उनका नाम संसार के अन्य देशों में तो क्या अमरीका में भी प्रसिद्ध न था। उनकी आयु भी अपेक्षाकृत कम थी और वे कोई बहुत बड़े विद्वान भी न थे पर उनमें वर्तमान समय की राजनैतिक स्वार्थपरता और धूर्तता का प्रयोग कर के संसार के अन्य देशों के सत्त्वापहरण करने की दुष्प्रवृत्ति के बजाय सहयोग तथा सहायता की नीति को काम में लाकर मानव जाति को प्रगति पथ पर अग्रसर करने की सद्भावना थी। खासकर पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में अणुशक्ति का जैसा विकास हुआ है उसे देखकर वे मन में बार-बार यही सोचते थे कि जब मनुष्य ने सृष्टि निर्माण की कुंजी प्राप्त करली है और थोड़े-से प्रयत्न से वह इस पृथ्वी को नन्दनवन बना सकता है, तब इस प्रकार आपस में मरने-कटने और नाश के पथ को अपनाने की क्या आवश्यकता है ?

इन्हीं उद्दात्त आदर्शों को लेकर कैनेडी राजनीतिक क्षेत्र की ओर अग्रसर हुये। उन्होंने इंग्लैण्ड में रह कर सुप्रसिद्ध प्रोफेसर लास्की से राजनीतिशास्त्र का अध्ययन किया और सन् १९४६ के लगभग अमेरिका की शासन-सभा के सदस्य चुन लिये गये। पैंतीस वर्ष की आयु में अमरीका की 'सीनेट' के सदस्य बन गये थे। वे डेमोक्रेटिक पार्टी की तरफ से उम्मीदवार बनकर शासन सभा में गये थे, पर वहाँ उन्होंने किसी खास गुट में शामिल होने के बजाय

स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने का ही निश्चय किया। वे प्रत्येक समस्या का निर्णय उसके गुण-दोषों के आधार पर ही करते थे। इससे लोगों में उनके प्रति सम्मान की भावना बढ़ गई और सन् १९६० में वे अमरीका के प्रेसीडेन्ट चुन लिये गये। इस प्रकार वे अपने देश के सबसे छोटे राष्ट्राध्यक्ष थे। अभी तक कोई राजनीतिज्ञ इतनी कम आयु में इस पद तक नहीं पहुँच सका था।

अमरीका जैसे संसार के अग्रगामी राष्ट्र के कर्णधार बनने पर कैनेडी ने वहाँ की राजनीति को एक नया मोड़ दिया। अभी तक वहाँ के शासक अपने भीतरी मामलों को ही सबसे अधिक महत्व देते थे, पर कैनेडी ने अपने देशवासियों से कहा कि अब युग बदल गया है और यदि वे केवल अपने घरेलू मामलों में ही उलझे रहेंगे, तो शीघ्र ही विश्व राजनीति में अमरीका अन्य देशों के मुकाबले में पिछड़ जायगा।

प्रेसीडेंट बनने के डेढ़ साल बाद ही उनको एक विश्वव्यापी महत्व की समस्या का सामना करना पड़ा। क्यूबा का द्वीप, जो अमरीका की मुख्य-भूमि से कुछ ही दूरी पर है, कम्युनिस्ट पक्ष में जा मिला और रूस ने वहाँ पर अणुयुद्ध की तैयारियाँ आरम्भ कर दीं। अपने घर में ही इस प्रकार विरोधी का प्रवेश होने से अमरीका वाले तुरन्त ही क्यूबा पर आक्रमण करके इस खतरे को सदा के लिए अन्त करने की माँग करने लगे। पर प्रेसीडेन्ट कैनेडी जानते थे कि रूस के साथ अणुयुद्ध छेड़ने का क्या परिणाम होगा? जिस प्रकार रूस ने क्यूबा में घुसकर अमरीका के विरुद्ध मोर्चा बना लिया था, उसी प्रकार अमरीका भी पहले से टर्की को अपना साथी बना कर वहाँ अणु-अस्त्रों का एक बड़ा अड्डा बना चुका था।

इस संघर्ष में दो बार ऐसे मौके भी आये जबकि सैनिक अधिकारियों की तरफ से अमरीकन वायुयानों को एटम बम लेकर रूस के तरफ बढ़ने का आदेश दे दिया गया, पर कैनेडी ने सूचना मिलते ही इसे रोका। उन्होंने राष्ट्रव्यापी माँग को मानकर क्यूबा का घेरा डाल दिया, पर कभी अपनी ओर से ऐसा कार्य नहीं होने दिया जिससे युद्ध भड़क उठे। उनके संयम और शान्ति स्थापित करने की नीति का ही यह नतीजा हुआ कि रूस वालों ने अपनी गलती मान ली और एक महीने के भीतर वे अपने समस्त अणु-अस्त्रों को लेकर क्यूबा से हट गये और वहाँ बम फेंकने के जो अड्डे बनाये गये थे उनको तोड़ दिया गया। इस अवसर पर कैनेडी स्वयं योरोप गए और वियना नगर में रूसी अधिनायक ख्रुश्चेव से बातें करके रूस के साथ शत्रुता की नीति का एक प्रकार से अन्त ही कर दिया।

यद्यपि संसार के अधिकांश व्यक्ति अभी तक कैनेडी की इस महान सेवा का महत्व नहीं जान सके हैं, पर सच बात यह है कि उस समय अमरीका में कोई संकीर्ण विचारों का राष्ट्रवादी प्रेसीडेन्ट होता तो असम्भव नहीं था कि रूस के साथ उसका युद्ध छिड़ जाता। उस दशा में उन

दोनों देशों का ही सर्वनाश नहीं होता वरन् यह मानव सभ्यता पर एक ऐसा आघात होता कि संसार की काया ही पलट जाती। वास्तव में वे दो-दीन वर्ष संसार के भाग्य निर्णायक थे और उस अवसर पर कैनेडी तथा नेहरू जैसे महान् व्यक्तियों के आविर्भाव के कारण ही इस घोर संकट से मानव जाति की रक्षा हो सकी।

कैनेडी का दूसरा स्मरणीय कार्य अपने देश के हब्सकी (नीग्रो) जाति वालों को गोरे लोगों के समान अधिकार देने का कानून बनाना था। अब से दो सौ वर्ष पहले हब्सकी लोगों को अफ्रीका से जबरदस्ती पकड़ कर ले जाना और उनको दास बनाकर अमरीका में बेच देना एक ऐसी घटना थी जो बहुत काल तक अनेक योरोपियनों के सिर पर कलंक का टीका लगाती रहेगी। निर्दोष और सीधे-सादे हब्सकीयों पर केवल अपने स्वार्थ साधन के कारण जो अमानुषिक अत्याचार किये गये वे विश्व-इतिहास के अमिट काले अध्याय बन चुके हैं।

अमरीका के महामानव प्रेसीडेन्ट अब्राहम लिंकन ने आज से सौ वर्ष पहले गृहयुद्ध का सामना करके और हजारों व्यक्तियों का बलिदान देकर इस महापाप रूपी प्रथा का अन्त कराया। पर इसके पश्चात् भी स्वार्थी गोरों ने उनके साथ न्याययुक्त व्यवहार करना स्वीकार न किया। वे उनको नीच, अछूत की तरह ही मानते रहे और राजनीति, समाज, शिक्षा आदि सभी विषयों में भेदभाव का व्यवहार करते रहे। अब से चालीस-पचास वर्ष पहले भी यदि कोई बहरी गोरों की समानता करता तो उसे गुप्त या प्रकट रूप से मौत के घाट उतार दिया जाता इतना ही नहीं यदि कोई गौरा व्यक्ति हब्सकीयों का पक्ष लेता, उसका समर्थन करता तो उसकी बड़ी दुर्दशा की जाती। इस तरह के कार्यों के लिए वहाँ के कई प्रदेशों में 'कु क्लक्स क्लैन' जैसी अत्याचारी गुप्त-संस्थायें बना ली गई थीं।

प्रेसीडेन्ट कैनेडी की मानवता को, नीग्रो लोगों के प्रति किये जाने वाले इस अन्यायपूर्ण व्यवहार से बड़ा धक्का लगा। वे विचारने लगे कि जब हम संसार के विभिन्न राष्ट्रों को समानता का पद देकर, उनके साथ बराबरी का व्यवहार करके मानव-जाति को प्रगति-पथ पर अग्रसर करने के लिये प्रयत्नशील हैं, तब अपने देश में रंग के नाम पर लाखों नर-तन धारियों के साथ शत्रुओं का-सा बर्ताव करना हमें कहाँ तक शोभा दे सकता है? यह तो केवल मानव-स्वाधीनता या समता के सिद्धान्त का उपहास करना ही होगा। यदि हम अपने साथ न्याय चाहते हैं तो हमें नीग्रो लोगों को भी उचित अधिकार देने होंगे।

अपने करोड़ों देशवासियों के विरोध का सामना करते हुए भी कैनेडी ने इस पवित्र कर्तव्य को पूरा करने का संकल्प कर लिया। उन्होंने अमरीकन शासन सभा के सामने 'सिविल राइट्स बिल' (नागरिक अधिकारों का कानून) पेश किया और उसके पास कराने के लिये बहुत

अधिक प्रयत्न करने लगे। इससे दक्षिण की रियासतें, जिनमें नीग्रो-ट्रेड की भावना विशेष रूप से पाई जाती है, उनके खिलाफ हो गई। यद्यपि कैनेडी स्वयं दक्षिण के रहने वाले थे और वहाँ वालों के वोटों से जीत कर प्रेसीडेन्ट बने थे, पर इस कारण वे एक अन्यायपूर्ण प्रथा का समर्थन करने को तैयार न हुए। वे इस सम्बन्ध में अपने विचारों का स्पष्टीकरण करने और वहाँ के विचारशील लोगों को अपने अनुकूल बनाने के उद्देश्य से दक्षिणी रियासतों का दौरा करने गये और उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता भी मिलने लगी।

दक्षिणी रियासतों के कट्टरपन्थी, जो हब्सकीयों के मामले में सदा लड़ने और मरने को तैयार रहते थे और षड्यन्त्र रचने में भी निपुण थे, कैनेडी की जान के ग्राहक बन गये। यद्यपि वे भी इस बात को जानते थे, उनको धमकी के हजारों पत्र मिल चुके थे (शासन के प्रथम वर्ष में ही ऐसे पत्रों की संख्या ८६० थी) पर इस प्रकार वे अपने कर्तव्य से पीछे नहीं हट सकते थे। २२ नवम्बर, १९६३ को जब वे जलूस के रूप में डलास नगर की सड़क पर निकल रहे थे एक आततायी ने गोली मारकर उनकी हत्या कर दी।

इस प्रकार एक और महामानव का बलिदान मानवीय-स्वाधीनता व समानता की वेदी पर हो गया। सौ वर्ष पूर्व प्रेसीडेन्ट लिंकन को भी हब्सकीयों का उद्धार करने के कारण गोली से मारा गया था। इनके हत्यारे तो अपने मन में न जाने अपनी योजना की सफलता पर कितना गुमान करते होंगे, पर दरअसल उन्होंने उन दोनों को अमर बना दिया। जबकि अन्य प्रेसीडेन्टों के नाम भी लोगों को मुश्किल से याद रहेंगे ये सैकड़ों, हजारों वर्षों तक पूजे जाते रहेंगे।

आदर्श के लिये खतरों से टकराने वाले—

डा० हाल्डेन

मानव जाति के उत्थान एवं कल्याण के लिये अनेकों सेवा माध्यम हैं। उन्हीं में वैज्ञानिक अन्वेषण भी है। डा० हाल्डेन ने अपनी रुचि एवं प्रतिभा के अनुरूप यही मार्ग चुना और वे एक तपस्वी कर्मवीर की तरह इसी मार्ग पर आजीवन चलते रहे।

सेवा का पथ कष्टसाध्य है उस पर चलने वाले को अपनी पात्रता एवं पवित्रता की अग्नि परीक्षा में होकर गुजरना पड़ता है। शूरवीर और साहसी ही अपने लक्ष्य के अन्तिम छोर तक पहुँच सकने में समर्थ होते हैं, इस बात को हाल्डेन भली प्रकार जानते थे। फिर भी उन्होंने आरामतलब जिन्दगी जीने की अपेक्षा, यही मार्ग चुना और वे पग-पग पर जीवन-संकट उपस्थित करने वाले खतरों का सामना करते हुए आदर्श की ओर बढ़ते चलने में ही प्रसन्नता अनुभव करते रहे।

१.३० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

उन्होंने कई प्रकार के कार्यक्रम बदले, पर इस परिवर्तन में लक्ष्य अविचल ही बना रहा। मानव-कल्याण के लिए आत्मोत्सर्ग का आनन्द अनुभव करते रहना यही उनका लक्ष्य था, इसे वे जब तक जिये हर घड़ी प्राप्त भी करते रहे।

मानव की क्षमताओं और उस पर वैज्ञानिक रसायनों, द्रवों और गैसों का ठीक-ठीक प्रभाव और परिणामों की खोज करने के लिए वे घन्टों पानी में समाधिस्थ रहते, गैसों के वस्त्र पहनते और अनेक वस्तुओं को खा लेते थे।

विगत विश्वयुद्ध के दौरान उन्हें अपनी जलसेना की कठिनाइयों के कारणों की खोज करने के लिए लगभग पन्द्रह घण्टे एक स्पात निर्मित कमरे में बन्द रहना पड़ा। उनकी इस तपस्या में पनडुब्बियों की दुर्घटनाओं की दिशा में नौ-सेना को बड़ा लाभ हुआ। एक बार मानव-शरीर पर ठीक-ठीक उसका प्रभाव जानने के लिये वे प्रयोगार्थ एमोनियम क्लोराइड पी गये। उस अमर मानव ने जो तथ्य इस विषय में दिये वे आज तक सर्वमान्य एवं साहसिक माने जाते थे।

एक बार एक ऐसे खतरनाक जलीय अन्वेषण का काम उन्होंने अपने हाथों में लिया, जिसके प्रयोग में सौ प्रयोगकर्ताओं का एक पूरा-पूरा मिशन ही अपने प्राण उत्सर्ग कर चुका था। उस जलीय अन्वेषण के लिये उन्हें जल के भीतर एक लम्बी समाधि लेनी पड़ी। अपने इस प्रयोग में जहाँ उन्होंने बहुत सी-बातों की खोज करली वहीं इस खोज का भी बहुत महत्व है कि यदि सामान्य वातावरण से छह गुने दबाव में प्राण वायु में श्वास खींची जाये तो उसमें एक प्रकार का स्वाद अनुभव होगा। यह स्वादहीन कही जाने वाली प्राणवायु (ऑक्सीजन गैस) के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी अन्वेषण था। यद्यपि इस प्रयोग में उनकी रीढ़ की हड्डी टूट गई थी। तथापि क्या वे किसी प्रयोग से विरत हो गये? उनके जीवन का एक-एक क्षण और शरीर का प्रत्येक अंश मानव-जीवन की सेवा के ही लिये था।

उन्होंने अणु बम के पश्चात् उसके अवशेष तत्वों के प्रभाव की दिशा में 'गामा किरणों' से उदर में होने वाली उथल-पुथल की जो खोज की है वह महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ आधुनिकतम भी है। उनके अन्वेषण से यह पता लगाना सरल हो गया कि अणु-बम विस्फोटों से आगामी पीढ़ियों के कितने भ्रूण शिशुओं की मृत्यु होगी और किस-किस प्रकार के कितने घातक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। कहना न होगा कि उनका यह अन्वेषण मानव जाति की एक महानतम सेवा है और अणु योद्धाओं के लिए एक सामयिक चेतावनी।

अपने शरीर पर विभिन्न रसायनों और द्रवों का प्रयोग करते रहने से वे कैसर से पीड़ित हो गये। परिचितों द्वारा

उस पर चिन्ता व्यक्त किये जाने पर उन्होंने दार्शनिक व्यक्ति की तरह हँसकर उत्तर दिया कि जब मरना निश्चित ही है तब यदि मैं कैसर की परवाह कर भी लूँ तो अन्य प्रकार से भी नहीं मर सकता हूँ? मैं तो अपने पर हर प्रयोग से उत्पन्न होने वाले विकारों को अपनी सेवाओं का पुरस्कार मानता हूँ और वैज्ञानिक क्षेत्र में उनका लाभ उठाता हूँ। मेरे शरीर में उत्पन्न प्रत्येक विकार मुझसे कुछ लेता नहीं बल्कि कुछ देता ही है।

उनके दार्शनिक व्यक्तित्व ने 'सफल-मानव' और 'समृद्ध-मानव' की जो सशक्त व्याख्याएँ दी हैं वे उनकी वैज्ञानिक देन से किसी प्रकार भी कम नहीं हैं। वे मानव को केवल एक मानव ही नहीं महामानव के रूप में मानते थे। वे मानव प्रवृत्तियों और प्रकृतियों के इतने बड़े ज्ञाता और व्याख्या थे कि उनकी इस विषय की विवेचना पढ़कर दंग रह जाना पड़ता है।

वे मुसीबतों और संघर्षों को जीवन की उन्नति का मूल मन्त्र मानते थे, इसीलिये अपने सिद्धान्तों की रक्षा में समागत मुसीबतों और संघर्षों का सहर्ष स्वागत करते रहते थे। उन्होंने कभी भी किसी सुख-सुविधा के लिये अपने अन्वेषित सत्य का बलिदान करना स्वीकार न किया। यही कारण है कि जमाने ने उनका ठीक-ठीक मूल्यांकन करने में कृपणता की है।

वैज्ञानिक और दार्शनिक होने के साथ-साथ वे एक देशभक्त योद्धा भी थे। वे कोई सामयिक पुकार सुनकर भी केवल एक क्षेत्र में ही बैठे रहने में विश्वास न करते थे। उनका विश्वास था कि समय की चुनौती सुनकर, किन्हीं अपनी प्रिय सीमाओं में बैठा रहना एक कायरता है। आगे बढ़कर उसका सामना करना सबसे बड़ी मानवता और मानव-सेवा है।

अपनी इस धारणा के आधार पर वे प्रथम विश्वयुद्ध में प्रयोगशाला से निकल कर रक्षा क्षेत्र में आ गये। प्रयोग यन्त्र के स्थान पर हाथ में बन्दूक लेकर वैज्ञानिक से सिपाही बन गये। युद्ध के सम्बन्ध में वे एक बार फ्रांस और दूसरी बार ईराक में घायल हुये। एक मोर्चे से दूसरे पर आते-जाते हुये उन्होंने अनेक देश देखे, जहाँ वे न केवल युद्ध ही करते थे, अपितु वहाँ के मानवों तथा भौगोलिक स्थितियों के अध्ययन से अपने आपको भी लाभान्वित करते थे, जो आगे चलकर उनकी रचनाओं में बहुत काम आया। कदाचित् वे ही एक ऐसे दार्शनिक वैज्ञानिक थे जिन्होंने अपने ज्ञान के अतिरिक्त देश की सशस्त्र सेवा भी की।

युद्धान्तरण के सिलसिले में वे लगभग सवा साल तक भारत में भी रहे। भारत उन्हें अन्य देशों की अपेक्षा अधिक पसन्द आया और उन्होंने अपने जीवन का चौथा चरण वहीं रहकर बिताने का निश्चय किया।

युद्ध समाप्त होने पर वे देश वापस चले गये और ऑक्सफोर्ड में न्यू कालिज के शरीर विभाग में शिक्षक का काम करने लगे। कोई उपाधि या डिग्री न होने पर भी उन्हें प्राध्यापक का पद दिया गया। जिसको उन्होंने बड़ी दक्षता से सँभाला।

शिक्षण काल में भी उन्होंने अपने शरीर पर अनेक महत्वपूर्ण प्रयोग किये, जिसके कारण वे वैज्ञानिकों के बीच काफी लोकप्रिय हो गये। अनेक वैज्ञानिक उनसे अपने-अपने अन्वेषण क्षेत्र में सहायता, सहयोग एवं परामर्श लेने लगे। नोबल पुरस्कार-प्राप्त प्रोफेसर हॉकिन्स ने उनकी सहायता से 'साइटोक्रोम में आक्सीडेज' पदार्थ की खोज की और अपनी पुस्तक 'उत्क्रान्ति के कारण' में वंश परम्परा पर अनेक लेख लिखे।

हिटलर द्वारा निष्काशित यहूदी वैज्ञानिक डा० वोटी चेरन, डॉ० हाल्डेन के घर रहकर उनके परामर्श प्रसाद से तेनिसिलीन नामक एक अत्युपयोगी औषधि का आविष्कार कर सके। इसी प्रकार न जाने कितने वैज्ञानिकों ने उनके ज्ञान का लाभ उठाया।

डा० हाल्डेन स्वाभिमान को जीवन में बहुत महत्व देते थे। उसके लिए वे बड़े से बड़ा त्याग और ऊँचे से ऊँचे अधिकारी की उपेक्षा कर देते थे। इसलिए जीवन भर उन्हें कठिनाइयों और आलोचनाओं का सामना करना पड़ा। किन्तु इससे वे अपने ध्येय मार्ग से विचलित न हुए। डॉक्टर हाल्डेन एक पूर्ण मानव होने के अतिरिक्त और कुछ न थे। निरर्थक एवं रूढ़िगत सामाजिक अथवा धार्मिक कोई भी बन्धन वे मानने को तैयार न थे। मानव अधिकारों के प्रति अन्याय देख सकना उनकी शक्ति के बाहर था। यही कारण था कि स्वेज नहर के मामले में वे अपने देश की नीति से अप्रसन्न होकर इंग्लैण्ड छोड़कर भारत के नागरिक बन गये और फिर आजीवन भारत में ही रहे।

वैज्ञानिक होने के साथ-साथ डा० हाल्डेन विद्या-व्यसनी भी थे। अपने प्रयोगों से समय निकाल कर वे विभिन्न विषयों एवं भाषाओं का अध्ययन किया करते थे। उन्होंने ग्रीक लैटिन भाषाओं में अधिकार प्राप्त किया रसायन, पदार्थ, जीव एवं प्राणी-विज्ञान का उन्हें असीमित ज्ञान था। आक्सफोर्ड विश्व-विद्यालय से उन्होंने गणित में 'मैथमेटिकल माडरेशन' विषयक परीक्षा उच्चश्रेणी में उत्तीर्ण की। इतिहास, भूगोल एवं वनस्पति उनके प्रिय विषयों में से थे। उन्होंने लैटिन और ग्रीक भाषाओं के पुरातन जीव-विज्ञान से आधुनिक जीव-विज्ञान को बहुत लाभ पहुँचाया।

डा० हाल्डेन न केवल भारतवासी ही बने, बल्कि उन्होंने भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं आचार-विचार भी अपना लिये। वे भारतीय ढंग के कुरता, टोपी और धोती पहनते और अधिक से अधिक भारतीय ढंग का ही भोजन करते थे। वे भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के जहाँ ब्रह्माण्ड उपासक थे वहाँ सूक्ष्मदर्शी आलोचक भी थे।

वह महामानव आज संसार में नहीं है पर उनका त्याग, तप, साहस और उदार दृष्टिकोण उज्ज्वल नक्षत्र की तरह जनसाधारण को परमार्थ पथ पर चलने की प्रेरणा प्रदान करने के लिए अभी विद्यमान है।

जो फाँसी के तख्ते तक हँसता रहा—

टामसमोर

“अपराध किया है मैंने और सजा भी पाई मैंने पर बेकसूर दाढ़ी यों ही मारी जा रही है। ऐ भाई जल्लाद! थोड़ा ठहरो, फाँसी को अभी तो २० मिनट बाकी हैं तब तक इस दाढ़ी को तो अलग कर देने दो।” इतना कहते-कहते-कहते उसे हँसी आ गई। जल्लाद भी अपनी मुस्कान न रोक सका पर साथ ही उसे कौतूहल भी कम न था इस व्यक्ति के अजीब व्यवहार पर, जिसके आगे मौत खड़ी थी। निश्चल कर्मयोगी की तरह उसे तब भी जीवन के आनन्द और हास्य से अनुराग बना रहा जब जिन्दगी और मौत के बीच कुल बीस मिनट का अन्तर था।

हँसते हुए जिया और फाँसी का फन्दा गले में डालने तक दिल्ली करता रहा, वह था अंग्रेजी का प्रसिद्ध विद्वान टामसमोर। मनुष्य जीवन का सत्य-हास्य है-आन्तरिक प्रफुल्लता है-फूलों के सौरभ जैसी मुस्कान है, इस तथ्य को सही अर्थों में समझने वालों में टामसमोर थे।

इसमें सन्देह नहीं कि आनन्द जीवन का अन्तिम ध्येय है पर क्या वह धन से उपलब्ध हो सकता है, नहीं। कंचन और कामिनी में क्षणिक सुख है और विषाद अधिक, इनमें आज तक किसी को सुख नहीं मिला। लौकिक उपलब्धियाँ आनन्द की प्राप्ति में सहयोगी भले ही हों पर उनका उद्गम मनुष्य के अन्तःकरण में ही है। विनोद उसका स्वरूप है और हास्य उसकी आत्मा। जो इसे पा गया सचमुच उसने जिन्दगी का आनन्द पा लिया।

सर टामसमोर का सम्बन्ध सदैव ही मनुष्य जीवन की गहराइयों से रहा। वह एक सम्पन्न व्यक्ति थे। साधन और सम्पत्ति का उन्हें अभाव न था पर अपने आदर्शों को वे इन सबसे उच्च मानते थे। सांसारिक संघर्षों से एक वीर योद्धा की भाँति जूझते रहे फिर भी उनकी सरलता और प्रफुल्लता का निर्झर प्रवाह कभी अगतिशील न हुआ। उनका हास्य क्षणिक न था, वरन् उसमें एक अभिनव पुरातन छिपा हुआ था, उनकी हँसी व्यंग या विद्रूप न थी वरन् वह आत्मा समीपवर्ती वातावरण को हास्य-विभोर रखते थे। प्रतिपक्षी भी उनका साहचर्य पाने के लिये सदैव उत्सुक बने रहते थे।

टामसमोर का जन्म लन्दन में सन् १४५० के लगभग हुआ था। हेनरी अष्टम ने इनकी विद्वता से प्रभावित होकर लार्ड चांसलर नियुक्त किया। इसके पूर्व जब मोर पार्लियामेन्ट के मैम्बर थे तो सप्तम हेनरी के साथ इनका

विवाद हो गया पर वे अपने आदर्श से एक पल भी विचलित न हुये। इसी बीच सम्राट ने, जिन्होंने टामसमोर को लार्ड चांसलर का गौरवपूर्ण पद-प्रदान किया था, अपनी धर्मपत्नी कैथराइन को तलाक दे दिया। अब तक लोग यह समझते थे कि मोर मस्त प्रकृति का व्यक्ति है, विद्वान भी है पर अब लोगों ने यह भी देखा कि उनके अन्तःकरण में मानवता के प्रति उत्कट उत्सर्ग का भाव भी भरा हुआ है। सदैव हँसता रहने वाला व्यक्ति जीवन की गहराइयों से मोर्चा लेने का साहस भी रखता है। उसने अपने पद से स्तीफा दे दिया और हेनरी के खिलाफ बगावत कर दी।

एक दिन इनकी पत्नी और बच्चे पास आये और समझाने लगे कि आप अपने विचार बदल दीजिए, बादशाह का विरोध करने से हम नष्ट हो जायेंगे। बच्चों की सुरक्षा की आशंका ने एक बार मोर के हृदय को द्रवित किया पर दूसरे ही क्षण फिर वही सरल मुस्कान प्रस्फुटित हुई। मोर बोले- “बच्चो मुझे फाँसी की सजा हो जायगी तो दूसरे लोग यह तो जान लेंगे कि संसार में इन्सानियत की कीमत बढ़ी है। शैतानियत से घृणा हो जायेगी। मेरे जीवन का यही उद्देश्य है कि संसार के प्रत्येक व्यक्ति को मानवीय अधिकार मिलें, किसी आत्मा को कुचला न जाये। मैं हँसता हूँ कि सारे विश्व में हँसी और आनन्द फूट पड़े। यदि तुम्हें मुझसे प्यार है तो जाओ और यह निश्चय कर लो कि मेरी मौत के बाद मानवता की रक्षा के लिए तुम भी वही रास्ता पकड़ लोगे जिस पर मैं चल रहा हूँ।”

संसार में चाहे वह ईसाई धर्म रहा हो, बौद्ध या हिन्दू, जितने भी महापुरुष, सन्त और सुधारक हुए हैं इन सबको प्रतिक्रियावादी तत्वों का कड़ा मुकाबला करना पड़ा है और इसमें उनकी जानें भी चली गई हैं पर इससे जो प्रभाव उत्पन्न होता रहा है उसी से सनातन सत्य की रक्षा और विजय होती रही है। जिस युग में इस तरह की हलचल नहीं रही उसी में बुराईयाँ बढ़ी हैं। इसलिए सनातन आदर्शों के लिए क्रान्ति का नियम भी सनातन ही है। टामसमोर ने उसी पथ का अनुसरण किया और परिणाम भी वैसे ही निकले। टामसमोर लंदन की मीनार में कैद कर दिये गये। महापादरी फिशर जैसे महान व्यक्ति भी मोर के साथ इस धर्मयुद्ध में बन्दी बनाये गए और उन सबको मौत की सजा दे दी गई।

जीवन भर कठिनाइयों से दिल्लगी करते रहने वाले व्यक्ति के लिए यह कसौटी का समय था। कहीं वह आदर्श छिन्न हो गया होता तो न उसे अन्त में देवत्व प्रदान किया जाता और न लोगों को मानवता के प्रति आत्मोत्सर्ग की भावना में विश्वास रह जाता। मोर एक वीर की तरह जीवन संग्राम में उतरा था। कार्यरों की तरह रुकता, डरता, झिझकता और सिसकता हुआ नहीं, उसने अपनी इस उन्मुक्तता को अन्त तक बहाल रखा।

जल्द ने उठी हुई कुल्हाड़ी रोक दी मोर ने बड़े मजे से दाढ़ी बनाई मानो उसे किसी बारात में जाना हो। दर्शक इस अनोखे मानसिक सन्तुलन पर मुग्ध थे, उन्हें मोर के प्रति प्यार और पुलक उठती थी। विवश तो वे सिर्फ इसलिए थे कि राजाज्ञा के उल्लंघन की उनमें शक्ति न थी। पर टामसमोर उसके चेहरे में तब तक वही मुस्कान, वही विनोद स्थिर था जो सम्पूर्ण जीवन उसका सहयोगी रहा। उसने आफीसर को बुलाकर कहा- “ऐ भाई थोड़ा हाथ लगा दे तो मैं तख्ते पर चढ़ जाऊँ मेरा शरीर तो फिर अपने आप नीचे आ जायेगा, पर हाँ थोड़ा सँभलकर जोर लगाना, मोर का मोटा शरीर कहीं आप पर ही न गिर पड़े।” “हँस पड़ा, जल्लाद भी हँसा और उसकी जब कुल्हाड़ी छूटी तब टामसमोर भी हँसी के ही बीच था। टामसमोर की मृत्यु हो गई पर वे दुनिया को बता गये कि मनुष्य को कठिनाइयों, आपदाओं और मृत्यु जैसी विभीषिकाओं में भी हँसते रहना चाहिए।

अमेरिका के महान् नीग्रो-

फ्रेडरिक डगलस

कठों, यातनाओं और आपत्तियों को सह सकने और अपने पथ से विचलित न होने का साहस दिखला सकने वाले वीर के लिए संसार का कोई कार्य असम्भव नहीं होता, यदि उसके हृदय में अदम्य इच्छा-शक्ति हो। अमेरिका के फ्रेडरिक डगलस नीग्रो दासों को मुक्त कराना और अमेरिका के एक स्वतन्त्र नागरिक की भाँति उन्नति करना चाहता था।

श्री डगलस की स्थिति और उद्देश्य में दो विपरीत छोरों का अन्तर था तथापि उन्होंने दोनों छोरों को मिलाकर अपने में उपरोक्त गुणों को प्रमाणित कर दिया। वे अमेरिका के शक्तिशाली राजनीतिक दल के नेता बने। उन्होंने संयुक्त राज्य-मार्शल का पद पाया। वे कोलम्बिया के वीर इतिहास के प्रमाणिक संकलन कर्ता बनाये गये और हेटी रिपब्लिक में संयुक्त-राज्य अमेरिका के राजदूत नियुक्त किये गए। इसके अतिरिक्त वे आजीवन नीग्रो जाति के नेता तो बने ही रहे।

उस पद से उन्होंने दास प्रथा के उन्मूलन, दासों के नागरिक और स्त्री मताधिकार के लिए जो सेवायें कीं उनका फल दासों ने मुक्ति और स्त्रियों ने समानाधिकार के रूप में भोगा। इतना सब कुछ हो सकना और कर सकना उस समय के अश्वेत दास के लिए असम्भव के समान ही था पर श्री फ्रेडरिक डगलस ने उसे सम्भव कर दिखलाया। इसके लिए उन्हें कितने कष्ट, कितनी यातनायें और कितनी आपत्तियाँ सहन करनी पड़ीं इसकी एक रोमांचकारी गाथा है।

फ्रेडरिक डगलस का जन्म सन् १८१७ के आस-पास मेरीलैण्ड में हुआ था। यह जन्म-जात दास थे। इनको

माता-पिता की छत्रछाया न मिल सकी थी। इनका पालन इनकी वृद्धा दादी ने किया। किन्तु उससे भी छीनकर ये बचपन में ही एक श्वेत किसान स्त्री के हाथ बेच दिये। वह किसान स्त्री क्या थी, पूरी डायन थी। वह दास बालकों को ही अपने खेतों पर काम के लिए लगाती थी और प्रतिदिन नियम से अकारण में कारण निकालकर कोड़ों से मारती थी। उसको इस अत्याचार में बड़ा आनन्द आता था। उसकी इस क्रूरवृत्ति के शिकार बने बालकों में एक श्री फ्रैंडरिक डगलस भी थे। उस समय इनका नाम वेली था। ये स्वभाव से कुछ चटक और देखने में सुन्दर थे, इसलिए वह स्त्री इन पर ही सबसे अधिक क्रुद्ध रहती थी। पैशाचिक वृत्ति और सौभाग्य में स्वाभाविक बैर होता है।

बालक वेली को न केवल कोड़े ही लगते थे, बल्कि भूखा रहकर गन्दी जगहों पर सोना भी पड़ता था। सूर्योदय से पूर्व काम पर लग कर जब वेली सायंकाल छूटता था तो भूख भयानक रूप से उसे खाती होती थी। किन्तु घर आकर मालकिन की तरफ से उसे ताड़ना के सिवाय और कुछ न मिलता था। अपनी प्राण रक्षा के लिये वह उस जूठन से भूख मिटाया करता था, जो उसको मालकिन अथवा उसके पड़ोसी बाहर फेंक दिया करते थे। इस क्रम में उसे बहुत बार जूठन के लिए भूखे कुत्तों से युद्ध करना पड़ता था। कभी-कभी जूठन के समय पर नहीं पहुँच पाता तो कुत्ते हाथ मार ले जाते थे तो वह फटे-पुराने चीथड़े लपेटे यहाँ-वहाँ भोजन की तलाश में मारा-मारा फिरता था। इस स्थिति से निकल कर उस स्थिति में पहुँचने वाले वेली उर्फ फ्रैंडरिक डगलस निश्चय ही आदर और नमन के पात्र हैं। वह उन्नति की बलवती इच्छा और आशा एवं विश्वास के साथ सहनशील साहस का ही सम्बल था, जिसके बल पर डगलस ने उस गौरव को प्राप्त कर लिया और अपनी आत्मा को उससे सामंजस्य नहीं करने दिया। पुरुषार्थ के ऐसे ही धनी इतिहास के पन्नों पर स्वर्ण अक्षरों में जगमगाया करते हैं।

वह क्रूर कुषक महिला वेली की वास्तविक मालकिन नहीं थी। वेली उसके पास किराये पर चलता और काम किया करता था। मालिक तो एक और व्यक्ति था। उसने उस के पास से वेली को हटाकर अपने एक सम्बन्धी के यहाँ सेवा करने को भेज दिया। नये घर की स्वामिनी जरा अच्छे स्वभाव की थी वेली ने उसे अपनी सेवा से बहुत प्रसन्न कर लिया। फलस्वरूप उसने वेली को अंग्रेजी अक्षरों का ज्ञान करा दिया। किन्तु स्वामी संकीर्ण था। उसने वेली से वह सुविधा छीन ली। तब भी वेली अपनी एकान्त कोठरी में तख्तों, टीनों और जमीन पर लिखने और बाइबिल से पढ़ने का अभ्यास करता रहा और थोड़े दिनों में पढ़ने भी लगा।

वेली को पढ़ने की इतनी रुचि लगी कि उसने अतिरिक्त समय में लोगों के जूतों पर पालिश करके कुछ पैसे कमाये और उनसे 'कोलम्बियन ओरेटर' नाम की एक

पुस्तक खरीद लाया। यही एक पुस्तक उसकी अध्ययन सामग्री थी। उसमें स्वतन्त्रता पर बड़े लोगों के भाषण थे। वेली पर उनका बहुत प्रभाव पड़ा और उसने दासता से मुक्त होने का संकल्प कर लिया।

वेली जब दुबारा एक छोटे से नगर में सेवा करने भेजा गया तो उसने वहाँ की एक नीग्रो-बाल-पाठशाला में अवैतनिक अध्यापन का कार्य अपने ऊपर ले लिया और नीग्रो बालकों के मनोविकास में संलग्न हो गया। किन्तु वहाँ के संकीर्ण श्वेत नागरिकों ने उस स्कूल को ध्वंस कर दिया। वेली को न केवल पढ़ने-पढ़ाने के लिए मना ही किया अपितु मारा भी। वेली के उप-स्वामी को पता लगा तो उसने उसे खतरनाक नीग्रो समझ कर कोवे नामक एक ऐसे व्यक्ति के पास काम करने को भेज दिया, जो खतरनाक नीग्रो दासों को शारीरिक यंत्रणायें देकर सीधे रास्ते पर लाने के लिए विख्यात था।

कोवे वेली को ऐसे नये-नये काम देता जो उसके वश में न होते और फिर गलती होने अथवा न कर सकने पर उसे कोड़े से बेतहाशा मारा करता था, जिससे नये अथवा बिगडैल बैल ठीक किए जाते थे। इस यातना का वर्णन करते हुए वेली बनाम फ्रैंडरिक डगलस ने एक स्थान पर लिखा है—“छह महीनों तक निरन्तर डंडों, कोड़ों और हंटरों की मार मुझ पर इतनी पड़ती रही कि मेरी दुःखती हुई हड्डियाँ, घायल पीठ और सूजे हुए हाथ पैर मेरे कभी न बिछुड़ने वाले मित्र बन गये।”

काम करते-करते बेहोश हो जाने पर भी जब उससे उठा कर काम करने को कहा जाने लगा और न कर सकने पर हाथ-पैर और सिर, पीठ तोड़ी-फोड़ी जाने लगी, तब तो फ्रैंडरिक का मृत मनुष्य जाग उठा और एक दिन उसने विद्रोह करके कोवे को उठाकर पटक ही दिया। जिसका फल यह हुआ कि कोवे का अत्याचार बन्द हो गया।

एक वर्ष की अवधि पूरी होने पर फ्रैंडरिक के स्वामी ने उसे कोवे के पास से हटाकर एक और के पास किराये पर भेजा। लेकिन इस बार वहाँ न जाकर वह न्यूयार्क भाग गया। वहाँ वह भूखा-प्यासा लुक-छिप कर काम खोजता रहा पर काम न मिला। अन्त में वह मेसाचुसेट्स चला आया और नान्दुकेट में स्थापित एक दासता-विरोधी समाज में सम्मिलित हो गया। बस यहीं से फ्रैंडरिक डगलस के जीवन का दूसरा अध्याय शुरू हो गया।

फ्रैंडरिक डगलस अपने विगत तथा वर्तमान जीवन में सारी बाधाएँ, यातनाएँ तथा कष्टों को सहते हुए भी अध्ययन क्रम को जारी रखते रहे, जिससे उनकी योग्यता दिन पर दिन बढ़ती गई और वे एक अच्छे भाषणकर्ता एवं लेखक बन गये। अपनी इस योग्यता का उपयोग उन्होंने निरन्तर नीग्रो समाज की सेवा में ही किया, जिससे वे उनके नेता बन गये। डगलस की स्वतन्त्रता सम्बन्धी सभाओं का न केवल विरोध ही किया जाता था बल्कि ईंटों और पत्थरों

से आक्रमण भी किया जाता था । किन्तु दुर्द्वती डगलस यह सब सहते हुए भी अपना काम करते रहे ।

अन्त में जब अब्राहम लिंकन के समय में उत्तर दक्षिण के प्रश्न पर अमेरिका में गृह-युद्ध छिड़ गया तो फ्रेडरिक डगलस ने न्याय का पक्ष लेकर अब्राहम लिंकन की सराहनीय सहायता की । उन्होंने स्वयं तो भाग लेकर युद्ध में वीरता दिखाई ही, हजारों नीग्रो लोगों को सेना में भर्ती कराया और एक स्वातन्त्र्य सेना भी गठित की । बाद में जब अमरीका एक संयुक्त-राष्ट्र बन गया तब श्री फ्रेडरिक डगलस की सेवाओं का मूल्यांकन किया गया और वे अमेरिका के विभिन्न उच्च पदों पर रहने के साथ राजनेता भी बने । उनकी मृत्यु लगभग १८९५ में हुई ।

जो सिकन्दर के आगे झुका नहीं—

देशभक्त पुरु

भारतीय इतिहास में महाराज पुरु का बहुत सम्मान पूर्ण स्थान है । महाराज पुरु के सम्मान का कारण उसकी कोई दिग्विजय नहीं है । इतिहास में केवल एक यही ऐसा वीर पुरुष है, जिसने पराजित होने पर भी विजयी को पीछे हटने पर विवश कर दिया ।

ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दी में यूनान के सम्राट सिकन्दर ने सिंहासनारूढ़ होते ही विश्व-विजय करने का विचार बनाया । यद्यपि सिकन्दर के पास अपना देश था और उसके लिये आवश्यक न था कि वह किसी दूसरे देश पर आक्रमण करके उसे जीते, तथापि उसने अहंकार और लोभ के वशीभूत होकर विश्व-विजय की ठान ही ली ।

यह दोष सिकन्दर का नहीं, बल्कि राजमद का था, जो सम्पूर्ण पृथ्वी को अधिकार में करने पर भी संतुष्ट नहीं होता और अकारण ही शांति-प्रिय लोगों को सताना शुरू कर देता है । असन्तोष की परिणति अनीतिपूर्ण अत्याचार में होना स्वाभाविक है और अत्याचार का अर्थ है विनाश । विश्व-विजयी सिकन्दर इसी क्रम में पड़कर एक दिन नष्ट हुआ और निराश होकर इस संसार से विदा हुआ ।

सिकन्दर ने अपने अभिमानपूर्ण अभियान के लिए यूनान से प्रस्थान किया । नया उत्साह, नये साधन, महा-विजेता एक विशाल वाहिनी लेकर चला, तो देश के देश उसे आत्मसमर्पण करने लगे । बिना लड़े अथवा थोड़ा लड़कर उसने यूनान से भारतीय सीमान्त तक के सारे देश आन की आन में जीत लिये ।

न जाने पराजित देशों के निवासी किस मिट्टी के बने थे कि दुश्मन से दो हाथ किये बिना ही अधीन बन गये । कर्तव्य तो उनका यह था कि जब उनके देश का एक-एक बच्चा कट मर जाता, तब कहीं सिकन्दर की सेना उस श्मशान से आगे बढ़ पाती, किन्तु क्या कहा जाय, उन विजितों की मानधिक दुर्बलताओं को, जो वे भविष्य पर

विचार किये बिना विलास और आलस्य की मृत्युदायिनी गोद में पड़े पलते रहे ।

बिना किसी प्रयास के अनायास ही देश पर देश जीत लेने से सिकन्दर के अहंकार का घट लबालव भर गया और उसे अपने विश्वविजेता होने का भ्रामक स्वप्न उज्ज्वल से उज्ज्वलतर दिखाई देने लगा । वह आँधी की तरह बढ़ता आया और भारतीय सरहद पर अपना पड़ाव डाल दिया ।

अपने विजय अभियान के लिये यह महान यूनानी जितना लश्कर लेकर चला था, अब इस समय उसके पास उससे कहीं अधिक सेना हो गई थी । कारण स्पष्ट है कि जिन-जिन देशों को वह पराजित करता आया अथवा जिन-जिन देशों ने उसे आत्मसमर्पण किया, उनकी सेनाओं तथा साधनों को भी सिकन्दर ने अपने लश्कर में शामिल कर लिया था । इस समय उसे अपनी शक्ति के अभिमान का भरपूर नशा था ।

भारतीय सीमांत के समीप आते-आते सिकन्दर को सिन्ध और झेलम के पानी से पैनी की गई तलवारों के जोहर का ज्ञान आने-जाने वालों से मिला था । किन्तु सिकन्दर ने इन सत्य समाचारों को लोकचर्चा से अधिक महत्व नहीं दिया । सिकन्दर बढ़ता रहा और भारतीय वीरता के समाचार भी । किन्तु जब उस देश-जयी को भारत की वीर गाथायें दोस्त और दुश्मन दोनों के मुँह से एक जैसी ही सुनने को मिलीं, तब उसके विजय-विश्वास में दरार पड़े बिना न रह सकी और उसे आक्रमण करने से पूर्व विचार करने पर मजबूर होना पड़ा ।

सिकन्दर ने भारत की आंतरिक दशा का पता लगाने के लिए भेदिये भेजे, जिन्होंने आकर समाचार दिया कि इस में कोई संदेह नहीं कि वीरता भारतीयों की बपौती है, किन्तु उनकी सारी विशेषताओं को एक नागिन घेरे हुए है, जिसे 'फूट' कहते हैं । इसी फूट रूपी नागिन के विष से भारतीयों की बुद्धि मूर्छित हो चुकी है, जिससे उनकी अनुशासनहीन शूरता और दम्भपूर्ण स्वाभिमान अभिशाप बन चुका है । यदि सिकन्दर भारत में प्रवेश चाहता है, तो उसे तलवार की अपेक्षा भारतीयों में फैली फूट की विष बेल से लाभ उठाना होगा ।

साहस के पीछे हटते ही सिकन्दर की भेद-नीति आगे बढ़ी । उसने और भी गहराई से पता लगाया कि इस समय भारत किसी एक छत्र-सत्ता से अनुशासित नहीं है । अकेले पश्चिमोत्तर सीमान्त, सिन्ध और पंजाब में ही सैकड़ों छोटे-छोटे राज्य हैं, जो सदियों से आपस में लड़ते-लड़ते जर्जर हो चुके हैं । इन प्रदेशों के सारे राजे एक दूसरे के प्राणांत शत्रु बने हुए हैं और एक दूसरे को हर मूल्य पर नीचा दिखाने के लिए कोई भी उपाय एवं अवसर का उपयोग करने को उद्यत बैठे हैं । भारत के सिंहद्वार प्रहरी राजाओं के बीच शत्रुतापूर्ण अनैक्य के इन समाचारों ने सिकन्दर के साहस को फिर बढ़ावा दिया और उसने अपना काम शुरू कर दिया ।

राजनीति के चतुर खिलाड़ी सिकन्दर ने शीघ्र ही उस तक्षक का पता लगा लिया, जो प्रोत्साहन पाकर भारत की स्वतन्त्रता पर फन मार सकता है और वह था-तक्षक शिलाधीश दम्भी आम्भीक, जो अपने अकारण उपद्रव के कारण पुरुषपुर नरेश 'महाराज पौरुष' से बारम्बार हार कर विद्वेषविष से अन्धा बन चुका था।

आम्भीक पुरु से लड़ने फिर सेना तैयार करने में जुटा हुआ था, जिसके लिए वह त्रहि-त्रहि करती हुई प्रजा से बुरी तरह धन शोषण कर रहा था। सिकन्दर ने अवसर से लाभ उठाया और लगभग पचास लाख रुपये की भेंट के साथ सन्देश भेजा, यदि महाराज आम्भीक सिकन्दर की मित्रता स्वीकार करें तो वह उन्हें पुरु को जीतने में ही मदद नहीं देगा, बल्कि पूरे भारत में उसकी दुन्दुभी बजवा देगा। सिकन्दर द्वारा भेजी हुई भेंट के साथ सम्मानपूर्ण सन्देश पाकर द्वेषान्ध आम्भीक के होश हर्ष से बेहोश हो गये और वह देश के साथ विश्वासघात करके सिकन्दर का स्वागत करने को तैयार हो गया। भारत के गौरवपूर्ण चन्द्र-बिम्ब में एक कलंक बिन्दु लग गया।

आम्भीक का निमंत्रण पाकर सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया। किन्तु भारत का भाग्य केवल आम्भीक पर ही तो निर्भर न था। जहाँ आम्भीक जैसे देशद्रोही थे, वहाँ अनेक देशभक्त राजा भी थे। उन्होंने सिकन्दर का प्रतिरोध किया किन्तु अलग-अलग अकेले जिसके फलस्वरूप मिटते चले गये। जहाँ इन राजाओं में देश-भक्ति की भावनाएँ थीं, वहाँ एकता की बुद्धि का अभाव था। सिकन्दर के विरोधी होने पर भी वे अपने आपसी विरोध को न भुला सके। किसी एक राष्ट्र के कर्णधारों में परस्पर प्रेम रहने से ही कल्याण की सम्भावनाएँ सुरक्षित रहा करती हैं, फिर भी यदि उनमें किसी कारण से मनोमालिन्य रहेगा, तब भी किसी संक्रामक समय में उन्हें आपसी भेदभाव मिटाकर एक संगठित शक्ति से ही संकट का सामना करना श्रेयस्कर होता है अन्यथा आया हुआ संकट अलग-अलग सबको नष्ट कर देता है। यही बात सिकन्दर के साथ लड़ाई में राजाओं के मध्य हुई।

इधर सिकन्दर विजयी हो रहा था और उधर दुष्ट आम्भीक की दुरभिसन्धि से अनेक अन्य राजा देशद्रोही बनते जा रहे थे। काबुल का कोफायस, पुष्कलावती का संजय, शशिंगुप्त तथा अश्वजित आदि अनेक अभागे राजा सिकन्दर की सहायता करते हुए उसकी विजयों में अपना भाग देखने लगे थे। जिसके फलस्वरूप पुरु को छोड़कर लगभग सारे राजा या तो हारकर मिट चुके थे अथवा देहद्रोह करके सिकन्दर के झण्डे के नीचे आ चुके थे।

अब भारत के प्रवेश द्वार पर, एकमात्र प्रहरी के रूप में केवल महाराज पुरु रह गये थे। अब प्रश्न यह उठता है कि महाराज पुरु बुद्धिमान देशभक्त होने पर भी अन्त तक वे सिकन्दरी युद्ध में तटस्थ रहकर लड़ाई क्यों देखते रहे। क्यों नहीं उन्होंने स्वयं ही नेतृत्व करके सारे राजाओं

को संगठित करके सिकन्दर का प्रतिरोध किया? महाराज पुरु ने प्रयत्न किया, किन्तु हीन राजमद के रोगी राजा पुरु की योजना में शामिल न हुए। कुछ तो स्वार्थ के वशीभूत होकर सिकन्दर से मिल गये और कुछ ने पोरस का नेतृत्व स्वीकार करने की अपेक्षा सिकन्दर से पृथक ही लड़कर मर जाना अच्छा समझा, ताकि श्रेय पुरु को न मिलकर उन्हें ही मिले। मनुष्य की यह संकीर्ण स्वार्थपरता सामूहिक जीवन के लिए सदा ही विघातक रही है।

सिकन्दर कपिशा से तक्षशिला तक के बीच की अनेक स्वतन्त्र शक्तियों की कैटीली झाड़ियों से लोह-लुहान होता हुआ तक्षशिला आ पहुँचा, जहाँ आम्भीक ने उसका बड़ा विशाल स्वागत किया। अभी तक सिकन्दर कपिशा के आस-पास ही रहा। अभिसार देश का राजा महाराज पुरु का मित्र बना रहा। पर ज्यों ही सिकन्दर तक्षशिला पहुँचा, अभिसार नरेश को भीरुता का दौरा पड़ गया। कहना न होगा, जब कोई पापी किसी मर्यादा की रेखा उल्लंघन कर उदाहरण बन जाता है, तब अनेकों को उसका उल्लंघन करने में अधिक संकोच नहीं रहता। तक्षशिला के राजा आम्भीक की देखा देखी अभिसार नरेश भी सिकन्दर से जा मिला जिससे पोरस को बिल्कुल अकेला रह जाना पड़ा।

अभिसार नरेश से पोरस के साहस-वीरता तथा गौरवपूर्ण देशभक्ति के विषय में जानकर सिकन्दर ने पुरु को इस आशय का सन्देश भेजा कि यदि वह सिकन्दर को बिना विरोध के आगे बढ़ जाने दे तो वह उसे अपना मित्र मानकर सुरक्षित छोड़ देगा।

सिकन्दर का यह मैत्री सन्देश स्वाभिमानी पुरु के लिए युद्ध की खुली चुनौती थी। उसने सिकन्दर को पंजाब में झेलम के किनारे ललकारा। घमासान युद्ध की सम्भावना से दोनों की सेनाएँ नदी के आर-पार डट गईं। झेलम के पूर्वी किनारे पर महाराज पुरु की थोड़ी-सी सेना और उसके पश्चिमी तट पर देशद्रोही राजाओं की कुमुक के साथ सिकन्दर का टिड्डी दल।

बरसात के दिन थे, झेलम बाढ़ पर थी, सिकन्दर का साहस नदी पार करने का न पड़ा। लगभग एक सप्ताह बाद एक दिन जबकि रात में घनघोर वर्षा हो रही थी और पुरु की सेना बराबर पड़ी हुई थी झेलम से लगभग अठारह मील उत्तर में बढ़कर सिकन्दर की सेना ने नदी पार करके पुरु की सेना पर आक्रमण कर दिया। सिकन्दर के टिड्डी दल ने यद्यपि पुरु की थोड़ी-सी सेना पर धोखे से आक्रमण किया था, तथापि पुरु के वीर सैनिकों की तलवारों ने उस अँधेरी में बिजली की तरह कौंध कर उसे पीछे हटा दिया।

इस आकस्मिक युद्ध में चार सौ सैनिकों के साथ पुरु का पुत्र मारा गया, किन्तु खेत पुरु के हाथ ही रहा। सिकन्दर ने पीछे हटकर फिर सेना बढ़ाई और इधर पुरु ने बेटे का शोक किये बिना ही व्यूह रचना कर दी। हाथियों

को आगे रखकर की गई व्यूह रचना के कारण महाराज पुरु की सीमित सेना भी सिकन्दर की सेना को अजेय एवं दुर्धर्ष दिखाई देने लगी। सिकन्दर के बार-बार प्रेरणा एवं प्रोत्साहन देने से वह बढ़ी और टक्कर होते ही भाग खड़ी हुई। वह क्षण निकट ही था कि महाराज पुरु की विजय हो कि तब तक एक भारी विस्फोट होने से पुरु की सेना के हाथी भड़क गये और वे अपने सैनिकों को ही कुचलते हुए पीछे की ओर भाग खड़े हुये। पुरु का अजेय व्यूह अपने ही साधनों से नष्ट हो गया। सारी सेना तितर-बितर हो गई। अब क्या था ? सिकन्दर ने अवसर से लाभ उठाया और संपूर्ण शक्ति के साथ पुरु की अस्त-व्यस्त सेना पर धावा बोल दिया। शत्रु की ओर से असावधान, अपनी सेना की सँभाल करते हुये पुरु शत्रुओं के तीरों से घायल होकर गिर पड़े।

अचेतनावस्था में गिरफ्तारी के बाद जब महाराज पुरु को होश आया, तब वे सिकन्दर के सामने थे। सिकन्दर ने हँसते हुए बड़े गर्व के साथ कहा- “पोरस ! बतलाओ कि अब तुम्हारे साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय ?”

सिकन्दर को विश्वास था कि इस समय असहाय होने से पुरु गिड़गिड़ाकर यही कहेगा कि अब तो मैं आपका बन्दी हूँ, चाहे जिस प्रकार का व्यवहार करिये और तब सिकन्दर उसे प्राणदान देकर आभार स्वरूप भारत-विजय करने में उसकी वीरता एवं रण-कुशलता का मनमाना उपयोग करेगा, किन्तु उसका उत्तर सुनकर वह विश्व-विजय का स्वप्नदर्शी ग्रीक आकाश से जमीन पर गिर पड़ा।

महाराज पुरु ने स्वाभिमानपूर्वक सिर ऊँचा करके उत्तर दिया- सिकन्दर, वह व्यवहार जो “एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है।”

सिकन्दर निर्भीक पुरु का यह वीरोचित उत्तर सुनकर इतना प्रसन्न एवं प्रभावित हुआ कि उठकर उसके गले से लग गया।

भारतीयों की वीरता और महाराज पुरु की विकट मार से सिकन्दर की सेना की हिम्मत हवा हो चुकी थी। सिकन्दर अच्छी तरह जानता था कि यदि अब वह आगे बढ़ने का आदेश देगा तो उसकी भयभीत सेना अवश्य विद्रोह कर देगी, इसलिए वह महाराज पुरु पर ऐहसान रखता हुआ चुपचाप भारतीय सीमाओं से बाहर चला गया।

अभागे आम्भीक जैसे अनेक देश-द्रोहियों के लाख कुत्सित प्रयत्नों के बावजूद भी एक अकेले देशभक्त पुरु ने भारतीय गौरव की लाज रखकर संसार को सिकन्दर से पद-दलित होने से बचा लिया।

कहना न होगा कि जब तक पुरु जैसे वीर भारत-भूमि पर पैदा होते रहेंगे इसकी गौरव-पताका युग-युग तक आकाश में फहराती रहेगी।

‘सोचो नहीं मोर्चा लो’ के आदर्श-

बैजहाफ

पूरा नाम जान एफ. बैजहाफ। अमेरिका के ३० वर्षीय एटार्नी के हाथ में अखबार का महत्व इसलिए था कि अमेरिकी राष्ट्रपति जान एफ. कैनेडी ने सर्जन जनरल को ‘धूम्रपान का स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है?’ इस विषय पर अपनी विस्तृत जाँच रिपोर्ट देने को कहा था। वह रिपोर्ट उसमें प्रकाशित होने वाली थी। इस समाचार से अमेरिकी सिगरेट उद्योग पर प्रलय-सी गिरने वाली थी और अमेरिका चूँकि अत्यधिक सिगरेट पीने वाला देश है इसलिए वह प्रत्येक नागरिक से सम्बन्ध रखने वाली बात थी इसलिए उस अखबार की प्रतीक्षा ऐसे हो रही थी जैसे चुनाव के दिनों में अपनी पार्टी की जीत का समाचार सुनने को लोग आतुर होते हैं।

बैजहाफ ने पूरी रिपोर्ट पढ़ी तो सिर से पसीना छूट गया। स्वास्थ्य के लिए कितनी घातक सिगरेट और उसे लोग कितने प्रेम से गले लगाये हैं ? वह मासूम बच्चे यदि हाथ पकड़कर मुँह में थोड़ा धुआँ फूँक दिया जाये तो खाँसते-खाँसते आँखें लाल हो जायें, किस प्रकार बड़ों का अनुकरण करते हैं और छोटी अवस्था से ही विष की पोटली शरीर से बाँध लेते हैं ? यह बात बैजहाफ जितना अधिक सोचते उतना ही अधिक रिपोर्ट का अंश मस्तिष्क में क्रान्ति मचाने लगता-“१० सिगरेट से कम सिगरेट एक दिन में पीने वालों में मृत्यु दर न पीने वालों की अपेक्षा ४० प्रतिशत अधिक है। १० से १९ सिगरेट प्रतिदिन पीने वाले लोगों की मृत्यु दर ७० प्रतिशत और २० से ३९ सिगरेट पीने वालों की मृत्यु दर ९० प्रतिशत अधिक है। जो ४० से भी अधिक सिगरेट एक दिन में पीते हैं उसकी मृत्यु दर १२० प्रतिशत अधिक होती है।” यह प्रभावी अंश ही वह सब बता देने के लिए काफी था कि सिगरेट का धुआँ कितना विषैला होता है और उससे शरीर के जीवन-तत्व कितनी दुर्दशा के साथ मारे जाते हैं पर साधारण लोग जान कर भी, ऐसे उद्धरण पढ़कर भी अपनी आदत से लाचार कुछ कर नहीं पाते। अपना सत्यानाश तो वे करते ही हैं आने वाली संतानों के लिए विषैला वातावरण और दूषित आनुवंशिकता दे जाने का पाप भी करते हैं।

पढ़ना कोई हथियार नहीं है जो पाप दुष्प्रवृत्ति की जड़ को अपने आप काट दे, उसके लिए कुछ क्रान्ति और संघर्ष करना पड़ता है। पर उन लोगों को क्या कहें जो बढ़ती हुई दुश्चरित्रता, दंगा-फसाद, हत्या, लूट-पाट, दहेज की कुत्सा और अन्धविश्वास की दुष्टता के समाचार तो पढ़ लेते हैं पर अर्द्ध-मृत जीव की तरह उनकी इतनी भी हिम्मत नहीं होती कि और अधिक नहीं तो अपने क्षेत्र में

ही उस दुष्प्रवृत्ति को मिटाने का प्रयत्न करें। संघर्ष और सत्याग्रह के इस अभाव के कारण ही आज संसार में बुराईयाँ पनप रही हैं। श्री बैजहाफ की याद आज इसलिए अधिक आ रही है और उसे आगे भी बहुत दिनों तक स्मरण रखकर लोग नैतिक-क्रान्ति की प्रेरणा पायेंगे, क्योंकि उस अकेले व्यक्ति ने ही क्रान्ति का बिगुल बजाकर उतना कर दिखाया जितना कई साधन सम्पन्न व्यक्तियों के द्वारा भी हो सकना सम्भव न था।

बैजहाफ अभी युवक हैं खेलने-खाने की आयु में भला समाज सेवा की भी कोई बात सोचता है? लोग अपनी प्रतिष्ठा, अपना यश और अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति का सबसे अच्छा समय इसी अवस्था को मानते हैं। इसी अवस्था में लोग उद्योग करते हैं, व्यवसाय करते हैं, अच्छी आजीविका ढूँढ़ते, गृहस्थी जमाते और बच्चे पैदा करते हैं। साधारण लोगों के सुख और सन्तोष की यह संकुचित स्थिति ही सामाजिक जीवन में कल्याणकारक प्रवृत्तियों को पनपने नहीं देती। बैजहाफ ने ऐसे ही समय पर नारा दिया और वह था कि चढ़ती हुई आयु और शक्ति का तकाजा यह नहीं कि हम अपने लिए कितना कर लेते हैं वरन् शान इसमें है कि हम सदाचार, सत्प्रवृत्ति और मानवता की रक्षा के लिए कितना त्याग और उत्सर्ग कर सकते हैं। उन्होंने यह सब सोचा ही नहीं किया भी जो आज के हर शिक्षित युवक के लिए आदर्श बन गया है और उन्हें यह सोचने को विवश करता है कि क्या हम जिन परिस्थितियों में रह रहे हैं उन्हें यों ही और विकृततर होने की स्वच्छन्दता प्रदान कर दी जाये अथवा सामाजिक जीवन में फैले हुये अनाचार, भ्रष्टाचार और दुष्प्रवृत्तियों को आगे बढ़कर साहसपूर्वक रोका और उनसे लड़ा जाये।

बैजहाफ ने मेसाचुसेट्स इंस्टीट्यूट से टेक्नालाजी में डिग्री पाई थी। वे कोई अपढ़ नहीं थे। उन्होंने कोलम्बिया से वकालात पास की थी। अन्य युवकों की तरह उनकी भी महत्वाकांक्षाएँ थीं। सोशल डायरेक्टर बनकर विश्व भ्रमण का सुनहरा स्वप्न उन्होंने भी देखा था पर जब घर में आग लगी हो तो विवेक यह कहता है कि सोना, हँसना, खेलना भूलकर सबसे पहले आग बुझाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए बुराईयों की आग उपेक्षा के ईंधन से भड़कती और उसकी लपटें सारे मानव समाज को झुलसाकर रख देती हैं।

उपरोक्त रिपोर्ट पढ़कर बैजहाफ ने अपनी महत्व-कांक्षाओं को कुछ दिन के लिये ताक पर उठा कर रख देना ही उचित समझा। उन्होंने निर्णय किया सिगरेट विरोधी अभियान चलाये बिना उनकी हानियों से मानव-समाज को बचाया जाना सम्भव नहीं है। अमरीका जैसे षडयन्त्री देश में तो यह कार्य और भी कठिन था। वहाँ सिगरेट उद्योग बड़े-बड़े पूँजीपतियों के हाथ में है। सिगरेट बनाने वाली कम्पनियाँ कोई २ अरब ५० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष केवल विज्ञापन और १ अरब ६० करोड़ रुपया र

डियो द्वारा विज्ञापन पर खर्च कर देती हैं इसी खर्च से उनकी आय का पता लगाया जा सकता है। उनकी आमदनी पर धक्का लगे और प्रतिवाद न हो ऐसा असम्भव है। श्री बैजहाफ ने इस बात को खूब अच्छी तरह सोच लिया था पर उसने किसी भी खतरे में आगे पाँव बढ़ाने की हिम्मत कर ही डाली। युवक ने आगे बढ़कर कहा- मनुष्यता के लिये स्वाभिमानपूर्वक मर जाना ऐसी १०० जिन्दगियों से अच्छा है जिसमें मनुष्य कीड़े-मकोड़ों की-सी रोजी-रोटी वाला शिशोदर परायण जीवन जीकर मर जाता है। वह अकेले ही 'सिगरेट छोड़ो' अभियान चलाने के लिये उठ खड़े हुये।

स्थान-स्थान पर सभाओं और गोष्ठियों के द्वारा युवक लोगों को सिगरेट की बुराईयाँ बताना, उसे छोड़ने के लिए उत्साहित करना शुरू किया। उन्होंने वैज्ञानिकों और स्वास्थ्य विशेषज्ञों के सारे आँकड़े लोगों के सामने खोलने शुरू कर दिये। जब लोगों ने देखा कि सिगरेट के धुँये में निकोटीन जैसे विषैले पदार्थ हैं और उनसे स्वास्थ्य बुरी तरह चौपट होता है तो अनेक लोग सिगरेट पीना छोड़ने भी लगे।

बैजहाफ ने टेलीविजन अधिकारी को एक पत्र लिखकर आग्रह किया कि जितना समय सिगरेट कम्पनियों को विज्ञापन के लिए मिलता है उतना ही समय हमें भी मिलना चाहिए जिसमें हमें लोगों को धूम्रपान की बुराईयाँ समझाने का अवसर मिले। जो कुछ सोचा गया था हुआ उससे विपरीत। मनुष्य समाज की सेवा के रास्ते में यदि कोई सुनिश्चित उपहार है तो वह है परीक्षा। उससे आज तक कोई बचा नहीं बाद में उसे सफलता मिली हो या असफलता पर संघर्षों में कड़ी परीक्षा का विधान अब तक कभी नहीं टला। बैजहाफ को टेलिविजन पर कुछ बोलने की स्वीकृति तो नहीं मिली हाँ जहाँ नौकरी करते थे वहाँ से उसे निकाल अवश्य दिया गया क्योंकि वह जिस कम्पनी में काम करता था, उसके मालिक बड़ी-बड़ी सिगरेट कम्पनियों के स्वामी भी थे।

जो भी हो, होता रहे, बैजहाफ ने कहा- समाज सेवा के लिए त्याग और बलिदान का रास्ता अभाव और परिस्थितियों की कठिनाइयों में रुकेगा नहीं। फटे-चीथड़े और रूखी रोटी ही सही पर मेरा यह जीवन तो अब इस सामाजिक कोढ़ को छुड़ाने और भावी-प्रजा को बीमारी और रोगों से उबारने के प्रयत्न में ही बीतेगा।

इस बार उसने कई प्रभावशील व्यक्तियों को साथ लेकर एफ० सी० सी० को पत्र लिखा और अपने पक्ष में जोरदार दलीलें प्रस्तुत कीं। फलस्वरूप सिद्धान्त रूप से यह स्वीकार कर लिया गया कि रेडियो कार्यक्रमों में उन्हें भी समय मिलेगा। यह पहली सफलता थी जिससे बैजहाफ का कर्मनिष्ठ हृदय उत्साह से भर गया।

पर प्रतिक्रियावादी यों ही मैदान छोड़ जाने वाले न थे। बुराइयाँ भीतर से कितनी ही कमजोर क्यों न हों वीभत्स रूप बनाने का इन्द्रजाल बनाना उन्हें बहुत आता है इसीलिए प्रायः लोग थोड़े में ही घबड़ा जाते हैं पर जो लोग राम लक्ष्मण की तरह निशाने पर तीर छोड़ना बन्द नहीं करते वह जल्दी ही मायाजाल को काटकर मानवता को उससे मुक्त कर लेते हैं। २ जून, १९६० से उसने टेलिविजन से सिगरेट छोड़ो अभियान शुरू किया। प्रारम्भ में आंशिक सफलता दिखाई दी। थोड़े लोगों ने सिगरेट छोड़ना शुरू कर दिया पर यही क्या कम था कि अन्धा प्रवाह रुका तो, रुका ही क्यों, कुछ कम भी हुआ।

इससे सिगरेट कम्पनियाँ चिन्तित हो उठीं और उन्होंने एफ० सी० सी० को उक्त निर्णय पर पुनर्विचार के लिए लिखा। बेचारे बैजहाफ को कई बार मार डालने की भी धमकियाँ दी गयीं पर किन्हीं भी परिस्थितियों में उसने हिम्मत नहीं हारी। मामला कचहरी में पहुँचा। एक ओर अर्थ-विपन्न छोटा-सा वकील और दूसरी ओर ६ बड़ी सिगरेट कम्पनियाँ ६ ब्रोडकास्टिंग स्टेशन और नेशनल एसोसियेशन ऑफ ब्रोडकास्टिंग टुबैको इन्स्टीट्यूट जैसी शक्ति सम्पन्न प्रतिवादी। पर सत्य का बल, इसे हजार हाथियों के बराबर कहते हैं उसकी आवाज और उक्तियों में वह प्राण और सत्य झलकता था, वह निस्वार्थता और समाज के प्रति दर्द फूटता था कि एफ० सी० सी० को भी अपने निर्णय की पुनः पुष्टि करनी पड़ी। बैजहाफ की इस शानदार विजय ने उन लोगों में भी हिम्मत भर दी जो भीतर से धूम्रपान की बुराइयाँ तो अनुभव करते पर नैतिक साहस के अभाव में समर्थन या सक्रिय सहयोग से कतराते रहते थे।

अब उसने एक संस्था बनाकर काम शुरू कर दिया है। अब बहुत से प्रभावशाली लोग भी उसके सहयोगी हो गये हैं। न्यूयार्क में अपना बड़ा भारी कार्यालय खोलकर उसने विधिवत 'सिगरेट छोड़ो अभियान' प्रारम्भ कर दिया है। उसी का परिणाम है कि युवकों में १० प्रतिशत और कम उम्र वाले बच्चों में २० प्रतिशत सिगरेट की खपत कम हो गई है। यह आंशिक सफलता भी कम महत्वपूर्ण नहीं पर अभी बैजहाफ उस दिन के लिये काम कर रहे हैं जब धरती में कोई भी प्राणी सिगरेट के धुँए से घुटेगा नहीं। उसके विषैले प्रभाव से बचाने के लिए उनका अभियान अभी भी तेजी से चल रहा है।

बैजहाफ जैसे युवक ही समाज को स्थायी नैतिकता प्रदान कर सकते हैं। न जाने वह दिन कब आयेगा जब दूसरे देशों के पढ़े-लिखे युवक भी उठ खड़े होंगे और विश्व में फैली दुष्प्रवृत्तियों का अन्त करने के लिये जुट पड़ेंगे।

अनीति से आजन्म लड़ने वाले-

दीक्षित जी

आगरा जिले के 'मई' गाँव में श्री गेंदालाल दीक्षित का जन्म हुआ। दो वर्ष की आयु में माता का स्वर्गवास

हो गया तो ताऊ ने उन्हें पाला-पोसा। फिर वे ननिहाल चले गये और किसी प्रकार हाईस्कूल पास कर मुफ्तीदे आम स्कूल आगरा में अध्यापक हो गये।

यों नौकरी के लिये गणित, भूगोल पढ़ाने का काम तो सभी अध्यापक करते हैं पर दीक्षित जी तो दूसरी ही मिट्टी के बने थे। उन्होंने देखा पढ़ जाने पर भी यदि कोई व्यक्ति रोटी ही कमाने तक सीमित रहा तो उसे 'पढ़ा गधा' ही समझा जा सकता है। विद्या का वास्तविक उद्देश्य है मनुष्य का भावनाशील, उदात्त और व्यक्तित्वसम्पन्न होना। जिसमें पढ़-लिखकर भी यह गुण न आये उसकी शिक्षा निरर्थक ही गई यह माना जाना चाहिए। छात्रों को पढ़ाते तो थे पर साथ ही उनमें उदात्त भावनाएँ भरने में भी कमी न रखते थे। वे इन भावी नागरिकों को लौह पुरुष देखना चाहते थे इसलिए इनको आदर्शवादी बनने की प्रेरणा देते रहते थे।

दीक्षित जी की यह गतिविधियाँ स्कूल के अधिकारियों को पसन्द न आईं। उन्हें नौकरी छोड़नी पड़ी। वे इटावा जिले के औरैया कस्बे में गये और वहाँ डी० ए० बी० स्कूल की स्थापना की, जहाँ से वे भारत माता की बेड़ियाँ काटने वाले योद्धा तैयार कर सकें। जब पाठशाला ठीक प्रकार चलने लगी तो वे भारत की विभूँखलित जनता को संगठित करने के लिए दौरा करने निकल पड़े।

उत्तर प्रदेश का दौरा करके उन्होंने 'जगह-जगह' शिवाजी समिति की शाखाएँ स्थापित कीं। इनमें नवयुवकों को व्यायाम एवं शस्त्रकला सिखाई जाती थी और देश-भक्ति की भावनाएँ भरी जाती थीं। उनके दो साथी और भी हुए एक लक्ष्मणानन्द दूसरे रामप्रसाद 'बिस्मिल' जो बाद में भारत में क्रान्तिकारी नेतृत्व के लिए विख्यात हुए। शिवाजी समितियाँ उत्तर प्रदेश तक ही सीमित न रहकर पंजाब, राजस्थान, मध्य प्रदेश, बिहार, बंगाल आदि प्रान्तों में भी फैल गईं और उनके द्वारा स्वास्थ्य सम्वर्द्धन के अतिरिक्त भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की पृष्ठभूमि भी तैयार की जाने लगी।

सरकार को उनके उद्देश्य का पता चल चुका था। अंग्रेज नहीं चाहते थे कि उनकी गुलामी का जुआ उतार फेंकने के लिए भारत में कोई प्रयत्न किये जायें। वे यहाँ के नागरिकों को हर दृष्टि से दीन-हीन ही देखना चाहते थे ताकि उन्हें मनमानी रीति से अपने प्रयोजन के लिए प्रयुक्त किया जा सके। जो लोग जनता में चेतना और संगठन के भाव फैलाते थे वे उनकी आँखों में खटकते थे। दीक्षित जी के दल के बारे में सरकार ने सोचा कि यह नवयुवकों का क्रान्तिकारी दल उनके लिए कभी न कभी संकट ही उत्पन्न करेगा इसलिये उसे नष्ट-भ्रष्ट ही कर देना चाहिए। वारन्ट निकाले गये और लाहौर में एक ही दिन ६४ व्यक्ति पकड़ लिये गये और भी गिरफ्तारियाँ हुईं पर दीक्षित जी बच निकले।

अब वे पक्के क्रान्तिकारी बने और भारत में सशस्त्र क्रान्ति के लिए तैयारी करने में लग गये। उन दिनों गुजस्थान में हथियार रखने की छूट थी। वहाँ से अस्त्र लाकर अँग्रेजों द्वारा शासित क्षेत्रों में पहुँचाने का कार्य आरम्भ किया। बढ़िया किस्म के हथियार लेने वे जापान जाना चाहते थे पर सरकार की कड़ी निगरानी के कारण उन्हें बर्मा से ही वापस लौटना पड़ा।

दल के एक मुखबिर द्वारा भेद दे देने पर पुलिस के साथ उनके दल की मुठभेड़ हो गई, फलस्वरूप दीक्षित जी के तीन गोलीयाँ लगीं। सरकार द्वारा उन्हें पकड़कर ग्वालियर के किले में बन्दी बना लिया गया। अस्पताल में गोली निकाल लेने पर वे बच तो गये पर स्वास्थ्य बहुत गिर गया। पुलिस उन्हें मैनपुरी षड़यन्त्र केस के सिलसिले में एक जेल से दूसरी जेल में ले जा रही थी कि वे आँख बचाकर भाग निकले और मुखबिर को भी साथ ले गये। सरकार ने उनको जीवित या मृत पकड़वाने के लिए तीन हजार रुपया इनाम रखा।

दीक्षित जी के हृदय में यह विचार सदा काम करता रहा कि षड़यन्त्र, लुक-छिप, शस्त्र प्रयोग, विद्रोह आदि अपराध समझे जाने वाले अनुचित काम उन्हें करने चाहिए या नहीं। निष्कर्ष के बाद वे इसी नतीजे पर पहुँचे कि अन्याय सहने में जितना पाप है, उतना उसके प्रतिरोध में हिंसा का अवलम्बन करने में नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता जैसे लोक-कल्याण का ऊँचा लक्ष्य लेकर निस्वार्थ भाव से यदि वे हिंसा अपनाते हैं तो वे कोई नैतिक अपराध नहीं करते, भले ही कानून का दृष्टिकोण उनके विचार से भिन्न ही क्यों न हो। किसी स्वतन्त्र देश के सैनिक यदि शत्रु का मुकाबला करने के लिये अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करते हैं या अपनी गतिविधियों को गुप्त रखते हैं तो उसमें पाप नहीं माना जाता। फिर अन्यायी सरकार के विरुद्ध उनका हथियार उठाना ही क्यों पाप होगा? संसार में राज्य-क्रान्तियाँ हुई भी शस्त्र बल पर ही—ऐसी दशा में उन्हें अपने क्रान्तिकारी कार्यक्रम में न अनीति दिखाई पड़ती थी और न पश्चाताप होता था। अहिंसा द्वारा प्रतिरोध को वे आदर्श तो मानते थे पर व्यावहारिक नहीं। इस दृष्टि से उनके दल ने हिंसात्मक मार्ग चुना था पर उनकी देशभक्ति अहिंसावादियों की अपेक्षा किसी प्रकार कम न थी।

स्वास्थ्य खोकर भी दीक्षित जी एक सच्चे स्वतन्त्रता सैनिक की तरह निरन्तर काम करते रहे। लुक-छिपकर काम करना और आर्थिक अभावों से पग-पग पर जूझना सचमुच बड़ा कठिन काम था। कठिनाइयाँ ही वीरता की कसौटी मानी जाती हैं। वे साहसपूर्वक हँसते हुए उनका सामना करने से कभी निराश या खिन्न न हुए पर शरीर तो आखिर शरीर ही है। सुधार का अवसर न मिले तो वह बिगड़ेगा ही। प्रकृति तो अन्धी है उसे देशभक्त या देशद्रोही की पहचान कहाँ? जो भी उसके नियमों में किसी भी

कारण से व्यतिक्रम करेगा वही आरोग्य खोने का दण्ड पावेगा। दीक्षित जी की विवशता ने उन्हें स्वास्थ्य सुधारने का अवसर न दिया और वे क्षय-ग्रस्त हो गये।

जन्मभूमि की तरफ आश्रय पाने गये तो वहाँ पुलिस पहले ही मौजूद थी। घर वाले भी उन्हें ठहराने को तैयार न हुए। हरिद्वार गये तो वहाँ की ठण्ड बर्दाश्त न हुई। दिल्ली लौटे और 'छोटे लाल' नाम लिखवाकर अस्पताल में भर्ती हो गये। पत्नी और भाई यह खबर पाकर उनका अन्तिम-दर्शन करने दिल्ली पहुँचे तो वे वहाँ पहुँचने से पूर्व २२ दिसम्बर, १९२० को महाप्रयाण कर चुके थे। उनकी जेब में उनके असली नाम पते की चिट निकली, पर पुलिस ने उस पर विश्वास न किया और मृत्यु के बीस वर्ष बाद तक उन्हें पकड़ने के लिए वारन्ट लिए फिरती रही।

अन्याय का प्रतिकार करने के लिए हिंसा का आश्रय लिया जाय या अहिंसा का, इसमें दो मत हो सकते हैं। भारतीय स्वतन्त्रता के इतिहास के ज्ञाता गाँधीजी के अहिंसात्मक आन्दोलन को उनकी सामयिक दूरदर्शिता पूर्ण नीति भी मानते हैं और कहते हैं कि यदि वे पूर्ण अहिंसक होते तो काश्मीर पर आक्रमणकारियों का सशस्त्र प्रतिरोध करने के लिए भारत सरकार को आशीर्वाद न देते। वैसे वे भी कायरता से हिंसा को और हिंसा से अहिंसा को श्रेष्ठ मानते थे। इस दार्शनिक उलझन में बिना पड़े भी दीक्षित जी की देशभक्ति की एक स्वर से सराहना करनी पड़ेगी। उन्होंने जिस त्याग, बलिदान का आदर्श उपस्थित किया, तिल-तिल कर अपने को मातृभूमि की सेवा में लगाया और जीवन के अन्तिम क्षण तक अपने महान लक्ष्य के लिए संघर्ष करते हुए एक सच्चे शहीद की तरह इस संसार से विदा हुये।

यों जीने को सभी जीते हैं और समय आने पर मरना भी सभी को पड़ता है पर जिनका जीवन अन्याय के प्रतिकार एवं न्याय की स्थापना में संघर्ष करने के लिये लग सका वस्तुतः उन्हीं की मृत्यु को सराहनीय कहा जा सकता है।

राष्ट्र निर्माता—

बैंजामिन फ्रेंकलिन

आज जिन्हें अमेरिका का राष्ट्र-निर्माता कहकर याद किया जाता है, उन बैंजामिन फ्रेंकलिन ने जीवन में जिन कठिनाइयों को पार किया, उनमें यदि कोई कच्ची लगन और कमजोर मनोभूमि वाला व्यक्ति होता तो राष्ट्रहित के बड़े-बड़े काम कर सकना तो दूर वह अपना साधारण जीवन भी सुरक्षित न रख पाता लेकिन बैंजामिन फ्रेंकलिन हर परिस्थिति में दृढ़ बन रहे। उन्होंने निराशा, निरुत्साह

अथवा उद्विग्नता को अपने पास न आने दिया और साहसपूर्वक हर कठिनाई का सामना करते हुये आगे बढ़ते रहे और अन्त में एक सफल व्यक्ति बनकर मानसम्मान के साथ इस संसार से गये ।

बैंजामिन फ्रैंकलिन सर्वथा आत्मनिर्मित व्यक्ति थे। उनके विकास में किसी दूसरे व्यक्ति का जरा भी आधार नहीं था। यहाँ तक कि माता-पिता भी उनके लिए कुछ न कर सके थे। वे बेघारे कुछ कर भी कहाँ से सकते थे। पिता मोमबत्ती और साबुन बनाने का मामूली काम करते थे। उसमें इतनी आय न हो पाती थी, जिससे सत्रह बच्चों का भरण-पोषण ठीक से हो सकता। किसी को भरपेट रोटी भी न मिल पाती थी- शिक्षा और विकास साधनों की बात तो कल्पना से परे की वस्तु थी। पेट भरने के लिये बैंजामिन फ्रैंकलिन को दस वर्ष की आयु में ही अपने पर निर्भर होना पड़ा था।

जिस समय रोटी की तलाश में वे घर से फिलाडेल्फिया की ओर चले तो शरीर पर पूरे कपड़े भी न थे और जो थे वे फटे और पुराने थे। पास में सिर्फ तीन आने पैसे थे। यह पैसे भी उन्हें घर से नहीं मिले थे। यह उस कमाई की बचत थी, जो उन्होंने बहुत दिन तक लुहारों, ठेठेरों, मोचियों, भट्टियारों और रंगरेजों की दुकानों पर परिश्रमपूर्वक की थी। वे जो कुछ कमाते थे परिवार पोषण के लिए पिता को दे देते थे। किन्तु जब उन्हें घर पर रहकर उन्नति की सम्भावना न दीखी तो वे फिलाडेल्फिया की ओर चल दिये।

निरन्तर पैदल यात्रा करके जब वे अपने गन्तव्य पर पहुँचे तो, भूख के मारे दम निकला जा रहा था। निदान उनको पास के पैसों से रोटी खरीद लेनी पड़ी, जिनको वे कई दिन तक बचाये रखना चाहते थे। कहीं आराम से बैठकर खाने की फुरसत तो थी ही नहीं, तुरन्त ही कहीं जाकर काम खोजना था। अस्तु, खरीदी हुई तीन रोटियों में से दो तो बगल में दबा लीं और एक को खाते हुए चलते रहे। बालक बैंजामिन की यह दशा देखकर राहगीर हँसते थे सो हँसते थे, एक सुन्दर-सी लड़की यह कहकर- कितना फूहड़ और गँवार लड़का है- इतनी हँसी कि खुद एक तमाशा बन गई। पर आत्म-विभोर बैंजामिन पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। वह ज्यों का त्यों अपना काम करता चलता रहा। लेकिन बाद में जब बैंजामिन ने सफलताओं को जीत लिया, तब इसी लड़की ने उनसे विवाह का प्रस्ताव किया था और उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया था।

खोजते-खोजते बैंजामिन को एक प्रेस में काम मिला। उन्होंने उसमें इस लगन और परिश्रम से काम किया कि न केवल उसमें उन्नति ही पाई बल्कि इस योग्य हो गये कि खुद प्रेस चला सकें। इसी प्रेस में उन्होंने पढ़ना और लिखना भी सीखा था। कुछ समय तक काम करके और पैसा बचाकर उन्होंने एक अखबार निकाला।

अखबार चला लेने के बाद पुस्तकें छापीं और एक शिक्षा संस्था स्थापित की। उसी शिक्षा संस्था में उन्होंने एक संगीत की कक्षा भी चलवायी और स्वयं भी संगीत सीखा, इस प्रकार वे परिश्रमपूर्वक अपना जीवन प्रगति-पथ पर चला ले चले।

बैंजामिन फ्रैंकलिन को पढ़ने का बड़ा शौक था। लेकिन उन दिनों अमेरिका में पुस्तकालयों और वाचनालयों का रिवाज नहीं था। पुस्तकें भी कम छपती थीं और महँगी भी थीं। बैंजामिन को यह कमी खूब खटकती और उन्होंने उसका उपाय निकाला। वे खोज-खोजकर ऐसे लोगों से मिले जिनके पास पुस्तकें थीं। उन्हें पुस्तकालयों का महत्व समझाया और इस बात पर राजी कर लिया कि सब लोग एक स्थान पर अपनी पुस्तकें जमा कर लें और फिर वहीं से पढ़ने के लिए ले जायें अथवा उसी स्थान पर बैठकर पढ़ें। लोगों ने वैसा ही किया और इस प्रकार पुस्तकालयों एवं वाचनालयों का रिवाज चल पड़ा। आगे चलकर इसी क्रम में उन्होंने बड़ी-बड़ी अध्ययन गोष्ठियाँ बनाई और विद्वानों और अध्ययनशील व्यक्तियों की एक संस्था स्थापित की, जिसका नाम 'जन्टो' रखा। उनके इन प्रयत्नों ने नागरिक विकास में बहुत योगदान दिया।

सेवा और सत्कर्मों का परिणाम आत्म-शांति के साथ-साथ सामाजिक सम्मान भी होता है। बैंजामिन फ्रैंकलिन को सम्मान मिला पर उन्होंने इसका उपयोग भी अन्य विकास कार्यों में भी किया। उन्होंने बहुत से लोगों को साथ लेकर एक 'यूनियन फायर कम्पनी' और एक 'फायर इन्श्योरेंस कम्पनी' की स्थापना की, जिनसे फिलाडेल्फिया के नागरिकों की महत्त्वपूर्ण सेवायें हुयीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने सरकार और नगरवासियों को एकमत करके नगर की सारी सड़कें और गलियाँ पक्की करा दीं। प्रकाश और पाकों की व्यवस्था कराई। इस प्रकार उनके प्रयत्नों द्वारा फिलाडेल्फिया का वह पुराना नगर नया होकर चमक उठा।

सरकार ने बैंजामिन फ्रैंकलिन की प्रतिभा पहचानी और उन्हें नगर का डाक विभाग सौंप दिया। उन्होंने अपनी प्रतिभा एवं योग्यता का उपयोग डाक व्यवस्था का विकास करने में किया, जिसके उपलक्ष्य में वे उस समय अमेरिकी उपनिवेश के पोस्ट-मास्टर जनरल बना दिये गये। इन सेवाओं के साथ-साथ उन्होंने शिक्षा की उन्नति के लिए काम किया, जिसके फलस्वरूप आगे चलकर वहाँ का हाईस्कूल एक विशाल विश्वविद्यालय बन गया, जो आज 'पैसिलवेनिया यूनिवर्सिटी' के नाम से प्रसिद्ध है।

उन्हीं दिनों जब बैंजामिन फ्रैंकलिन जन-सेवा द्वारा उन्नति के सोपानों पर चढ़ते जा रहे थे, इंग्लैण्ड और अमेरिकी जनता में मतभेद हो गया और अमेरिका, ब्रिटिश साम्राज्य से निकल कर स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में विकास करने के लिए इच्छुक हो उठा। बैंजामिन फ्रैंकलिन युद्ध

की सम्भावना से बेचैन हो उठे । उन्होंने सारे काम छोड़ दिये और शांति समझौते के लिए अमेरिकी जनता की ओर से उसके प्रतिनिधि बनकर इंग्लैण्ड चले गये । वहाँ वे कई वर्षों तक ब्रिटिश शासकों को शांति स्थापना के लिए, अमेरिका को सुविधायें देने के लिये प्रेरित करते रहे । किन्तु शासकों की हठधर्मी ने कोई काम बनने न दिया और आखिर में युद्ध की ज्वाला भड़क ही उठी ।

श्री बैंजामिन फ्रैंकलिन ने अपना कर्तव्य समझा और देश के स्वाधीनता संग्राम में प्राणपण से जुट गये । उन्होंने अमेरिकी राष्ट्र को संगठित किया । अमेरिकी कांग्रेस में पड़ती फूट को रोका और स्वाधीनता के बाद दास प्रथा के अन्त कर देने के लिए जोर डाला । यद्यपि अब तक बैंजामिन फ्रैंकलिन बहुत बड़े हो गये थे तथापि उनकी उपयोगिता एवं कार्यक्षमता कम न हुई थी । उन्हें अमेरिका की जल एवं थल सेना का अध्यक्ष बनाया गया । इस पर उन्होंने जिस योग्यता से काम किया उसके लिए वे आज भी संसार के श्रेष्ठ सेना-संचालकों में माने जाते हैं । किन्तु जब उनके शरीर ने पूरी तरह जबाब दे दिया तो वे सारा कामों से अवकाश लेकर अपनी पुत्री के पास चले आये और उसी के पास १७ अप्रैल, १७९० को यश, सम्मान और पुण्य-परमार्थ के साथ अमेरिका के राष्ट्र-निर्माता का नाम पाकर शांतिपूर्वक स्वर्ग सिधार गये ।

श्री बैंजामिन फ्रैंकलिन का जीवन पुरुषार्थ, लगन और अध्यवसाय की गाथा है, जिसके बल पर वे लुहारों, ठठेरों, भटियारों, मोचियों और रंगरेजों की सेवा करने से उठकर एक महान् राष्ट्र-निर्माता बन सके ।

अदम्य साहस के प्रतीक—

मेजर शैतानसिंह

२० अक्टूबर, १९६२ में भारत-चीन सीमा संघर्ष शुरू हुआ था । १८ नवम्बर को चीनियों ने अपने सुसज्जित हथियारों के साथ चुराल क्षेत्र में भीषण आक्रमण किया । मेजर शैतानसिंह कुमार रेजिमेण्ट की एक फौजी टुकड़ी के साथ रेंजगला चौकी पर दुश्मनों का मुकाबला करने के लिए नियुक्त हुए । इस यकायक आक्रमण के कारण इस छोटी टुकड़ी का सम्बन्ध भी रेजिमेण्ट से भंग हो गया । १७००० फीट की इस ऊँची-नीची और बर्फीली पहाड़ी पर न तो आवागमन का ही उपयुक्त साधन था और न आत्मरक्षा के लिए कोई समुचित सुव्यवस्था ही हो पाई थी । रसद भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान न थी । क्या पता था कि भाईचारे का सम्बन्ध रखने वाला चीन इस तरह बर्बरता और असुरता का व्यवहार हमारे साथ करेगा ?

आक्रमणकारी ने तोपों, टैंकों, मोर्टारों और अपने विभिन्न हथियारों द्वारा १८ अक्टूबर के प्रातः से ही गोलाबारी आरम्भ कर दी । अपनी छोटी-सी टुकड़ी लेकर शैतानसिंह मातृभूमि की रक्षार्थ शत्रु के सामने जा डटे । दो-दो प्लाटूनों का संचालन वे स्वयं कर रह थे । उधर

शत्रु के भीषण आक्रमण और इधर प्रकृति की विपरीतता । भीषण सर्दी, बर्फ की वर्षा, जहाँ रक्त भी जम रहा था । सबका एक साथ सामना करना हैसी-खेल की बात न थी । फिर भी जहाँ हिम्मत हो, साहस हो और अदम्य उत्साह हो वहाँ साधन के अभाव में भी बहुत कुछ किया जा सकता है — यह मेजर शैतानसिंह के इस कारनामे में सहज ही देखा जा सकता है । साधन स्वल्प थे तो भी साथी सैनिकों में वे प्राण फूँक रहे थे । इनकी इस तरह की निर्भीकता सेना में बल का संचार कर रही थी । यही तो कारण था कि इतने अल्प सैनिक उस भारी भरकम चीनी सेना के छके छुड़ा रहे थे और शत्रु दल आगे बढ़ने में असमर्थ हो रहे थे ।

काफी समय तक जमकर मोर्चा चलता रहा परन्तु अन्त में भारतीय सैनिक लाचार हो उठे । इधर मात्र बन्दूकें और उधर से तोपों की बौछारें, आखिर कितनी देर तक मुट्ठी भर सैनिक अपने प्राणों पर खेलते ? शैतानसिंह का सारा शरीर गोलियों की बौछारों से छिदकर जर्जर हो गया । सीने, बाँहों और सिर में बेतरह घाव हो गये । हथियार चलाना भी अब कठिन था । ऐसी स्थिति देखकर सैनिकों ने अपने सरदार को भाग निकलने और अपने प्राण बचा लेने की सलाह दी । बड़ी ही विषम परिस्थिति सामने आ पड़ी ।

मेजर शैतानसिंह ने दो क्षण रुककर थोड़ा विचार किया यद्यपि वे पूरे स्वतन्त्र थे जब चाहे वहाँ से भाग निकलते । परन्तु उन्होंने सोचा, यह पार्थिव शरीर आज नहीं तो कल समाप्त होने ही वाला है अन्यत्र घुट-घुट कर मर जाने की अपेक्षा मातृभूमि की रक्षार्थ अपने प्राण दे देना कहीं श्रेयस्कर है । जिस भूमि का अन्न-जल ग्रहण करके यह शरीर पालित-पोषित हुआ, उसी हेतु अर्पण कर देने का इससे बढ़कर सुअवसर और कब आ सकता है ? मातृभूमि के बलिदानी राणा और अन्य बलिदानियों की याद आते ही इस राजपूत में बिजली की लहर-सी दौड़ गई । सीमा पर वह अन्त तक काल-कराल की तरह खड़ा रहा और शत्रुओं को नाकों चने चबवाता रहा । उसकी इस भयंकरता को देखकर चीनियों की हिम्मत आगे बढ़ने की नहीं हो रही थी । इधर के सैनिक भी पूरी हिम्मत बाँधकर अंत तक डटे रहे । परन्तु मशीनगनों का मुकाबला मात्र बन्दूकों से कब तक किया जा सकता है ? अन्त में यह वीर सेनानी बुरी तरह आहत होकर रणक्षेत्र में गिर पड़ा । सेना के नौजवान उसे लेकर अन्यत्र भाग जाना चाहते थे परन्तु प्राण रहते वहाँ से हटने से इन्कार कर दिया । वह वीर सरकता हुआ एक चट्टान तक जा पहुँचा और मातृभूमि को प्रणाम करते हुए अन्तिम साँस ले ली ।

कुछ देर बाद चीनी सैनिक वहाँ पहुँचे परन्तु बहुत खोजने के पश्चात् भी वे शैतानसिंह को वहाँ पा न सके । प्रकृति ने शैतान सिंह के पवित्र शरीर को चीनियों के हाथ न लगने दिया और उस वीर के शव को बर्फ ने चार मास

तक अपने अंचल में छिपा रखा। लेकिन फरवरी, १९६३ में भारतीय सेना ने अपने इस बहादुर सेनानी, भारत माँ के सच्चे सपूत के शव को बर्फ से खोज निकाला।

१७ फरवरी, १९६३ को एक विशेष विमान द्वारा 'पार्थिव शरीर' जोधपुर लाया गया। समाचार पाते ही जनता की भीड़ हवाई अड्डे पर एकत्र होने लगी। दूर-दूर तक लोगों की अपार भीड़ इस सेनानायक के अन्तिम दर्शनार्थ टूट पड़ी। मातृभूमि के प्रति इस प्रकार अपने को उत्सर्ग कर देने वाले पर, सबमें एक अभूतपूर्व श्रद्धा भरी दिखाई दे रही थी। उनका शरीर तो यद्यपि आज निष्प्राण था फिर भी सम्मान उतना पा रहा था जितना जीवित रहने पर भी जनता के सामने आज परमवीर शैतानसिंह नहीं था, था तो उसका केवल पार्थिव शरीर, पर जोधपुर की जनता आज उसे मृत नहीं मान रही थी। यही तो कारण था जब प्रतिक्षण आकाश में यही ध्वनि प्रतिध्वनित हो रही थी, "शैतानसिंह जिन्दाबाद! शैतानसिंह जिन्दाबाद!!

मेजर शैतानसिंह का जन्म १९२४ में जोधपुर जिले के वाणासर गाँव में ले० कर्नल हेमसिंह भाटी के यहाँ हुआ था। हेमसिंह १९१६ में फ्रांस में प्रथम विश्व युद्ध के समय आहत हुए थे। शैतानसिंह ने हाईस्कूल परीक्षा जोधपुर के चौपसनी हाईस्कूल से और बी० ए० परीक्षा यशवन्त कालेज से पास की थी। आगे अधिक शिक्षा की व्यवस्था न बन पड़ने के कारण जोधपुर राज्य की अश्वारोही सेना में भर्ती हो गये। रियासती सेना के भारतीय सेना में विलय होने के पश्चात् वे कोटा की उम्मेद इन्फैन्ट्री में लेफ्टीनेन्ट रहे। इसके पश्चात् उनकी नियुक्ति कुमायूँ रेजिमेण्ट में हो गई। जिसमें उन्होंने जीवनपर्यन्त सेवा की। मेजर शैतानसिंह उन पहले अधिकारियों में से थे, जो सैनिक गुप्तचर अधिकारी के रूप में गोवा भेजे गए थे।

राष्ट्र की जनता ने उस महान वीर के साहस, शौर्य और अदम्य उत्साह की भूरि-भूरि प्रशंसा की। मरणोपरान्त भारत सरकार ने उन्हें परमवीर चक्र की उपाधि से विभूषित किया। मेजर शैतानसिंह आज हमारे बीच नहीं रहे, परन्तु राष्ट्र के प्रति उनकी कर्तव्यपरायणता, त्याग और आत्मोत्सर्ग की भावना युग-युग तक नवयुवकों और भारतीय सैनिकों को प्रेरणा प्रदान करती रहेगी। भारत को आज ऐसे ही सपूतों एवं वीर जवानों की आवश्यकता है।

क्रान्ति के सन्देशवाहक—

नाजिम हिकमत

तुर्की के अमर कवि नाजिम हिकमत का बचपन बड़े सुख और आराम से बीता था क्योंकि उनका जन्म ही धनी परिवार में हुआ था। बड़े होने पर जब उन्होंने अपने देशवासियों को अभावग्रस्त देखा, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि उन्हें अपने तथा देश की सामान्य जनता के

जीवन स्तर में जमीन-आसमान का अन्तर लग रहा था। अब तो उन्हें अपने जीवन पर ग्लानि होने लगी। वह सोचने लगे कि देश का नागरिक होने के नाते मुझे भी उतनी सुविधायें प्राप्त करने का अधिकार है जितनी कि एक सामान्य नागरिक को।

अब उन्होंने स्वेच्छा से निर्धनता का जीवन स्वीकार कर लिया और देश की निर्धन जनता का ही एक अंग बन गये। १९२०-२२ में तुर्की की देशभक्त जनता ने अत्याचारी शासकों तथा उनके विदेशी साम्राज्यवादी साधियों के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द की। स्वतन्त्रता संग्राम में सैकड़ों राष्ट्रप्रेमी सम्मिलित होकर अपने जीवन का मोह त्याग मृत्यु को आलिङ्गन करने के लिए बड़े जा रहे थे। ऐसे समय में नाजिम हिकमत पीछे कैसे रह सकते थे? वह सारा घरवार छोड़ देश को स्वतन्त्र कराने वाले बलिदानियों की टोली में सम्मिलित हो गये।

कुछ दिनों बाद नाजिम हिकमत रूस चले गये। वहाँ रूसी साहित्य का अध्ययन किया तो उनके साहित्यिक जीवन में नया मोड़ आया और उन्होंने नई तुर्की कविता को जन्म दिया। तुर्की की पुरानी, दरबारी और निर्जीव कविताओं को छोड़कर ऐसी कविता लिखी जिसने जनमानस में क्रान्ति की आग फूँक दी। पुराने छन्दों का बन्धन तोड़कर कविता के लिये ऐसे छन्दों को माध्यम बनाया जिनके द्वारा विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त किया जा सके। जन-जन के दुःख-सुख को अपना दुःख-सुख मानने के कारण ही कवि भूतल का सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहलाता है। कविता को जनता की निकटता तक लाने के लिए यह आवश्यक होता है कि वह ऐसी भाषा में लिखी गई हो जिसे देश का हर व्यक्ति समझता हो और बोलता हो। नाजिम हिकमत ने यही किया।

नाजिम को अपनी मातृभूमि से दूर रहना असह्य था, क्योंकि जिस समय तुर्की के नागरिक देश को स्वतन्त्र कराने के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार थे उस समय नाजिम अपने को रूसी साहित्यकारों के बीच घेरे भी कैसे रह सकते थे? वह स्वदेश लौटे तो जनता ने पलक पाँवड़े बिछाकर उनका स्वागत किया। काव्य के द्वारा देश में क्रान्तिकारी भावना जाग उठी। सरकार की आँखों में तो वह कटि की तरह खटकने लगे थे। वह नाजिम की लोकप्रियता सहन न कर सकी और स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने के कारण तीन वर्ष की सजा सुना दी गई।

कैद से छूटने के बाद नाजिम चुप नहीं बैठे। शासन के जुल्म और दमन-चक्र के विरोध में उनकी आवाज और तेज हो गई। उनकी कविताओं ने देशवासियों के दिल में स्थान पा लिया था। देश के किसान, मजदूर और कर्मचारियों तक ही उनकी कवितायें सीमित न रहीं वरन् जब पुलिस और सेना के लोगों ने भी उन कविताओं को पढ़ना शुरू किया तो सरकार चौंकी। अब सरकार के सामने केवल यही एक तरीका रह गया था कि वह

नाजिम की वाणी और लेखनी पर पाबन्दी लगा दे। इसके लिए अच्छे बुरे अनेक उपाय सुझाये गये। अन्त में सरकार द्वारा यह अभियोग लगाया गया कि उनकी कवितायें सिपाहियों और सैनिकों के पास पाई गई हैं, जिनमें समाजवाद के प्रचार की भावना भरी हुई है। एक विशेष न्यायालय में मुकदमा चला और अठ्ठाईस वर्ष के कारावास की सजा सुना दी गई। जहाँ क्रूर शासन न्यायालयों पर जोर देकर अपने पक्ष में निर्णय की पहल करता हो वहाँ इस तरह का निर्णय सुनकर जनता को आश्चर्य नहीं हुआ। क्योंकि यह गनीमत रही कि उन्हें मृत्यु के घाट नहीं उतारा।

अभियोग भी उन कविताओं के आधार पर लगाया गया था जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में पहले ही छप चुकी थीं। न्यायालय द्वारा जो २८ वर्ष का दण्ड दिया गया वह वहाँ के कानून के अनुसार अवैधानिक था, क्योंकि इतनी सजा तुर्की में गैर कानूनी थी। अतः उस निर्णय को कानून का आवरण पहनाने के लिये एक नया कानून बनाया। जनता इसके खिलाफ आवाज उठाती रही पर हिंसा पर उतारू सरकार ने किसी की न सुनी।

नाजिम को अन्य कैदियों से अलग रखा गया क्योंकि सरकार को यह डर था कि यह कैदी अन्य कैदियों को भी क्रान्ति के लिये न भड़का दे? उन्हें एकान्त में रखा गया। पत्र व्यवहार तथा मिलने-जुलने पर पाबन्दी लगी दी गई। इस बात की बराबर कोशिश की गई कि नाजिम का सम्बन्ध देशवासियों से बिल्कुल टूट जाये। इतना ही नहीं वरन् नाना प्रकार की कठोर यातनायें दी गई। पर नाजिम ने हिम्मत न हारी। आशा की किरणें उसे अन्धेरी कोठरी में भी प्रकाश पहुँचाती रहीं। उन्होंने अपने आत्म-विश्वास को घटने न दिया। अब दुश्मनों से लड़ने के लिए कविता ही एक मात्र शस्त्र था जिसका प्रयोग वह लुक-छिपकर करते रहते थे। कवितायें लिख-लिख कर जेल से बाहर भेजी जाती रहीं। वे कविताएँ समाचार-पत्र और पत्रिकाओं में दूसरे नामों से छपती रहीं। उन्हें अपना नाम प्यारा न था वह तो काम में आस्था रखने वाले पुरुषार्थ के धनी थे, जिसे लोकेषणा छू तक न गई थी, पर देश के सारे पाठक-पाठिकाएँ कविता में दूसरे का नाम होने पर भी यह समझते थे कि कवितायें उनके प्रिय कवि नाजिम की हैं।

कालकोठरी में बैठकर क्रान्ति और बलिदान का सन्देश देने वाले नाजिम को अब बारह वर्ष बीत गये थे। एक-एक दिन उन्होंने एक-एक युग के समान निकाला था पर न निराश न हुये और न घबराये। स्वास्थ्य गिरने लगा, शरीर क्षीण हो गया। न भोजन ऐसा था जिससे शरीर चल सके और न सर्दी से बचने के लिए कपड़े। दिल की भयंकर बीमारी ने उस साहस की परीक्षा लेनी चाही। टाँगों में इतना दर्द बढ़ा कि उन पर चलना-फिरना कठिन हो गया। फिर भी वह मंगलमय भविष्य की कामना करके जीते ही रहे।

एकान्त कारावास की इतनी अवधि, जिसमें सिवाय यातनाओं के और कुछ मिला नहीं, ऐसी परिस्थितियों में और कोई होता तो आत्महत्या के लिए उतारू हो जाता या किसी पागलखाने की शरण लेने के लिए विवश किया जाता। पर वह तो देशवासियों के उन सुनहरे स्वप्नों के साथ अपने को जोड़े हुए थे कि एक दिन त्याग और बलिदान के परिणामस्वरूप देश को स्वतन्त्रता मिलेगी। वह स्वयं तो जीवित रहा ही साथ ही अन्य कैदियों तथा ऐसे देशभक्तों, जिन पर दमन चक्र चल रहा था, स्वाभिमान से जीवित रहने का अपनी कविताओं में अभूतपूर्व प्रेरणादायक सन्देश दिया।

अब नाजिम का स्वास्थ्य और खराब हो गया। बचने की आशा न रही। जेल अधिकारियों की उपेक्षा बढ़ती गई तो उन्होंने भूख हड़ताल कर दी। यह समाचार संसार में बिजली की तरह फैला। स्थान-स्थान पर सहानुभूति में सभाएँ की गई और नाजिम की रिहाई की आवाज उठाई गई। करोड़ों व्यक्तियों की बुलन्द आवाज का अनुकूल प्रभाव पड़ा और तुर्की सरकार ने नाजिम को छोड़ दिया। फिर सरकार को उनसे अत्यधिक भय था अतः पूर्ण स्वतन्त्रता न दी गई। उसकी वाणी पूरे देश की वाणी थी जिसे सरकार सदैव के लिए बन्द कर देना चाहती थी।

आखिर ६१ वर्षीय नाजिम ३ जून, १९६३ को मुहर्रम के दिन अपने देश से दूर मास्को में इस संसार से विदा हो गये। यह दिन मुस्लिम जगत के लिये ही नहीं वरन् समस्त विश्व के लिये शोक का दिन था क्योंकि इस दिन विश्व के महान कवि ने सबको जगाकर चिरनिद्रा प्राप्त की थी।

अमर हुतात्मा—

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी

देश की स्वाधीनता में बाधक बने साम्प्रदायिक विष को पीकर बलिदान हो जाने वाले गणेशशंकर विद्यार्थी का जन्म आश्विन शुक्ला १४ सम्बत् १९४७ (सन् १८९०) को प्रयाग के अतरसुइया मोहल्ले में हुआ। उनका परिवार मध्यवर्गीय परिवारों में भी एक साधारण परिवार था। उनके पिता मुन्शी जयनारायण ग्वालियर रियासत में मुंगावली कस्बे के एक मिडिल स्कूल में सहायक अध्यापक थे।

विद्यार्थी जी के पिता की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, किन्तु वे बड़े ही मितव्ययी, सदाचारी और सादे स्वभाव के थे। सन्तोष को उन्होंने जीवन की सुख-शान्ति का मूल-मन्त्र बनाया हुआ था। अपने इन्हीं गुणों के कारण वे अपनी सन्तानों पर इतने पवित्र संस्कार डाल सके कि आगे चलकर उनके आदर्श पुत्र गणेशशंकर केवल कुटुम्ब का ही नहीं, प्रत्युत देश का मस्तक ऊँचा करके गाँधीजी जैसे महान मनस्वी की प्रशंसा एवं प्रेम के पात्र बनकर दिखला सके।

१.४४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

मुंशी जयनारायण अपनी कठिन आर्थिक परिस्थितियों के कारण अपने होनहार पुत्र गणेशशंकर को कुछ अधिक शिक्षा न दिला सके। वे उसे केवल अँग्रेजी मिडिल तक की शिक्षा दिलाने के बाद यह आशा करने लगे कि गणेशशंकर नौकरी करके परिवार का बोझ बँटाये। गणेशशंकर ने पिता की विवशता अनुभव की और कानपुर में अपने बड़े भाई के पास नौकरी करने के लिए चले गये।

चलते समय उनके पिता ने कहा कि “गणेश ! यह मैं अच्छी प्रकार जानता हूँ कि पढ़ने-लिखने में तुम्हारी रुचि है और तुम आगे पढ़ने की इच्छा रखते हो, किन्तु परिवार की स्थिति से तुम अनभिन्न नहीं हो। मैं हर प्रकार से विवश होकर ही तुम्हें नौकरी करने की अनुमति दे रहा हूँ। यदि तुम में शिक्षा की सच्ची लगन होगी तो तुम नौकरी करते हुए भी आगे पढ़ सकने के लिए मार्ग निकाल लोगे। मनुष्य यदि अपने उद्देश्य का धनी है तो वह पर्वतों के बीच भी अपना रास्ता बना लेता है।

पिता के प्रेरणापूर्ण शब्दों ने गणेशशंकर पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला और वे मन ही मन यह संकल्प लेकर कानपुर के लिये विदा हो गये कि हजार बाधाओं के रहते हुए भी मैं जीवन की उन्नति और जन सेवा का मार्ग निकाल लूँगा।

गणेशशंकर कानपुर में जब अपने बड़े भाई के पास पहुँचे और अपना मन्तव्य बतलाया तो उनके दूरदर्शी भाई ने उन्हें आगे पढ़ने के लिए प्रेरित किया। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि उनका उद्योगी एवं परिश्रमी भाई अधिक से अधिक शिक्षा पाये और जीवन में विकास करे। निदान उन्होंने अपने सीमित साधनों में से भी खर्च निकालकर गणेशशंकर को इन्ट्रेंस के पाठ्यक्रम की पुस्तकें खरीद दीं और कुछ खर्च देकर पिता के पास पुनः इस प्रार्थना के साथ भेज दिया कि वे उन्हें स्कूल में भरती कराकर आगे पढ़ने का अवसर दे दें। पिता की इच्छा में फूल खिल उठे और उन्होंने पुत्र को खुशी-खुशी इन्ट्रेंस में भरती कराकर भगवान को धन्यवाद दिया।

गणेशशंकर ने खूब मन लगाकर पढ़ा और बहुत ही अच्छे नंबरों के साथ इन्ट्रेंस की परीक्षा द्वितीय श्रेणी में पास की। आगे पढ़ने के लिए उन्होंने इलाहाबाद में कायस्थ कालिज में प्रवेश लिया, किन्तु किसी प्रकार भी आगे का खर्च न चल सकने के कारण सात-आठ माह बाद उन्हें कालिज छोड़ देना पड़ा।

किन्तु इससे उन्होंने अपने उत्साह को मन्द नहीं होने दिया और कानपुर में करेन्सी कार्यालय में नौकरी कर ली। किन्तु स्वतन्त्र विचार के उद्योगी युवक गणेशशंकर विद्यार्थी को सरकारी गुलामी पसन्द न आई और उन्होंने करेन्सी की नौकरी छोड़कर कानपुर के पृथ्वीनाथ हाई-स्कूल में अध्यापन का कार्य कर लिया।

अपने अध्यापन काल में विद्यार्थी जी न केवल छात्रों को पढ़ाते ही थे, बल्कि उनके हृदय में देशभक्ति का संचार करते और पत्र-पत्रिकाओं में लेख भी लिखा करते थे। इसी समय दिल्ली दरबार के अवसर पर महाराजा बड़ौदा ने अपने स्वाभिमान की रक्षा में कोई ऐसा आचरण व्यक्त कर दिया जो दरबार की प्रतिष्ठा के अनुरूप न था। देश के सरकारी पिदू अखबारों ने महाराज बड़ौदा की बड़ी आलोचना की। गणेशशंकर से यह अन्याय सहन न हुआ और उन्होंने स्वाभिमान की रक्षा करने वाले महाराज बड़ौदा के आचरण को उचित ठहराते हुए बड़े ही तेजस्वी शब्दों में ‘कर्मयोगी’ आदि पत्रों में लेख लिखे।

गणेशजी का यह स्वतन्त्र साहस उनकी जिन्दगी में एक महत्वपूर्ण मोड़ सिद्ध हुआ। जनता ने उनकी प्रतिभा पहचानी और उन्होंने जनता की आवश्यकता समझी। स्कूल के अधिकारियों ने गणेशशंकर के तेजपूर्ण विचारों को अहितकर बताया तो उन्होंने स्कूल की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया।

उसी समय ‘सरस्वती’ के सम्पादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को एक योग्य सहायक की आवश्यकता थी। वे गणेशजी के विचारों की तेजस्विता और लेखनी की विशेषता से परिचित हो चुके थे। उन्होंने उनको अनुरोधपूर्वक ‘सरस्वती’ में बुला लिया और ३० रु० मासिक पारिश्रमिक का प्रस्ताव करते हुए कहा— “विद्यार्थी जी! ‘सरस्वती’ के पास साहित्य-सेवा के अवसर के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं है।” गणेशशंकर ने विनम्रतापूर्वक निवेदन करते हुए केवल २५ रुपया पारिश्रमिक ही उनके लिये पर्याप्त होगा। उन्होंने अपना जीवन पैसे के लिए नहीं, किसी भी माध्यम से देश-सेवा के लिये समर्पित कर देने का निश्चय कर लिया है और ‘सरस्वती’ ने उन्हें इसका अवसर देकर कृतार्थ कर दिया है।

प्रस्तावित वेतन से ५ रुपये कम लेकर श्रीगणेशशंकर ने सरस्वती में इतनी कँची लगन और गहरे परिश्रम से सेवा की कि आचार्य द्विवेदी ने एक स्थान पर व्यक्त किया— “विद्यार्थी जी जब तक मेरे साथ रहे, उन्होंने बड़ी मुस्ती और परिश्रम से सारा काम किया। वे रोज दो मील पैदल चलकर प्रातःकाल जुही जाते थे और सायंकाल को वापस आते थे। उनकी शालीनता, सृजनता और परिश्रमशीलता ने मुझे मुग्ध कर लिया। विद्यार्थी जी में ज्ञानार्जन की इतनी लगन थी कि वे बहुधा रास्ते में चलते हुए भी कोई न कोई अखबार अथवा पुस्तक का अध्ययन किया करते थे।

सरस्वती की निष्काम सेवा ने उन्हें भारत के पत्रकार जगत में विख्यात कर दिया। जिसके फल-स्वरूप उन्हें इलाहाबाद के ‘अभ्युदय’ साप्ताहिक ने द्विवेदी जी से माँग लिया। द्विवेदी जी ने उन्हें राजनीतिक विचारधारा विकसित करने का परामर्श देकर आशीर्वादपूर्वक ‘अभ्युदय’ का सम्पादन भार सँभाल लेने के लिए अनुमति दे दी।

देश की चिरवांछित स्वाधीनता के लिए सेवा करने के इच्छुक गणेशजी को अब उपयुक्त क्षेत्र मिल गया था और उन्होंने निर्द्वन्द्व होकर कलम उठाई और अपने तेजस्वी विचारों से राजनीतिक वातावरण में एक हलचल भर दी। किन्तु कुछ समय बाद बीमार हो जाने के कारण उन्हें 'अभ्युदय' से हटना पड़ा।

स्वस्थ हो जाने के बाद वे फिर मैदान में आये। किन्तु अभ्युदय के माध्यम से नहीं, बल्कि 'प्रताप' नामक एक नये साप्ताहिक की योजना लेकर। अपनी बीमारी के समय उन्होंने 'अभ्युदय' के सम्पादक का पद जिन मित्र को समर्पित कर दिया था, उनसे वापस लेना उचित न समझा। साथ ही देश में अच्छी पत्र-पत्रिकाओं की कमी की पूर्ति में योगदान करने के इरादे से उन्हें अपने नये पत्र का प्रकाशन करने की योजना उचित ही लगी।

'प्रताप' की योजना का प्रस्ताव करते समय उन्होंने अपने सहयोगी मित्र पं० शिवनारायण मिश्र के निराशापूर्ण प्रश्न का जो उत्तर दिया, वह वास्तव में कुछ करने की आकांक्षा रखने वालों के लिए एक प्रेरणप्रद शिक्षा से कम नहीं है। उन्होंने कहा—“रुपये-पैसे व प्रेस आदि अन्य साधनों की कमी को हम लोग अपने अनवरत परिश्रम एवं लगनशीलता से पूरी कर लेंगे। हम निःस्वार्थ भाव से जनता की सेवा का व्रत लेकर कार्य करेंगे और जनता हमारा सहयोग करेगी। मिश्रजी आप निराश न हों, आत्मविश्वास के साथ पुरुषार्थ का सहारा लेकर मैदान में आइए तो। हम लोग लेखन से लेकर चपरासी तक का सब काम जब स्वयं करेंगे तो कोई कारण नहीं कि हमारी जनोपयोगी योजना सफल न हो।”

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ने ऐसा ही किया और साधनों के अभाव में भी प्रताप चल निकला। उन्होंने अपने पत्र की नीति किसान-मजदूर तथा देशी राष्ट्रियों की पीड़ित एवं शोषित जनता का हित समर्थन बनाई। उन्होंने रायबरेली के किसानों, कानपुर के मिल मजदूरों का समर्थन करते हुये चम्पारन में गोरों के अत्याचार की कड़ी आलोचना शुरू करके जन-स्वाधीनता का संघर्ष छेड़ दिया। इस राष्ट्रीय सेवा के पुरस्कार स्वरूप उन्हें पाँच बार जेल यात्रा करनी और यातना सहनी पड़ी।

श्री गणेशशंकर की इन जीवन्त सेवाओं ने उन्हें गाँधीजी के निकटस्थ कर उनका कृपा-पात्र बना दिया और तब तो उन्होंने होम रूल आन्दोलन, कानपुर के सूती मिल मजदूरों की हड़ताल, रायबरेली कृषक-संघर्ष, स्वदेशी बहिष्कार आन्दोलन और नमक-सत्याग्रहों में सक्रिय भाग लेकर वह महत्वपूर्ण कार्य कर दिखाया, जिसके लिये वे प्रांतीय राजनीतिक सम्मेलन के अध्यक्ष बनाये गये और जनता द्वारा १९२५ में कानपुर के एक धन कुबेर के मुकाबले चुनाव में जिताकर प्रांतीय कौंसिल में भेजे गये। किन्तु उन्हें धारा सभा का निष्क्रिय जीवन पसन्द न आया। वे तो मैदान में सिपाही बनकर देश की

स्वाधीनता के लिये सक्रिय सेवा करना चाहते थे। निदान उन्होंने १९२९ में धारा सभा का त्याग कर दिया।

महात्मा गाँधी ने जब सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन चलाया तो विद्यार्थी जी इस आन्दोलन के कर्णधारों की अग्रिम पंक्ति में आ खड़े हुए। कानपुर में रेल अधिकारियों की मनमानी का उन्होंने सक्रिय विरोध किया। एक बार तो रेलवे के जनरल मैनेजर ने उनसे लिखित क्षमा याचना तक की।

'प्रताप' कार्यालय उस समय क्रान्तिकारियों का गढ़ बन गया था। वहाँ क्रान्तिकारियों की रूपरेखा तैयार होती आन्दोलनकारी वहाँ प्रश्रय लेते। यतीन्द्र नाथ दास, सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद जैसे स्वतंत्रता सेनानी उनसे परामर्श और सहयोग लेते थे। भगतसिंह उनकी ही प्रेरणा और सहयोग से जापान में रास बिहारी बोस से मिलने गये थे। पंजाब से कानपुर आकर बलवन्त सिंह के नाम से उन्होंने विद्यार्थी जी की सलाह पर ही क्रान्तिकारी गतिविधियों का संचालन किया था।

वे नहीं रहे। उनका असामयिक निधन हो गया। मौत किसे छोड़ती है परन्तु किसी-किसी की मौत भी उस व्यक्ति को अमर बना जाती है। मृत्यु से शत्रुता रखकर भयभीत होने वाले व्यक्तियों को वह पूरी तरह नष्ट कर देती है परन्तु जो उसे साथी-सहचर मानकर उसका स्वागत करते हैं उन्हें वह अमर बना देती है। विद्यार्थीजी ने हैसकर मृत्यु को गले लगाया और वे इतिहास में अमर हो गये। मृत्यु तो सुनिश्चित है जो पैदा होता है वह मरता अवश्य है। किन्तु जो इस जीवन को इस ढंग से जीते हैं कि मरने के बाद भी उनके कार्य उन्हें चिरस्मरणीय बना जाते हैं विद्यार्थी जी ऐसे ही व्यक्ति थे।

अत्याचार-पीड़ितों की सहायता में सर्वस्व समर्पण करने वाले योद्धा

उन दिनों देशी राष्ट्रियों की दशा बड़ी शोचनीय थी। वहाँ अयोग्य राजाओं का निरंकुश शासन चल रहा था। ये छोटे-बड़े भूखण्डों के एकमात्र कर्ता-धर्ता अपनी रियासत के निवासियों के साथ कैसा व्यवहार करते हैं, कोई इस पर ध्यान देने वाला न था। इन राजाओं ने ब्रिटिश गवर्नमेंट की आधीनता स्वीकार करली थी और हर तरह से उसकी खुशामद किया करते थे। इसके बदले में उसने इनको 'बाह्य आक्रमणों' से बचाने की गारंटी दे रखी थी। नतीजा यह हुआ कि वे निर्भय होकर प्रजा का शोषण करने और उस धन को दुर्व्यसनों तथा शौकों की पूर्ति में उड़ाने लगे। जब 'स्वामी' की यह दशा थी तो 'सेवक' लोग क्यों पीछे रहते। रियासती अधिकारी और छोटे-बड़े राज्य कर्मचारी दोनों हाथों से गरीब प्रजा को लूटते-मारते थे और किसी का साहस 'उफ' करने तक का न होता था।

ऐसे समय में श्री गणेशशंकर जी विद्यार्थी (सन् १८९०-१९३१) ने कानपुर से 'प्रताप' (साप्ताहिक) को प्रकाशित करना आरम्भ किया। उसका उद्देश्य था दीन-दुःखी, अत्याचार पीड़ितों की आवाज को बुलन्द करना और उनके कष्टों को मिटाने के लिये आन्दोलन करना। विद्यार्थी जी स्वयं गरीबी में पले थे, आरम्भ से ही उनको जीवन निर्वाह के साधनों के लिए संघर्ष करना पड़ा था, इसलिये स्वभावतः ही उनमें दीन जनों के प्रति हार्दिक सहानुभूति का भाव उत्पन्न हो गया था। उनका जन्म तथा पालन भी एक ऐसे देशी राज्य ग्वालियर में हुआ था, जहाँ उनके पिता मुन्शी जयनारायण जी एक स्कूल में अध्यापक की नौकरी करते थे। इसलिये विद्यार्थी जी रियासतों की कुव्वयस्था और नादिरशाही से अच्छी तरह परिचित थे और उन्होंने आरम्भ से ही 'प्रताप' में रियासती प्रजा पर होने वाले अन्यायों का विरोध करना आरम्भ कर दिया था।

यद्यपि ग्वालियर के शासक महाराज माधवराव सिंधिया अन्य अनेक देशी नरेशों की अपेक्षा सज्जन स्वभाव के और शासन-संचालन पर ध्यान देने वाले थे, तो भी समय-समय पर राज्य-कर्मचारियों द्वारा प्रजा का शोषण और उत्पीड़न तो होना ही था। 'प्रताप' में अन्य रियासतों की तरह ग्वालियर के विरुद्ध भी शिकायतों के दो-चार 'पत्र' छपे थे। बात महाराज तक पहुँची और यह भी मालूम हुआ कि विद्यार्थी जी इसी रियासत के निवासी हैं। महाराज ने बात बढ़ाने के बजाय पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर ही अपना मतलब सिद्ध कर लेना उचित समझा और विद्यार्थी जी को बात-चीत के लिये ग्वालियर आमन्त्रित किया। खादी के मामूली धोती-कुर्ता पहने विद्यार्थी जी राजमहल में पहुँचे तो महाराज स्वयं उठकर खड़े हुए और कहने लगे-

"तशरीफ रखिये। मैं इस राज्य में अपना स्थान आपके लिये खाली करने को तैयार हूँ। आप अपने उसूलों के मुताबिक राज्य कीजिये।" विद्यार्थी जी के बैठ जाने पर उन्होंने फिर कहा-"मुझे इस बात का अभिमान था कि हमारी रियासत के एक होनहार व्यक्ति ने बाहर जाकर खूब नाम कमाया पर आपके 'पेपर' (अखबार) ने हमारे ही ऊपर सितम कर डाला।"

विद्यार्थी जी पर न तो महाराज के व्यंग का कोई असर पड़ा और न वे उनकी खुशामद से पिघले। कहने लगे-"हम तो गरीबों के सेवक हैं। उनको कष्ट पाते देखते हैं तो उसे शासकों के सम्मुख प्रकट करके दूर कराने की चेष्टा करते हैं। अगर उन शिकायतों में कोई झूठी बात हो तो हम अखबार में अपनी गलती मान लेंगे।" चलते समय महाराज के मन्त्री एक अच्छी रकम भेंट करने लगे कि "यह आपका मार्ग व्यय है।" विद्यार्थी जी ने उत्तर दिया-"हम थर्ड क्लास में सफर करने वाले हैं और 'प्रताप' इतना खर्च कर सकने में असमर्थ नहीं है।" उनका स्वाभिमान और निष्पृहता देखकर सभी दंग रह गये। अपनी

'कृपा' की इस प्रकार उपेक्षा होते देख महाराज को रोष भी हुआ और उन्होंने 'प्रताप' को ग्वालियर राज्य में न मँगाने की राजाज्ञा दे दी।

अवध के किसान तालुकेदारों के अत्याचारों से कराह रहे थे। ये 'लुटेरे' तरह-तरह की 'लगानों' और 'करों' के नाम पर गरीबों की पसीने की कमाई का इस प्रकार अपहरण करते थे कि दिन-रात मेहनत करने पर भी उनको दो वक्त भरपेट रोटी नहीं मिल पाती थी। जब कानपुर के निकटवर्ती रायबरेली जिले के किसान बहुत पीड़ित हुये और उन्होंने तालुकेदार वीरपाल सिंह के विरुद्ध सिर उठाया तो उसने गोली चलवाकर कितनों को ही हताहत कर दिया। विद्यार्थी जी के पास खबर पहुँची तो उन्होंने एक प्रतिनिधि भेजकर जाँच कराई और वीरपालसिंह की शैतानी का पूरा कच्चा चिट्ठा 'प्रताप' में प्रकाशित कर दिया।

'तालुकेदार साहब' ऐसी बातों को कब सहन कर सकते थे। उन्होंने विद्यार्थी जी को नोटिस दे दिया कि "या तो माँफी माँगो, नहीं तो अदालत में मानहानि का दावा दायर कर दिया जायगा।" उत्तर दिया गया-"आप खुशी से अदालत की शरण लें। हम वहीं आपकी करतूतों का भण्डाफोड़ करेंगे। माँफी माँगने वाले कोई और होते हैं।" छह महीने तक मुकदमा चला, तीस हजार रुपया उसमें बर्बाद करना पड़ा, तीन मास की सजा भी भोगी, पर किसानों की दुःख गाथा और तालुकेदारों के अन्याय संसार के सम्मुख प्रकट हो गये और उसी समय से जो किसान-आन्दोलन शुरू हुआ तो उसने जमींदारी प्रथा को जड़मूल से उखाड़ कर ही दम लिया।

ऐसे थे श्री गणेशशंकर जी विद्यार्थी, जनता के सेवक और दीन-दुःखियों के बन्धु। मजदूरों पर कारखाने वालों की प्यादती देखी तो उनसे भिड़ गये, चम्पारन में नील के खेती करने वाले गोरों को किसानों पर जुल्म करते देखा तो उनके विरुद्ध आन्दोलन छेड़ा, फिजी आदि टापुओं में भारतीय कुलियों को पशुओं के समान कोड़े खाकर काम करते सुना तो उनकी हिमायत करने को खड़े हो गये। मतलब यह कि चाहे अपना निर्वाह कठिनाई से होता हो, इधर-उधर दौड़ते फिरना पड़े, आये दिन मुकदमों में फँसकर जेल के लोहे के सीखचों में बन्द होना पड़े, पर किसी जगह अन्याय होते देखकर विद्यार्थी जी चुप नहीं रह सकते थे। शक्ति और धन के मद में अंधे व्यक्ति निर्दोष लोगों को केवल उनकी निर्बलता के कारण सताते रहे, यह उनसे सहन नहीं होता था।

जब वे अपने देशवासियों के अन्यायों का इस प्रकार डटकर विरोध करते थे, तो विदेशियों के जुल्म और शोषण को देखकर किस तरह चुप रह सकते थे? 'प्रताप' ने अपने प्रथम अंक से ही अंग्रेजी अधिकारियों की पक्षपातपूर्ण नीति और देश को पराधीनता के बन्धनों में कसने की चालों के विरुद्ध लिखना और जनता को अपने स्वप्नों की रक्षा के लिये संगठित होकर खड़े होने की

प्रेरणा देना आरम्भ किया। नतीजा यह हुआ कि 'प्रताप' सरकार की आँखों में खटकने लगा और तरह-तरह से उसे दबाने की चेष्टा की जाने लगी। 'राज-द्रोही' लेखों के कारण उससे कई बार जमानतें माँगी गईं और जब्त की गई। रायबरेली वाले मुकदमे के अवसर पर तो उसके सम्पादक तथा प्रकाशक से ३० हजार की जमानतें और मुचलके माँगे। अनेक सरकारी कर्मचारियों से उन पर दावा कराये गये, पाँच बार जेल की सजा दी गई, कितने ही देशी राज्यों में 'प्रताप' का प्रवेश बन्द कर दिया गया। पर इनमें से किसी प्रहार से विद्यार्थी जी विचलित नहीं हुए और जिस 'सेवा-धर्म' को उन्होंने अपनाया था, जीवन के अंतिम क्षणों तक उसका पूर्ण निष्ठा के साथ पालन करते रहे।

उनका अन्त तो ऐसा शानदार हुआ कि उसके उनके जीवन भर के कार्यों को और भी चमका दिया। वे हरदोई जेल से छूटकर घर आये ही थे और काँग्रेस अधिवेशन में भाग लेने को कराँची जाने ही वाले थे कि २४ मार्च, १९३१ को कानपुर में दंगा आरम्भ हो गया। हिन्दू मुसलमान पागल होकर एक दूसरे की हत्या करने और घरों में आग लगाने लगे। मुसलमानों के मुहल्लों में रहने वाले हिन्दुओं और हिन्दू मुहल्लों में मुसलमानों की स्थिति अत्यन्त संकटापन्न हो उठी। प्रतिक्षण उनको अपने मारे और लूटे जाने की आशंका होने लगी।

यह दृश्य देखकर विद्यार्थीजी का हृदय तिलमिला उठा। आजन्म अन्यायों का विरोध करने वाला अपने ही नगरवासियों द्वारा ऐसा अन्याय होते कैसे देख सकता था? बस वे कमर कसकर और अपने लिये खतरे की परवाह न करके दंगे के क्षेत्र में पहुँचकर विपत्तिग्रस्त व्यक्तियों की रक्षा का उपाय करने लगे। हिन्दू मुहल्लों में फँसे हुए अल्पसंख्यक मुसलमानों को वहाँ से हटाकर सुरक्षित स्थानों में पहुँचाया। दूसरे दिन २५ मार्च को भी यही क्रम रहा। दोपहर के तीन बजे तक बिना खाये-पिये हिन्दू मुहल्लों से डेढ़ दो सौ मुसलमानों को हटाकर अन्यत्र भिजवाया।

उसी समय किसी ने आकर कहा कि मुसलमानी मुहल्लों में बहुत संख्या में हिन्दू फँसे हुए हैं और उन पर मुसलमानों का आक्रमण हो रहा है। विद्यार्थी जी तीन स्वयंसेवकों के साथ, जिनमें से एक मुसलमान था, मुसलमानी मुहल्ले में पहुँच गये। वहाँ से भी पाँच-सात व्यक्तियों को बाहर भिजवाया। पर जब वे एक ऐसे स्थान पर पहुँचे जहाँ मुसलमानों की भीड़ जमा थी, तो वह उन्हीं को मारने के लिये टूट पड़ी। स्वयंसेवकों ने बहुत कहा कि इन्होंने तो आज ही दो सौ मुसलमानों को बचाया है, पर वे धर्मान्ध इन बातों को कब सुनने और समझने लगे। कुछ लोग विद्यार्थी जी को बचाने के लिये उन्हें अन्य स्थान की तरफ खींचने लगे तो उन्होंने कहा—“भाई आप मुझे घसीटते क्यों हैं? मैं मृत्यु के भय से भागने वाला नहीं।

एक दिन मरना ही है, तो फिर ऐसी महत्वपूर्ण मृत्यु से डरना ही क्या? यदि मेरे रक्त से आपकी प्यास बुझ सकती है, तो मैं सहर्ष बलिदान होने को तैयार हूँ। आप अपनी इच्छा पूरी करें, मैं अपने कर्तव्यपालन के लिए प्रस्तुत हूँ।”

इतना कहकर उन्होंने अपना सिर झुका दिया और आततायी की कुल्हाड़ी उनकी गर्दन के पार हो गई। श्री गणेशशंकर का यह आदर्श बलिदान सदा-सर्वदा के लिए अमर हो गया।

इस तरह यद्यपि उस समय पाशविकता द्वारा मानवता का अन्त कर दिया गया, हिंसा ने अहिंसा को, स्वार्थ ने परमार्थ को पददलित कर दिया पर प्रकृति में ऐसी अस्वाभाविक प्रक्रिया अधिक समय तक नहीं टिक सकती। शीघ्र ही इस 'महा बलिदान' की प्रतिक्रिया हुई और राष्ट्रपिता गाँधी ने घोषणा की—‘हमें तो अब गणेशशंकर विद्यार्थी बनना चाहिए। वह मरा नहीं अमर हो गया। मैं भी उसी की तरह आततायियों के फरसों और भालों से मरने का आकांक्षी हूँ।’ नेहरूजी ने कहा गणेशजी जैसी शान से जिये वैसे ही मरे।” इससे अधिक कोई और क्या माँग सकता है। “क्या हम भी उनके उदाहरण से— अपने धर्म, अपने मिशन और अपने कर्तव्य के लिए सब कुछ अर्पण करने की प्रेरणा ग्रहण करेंगे?”

भारतीय संस्कृति के प्रतीक

एक बड़े विद्यालय में, जिसमें अधिकांश छात्र अपटूडेट फैशन वाले दिखाई पड़ते थे, एक नये विद्यार्थी ने प्रवेश लिया। प्रवेश के समय उसकी पोशाक— धोती, कुर्ता, टोपी, जाकेट और पैरों में असाधारण चप्पल।

विद्यालय के छात्रों के लिये यह सर्वथा नया दृश्य था। कुछ इस विचित्रता पर हँसे, कुछ ने व्यंग्य किया— तुम कैसे विद्यार्थी हो जो तुम्हें अपटूडेट रहना भी नहीं आता, कम से कम अपना पहनावा तो ऐसा बनाओ जिससे लोग इतना तो जान सकें तुम एक बड़े विद्यालय के विद्यार्थी हो।

छात्र हँसा, हँसकर उत्तर दिया— “अगर पोशाक पहनने से ही व्यक्तित्व ऊपर उठ जाता तो पैट और कोट पहनने वाला हर अँग्रेज महान पंडित होता, मुझे तो उनमें ऐसी कोई विशेषता दिखाई नहीं देती। रही शान घटने की बात तो अगर सात समुद्र पार से आने वाले और भारतवर्ष जैसे गर्म देश में ठण्डे मुल्क के अँग्रेज केवल इसलिए अपनी पोशाक नहीं बदल सकते कि वह उनकी संस्कृति का अंग है तो मैं ही अपनी संस्कृति को क्यों हेय होने दूँ? मुझे अपने मान, प्रशंसा और प्रतिष्ठा से ज्यादा धर्म प्यारा है, संस्कृति प्रिय है, जिसे जो कहना हो कहे मैं अपनी संस्कृति का परित्याग नहीं कर सकता? भारतीय पोशाक छोड़ देना मेरे लिये मरणतुल्य है।”

भाव संवेदना सूखने न पाये

एक बड़े क्रान्तिकारी को अपनी मातृभूमि के प्रति कर्तव्यपरायणता निभाने के अपराध में- अपनी मातृभूमि को विदेशियों के चंगुल से छुड़ाने के अपराध में फाँसी की सजा सुनाई गई।

पीछे बच रही दो आत्माएँ। एक तो उनकी विधवा पत्नी तथा दूसरी उनकी युवा कन्या। कन्या के विवाह का प्रश्न दुःखों की असीम विस्तृत भूमि को चिढ़ाता-सा चट्टान जैसा समक्ष खड़ा था, कई अवरोध थे। पैसे की कमी, संरक्षक का अभाव तथा विपन्नता। विधवा की यह दशा देखकर एक शिक्षित नवयुवक ने स्वयं आगे बढ़कर विवाह मंजूर कर लिया। युवक राजी भी हुआ तो पुलिस अधिकारी ने धमकी दी। “क्रान्तिकारी की कन्या से विवाह करोगे, तो परिणाम अच्छा न होगा।”

वह बेचारा डर गया। परेशानी की बात एक सम्पादक तक पहुँची। उनका संवेदनशील हृदय द्रवित हो उठा। वे सीधे उक्त गाँव गये और उस पुलिस अधिकारी से मिले। कहा “आपको एक असहाय तथा दुःखी परिवार को और अधिक दुःखी तथा चिन्ताकुल बनाने में आखिर क्या मिलेगा? सोचिये- यदि उस क्रान्तिकारी के स्थान पर आप होते-तो क्या आपको यह स्थिति उत्पन्न करना अच्छा लगता? यदि आप किसी के आँसू पोंछ नहीं सकते, तो फिर किसी को रूलाने का भी आपको क्या अधिकार है?”

पुलिस अधिकारी पानी-पानी हो गया। उसने अपने कृत्य पर क्षमा माँगी बाद में उसने स्वयं कन्या का विवाह उसी युवक से करवाया और सारा व्यय भार भी स्वयं ही उठाया।

यों संवेदना उड़ेलने वाले तथा विवाह में कन्या के पिता का उत्तरदायित्व उठाने वाले सम्पादक थे, श्री गणेश शंकर विद्यार्थी।

स्वाभिमानी को किसी बात की चिन्ता नहीं

गणेशशंकर विद्यार्थी अपनी शिक्षा सम्पात कर एक विद्यालय में अध्यापन कार्य करने लगे। उन दिनों अँग्रेजों का राज्य था। तब राष्ट्रीय समाचार पत्र के ग्राहक बनना और उसे पढ़ना तक अपराध समझा जाता था।

पं० सुन्दरलाल ने ‘कर्मयोगी’ साप्ताहिक पत्र प्रारम्भ किया था। उस समय इस राष्ट्रीय पत्र की देश में सर्वत्र धूम थी। गणेशजी को यह पत्र बहुत पसन्द था। अपने विद्यालय के रिक्त समयांश में वह ‘कर्मयोगी’ पढ़ रहे थे। प्रधानाध्यापक की दृष्टि कहीं उस समाचार-पत्र पर पड़ गई। उन्होंने गणेशजी को कार्यालय में बुलाकर डाँटा। भला स्वाभिमानी गणेशजी प्रधानाध्यापक की इस अनुचित बात को कैसे सहन कर सकते थे। उन्होंने तुरन्त विद्यालय

की सेवा से त्याग-पत्र दे दिया। उन्होंने इस बात की भी चिन्ता न की कि इस समय उनकी आर्थिक स्थिति बड़ी दयनीय है और पूरे परिवार का उत्तरदायित्व अकेले उन्हीं के कंधों पर है।

‘वन्देमातरम्’ मन्त्र के द्रष्टा-

बंकिमचन्द्र

श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय बंगाल के बहरामपुर जिले में डिप्टी मजिस्ट्रेट थे। सरकारी नौकरी होते हुए भी उनमें राष्ट्रीयता की भावना जितनी अधिक देखने में आती थी उसका उदाहरण अन्यत्र बहुत कम देखने को मिलता है।

बहरामपुर में अँग्रेजी फौज की एक छोटी-सी छावनी थी। उसके सामने एक बड़ा मैदान था जिसके बीच में होकर एक पगडण्डी कचहरी तक जाती थी। एक दिन बंकिम बाबू शाम के समय उसी रास्ते से घर लौट रहे थे कि एक अँग्रेज ने उनकी पालकी के कहारों को रोका। जब बंकिम बाबू ने उसे डाँटा तो वह उनको पकड़कर मैदान के बाहर निकाल आया। इस अपमान से वे इतने क्रोधित हुए कि वहाँ एकत्रित तमाम अँग्रेजों को चेतावनी देते हुए घर चले गये और दूसरे ही दिन उस अँग्रेज पर जिसका नाम कर्नल डाफिन था और जो उस छावनी का अफसर था, जज की अदालत में दावा कर दिया।

जब मुकदमे का सम्मन मिला तो कर्नल साहब के होश ठिकाने आये। पहले तो उसने अन्य अँग्रेज अधिकारियों का दबाव डलवाकर मामले को रफा-दफा करने की कोशिश की और फिर जज साहब से सिफारिश कराई, पर जब इसमें सफलता नहीं मिली, तो मुकदमे की पैरवी के लिए वकील ढूँढ़ने लगा। पर बहरामपुर का कोई वकील उसकी की तरफ से मुकदमा लड़ने को तैयार न हुआ और सबने यही उत्तर दिया कि- हमने बंकिम बाबू के वकालतनामे पर दस्तखत कर दिये हैं। अन्त में कर्नल को अपनी शान छोड़कर ‘काले आदमी’ से क्षमा माँगी पड़ी, तब कहीं जाकर मामला समाप्त हो सका।

जातीय गौरव की रक्षा का इस प्रकार ध्यान रखने वाले बंकिमचन्द्र (सन् १८३७ से १८९४) का जन्म कलकत्ता के पास ‘कांटा लपाड़ा’ ग्राम में हुआ था। उनके पिता श्री यादवचन्द्र भी डिप्टी कलक्टर थे और अपने समय के एक बड़े योग्य और तेजस्वी अधिकारी माने जाते थे। वे मिदनापुर जिले में काम करते थे, इसलिए बंकिम बाबू की प्रारम्भिक शिक्षा वहीं पर हुई। उस समय तक मैट्रिक, इण्टर, बी०ए० आदि परीक्षायें प्रचलित नहीं हुई थीं, केवल जूनियर, सीनियर के नाम से परीक्षा ली जाती थी। सन् १८५८ में जब बंकिम बाबू कालिज की

पढ़ाई समाप्त कर चुके तो उसी वर्ष कलकत्ता विश्व-विद्यालय का कार्यारम्भ हुआ और घोषणा की गई कि ५ अप्रैल को बी० ए० की परीक्षा ली जायेगी। उस समय केवल दो तीन महीने का समय शेष था, इसलिए केवल १३ विद्यार्थी परीक्षा में बैठने को तैयार हुए। इनमें से केवल दो पास हुए जिनमें बंकिम बाबू का स्थान प्रथम था।

इस प्रकार बंगाल के प्रथम बी० ए० होने के कारण इनकी चारों ओर बड़ी प्रशंसा होने लगी और बंगाल के गवर्नर हार्लिडे साहब ने स्वयं उनको बुलाकर बधाई दी तथा डिप्टी मजिस्ट्रेट के पद पर काम करने को कहा, जो उस समय भारतवासियों के लिये बड़ी चीज मानी जाती थी। बंकिम बाबू ने लार्डसाहब को धन्यवाद देकर कहा—“इस सम्बन्ध में मैं अपने पिता से पूछकर जैसा वे कहेंगे वैसा करूँगा।”

लार्डसाहब ने आश्चर्य के साथ कहा—“क्या डिप्टी मजिस्ट्रेट से बढ़कर आप किसी अन्य पद की आशा रखते हैं?”

बंकिम—“आपका कथन ठीक है, पर मैं पिताजी की आज्ञा लिये बिना कोई काम नहीं करता, इसीलिए तुरन्त स्वीकृति देने में असमर्थ हूँ।”

पिताजी इस समाचार से बड़े प्रसन्न हुए और बंकिम बीस वर्ष की आयु में ही डिप्टी मजिस्ट्रेट बन गये। पर इतने बड़े अधिकारी होकर भी उन्होंने भारतीय संस्कृति की मर्यादा का पालन करते हुए पिता की आज्ञा को इतना महत्व दिया, इससे लार्डसाहब भी बड़े प्रभावित हुए।

साहित्य सेवा का व्रत

वह समय भारतवर्ष में एक नवयुग के प्रभात का था। सन् १८५७ का गदर समाप्त हो चुका था और महारानी विक्टोरिया ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अधिकार समाप्त करके शासन सूत्र अपने हाथ में ले लिया था। वे इस देश को आधुनिक प्रगति के मार्ग पर चलाना चाहती थीं। इसलिये यहाँ शीघ्रतापूर्वक शिक्षा का प्रचार किया जाने लगा, प्रेस खोले जाने लगे, समाचार-पत्रों का प्रकाशन होने लगा। इस प्रकार चारों ओर एक नवीन सार्वजनिक जाग्रति का दृश्य दिखाई पड़ने लगा और कितने ही प्रबुद्ध व्यक्ति समाज-हितकारी प्रवृत्तियों में भाग लेने को अग्रसर होने लगे।

आवश्यकता तो यह थी कि बंकिम बाबू जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति अपनी समस्त शक्ति देश की प्रगति के कार्यों में ही लगाते पर उस समय न तो इतने साधन थे और न कोई स्पष्ट कार्यक्रम ही था। इसलिए उन्होंने सरकारी नौकरी से जो समय बचता था, उसमें जनता के लिए प्रेरणादायक साहित्य की रचना करने का निश्चय किया। उस समय बंगला भाषा की दशा कैसी थी, इसका वर्णन करते हुए महाकवि रबीन्द्रनाथ ने एक लेख में कहा था—

“तब बंग-भाषा को कोई श्रद्धा के साथ नहीं देखता था। संस्कृत के पण्डित उसे ‘ग्राम्य भाषा’ कहते थे और अँग्रेजी के विद्वान उसे ‘मुखों की भाषा’ बतलाते थे। बंगला में ग्रन्थ रचना करके यश प्राप्त करने की सम्भावना पर कोई स्वप्न में भी विश्वास नहीं करता था। असम्मानित बंगला भाषा उस समय अत्यन्तहीन और मलिन वेश में कालयापन करती थी।”

मातृभाषा की यह हीनावस्था बंकिम बाबू को बहुत खटकने लगी और उन्होंने यह भी समझ लिया कि जब तक हमारे साहित्य का विकास न होगा तब तक देश में नव-जीवन का संचार भी नहीं हो सकता। इसलिए उन्होंने साहित्य-सेवा का व्रत लिया और कुछ ही समय में ऐसी रचनायें प्रस्तुत करके जनता के सम्मुख रखीं, जिससे उसके दृष्टिकोण में बड़ा परिवर्तन हो गया। जो लोग उस समय तक शृंगार अथवा अश्लीलतापूर्ण हास्य की दस-पाँच पुस्तकों को ही ‘साहित्य’ समझा करते थे, वे बंकिम बाबू की ‘दुर्गेशनन्दिनी’, ‘कपाल कुण्डला’, ‘आनन्दमठ’, ‘देवी चौधरानी’, ‘सीताराम’, ‘कृष्ण चरित्र’ आदि अभिनव और एक से एक बढ़कर प्रेरणादायक रचनाओं को पढ़कर एक नई दिशा में सोचने-विचारने लगे।

बंकिम बाबू ने उपन्यासों की रचना पर ही विशेष ध्यान दिया। इसका कारण यह था कि उस आरम्भिक युग के पाठकों से यह आशा करना कि वे अधिक गम्भीर विषयों की पुस्तकों को रुचिपूर्वक पढ़ सकेंगे ठीक न था। नये और पढ़ने-लिखने में अनभ्यस्त पाठक कथा-साहित्य को ही पढ़ सकते हैं, इसलिए तत्कालीन विद्वान उनकी रुचि का मार्जन करने के लिए इसी माध्यम का सहारा लेते थे। यद्यपि अधिकांश व्यक्ति उपन्यासों को मनोरंजन के लिये ही पढ़ते हैं, पर बंकिम बाबू ने अपने सभी उपन्यासों में पाठकों के समक्ष एक विशेष आदर्श रखा जिससे समाज-सुधार या देशोत्थान का कोई उद्देश्य पूरा हो सके।

इतना ही नहीं उन्होंने अपने कई उपन्यासों द्वारा राष्ट्र-निर्माण और देश की स्वाधीनता का भी मार्गदर्शन किया। इस दृष्टि से उनका ‘आनन्दमठ’ भारतीय-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कर चुका है। इसमें एक ऐसे देशभक्त संन्यासी-दल की कथा है जिसने देश को विदेशियों की दासता से मुक्त कराने के लिये गुप्त रूप से सैनिक तैयारी की थी और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये हँसते-हँसते अपने प्राणों का बलिदान किया था। यद्यपि आरम्भ में लोगों ने इसके महत्व को पूरी तरह अनुभव नहीं किया पर जब सन् १९०५ में अँग्रेजी शासन से देश को स्वतन्त्र करने के लिए एक तीव्र आन्दोलन आरम्भ हुआ, तब बहुसंख्यक नवयुवकों ने इसी उपन्यास से प्रेरणा लेकर गुप्त-समितियाँ स्थापित कीं और सशस्त्र क्रान्ति का उद्योग करके देशोद्धार के यत्न में प्राणों की आहुति दे दी। अँग्रेज अधिकारी इस सम्भावना को पहले ही समझ गये थे, इसलिए उन्होंने उसी

समय बंकिम बाबू से जवाब तलब किया और उनकी नौकरी जाते-जाते बची थी।

इस 'आनन्दमठ' में ही प्रथम बार 'वन्दे-मातरम्' मंत्र का उल्लेख किया गया है। एक समय था जब 'वन्दे मातरम्' के जयघोष से भारत की शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार थर-थर काँपने लगी थी और इसका उच्चारण करने पर सैकड़ों देशभक्तों को जेल और बँतों की सजा सहन करनी पड़ी थी। आज भी हमारे देश के बालक से लेकर वृद्ध तक 'वन्देमातरम्' को सुनकर भारत भूमि के प्रति जिस अनिर्वचनीय भाव का अनुभव करते हैं, उससे इसकी महत्ता स्पष्ट हो जाती है और हम श्रद्धा पूर्वक इस मन्त्र के 'ऋषि' बंकिम बाबू को प्रणाम करते हैं।

उनके उपन्यासों में पुरुषों को ही देशभक्ति और वीरता की प्रेरणा नहीं दी गई है वरन् ऐसी स्त्रियों का भी चरित्र-चित्रण किया गया है जिन्होंने देश के शत्रुओं का मुकाबला करके तलवार चलाई। यद्यपि बंगाली स्त्रियों को देखते हुये यह एक असम्भव कल्पना थी, तो भी इस प्रेरणा से देश में ऐसी कई युवतियाँ आगे आईं, जिन्होंने क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित होकर महत्वपूर्ण कार्य किया और आवश्यकता होने पर पिस्तौल लेकर देश के शत्रुओं को मारने के लिये आगे बढ़ीं।

इस प्रकार बंकिम बाबू ने साहित्य-सृजन द्वारा देश में एक ज्योति जगाई, जिसके प्रकाश से आज भी हमारे हृदय आलोकित हो रहे हैं। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि साहित्य की शक्ति अल्प नहीं है, वरन् यदि उसका विचार-पूर्वक उपयोग किया जाय तो वह राष्ट्र, समाज और व्यक्ति के उत्थान का एक महान साधन बन सकता है।

गोवा के प्रखर देशभक्त-

डा० माशकार हंस

जब-जब स्वाधीनता का पावन पर्व आता है मन में एक कसक-सी उठती है। हम पचास करोड़ भारतवासी एक होकर आजादी की खुशियाँ मना रहे हैं और हम में से एक, हमारा ही सहोदर पुर्तगाली कारावास में पड़ा गत पन्द्रह वर्षों से यातना सह रहा है-चौबीस साल की लम्बी यातना, सत्तर वर्ष की इस वृद्धावस्था में और एक हम हैं, जिन्हें उनका कभी स्मरण तक नहीं होता। क्या अपराध किया था उन्होंने? आजादी के लिए आवाज उठायी थी न? पर गोवा आजाद हुए भी आज कितने वर्ष बीत गए। वे व्यवहार कुशल नहीं 'पागल' थे। पागल न होते तो क्या आज इस स्थिति तक पहुँचते। क्या कमी थी उनमें।

पुर्तगाल गये थे-बैरिस्टर बनने, मजिस्ट्रेट बनने। लेकिन अन्त में क्या बने? डा० माशकार जिस दिन पुर्तगाल के कोईबा विश्वविद्यालय में दाखिल हुए, वह उनके जीवन का एक ऐतिहासिक दिन था। प्राध्यापकों के रूप में जिन अर्थवेत्ता का उनसे परिचय हुआ, वे थे डा० सालाजार।

इन्हीं डॉ० सालाजार के सर्वप्रिय होनहार, कुशाग्र बुद्धि विद्यार्थी डॉ० माशकार के नाम से सम्बोधित हुए। माशकार योग्य थे। वे प्रखर प्रतिभा सम्पन्न थे- अपने सहपाठी और पुर्तगाल के वर्तमान प्रधानमंत्री मारसेल कायतान से ही नहीं, बल्कि सब से अधिक।

मारसेल कायतान ने अपने गुरु डा० सालाजार का साथ न छोड़ा और आज बने हैं सालाजार के उत्तराधिकारी पुर्तगाल के प्रधानमंत्री। यदि डा० माशकार भी सालाजार की नीतियों के समर्थक बने रहते तो आज क्या बने होते?

किन्तु वे कुछ न बने होते क्योंकि वे 'पागल' थे न। ज्यों ही सालाजार ने पुर्तगाल की बागडोर सँभाली। डा० माशकार ने एक दूसरा ही सपना देखना शुरू कर दिया। वे गोवावासियों में, विशेषतः ईसाई जगत में एक सांस्कृतिक पुनर्जागरण की कल्पना साकार करने लगे। उन्हें यह देखकर मर्मन्तक पीड़ा हुई कि गोवावासी अपने को भारतीय कम और पुर्तगाली अधिक मानते हैं। अपनी मातृभूमि के लिए इनमें स्वाभिमान क्यों नहीं।

उन्होंने लिखना शुरू किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दो उपन्यासों 'नौका डूबी' और 'घरे-बाहिरे' का पुर्तगाली रूपान्तर किया? गाँधीजी की आत्मकथा का भी। रामायण पर भी उन्होंने पुर्तगाली में एक स्वतन्त्र पुस्तक लिख डाली।

परिवर्तन एवं प्रभाव की इसी विकट स्थिति से वे वर्षों तक संघर्ष करते रहे। उनके हृदय में एक अद्भुत आस्था थी और वे व्यग्र होकर अनुकूल समय की बाट जोह रहे थे।

तभी उन्होंने सुना कि डा० लोहिया नामक एक क्रान्तिकारी गोवा-मुक्ति के लिए आन्दोलन कर रहे हैं। बस, इतना ही था कि उन्होंने पुर्तगाल से गोवा की राह पकड़ी। इस पर मित्र कहने लगे- "यह क्या कर रहे हो? यहाँ क्या कमी है तुम्हें? इतने बड़े लेखक हो, पत्रकार हो, यहाँ बैठे-बैठे कुछ क्यों नहीं करते?" पत्नी रो पड़ी- "मेरे लिए क्या सोचा? आप तो आराम से जेल में जाकर बैठ जायेंगे, परन्तु मैं अकेली कहाँ रहूँगी? क्या खाऊँगी?" एक सहृदय ने समझाया- "तुम वस्तुस्थिति समझते क्यों नहीं? गाँधीजी का सत्याग्रह सफल रहा इसलिए कि अंग्रेज विवेकशील थे। पुर्तगाल के खिलाफ तुम्हारी गाँधी-नीति तुम्हारा अस्तित्व ही मिटाकर रख दे, तो कोई आश्चर्य नहीं। ... पर माशकार के सामने अस्तित्व का क्या कभी प्रश्न रहा?

गोवा आकर देखते हैं- वीरान पड़ा है गोवा। कुछ देशभक्त कारावास में यातना सह रहे हैं, कुछ बम्बई और पूना की ओर संगठन कार्य में संलग्न हैं। न किसी को बोलने की अनुमति, न लिखने की। सर्वत्र पुलिस का एकछत्र साम्राज्य है।

डा. माशकार ने पुर्तगाली साम्राज्यवाद के विरुद्ध लेख लिखे। किन्तु पुर्तगाली भाषा के इस नर-केसरी लेखक के प्रखर लेखों को प्रकाशित करने का साहस किस में था? जब कुछ न बन सका तो उन्होंने सिर पर चढ़ा ली बगावत की निशानी- सफेद गाँधी टोपी। तब भी सरकार ने उन्हें बन्दी न बनाया।

यों तो गोआ सरकार उन्हें आसानी से गिरफ्तार कर सकती थी, किन्तु सरकारी अधिकारियों ने सुना था कि वे किसी समय पुर्तगाल के प्रधानमंत्री डॉ० सालाजार के प्रिय विद्यार्थी रह चुके हैं। इसलिए उन्होंने एक नई नीति अपनाई। माशकार को गिरफ्तार करने की अपेक्षा जिनके यहाँ वे जाते या जिनसे वे मिलते-जुलते पुलिस उन्हें परेशान करने लगी। मित्र और रिश्तेदार कहने लगे- "भाई, गुनाह तो तुम करते हो और सजा हमें मिल रही है।" माशकार असमंजस में पड़ गये। आखिर जिस प्रकार जरासंध के डर से नहीं, किन्तु जरासंध के आक्रमण से मथुरा के लोगों को बचाने के लिए श्रीकृष्ण ने 'रण' छोड़ दिया था, उसी प्रकार उसी वृत्ति से माशकार गोवा छोड़कर बम्बई चले आये। सालाजार को जब इस बात का पता लगा कि अब वे बम्बई रहकर राष्ट्रवादी गोवा वासियों का नेतृत्व करने वाले हैं, तब वे तुच्छता से बोल उठे कि 'वह तो पागल है।' बम्बई में उन्हें गोवावासियों की चार-छह पार्टियाँ दिखायी दीं। कोई काँग्रेसी, कोई समाजवादी, कोई कोंकणीवादी तो कोई महाराष्ट्रवादी। गोवा की आजादी का कोई चिह्न कहीं नहीं। क्या किया जाय? एक दिन बम्बई में वे राष्ट्रवादियों की एक परिषद् में गये और कहने लगे-

"तुम सब लोग पागल हो। पहले नेहरू से जाकर कहो कि फौज दें और गोवा आजाद करायें। अन्य किसी मार्ग से गोआ स्वतन्त्र नहीं हो सकता और जब तक गोवा आजाद नहीं होता। तुम्हारी देशभक्ति की सब चर्चायें व्यर्थ हैं।"

लोगों ने उनकी बात को पागलपन की बहक समझकर हँसी में उड़ा दिया पर कुछ दिन बाद सचमुच वे जवाहरलालजी से मिले। जब जवाहरलालजी ने उन्हें यह समझाने की कोशिश की कि किस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय दबाव से पुर्तगालियों को विवश हो गोआ छोड़ना पड़ेगा। तब डा० माशकार बोल उठे-

"क्या आप मुझसे ज्यादा पुर्तगाल को जानते हैं? मैं बरसों वहाँ रह चुका हूँ और सालाजार को भी अच्छी तरह से जानता हूँ, क्योंकि वे मेरे गुरु रह चुके हैं। मैं उनका विद्यार्थी रहा हूँ। आपको गोआ की आजादी के लिए किसी न किसी दिन फौज भेजनी ही पड़ेगी। दूसरा कोई रास्ता नहीं है।" जवाहरलाल जी ने बाद में किसी से कहा था-"कैसा पागल आदमी है यह।"

जब किसी प्रतिभाशाली लेखक के सामने कोई समस्या खड़ी होती है तो उसकी कलम चलने लगती है और समस्या की परिसमाप्ति लेख में ही हो जाती है। माशकार साहब ने बम्बई से पुर्तगाली भाषा में 'रेस्युगे गोवा' नामक एक साप्ताहिक शुरू किया और उसमें वे अपना हृदय उँडेलने लगे। किन्तु पुर्तगाली साप्ताहिक पढ़ने वाला बम्बई में तो कोई था नहीं। उनका पाठक वर्ग या तो गोवा में था या पुर्तगाल में। यह साप्ताहिक उनके पास पहुँचे कैसे? डाक से भेजने पर डाकखाने में ही गोवा की पुलिस सारी प्रतियाँ जब्त करने लगी, किन्तु अखबार घर पहुँचने का कोई प्रभावशाली तन्त्र किसी के पास न था। इसलिए साल-डेढ़ साल तक पत्र चला कर माशकार को आखिर बन्द करना पड़ा।

उन्ही दिनों भारत सरकार की 'आकाशवाणी' ने दिल्ली से पुर्तगाली भाषा में कार्यक्रम प्रसारित करने की एक योजना बनाली और सरकार ने डा० माशकार से सहायता माँगी। माशकार को अब एक प्रभावशाली साधन मिल गया। वे 'आकाशवाणी' के पुर्तगाली-विभाग में सम्मिलित हो गये और बड़ी तत्परता से नित्य प्रसारण-कार्य करने लगे। सुना है, उनके प्रसारण गुप्त रूप से सही, किन्तु बड़े चाव से सुने जाते थे किसी ने एक दिन जाकर 'आकाशवाणी' के अधिकारियों से शिकायत की कि वे जो प्रसारण करते हैं, उसमें भारत-सरकार की आलोचना भी करते हैं। 'आकाशवाणी' के अधिकारियों के पास माशकार को छोड़कर पुर्तगाली भाषा जानने वाला कोई दूसरा सुयोग्य व्यक्ति नहीं था। जो थे वे माशकार के मातहत काम करते थे। दुर्भाग्यवश उन्हीं में से एक को माशकार पर निगरानी रखने का कार्य सौंपा गया। बस 'आकाशवाणी' का पुर्तगाली विभाग उसके बाद चुगलियों का भयंकर अखाड़ा बन गया। अन्त में माशकार ने ऊबकर त्यागपत्र दे दिया। ये सोचकर कि 'अब जो होने वाला हो, होने दें' वे गोवा लौटे और गोवा सरकार ने तनिक भी विलम्ब नहीं किया। उन्हें पकड़ कर सीधे हवाई जहाज से पुर्तगाल की राजधानी लिस्बन पहुँचा दिया।

बरसों पहले वे पुर्तगाल गये थे न्यायालय में मजिस्ट्रेट बनकर न्यायदान को पवित्र करने के विचार से। अब की बार वे पहुँचे, पुर्तगाल की अदालत में एक अपराधी के नाते उपस्थित होने। किसी समय के उनके प्राध्यापक डा० सालाजार ने उन्हें भारी दण्ड का आदेश दिया और न्यायालय ने डा० माशकार को २४ साल के कठोर कारावास की सजा सुना दी। गोवा अब आजाद हो चुका था, फिर भी यह कट्टर एवं प्रखर देशभक्त पुर्तगाल की जेल में बंद था।

डा० माशकार को इतनी लम्बी अवधि तक पुर्तगाल की जेल में बन्दी बनाये रखने के पश्चात् उन्हें यह आशा ही नहीं थी कि वे कभी रिहा हो सकेंगे। पर संयुक्त राष्ट्रसंघ ने इनका मामला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सौंप दिया था फलतः न्यायालय के निर्णय स्वरूप श्री माशकारकी शीघ्र रिहाई संभव हो सकी।

देशसेवा में सर्वस्व अर्पण करने वाले—

चिदम्बरम पिल्ले

भारतीय स्वाधीनता संग्राम का श्री गणेश १८५७ में ही हो गया था, जब लाखों की संख्या में सैनिकों और जनता के व्यक्तियों ने विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने के लिये एक सम्मिलित प्रयास किया था। यद्यपि परिस्थितियों के अनुकूल न होने से वह असफल हो गया, तो भी उसमें भाग लेने वाले बलिदानी वीरों के प्रभाव से देशभक्तों की एक शृंखला का निर्माण हो गया जो किसी न किसी रूप में प्रयत्न करते हुए उस स्वातन्त्र्य-ज्योति को प्रज्वलित रखे रही।

५० वर्ष बाद फिर देश में नव-जागरण की बेला आई। बंग-भंग के फलस्वरूप समस्त देश में उत्साह और आन्दोलन का ज्वालामुखी फूट पड़ा उसकी चिंगारियाँ बड़े नगरों से लेकर छोटे से कस्बों तक को आलोकित करने लगीं। बड़े-बड़े विद्वानों, श्रीमानों, पदवीधारियों ने सुख-साधनों को त्यागकर सब तरह के कष्टों और आपत्तियों को अंगीकार किया और मातृभूमि को विदेशियों की दासता से मुक्त कराने के लिए संघर्ष आरम्भ कर दिया। अंग्रेज शासकों ने दमन का दौरेदौरा चलाया, हजारों लोगों को जेल, जुर्माना, जब्ती, देश निकाला, फाँसी आदि की सजाये दी गयीं।

इस अवसर पर दक्षिणी भारत में श्री चिदम्बरम पिल्ले ने इस आन्दोलन की बागडोर संभाली और कुछ ही महीनों में समस्त प्रदेश में एक आग भड़का दी। वे अपने प्रदेश के बहुत प्रसिद्ध वकील थे। हजारों रुपया प्रतिमास की आमदनी थी और घर पर सुख तथा वैभव की सब सुविधायें मौजूद थीं पर कर्तव्य का आह्वान होने पर उन्होंने इस सबको एक ओर रख दिया और बिना किसी प्रकार के खतरे की परवाह किये मैदान में कूद पड़े।

सन् १९०७ की सूरत काँग्रेस में राजनैतिक नेताओं में मतभेद हो गया। चिदम्बरम गर्म विचारों के व्यक्ति थे, इसलिए उन्होंने जोरशोर से लोकमान्य तिलक के गर्मदल का समर्थन किया और मद्रास लौटकर तेजी से आन्दोलन करने लगे। उन्होंने लाखों श्रोताओं को प्रेरणा देकर स्वदेशी आन्दोलन को खूब बढ़ाया और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार कराया। वे कहते थे कि अगर हम एक होकर अपना उद्धार करने को खड़े हो जायें तो ५० हजार अंग्रेजों को एक दिन में भारत से भगा सकते हैं।

सन् १९०० में वकालत की परीक्षा पास करने वाले इस युवक ने तृत्तककुडि (तृतीकोरन) में वकालत आरम्भ कर दी। थोड़े ही दिनों में यह युवा वकील 'गरीब वकील' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इसका कारण यह था कि वह गरीबों के मुकद्दमे बिना फीस लिए लड़ा करता था। यहाँ तक कि कभी-कभी तो वह अपने गरीब

मुकद्दमों की आर्थिक सहायता भी कर दिया करता था। यह युवक और कोई नहीं स्वतन्त्रता व स्वदेशी आन्दोलन के प्रख्यात सेनानी व० उ० चिदम्बरम पिल्ले थे जिन्हें तमिलनाडु के 'तिलक' नाम से भी जाना जाता है।

अपनी युवावस्था में ही उन्होंने अंग्रेजी अर्थतन्त्र की धजियाँ उड़ाने के जोरदार कार्य करने आरम्भ कर दिये थे जिससे अंग्रेज बौखला उठे थे। स्वदेशी अभियान के अन्तर्गत उन्होंने जो 'स्वदेशी स्टीम नेवीगेशन कम्पनी' आरम्भ की थी उसने अंग्रेजी जल यातायात को बड़ा धक्का पहुँचाया था। वे लोग उन्हें किसी तरह पकड़कर जेल में दूँसना चाहते थे। उन्हें इसके लिए उपयुक्त अवसर भी मिल गया।

१२ मार्च, १९०८ के दिन तिकनेलवेली जिलाधीश के न्यायालय में उन पर जनता को विद्रोह के लिए भड़काने के आरोप में मुकदमा चलाया गया। जब न्यायाधीश ने उनसे और उनके मित्र सुब्रह्मण्यम शिवा से 'वन्देमातरम्' का नारा लगाना छोड़ देने का वचन लेना चाहा तो वे दोनों न्यायालय में ही जोर-जोर से 'वन्देमातरम्' का जयघोष करने लगे इस पर वह बौखला उठा और अदालत की मानहानि व जनता को विद्रोह के लिए प्रेरित करने के कथित अपराध में वे जेल में दूँस दिये गये। अब तक तो वे खुले थे पर अब उन्हें जेल में रखते हुए मुकदमे की सुनवायी की जा रही थी।

जब तमिलनाडु के इन नरकेहरियों की इस अनुचित गिरफ्तारी का समाचार प्रदेश में फैला तो स्थान-स्थान पर इसकी तीव्र विरोधी प्रतिक्रिया हुई। विरोध, प्रदर्शन, हड़ताल, बाजार बन्द आदि अपने जीवन पर उभर पड़े।

उसका दमन करने के लिए सरकारी अमले ने भी गोलियों और लाठियों का सहारा लिया। यहाँ तक कि स्वयं जिलाधीश विचू ने अपनी पिस्तौल से तीन युवकों को मौत के घाट उतार दिया। जनता का विरोध और पुलिस का दमन दोनों ही एक दूसरे से बढ़-चढ़ कर थे। सरकार ने सभी गरम दल के लोगों को जेलों में दूँस दिया।

चार महीने तक उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलता रहा। एडीशनल सेशन जज पिन्हे ने ७ जुलाई, १९०८ को पिल्ले को बीस वर्ष के काले पानी के कारावास का दण्ड सुनाया। उसकी हाईकोर्ट में अपील हुई। हाईकोर्ट ने यह सजा दस वर्ष की कर दी। फिर उनके मित्रों ने प्रिवी-कौंसिल में अपील की जहाँ यह सजा छह वर्ष के सश्रम कारावास में बदल दी गयी।

अंग्रेज सरकार श्री पिल्ले के पीछे इस प्रकार हाथ धोकर क्यों पड़ी इसके कारण को समझने के लिए उनके सशक्त स्वदेशी आन्दोलन को समझने की आवश्यकता होती है। पिल्ले की गिरफ्तारी व सजा के मूल में उनके उत्तेजक भाषण नहीं वरन् उनका यह स्वदेशी अभियान ही था, जिसके अन्तर्गत उन्होंने अंग्रेजी व्यापार-तन्त्र की प्रतिद्वन्द्विता में स्वदेशी व्यापार तन्त्र खड़ा करके उसे छिन्न भिन्न कर देने का समर्थ और सफल प्रयास किया था।

तमिलनाडु की वीर प्रसूत क्षेत्र पण्डियनाडु के तिकनेलवेली जिले के ओट्टुपिटारम ग्राम के उगलनाथ पिल्ले नामक कृषक के घर ५ सितम्बर, १८७२ के दिन माता परमायी की कोख से उत्पन्न होने वाला यह नर-रत्न जितना स्वदेश से प्रेम करता था उतना ही विदेशियों से घृणा। क्योंकि उन्हें समय और समझ के साथ यह ज्ञात हो चुका था “पराधीन सपनेहु सुख नहीं” जब पूरा ही देश विदेशियों के आधीन हो तो फिर प्रगति कैसे हो।

राजनीति में विशेष रुचि होने के कारण पहले तो वे वकील बने और देशवासियों के दुःख-दर्द में सहायक होते-होते स्वदेशी आन्दोलन के अभियान तक पहुँचे। उनकी वाणी में आग बरसती थी कि नेताओं के हृदय में उनके भाषण सुनकर पराधीनता की बेड़ियाँ तोड़ फेंकने का प्यार उफन आता था। उसके लिये उन्होंने गाँव-गाँव में ‘स्वदेशी प्रचार सभा’ की शाखाएँ खुलवाईं। बुनकरों व कारीगरों के हित के लिए उन्होंने नेशनल गोडाउन व ‘मद्रास एग्री इण्डस्ट्रीयल सोसायटी लि०’ जैसी संस्थाओं की स्थापना करायी जिससे कि हमारा स्वदेशी व्यापार बढ़े।

स्वदेशी व्यापार की वृद्धि-समृद्धि के सूत्र के साथ ही अँग्रेजों के व्यापार के उखड़ने और साथ ही साथ उनके शासन के उखड़ने की पूरी सम्भावनाएँ जुड़ी हुई थी। युवकों में राष्ट्रीय भावनाएँ उपजाने के लिए उन्होंने तमिलनाडु भर में ‘देशाभियान संगम’ नामक संस्थाएँ स्थापित कीं।

जिस प्रकार लोकमान्य तिलक ने भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए ‘पैसा फण्ड’ आरम्भ किया था जो एक तरह का सार्वजनिक बैंक था। उन्होंने स्वदेशी सहकारी भण्डार की स्थापना भी बम्बई में सन् १९०६ में की थी। वैसा ही एक कार्य व० उ० चिदम्बरम पिल्ले ने भी हाथ में लिया जो इतिहास में अपने ढंग का अनूठा समानान्तर आर्थिक तन्त्र था। १९०६ में उन्होंने अथक श्रम करके ‘स्वदेशी स्टीम नेवीगेशन कम्पनी’ आरम्भ की। पचास-पचास रुपयों के ४० हजार शेयर रखकर उन्होंने भारतीयों की एक समर्थ व्यापारिक यातायात संस्था गठित की।

बम्बई की एक जहाज कम्पनी का एक जहाज किराये पर लेकर पहले पहल तूतीकोरन व लंका के बीच व्यापारिक सेवा आरम्भ की। अँग्रेजी जहाज कम्पनियों भारतीय व्यापारियों के माल को लाने ले जाने में चाहकर देरी करती थीं व उनके व्यापार को हतोत्साहित करती थीं। इस कम्पनी की स्थापना होने पर भारतीय व्यापारियों की समस्या हल हो गयी। उनका काम ऐसा चला कि पहले दो महीनों में ही कम्पनी को बीस हजार का लाभ हुआ।

‘ब्रिटिश स्टीम नेवीगेशन’ इसकी प्रारम्भिक प्रति-स्पर्धा से ही विचलित हो उठा। उन्होंने बम्बई की उस जहाज कम्पनी पर दबाव डालकर किराये के जहाज को रुकवा

दिया। किन्तु पिल्ले हार मानने वाले नहीं थे। वे यह प्रण करके निकले कि बम्बई से दो जहाज खरीद कर ही लौटूंगा। ब्रिटिश स्टीम नेवीगेशन के लाख सिर पटकने पर भी पिल्ले दो जहाज खरीदने में सफल हुए। उसके लिए उन्हें बहुत से शेयर बेचने पड़े।

‘स्वदेशी स्टीम नेवीगेशन कम्पनी’ की कुछ ऐसी धूम मची कि अँग्रेजी जहाज कम्पनी ने उसे उखाड़ने के लिए एड़ी छोटी का जोर लगा दिया। किराया कम करते करते और सुविधाएँ बढ़ाते-बढ़ाते वे यहाँ तक नीचे उतर आये कि उन्होंने बिना भाड़े के माल और बिना किराया लिए यात्रियों को लाना ले जाना प्रारम्भ कर दिया। फिर भी स्वदेशी स्टीम नेवीगेशन कम्पनी की जड़ें गहराती ही गयीं। क्योंकि इसके पीछे स्वदेश प्रेम की भावना जुड़ी हुई थी।

राजनीति के क्षेत्र में प्रबल जन आन्दोलन, युवकों में राष्ट्रीय चेतना जगाने के संघबद्ध प्रयास, किसानों और मजदूरों की मूर्छा तोड़ने के जोरदार प्रयास, बुद्धिजीवियों और धनिकों को अपने कार्य-कलापों द्वारा आन्दोलन के तले लाने का प्रयास और दूसरी तरफ आर्थिक क्षेत्र में ब्रिटिश व्यापार तन्त्र की जड़ों में तेल डालने जैसा स्वदेशी अभियान। इसकी धुरी थे चिदम्बरम पिल्ले।

महाराष्ट्र में तिलक और तमिलनाडु में पिल्ले तो बंगाल में पाल और पंजाब में लाला लाजपत राय जैसे महारथियों द्वारा लड़े जाने वाले इस महाभारत में अँग्रेजों को अपनी सत्ता ही डाँवा-डोल होती दिखाई पड़ने लगी तो उन्होंने धड़ाधड़ गिरफ्तारियाँ करना आरम्भ कर दिया। जब पिल्ले पर लगाये गये राजद्रोह के फैसले की अपीलें चल रही थीं तभी लोकमान्य को छह वर्ष की सजा हुई। श्री पिल्ले को भी छह वर्ष का सश्रम कठोर कारावास दिया गया। इस प्रकार गरम दल द्वारा उठाये गये तूफान को अँग्रेजों ने येन केन प्रकारेण न्याय और नीति को तिलांजलि देकर कुचलने का प्रयास किया।

छह वर्ष का कठोर कारावास भोगकर उनका शरीर भले ही क्षीणकाय हो गया था किन्तु अंगारे में दबी अग्नि की तरह उनकी स्वतन्त्रता प्रेम की ज्योति रंभमात्र भी मन्द नहीं पड़ी थी। उन्हें कोयम्बटूर व कण्णनूर के कारागृहों में रखा गया। यहाँ उन्हें कोल्हू खींचना पड़ा था, पत्थर तोड़ने पड़ते थे व बोझा ढोना पड़ता था। ऊपर से खाना रूखा-सूखा व आधा पेट ही दिया जाता था। इसके उनका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था। १९१२ में वे जेल से छूटे।

जेल से छूटकर जब वे पुनः कर्म क्षेत्र में आये तो वहाँ सब कुछ उलट चुका था। उनके घर की, परिवार की स्थिति दयनीय हो चली थी। उनके द्वारा स्थापित स्वदेशी स्टीम नेवीगेशन को पहले तो बन्द कर दिया गया और बाद में उसे बेच भी दिया था। उनकी वकालत की सनद भी सरकार ने जब्त कर ली थी। देशभक्तों को तो यह सब यन्त्रणाएँ व दुःखद परिस्थितियाँ भोगनी ही पड़ती हैं। यह सोचकर श्री पिल्ले खिन्न नहीं हुए उन्होंने नये सिर से आन्दोलन आरम्भ करने की ठान ली।

वकालत न सही दुकानकारी ही सही। घर खर्च चलाने के लिए उन्होंने पंसारी की दुकान खोल ली और स्वदेशी आन्दोलन को पुनः गतिमान बनाने का प्रयास किया। उन्होंने इन दिनों कई मजदूर संगठन बनाये।

१९१४ में लोकमान्य तिलक भी अपना जर्जर शरीर और युवा मन लेकर माण्डला जेल से रिहा होकर आये तो श्री पिल्लै उनसे मिलने गये और गरम दल का वर्चस्व पुनः बढ़ाने के लिए विचार-विमर्श किया। १ अगस्त, १९२० को तिलक का देहावसान हो जाने से पिल्लै को बड़ा धक्का पहुँचा। क्योंकि वे कलकत्ता कांग्रेस में पुनः अपनी नीतियों को मनवाने के विषय में योजना बना चुके थे। किन्तु अकेले पड़ जाने के कारण अपनी नीतियों को जोरदार ढंग से रखने के बाद भी वे अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सके। मद्रास लौटकर वे पुनः उसी ज्योति को प्रखर बनाने में जुट पड़े जो लोकमान्य तिलक ने जलायी थी। अब उन्हें वकालत की सनद भी वापस मिल गयी थी। अतः वे पुनः गरीबों को न्याय दिलाने के लिए निःशुल्क पैरवी करते हुए अपने राष्ट्रीय अभियान को चलाते रहे।

पिल्लै राजनीतिज्ञ व अर्थविज्ञानी ही नहीं तमिल के उद्भट विद्वान भी थे। अपने इतने व्यस्त जीवन में भी समय निकाल कर उन्होंने अपनी पद्यात्मक आत्मकथा व कई नीति-ग्रन्थ लिखे जिनका तमिल साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। जेल में उन्होंने अपने साधियों को तमिल भाषा व साहित्य पढ़ाया भी था। राजगोपालाचारी व सेलम विजय राघवाचारी उन्हीं में से दो हैं।

१८ नवम्बर, १९३६ को उनका देहावसान हो गया। उनके सम्मान व स्मृति में १९४९ में तत्कालीन गवर्नर जनरल राजा जी ने तृतीकोरन व श्रीलंका के बीच चलने वाले एक जहाज का नाम 'चिदम्बरम' रखा व उन्हीं के नाम पर वहाँ एक हार्बर भी बनाया। तमिल अभिनेता शिवाजी गणेशन ने उनके जीवन पर फिल्म भी बनायी। उसका नाट्य रूपान्तर सारे तमिलनाडु में खेला गया। भारतीय डाकतार विभाग ने ५ सितम्बर, १९७२ को उनकी स्मृति में विशेष डाक टिकट भी जारी किया। उनके इस जीवन से हम यदि वैसे ही महान स्वप्न सँजोने व उन्हें साकार करने के लिए तिल-तिल जलने की प्रेरणा न ले सके तो यह हमारा दुर्भाग्य ही होगा।

जो अनाथ बालक से राष्ट्र निर्माता बना—

चन्द्रगुप्त मौर्य

ईसा से साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्व की बात है। मगध की राजधानी पाटलिपुत्र का अहीर जब अपने बाड़े में गाय भैंसों को चारापानी देने के लिए घुसा तो एक शिशु का

रुदन स्वर सुनाई दिया। वह उसी आवाज की ओर दौड़ा गया। देखा— एक नवजात शिशु पड़ा हुआ बिलख रहा था। शायद अपने उस दुर्भाग्य पर— जिसके कारण उसे जन्म के तुरन्त बाद ही अपनी माँ से बिछड़ना पड़ा था।

अहीर ने आस-पास देखा शायद उसकी माँ यहीं कहीं हो, तो देखा पीछे के दरवाजे में खड़ी एक स्त्री तुरन्त मुड़ी और बड़ी तेजी से चली गयी। अहीर ने फिर भी उस स्त्री का मुँह देख लिया और पहचान गया कि यह मगध के एक सरदार की धर्मपत्नी है। जिसका पति युद्ध में मारा गया था। कुछ ही दिन पूर्व की तो बात थी। तब वह स्त्री अपना वैधव्य काटने के लिए अपने भाई के पास आयी थी।

भाई ने अपनी एकमात्र बहिन को संरक्षण और सम्मान दिया। उसका प्रसव काल निकट ही था तब भाई को चिन्ता होने लगी। बेचारा अपना पेट ही तो बड़ी मुश्किल से भर पाता था फिर बहिन के बच्चे का भार कैसे उठाता। परन्तु उसने अपनी चिन्ता को व्यक्त नहीं किया।

बहिन भी समझदार थी इसलिए उसने अपने बच्चे को किसी अच्छे घर के आस-पास छोड़ आने का निश्चय कर लिया ताकि उसका भली-भाँति पालन-पोषण हो सके। यही सोचकर वह प्रसव के बाद अपनी ममता का बन्धन तोड़कर नवजात पुत्र को उक्त अहीर के बाड़े में छोड़ने के लिए आयी थी। वह जानती थी कि यह अहीर दयालु है। इसलिए बच्चा अच्छी तरह यहीं पल सकेगा और आँखों के सामने भी रहेगा।

यही बालक आगे चलकर चन्द्रगुप्त मौर्य के नाम से भारत के सम्राट पद पर बैठा और अपना ही नहीं देश का नक्शा भी बदलकर रख दिया। चन्द्रगुप्त के पिता मौर्य वंशीय क्षत्रिय थे। जब वह गर्भ में था तभी वे एक लड़ाई में मारे गये। बचपन से ही बालक चन्द्रगुप्त को विपत्तियाँ और कठिनाइयाँ देखने पड़ीं।

जिस अहीर के पास माँ ने अपने बेटे को छोड़ा था वह भी बड़ा लोभी निकला। चन्द्रगुप्त जब बड़ा हो गया तो गाँव में एक दिन कोई शिकारी आया। चन्द्रगुप्त अपने घर के सामने ही खेल रहा था। दूध मिलता था खूब पीने के लिए और दिन भर खेलना-कूदना। बेफिक्री और अच्छे भोजन ने चन्द्रगुप्त को परिपुष्ट शरीर प्रदान किया। शिकारी निःसन्तान था इसलिए उसने निश्चय किया कि किसी न किसी प्रकार इस बच्चे को अपना बेटा बनाना चाहिए।

शिकारी ने आस-पास के पड़ोसियों से चन्द्रगुप्त के बारे में पूछ-ताछ की तो पता चला कि यह बालक उस अहीर का अपना बेटा नहीं है और प्रयत्न किया जाय तो असंभव नहीं कि वह उसे देने के लिए राजी हो जाये। शिकारी ने समझ-बूझ से अहीर के सामने इच्छा व्यक्त की अहीर ने कह दिया कि— चन्द्रगुप्त पर किया गया अभी तक

का खर्च कोई चुका दे तो वह उसे चुकाने वाले को सौंप देगा।

शिकारी ने अहीर को काफी धन देकर चन्द्रगुप्त को अपने साथ ले जाने के लिए तैयार कर लिया। जब चन्द्रगुप्त की माँ को यह सब पता चला तो वह बड़ी दुःखी हुई। अब तक तो वह अपने बेटे को देखकर ही सन्तोष कर लिया करती थी। परन्तु वह अब उसकी आँखों से भी ओझल हो रहा था। किसी तरह उस बेचारी ने अपना मन मार लिया और चन्द्रगुप्त शिकारी के साथ चला गया। शिकारी भी अच्छा धनवान था। काफी सम्पत्ति और पशुधन था उसके पास। शिकारी ने उसे पिता का प्यार दिया। जिसके परिणामस्वरूप वह स्वयं को और भी सुखी तथा निश्चित अनुभव करने लगा।

शिकारी के साथ रहकर चन्द्रगुप्त कई गुण और शस्त्र विद्या सीख गया। कुछ बड़ा होने पर वह भी अपने नये पिता के मवेशी चराने लगा। साथ में दूसरे ग्वाल-बाल भी होते। ढोर तो इधर-उधर चरते रहते और चन्द्रगुप्त अपने साथियों के साथ तरह-तरह के खेल खेला करता। कभी राजा-प्रजा का, कभी चोर-सिपाही का। अच्छे डीलडौल और वय में भी बड़ा होने के कारण इन खेलों में मुख्य पात्र तथा निर्णायक चन्द्रगुप्त को ही बनाया जाता था। एक दिन की बात है कि ग्वाल-बाल साथियों के साथ वह राजा-प्रजा का खेल खेल रहा था। पास से ही गाँव की ओर एक सड़क जाती थी। उस सड़क पर से निकला एक क्षीणकाय दुर्बल ब्राह्मण।

बालकों को राजा-प्रजा का खेल खेलते देख कौतूहलवश वह वहीं रुक गया। मनोरंजन की दृष्टि से वह राजा बने चन्द्रगुप्त के पास पहुँचा और नाटकीय निवेदन किया- “महाराज मैं गरीब और अनाथ ब्राह्मण हूँ।”

“हाँ-हाँ बोलो क्या चाहिए”- राजा बने चन्द्रगुप्त ने कहा।

“कुछ गायें मिल जाएँ तो बड़ी मेहरबानी हो”- उस ब्राह्मण ने कहा।

“ले जाओ”- पास चर रही गायों की ओर इशारा करते हुये चन्द्रगुप्त ने कहा- “जितनी चाहिए ले जाओ।”

“इनका मालिक मुझे पकड़ कर मारेगा”- ब्राह्मण ने और भी रस लेते हुए कहा।

“किसकी हिम्मत है जो सम्राट चन्द्रगुप्त की आज्ञाओं का उल्लंघन करे”- चन्द्रगुप्त ने इस प्रकार उत्तर दिया जैसे सचमुच ही वह राजा हो और वह ब्राह्मण जो और कोई नहीं भारतीय नीति शास्त्र के पण्डित चाणक्य थे, इस उत्तर से बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने बालक चन्द्रगुप्त को एक उदीयमान प्रतिभा के रूप में देखा और लगा कि उनकी खोज पूरी हो गयी है।

उस समय चाणक्य किसी ऐसे युवक की तलाश में थे जिसे आगे कर वे भारत को एक राष्ट्र के रूप में संगठित

कर सकें। उस समय भारतवर्ष अनेकों छोटे-बड़े राष्ट्रों में बिखरा हुआ था। जिनके अधिपति राजा-महाराजा वीर तो थे परन्तु संकीर्ण स्वार्थी और संकुचित हितों के लिए ही परस्पर लड़ते मरते रहते थे।

फूट और तज्जनित वैमनस्यता के कारण उन्हें अपने राष्ट्रीय हितों का भी ध्यान नहीं रहता था। उस समय भारत में चारों ओर धन सम्पदा बिखरी पड़ी थी। आपसी फूट और बिखराव से लाभ उठाकर विदेशी लूटेरे तथा सम्राट यहाँ आ आकर अपना भंडार भर लेते थे। विदेशी आक्रमणकारी धन और जन ही नहीं यहाँ की संस्कृति को भी लूटने और तहस-नहस करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ते थे। यही कारण था कि चाणक्य को तक्षशिला का विद्यापीठ छोड़कर गाँव-गाँव भटकने के लिए विवश होना पड़ा।

पण्डितों और ब्राह्मणों का एक महत् कर्तव्य यह भी है कि वे संस्कृति और धर्म की रक्षा के लिए अपने पद, गौरव और ऐश्वर्य को भूलकर प्राणपण से प्रयत्न करें। चाणक्य इसी कर्तव्य-बोध से तक्षशिला का प्रतिष्ठित आचार्य पद छोड़कर पहले मगध सम्राट के पास पहुँचे थे। मगध उस समय भारत का सबसे बड़ा राष्ट्र था। इस राष्ट्र का राजा था नन्द। चाणक्य ने नन्द को सलाह दी कि वह बिखरे राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधकर संगठित करे। परन्तु नन्द को तो अपने विलास भोगों से ही फुरसत कहाँ थी। इसलिए उसने चाणक्य को अपमानित कर अपने यहाँ से भगा दिया।

अब चाणक्य ने समझ लिया कि प्रस्तुत लक्ष्य किसी राजा या सम्राट से पूरा नहीं होगा। उसके लिए तो एक नयी ही शक्ति का उदय होना चाहिए जो देश-प्रेम, वीरता, संघ-निष्ठा और एकता के आधार पर उदित हो। चाणक्य स्वयं तो संन्यासी और धर्माचार्य थे। स्वयं राजनीति में प्रत्यक्ष भाग लेना उन्हें मर्यादाओं के विरुद्ध लगा इसलिए अपने किसी निष्ठावान शिष्य को यह उत्तरदायित्व सौंपकर इस अभियान का सूत्र संचालन ही उपयुक्त लगा और वे इसलिए योग्य शिष्य की तलाश में इधर-उधर भटक रहे थे।

चन्द्रगुप्त में वह प्रतिभा देखकर उन्होंने शिकारी से सम्पर्क साधा और उसे अपने साथ ले जाने के लिए तैयार कर लिया। चाणक्य अपने नये शिष्य को लेकर तक्षशिला पहुँचे और वहाँ शस्त्र तथा शास्त्र दोनों सिखाने लगे। शासक स्तर के व्यक्ति को बुद्धि और शक्ति दोनों ही विभूतियों से सम्पन्न होना चाहिए। चाणक्य ने अपने ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर यह विचार व्यक्त किया है। शासक ही क्या सामान्य व्यक्ति के लिए भी बुद्धि-बल और शरीर-बल दोनों का महत्व अनुपेक्षणीय है। चन्द्रगुप्त ने सात-आठ वर्ष तक अपने योग्य और विद्वान गुरु के पास ही रहकर दोनों विशेषतायें अर्जित कीं।

तक्षशिला में व्यतीत किया समय चन्द्रगुप्त के भावी जीवन का आधार मजबूत करने और बनाने का कारण

बना। चाणक्य ने अपने शिष्य को शस्त्र और शास्त्र में पारंगत बनाने के साथ-साथ उसके चरित्र गठन की ओर भी ध्यान दिया। चरित्र ही तो समस्त सफलताओं और सद्गुणों को प्राप्त करने का मुख्य आधार है। इसके अभाव में बड़े-बड़े शक्तिशाली साम्राज्य और सम्राटों का नाश तथा पतन हुआ है। आदि काल से अब तक इस बात के कई उदाहरण इतिहास में भरे पड़े हैं।

व्यक्तिगत जीवन में भी चरित्र को उतना ही अनिवार्य तथा उपयोगी माना गया है। साधारण से साधारण व्यक्ति के लिए भी वह उतना ही उपयोगी है जितना कि उच्च प्रतिष्ठित और शासन तथा अधिकारियों के लिए क्योंकि चिरस्थायी शान्ति और अपने उत्तरदायित्व को समझने तथा उसे पूरा करने की क्षमता चरित्र-साधना से ही तो उद्भूत होती है।

तभी ई० पू० ३२६-२७ में भारत पर यूनान के सम्राट सिकन्दर ने आक्रमण किया। यहाँ के राज्यों की आपसी फूट का लाभ उसे मिला और समूचा पश्चिमी भारत गुलामी की जंजीरों में जकड़ दिया गया। उस समय चाणक्य चन्द्रगुप्त को अपना स्वप्न साकार करने के लिये तैयार कर रहे थे। दूरदर्शी चाणक्य यह जानते थे कि आखिर भारत को वर्तमान परिस्थितियों और यहाँ के राजाओं की आपसी फूट के कारण एक न एक दिन अपनी स्वतन्त्रता खोनी ही पड़ेगी।

यह अनुमान सही निकला परन्तु चाणक्य इससे सन्तुष्ट हुए क्योंकि पूर्व की स्थिति में छोटे-छोटे राजाओं से लड़कर अपनी समय और शक्ति को व्यर्थ ही खर्च करना पड़ता। अब सिकन्दर के आक्रमण से कई राज्यों का एकीकरण हो गया तो उन पर विजय प्राप्त करने तथा अपना स्वप्न साकार करने में बड़ी आसानी रहेगी। अब चाणक्य और चन्द्रगुप्त आगे की योजनाएँ बनाने लगे। चाणक्य ने अपनी कुशाग्र बुद्धि से विदेशियों को भारत से बाहर खदेड़ने की योजना बना ली। जिसके अनुसार एक बड़ी सेना का गठन किया जाना था। इधर सिकन्दर की विजय ने सामान्य जनता का मनोबल तोड़कर रख दिया। सेना गठन के लिए इस मनोबल को पुनः जाग्रत करना आवश्यक था। गुरु और शिष्य मिलकर पंजाब भर में घूमे और वहाँ के लोगों को स्वतन्त्रता तथा एक राष्ट्र की स्थापना के लिए प्रेरित करने लगे। कई लोगों ने उनका साथ दिया। युवा और उत्साही व्यक्ति चन्द्रगुप्त और चाणक्य की योजना के अनुसार सेना बनाने के लिए आगे आये।

सैन्य-संगठन का कार्य आरम्भ होने भर की देर थी। चाणक्य और चन्द्रगुप्त-एक सन्त ब्राह्मण और दूसरा गरीब अनाथ-दोनों की आवाज ने अपना कमाल दिखाया। लोग उनके आह्वान पर अपने घरों से खाना खाकर, भूखे रहकर राष्ट्र की स्थापना के लिए आगे आये और अन्त तक उनके साथ रहे।

इन युवकों को युद्ध विद्या का प्रशिक्षण दिया गया और एक अच्छी सेना तैयार हो गयी जिसका सेनापति बना

चन्द्रगुप्त। पंजाब की भूमि तो वैसे भी रणबाँकुरे जवानों से भरी पड़ी थी। कमी थी तो योग्य नेतृत्व की। चन्द्रगुप्त के रूप में अपना अगुआ-नेता पाकर पंजाब के वीर जवानों ने यूनानियों को ललकारा और झेलम तथा व्यास नदी के आसपास से विजय अभियान शुरू किया जो यूनानियों से घिरी हुई थी।

मरने मारने के लिए कटिबद्ध पंजाबी सैनिक और राष्ट्र-निर्माण के लिए आहूत जीवन चन्द्रगुप्त और चाणक्य-इन सबकी सम्मिलित शक्ति से तीन वर्ष के भीतर-भीतर भारत-भूमि यूनानियों से रहित हो गयी। विदेशी शासन का नामोनिशान मिट गया। विदेशियों को भारत-भूमि से भगाकर चन्द्रगुप्त का ध्यान अपने देश की अन्दरूनी स्थिति पर दिलाया गया। अभी तो आधे से अधिक काम बाकी पड़ा था। बुद्धि-कौशल और निष्ठावान सहयोगियों के बल पर चन्द्रगुप्त को विश्वास था कि यह काम पूरा होकर रहेगा। जिस विश्वास के बल पर चार वर्ष पूर्व गुरु शिष्य दोनों खाली हाथ घर से निकले थे। वह बुद्धि कौशल ही था जो उन परिस्थितियों में भी इतना बड़ा सैन्य संगठन तैयार हो गया और मंजिल की आधी दूरी तै कर ली।

पश्चिमी भारत को सुरक्षित और कण्टकहीन कर चन्द्रगुप्त मगध की ओर मुड़ा। उस समय मगध के पास काफी बड़ी सेना थी। लगभग २ लाख २५ हजार सैनिक मगध के राज्य की रक्षा का भार सम्हाले हुए थे। परन्तु चाणक्य जानते थे कि मगध का राजा नन्द वहाँ की जनता में बहुत अलोकप्रिय है। उसकी शासन व्यवस्था, चरित्र-हीनता और घमण्ड से उसके स्वयं के परिजन, राजमहल के निवासी तक बड़े त्रस्त थे। इसलिए थोड़ी सूझबूझ से काम लिया जाये तो मगध को आसानी से जीता जा सकता है।

चाणक्य ने सैन्य-बल की अपेक्षा बुद्धि-बल से काम लिया और नन्द के कई अधिकारियों को अपने पक्ष में कर लिया। अन्दर से इतना सशक्त विरोध नहीं होगा यह जानकर चन्द्रगुप्त अपनी सेनाएँ लेकर मगध पर टूट पड़ा। यद्यपि नन्द के कई अधिकारियों ने चन्द्रगुप्त की मदद की फिर भी मगध को जीतने में दो वर्ष का समय लगा। ३२९ ई० पू० चन्द्रगुप्त ने अपनी सेनाओं सहित मगध की राजधानी पाटलिपुत्र में प्रवेश किया। नन्द का शासन समाप्त हो गया था। राज्य सिंहासन पर चन्द्रगुप्त का तिलक किया गया। इतनी बड़ी सफलता प्राप्त कर लेने के बाद भी चन्द्रगुप्त में घमण्ड बिल्कुल ही नहीं आया। कहते हैं उसने अपने पालक बचपन के अहीर पिता को हुँदवाया और उसे पर्याप्त धन दौलत दी ताकि वह सुख चैन से जीवन बिता सके। कई-अवसरों पर चाणक्य ने भी उसे फटकारा परन्तु चन्द्रगुप्त तो अभी सम्राट कम और शिष्य अधिक था। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य बन जाने के बाद उन्होंने अपने अभियान का अगला चरण पूरा करने के लिए कदम उठाया।

पंजाब, मगध और व्यास नदी के तटवर्ती प्रदेश तो अधिकार में आ ही गये थे अब मध्य भारत, दक्षिणी प्रदेश और पूर्वी भारत को एक सूत्र में आबद्ध किया और वृहत्तर भारत की नींव रखी। उस समय रचे गये ऐतिहासिक ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त मौर्य का उल्लेख सम्पूर्ण जम्बूद्वीप के सम्राट के रूप में किया गया है। हिमालय से सागर तक और सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक एक राष्ट्र और भारत और उसका निर्माता था- एक अनाथ, मातृ-पितृ हीन बालक।

सम्राट चन्द्रगुप्त ने इतने बड़े साम्राज्य का अधिपति होते हुए भी कभी इस विचार को प्रश्रय नहीं दिया कि मैं अतुल धन सम्पदा और राज्य लक्ष्मी का स्वामी हूँ। वह सदैव यही मानता रहा कि मैं प्रजा का सेवक मात्र हूँ। अपने मार्गदर्शक महामति चाणक्य का विनम्र अनुगामी भर हूँ। जो इतने बड़े राष्ट्र के गठन में प्रधान भूमिका निभाने तथा अतुल वैभव का उपभोग करने में समर्थ होते हुए भी शहर से बाहर एक साधारण-सी कुटिया में रहते हैं। सर्वोच्च शासन पद पर रहते हुए भी इतना निर्लक्ष और अनासक्त जीवन जीकर चन्द्रगुप्त मौर्य ने भारतीय इतिहास में एक स्वर्ण अध्याय- अपनी कर्म लेखनी से लिख डाला।

यथा राजा तथा प्रजा के अनुसार चन्द्रगुप्त के शासन काल में लोग भी उतने ही सदाचारी और एक दूसरे का ध्यान रखने वाले हो गये थे। फिर भी शासन की ओर से किसी प्रकार की लापरवाही नहीं बरती जाती थी। चाणक्य द्वारा लिखित अर्थशास्त्र-जो राज्य व्यवस्था का प्रमुख मार्गदर्शक ग्रन्थ माना जाता है- के अनुसार तथा चाणक्य के परामर्श से सारा राजकाज चलता था। सैन्य-संगठन तथा सुरक्षा व्यवस्था इतनी सुदृढ़ बनायी गयी थी कि बाहर का कोई भी शत्रु राष्ट्र की सीमा को वेध नहीं सकता था। इतिहास में चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में ही सेल्यूकस सिकन्दर के आक्रमण का उल्लेख भी आता है परन्तु उसे पराजित होकर ही जाना पड़ा। लगभग २४ वर्षों तक राज्य कर २९७ ई० पू० चन्द्रगुप्त का देहान्त हो गया।

‘विक्रमादित्य’-चन्द्रगुप्त

“अनेकों बार मैं ऐसे प्रदेशों से गुजरा हूँ, जहाँ मुझे अपने लूटे जाने का भय उपजे बिना नहीं रहा क्योंकि प्रत्येक बार मेरे पास सम्राट और अतिथि सत्कार प्रिय नागरिकों द्वारा भेंट किये गये बहुमूल्य वस्त्राभूषण और उनसे भी अधिक मूल्यवान अपने साथ ले जाने के लिये एकत्रित की हुई पुस्तकें थीं। अकेले सुनसान जंगलों और वीरान सड़कों से गुजरते हुए प्रायः मेरे मन में ऐसी आशंका उत्पन्न हो जाती थी कि कोई मुझ लूट लेगा पर किसी ने मुझे परेशान नहीं किया। जो भी कोई मिला उसने सहायता ही की। विनम्र शब्दों में अपना आतिथ्य स्वीकार करने का ही आग्रह किया। कितने अच्छे हैं यहाँ के लोग - सभ्य, सुसंस्कृत, शिष्ट और उदार, तभी तो समृद्धि इनके चरण चूमती है।

राज्य में चोरी, डकैती और राहजनी जैसे अपराध तो होते ही नहीं हैं। कैदियों को भी शारीरिक यन्त्रणाएँ नहीं दी जाती हैं। मृत्यु-दण्ड का तो विधान ही नहीं है यहाँ पर। भयंकर से भयंकर अपराध का दण्ड भी अंग-भंग तक ही सीमित है। अपराधियों के लिये कठोर दण्ड विधान न होते हुए भी अपराधों का नहीं के बराबर होना मेरे लिये एक सुखद आश्चर्य था। इसमें राजा और प्रजा दोनों की महानता की झलक मिलती है। राजा अपने को प्रजा का सेवक भर समझता है।

उपरोक्त कथन है चीनी यात्री फाह्यान का जो गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में भारत आया था। तीन वर्ष तक वह मगध की राजधानी पाटलिपुत्र में रहा था। उस समय चन्द्रगुप्त आर्यावर्त का एक छत्र शासक था। उसकी महानता, कुशल शासन प्रबन्ध और भारतीय जनता की इस उच्च सामाजिक और मानवीय चेतना का यह वृत्तान्त उसने चीन में अपने मित्र को सुनाया था जिसने उसके इस वृत्तान्त को लिपिबद्ध कर लिया था। जो आज उस समय की हमारी सभ्यता, संस्कृति, धर्म और सामाजिकता की उच्चता का प्रामाणिक दस्तावेज बना हुआ है। उसने सम्राट चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व और उसकी शासन व्यवस्था के बारे में अपने मित्र को बताया - “सम्राट चन्द्रगुप्त की शासन व्यवस्था बहुत उदार और उत्तम थी। लोगों पर अधिक कर भार नहीं था। प्रजा समृद्ध थी प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार व्यवसाय चुनने के लिये स्वतन्त्र था। नैतिकता और सामाजिकता के अलिखित नियमों में मनुष्य इस प्रकार बँधा हुआ था कि लगता था यह सब उनका स्वभाव ही बन गया है। कोई चोरी नहीं करता था इसलिये घरों में ताले लगाने का रिवाज भी नहीं था।

मगध के विशाल साम्राज्य में स्थान-स्थान पर यात्रियों के विभ्राम करने और आश्रय के लिए धर्मशालाएँ बनी हुई थीं। जनता शिक्षा, चिकित्सा और समाज कल्याण के कार्य स्वयं सम्पादित करती है। यहाँ की सामाजिक व्यवस्था ही कुछ इस प्रकार की थी कि इन सबके लिये शासन को न तो जनता से कर ही लेना पड़ता था न उसकी व्यवस्था ही करनी पड़ती थी। सम्पन्न नागरिक इन सबकी व्यवस्था स्वयं करते थे।

सम्पन्न होते हुए भी लोग धन को नहीं चरित्र को महत्व देते थे। सत्य और नैतिकता पालने वाला व्यक्ति ही समाज में सम्मानित माना जाता था। व्यक्ति की महत्ता का आधार उसका चरित्र था धन नहीं। मगध में कहीं मुझे मौस, मदिरा की दुकान दिखायी नहीं दी इससे पता लगता है, लोग इनका सेवन नहीं करते थे। यहाँ तक कि प्याज और लहसुन का प्रयोग भी कोई नहीं करता था। शासन व्यवस्था बहुत उत्तम और नागरिक बड़े चरित्रवान थे।”

फाह्यान द्वारा वर्णित इन तथ्यों को सुनकर आज हमें आश्चर्य होता है किन्तु यह वर्णन असत्य नहीं है। गुप्त

काल, हमारी सभ्यता, संस्कृति का चरमोत्कर्ष काल था, उसका श्रेय गुप्त सम्राटों को भी कम नहीं जाता, तत्कालीन सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य भी व्यक्तित्व और चरित्र में महान था तभी व अपने प्रजाजनों की इस महानता की श्री वृद्धि करने में सफल हो सका था ।

काल गणना के अनुसार चन्द्रगुप्त ३०० ईस्वी में सिंहासनारूढ़ हुआ था, ऐसा इतिहासकारों का मत है । चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का विरुद्ध धारण करके सिंहासन पर आसीन हुआ था । इस विरुद्ध को धारण करने वाले कई सम्राट हुए हैं । किन्तु विक्रम सम्वत् चलाने वाला ऐसा कोई पराक्रमी राजा इस काल में दीखता है तो वह यही हो सकता है यदि इसे सत्य माना जाय तो यह वर्ष ईस्वी पूर्व सिंहासनारूढ़ हुआ ऐसा माना जा सकता है ।

चन्द्रगुप्त 'भारत के नेपोलियन' कहे जाने वाले पराक्रमी सम्राट का छोटा पुत्र था । वीरता, शक्ति, कौशल और चरित्र में श्रेष्ठ होते हुए भी पिता की मृत्यु पर उसे राज्य सिंहासन पर बैठने का अधिकार नहीं मिला, उसके बड़े भाई रामगुप्त को मिला, जो कायर और विलासी था । चन्द्र को साम्राज्य का लोभ नहीं था पर अपने वंश-गौरव और पिता द्वारा आरम्भ की गयी सर्वहितकारी शासन प्रणाली की रक्षा की चिन्ता अवश्य थी ।

विलासी और कायर रामगुप्त के निर्बल हाथों से इस विशाल साम्राज्य की व्यवस्था सम्हाली न जा सकी । वह शकों से पराजित ही नहीं हुआ वरन् राजमहिषी ध्रुवदेवी को भी उन्हें उपहार में देकर सन्धि करने को तत्पर हो गया । अपने अग्रज किन्तु क्लीब और विलासी रामगुप्त का यह अपमानजनक कृत्य उसे किसी भी मूल्य पर स्वीकार नहीं हो सका । यहाँ राज्य रक्षण का प्रश्न ही नहीं था वरन् नारी के सम्मान का भी प्रश्न था । रामगुप्त ने तो कह दिया कि ध्रुवदेवी उपहार में आयी है इसलिये वह भी उसे शकराज को उपहार में दे रहा है ।

यह समुद्रगुप्त की दूरदर्शिता और व्यवहार कुशलता थी कि उसने पराजित पर्वत नरेश की पुत्री को अपने कुल की वधु स्वीकार कर लिया था और उसके पिता को आश्वासन दिया था कि वह मगध सम्राट की महादेवी बनेगी किन्तु ज्येष्ठत्व के नाते रामगुप्त मगध का सम्राट और ध्रुवदेवी का पति बन जायगा । चन्द्रगुप्त उदारता और निर्लोभता का परिचय देकर उसे राजा स्वीकार कर लेगा ।

चन्द्रगुप्त को इस प्रकार ध्रुवदेवी को शकराज को उपहार में देना बिल्कुल भी नहीं रुचा । नारी पूज्या होती है, उसे भी पुरुष जितना ही अधिकार है उसे कोई कैसे उपहार में दे सकता है । राज्य और राजा की रक्षा के लिये महादेवी की बलि उसे स्वीकार नहीं हुई और वह छद्मवेश में ध्रुवदेवी बनकर अपने थोड़े से चुने हुए सैनिकों के साथ शकराज के पास उसके द्वारा भेजी गयी सन्धि की शर्तों के अनुसार शक शिविर में पहुँचा । वहाँ उसने द्वन्द्व युद्ध में शकराज का वध किया साथ ही शक सैनिकों को पराजित भी किया ।

विजयी चन्द्रगुप्त जब मगध सैन्य शिविर में लौटा तो मगध वीरों ने उसे अपना सम्राट स्वीकार किया । चन्द्रगुप्त के नहीं चाहते हुए भी सैनिकों ने कायर रामगुप्त का वध कर दिया । ध्रुवदेवी ने भी अपने रक्षक चन्द्रगुप्त को स्वेच्छा से पति चुन लिया । यद्यपि चन्द्रगुप्त ने उसे समझाने का प्रयत्न किया कि वह सम्मान सहित उसके संरक्षण में रहे पर नारी हृदय की भी तो अपनी एक प्रतिदान की उमंग होती है साथ ही समर्थ सहधर्म की चाह भी ।

चन्द्रगुप्त अपने विरुद्ध के अनुरूप ही पराक्रमी और महान हुआ । रामगुप्त की अकर्मण्यता और विलासिता के कारण विशृंखलित साम्राज्य को उसने पुनः सुसंगठित किया, विद्रोहियों को दबाया, करद राज्यों पर नियन्त्रण किया । उसने नये प्रदेशों को भी जीता । इस प्रकार उसका राज्य दक्षिण में अरब सागर तथा बंगाल की खाड़ी के तटवर्ती भारत में फैल गया । उत्तर में अफगानिस्तान तिब्बत आदि पर भी उसका शासन था । इस प्रकार उसने विदेशी आक्रमणकारियों का समर्थ प्रतिरोध वाला सुगठित आर्यावर्त पुनः स्थापित कर लिया ।

चन्द्रगुप्त को इतिहास में 'शकारी' के नाम से जाना जाता है । 'शक' उत्तर मध्य एशिया में बसने वाली एक बर्बर जाति थी जो बहुत क्रूर और असभ्य थी । समुद्रगुप्त के समय में ही उनके आक्रमण आरम्भ हो गये थे । किन्तु समुद्रगुप्त ने चट्टान की तरह उनकी राह ही नहीं रोकी थी उन्हें बुरी तरह पीछे खदेड़ कर उनकी क्रूरता और बर्बरता से भारतीय जन जीवन और यहाँ की सभ्यता, संस्कृति की सुरक्षा की थी । रामगुप्त के समय में शक लोग कहीं-कहीं भीतर घुस आये थे और उन्होंने अपने छोटे-छोटे राज्य बना लिये थे । चन्द्रगुप्त ने उन्हें चुन-चुनकर हराया और भारत की सीमा से बाहर खदेड़ा । उसका यह प्रयास निश्चय ही उसकी महानता के अनुरूप था ।

चन्द्रगुप्त के सुन्दर शासन प्रबन्ध और सुसभ्य, सुसंस्कृत प्रजा का जो वर्णन चीनी यात्री फाह्यान ने किया है वह हमारा गौरवपूर्ण अतीत कहलाता है । वह अप्रतिम योद्धा, वीर, कुशल सेनानायक और प्रशासक, सुशासक ही नहीं था वरन् कलाप्रेमी और अर्थवेत्ता भी था । उसकी राज्यसभा में कहा जाता है वराहमिहिर जैसा गणितज्ञ, ज्योतिर्विद, बैताल भट्ट जैसे कुशल राजनीतिज्ञ आदि थे । ऐसे ही नर-रत्न इसकी सभा में थे ।

चन्द्रगुप्त ने ३९ वर्ष तक राज्य किया । उसके कुशल और उदार शासन प्रबन्ध में संस्कृति, साहित्य, धर्म, कला आदि का चरमोत्कर्ष ही नहीं हुआ वरन् आर्थिक समृद्धि भी बहुत बढ़ी । उसके समय में भारतीय व्यापारी मिस्र तक अपने व्यापार-पोत ले जाया करते थे । बंगाल की खाड़ी के ताम्रलिप्ति नामक विशाल बन्दरगाह से सुती, रेशमी कपड़े, कपूर, चन्दन, मसाले आदि वस्तुएँ का विदेशों को निर्यात किया जाता था । उसके बदले में सोने के जहाज भर-भरकर आते थे । कभी इंग्लैण्ड का समुद्री व्यापार जितना समृद्ध था उतना ही समृद्ध यहाँ का व्यापार था ।

इसी व्यापार के कारण भारत सोने की चिड़िया बन गया था। निर्यात में सबसे अधिक भारत के कुटीर व्यवसाय का बना हुआ माल होता था। जिसके विनिमय में सोना मिलता था।

चन्द्रगुप्त वैष्णव था। किन्तु वह अन्य मतों का भी उतना ही आदर करता था जितना अपने मत का। उसका प्रधान सेनापति बौद्ध था। वह सभी धर्मावलम्बियों को समान मानता था। उदार और दानी होने के कारण प्रजा उसके प्रति प्रेम ही नहीं श्रद्धा भी रखती थी। उसके राज्य में प्रजा बड़ी सुखी थी। कहते हैं वह रात्रि में वेष बदलकर जनपथ पर इसलिये घूमा करता था कि वह अपनी प्रजा के सुख-दुःख और राज कर्मचारियों की कर्तव्य विमुखता का पता लगा सके। इसी कारण उसे कर्तव्य परायणता 'परदुःखतातर राजा' भी कहा जाता है। उसकी प्रजावत्सलता और परदुःखतातरता की कितनी ही कहानियाँ आज भी भारतीय लोक-साहित्य और किंवदंतियों के रूप में जीवित हैं— सोलह सौ वर्ष बाद भी। सम्राट विक्रमादित्य कहा करते थे मेरे पूर्वजों ने अपने पराक्रम और परिश्रम से जिस मातृ-भूमि का शृंगार किया, वह मातृभूमि आज मेरे पौरुष की अपेक्षा करती है तो क्या मुझे उसके लिए क्षण भर की भी देरी करनी चाहिए? मेरे पूर्वजों ने जिस भारत-भूमि को अपनी बलि की खाद से सदा वीर-प्रसूता बनाये रखा, वह मातृभूमि आज मेरे रक्त का अभिसिंचन चाहती है तो क्या मुझे उसके लिए क्षण भर की देरी करनी चाहिए?

मेरे बाद मेरी आने वाली पीढ़ियाँ मेरी मातृभूमि का जिस रूप में दर्शन करना चाहती हैं, जिस श्रद्धा से उसे पूजना चाहती हैं, जिस पौरुष से उसके रक्षार्थ बलिदान होना चाहती हैं, यदि मैं अपनी मातृभूमि का वैसा पूण्य वेश अपनी सर्वोपरि पूजा, सर्वस्व अर्पण और सर्वोच्च बलिदान से न बनाऊँ तो क्या मैं अकेला ही इतना बड़ा कलंक न बन जाऊँगा कि सारा मानव समाज ही सदा के लिए उससे कलंकित और लज्जित न हो जाय?

प्रतिभा का सम्बन्ध शरीर से नहीं आत्मा से है

उद्यान में भ्रमण करते-करते सहसा राजा विक्रमादित्य महाकवि कालिदास से बोले— “आप कितने प्रतिभाशाली हैं, मेधावी हैं, पर भगवान ने आपका शरीर भी आपकी बुद्धि के अनुसार सुन्दर क्यों नहीं बनाया?” कुशल कालिदास राजा की रूप की गर्वोक्ति समझ गये। उस समय तो व कुछ भी न बोले। राजमहल में आकर उन्होंने दो पात्र मँगाये— एक मिट्टी का और एक सोने का। दोनों में जल भर दिया गया। कुछ देर बाद कालिदास ने विक्रमादित्य से पूछा— “राजन् किस पात्र का जल अधिक शीतल है?”

“मिट्टी के पात्र का।” विक्रमादित्य ने उत्तर दिया। तब मुसकराते हुए कालिदास बोले— “जिस प्रकार शीतलता पात्र के बाहरी आधार पर निर्भर नहीं है, उसी प्रकार प्रतिभा भी शरीर की आकृति पर निर्भर नहीं है। विद्वता और महानता का सम्बन्ध शरीर से नहीं आत्मा से है।”

निर्भयता के सामने ब्रह्मराक्षस भी भाग

खड़ा हुआ

विक्रमादित्य ने चौथेपन में संन्यास ले लिया और वे अवधूत जीवन व्यतीत करने लगे। उनके स्थान पर जो भी राजा बैठता, उसे भयंकर ब्रह्मराक्षस रात्रि के समय मार डालता। इस प्रकार कितने ही राजाओं की मृत्यु हो गयी। भेद कुछ खुलता न था। सो कहीं से विक्रमादित्य के खोज निकालने और उनसे मार्ग निकलवाने का निश्चय किया गया। खोजने पर वे एक स्थान पर मिल भी गये। सारी स्थिति समझायी गयी और उन्हें गुत्थी सुलझा देने के लिए सहमत कर लिया गया।

विक्रमादित्य ने अपनी दिव्यदृष्टि से ब्रह्मराक्षस की करतूत समझ ली। उनसे शयनकक्ष से बाहर इतने पकवान-मिष्ठान्न रखवा दिये कि उन्हें खाकर उसका पेट भर गया। फिर भी राजा को मारने के लिए शयनकक्ष में आ पहुँचा।

विक्रमादित्य बड़े बुद्धिमान थे। उन्होंने ब्रह्मराक्षस को सम्मानपूर्वक बिठाया और वार्त्तालाप में लगाया। उससे उसकी शक्तियाँ और सिद्धियाँ पूछीं। राजा ने उसकी भूख बुझाने का अधिक उपयुक्त प्रबन्ध करा देने का भी आश्वासन दिया। साथ ही मित्रता की शर्त रूप में यह वर माँगा कि उनकी आयु बता दे। ब्रह्मराक्षस ने १०० वर्ष बतायी। राजा ने कहा— इनमें से आप दस घटा या बढ़ा सकते हैं क्या? उसने मना कर दिया और कहा यह कार्य विधाता का है।

विक्रमादित्य तलवार निकालकर खड़े हो गये और कहा जब आयु निर्धारित है, तो तुम मुझे कैसे मार सकते हो? निर्भय राजा के सामने राक्षस सहम गया और यहाँ से उलटे पैरों भाग खड़ा हुआ। इसके बाद राजग्रह में प्रवेश करने का साहस उसने कभी भी नहीं किया।

राष्ट्रीयता का उपासक—

सम्राट समुद्रगुप्त

गुप्तवंश एवं गुप्त-साम्राज्य का सूत्रपात सम्राट चन्द्रगुप्त प्रथम ने किया है तथापि उस वंश का सबसे यशस्वी सम्राट समुद्रगुप्त को ही माना जाता है। इसके पास एक नहीं, अनेक गुण थे। एक तो समुद्रगुप्त बहुत वीर था, दूसरे महान कलाविद और इन गुणों से भी ऊपर राष्ट्रीयता का गुण सर्वोपरि था।

भारतीय सम्राटों में से जिन महान वैदिक परम्पराओं का लोप हो गया था, समुद्रगुप्त ने उनकी पुनर्स्थापना की। उनमें से एक अश्वमेधयज्ञ भी था। सम्राट समुद्रगुप्त ने जिस अश्वमेधयज्ञ का आयोजन किया था, उसमें उसका दृष्टिकोण मात्र भी यश, विजय अथवा स्वर्ग न था। समुद्रगुप्त का उद्देश्य उसके राज्य के अतिरिक्त भारत में फैले हुए अनेक छोटे-मोटे राज्यों को एक सूत्र में बाँधकर एक छत्र कर देना था, जिससे भारत एक अजेय शक्ति बन जाये और आये-दिन खड़े आक्रांताओं का भय सदा के लिए दूर हो जाये।

समुद्रगुप्त अच्छी तरह जानता था कि छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त देश कभी भी एक शक्तिशाली राष्ट्र नहीं बन पाता है और इसीलिए देश सदैव विदेशी आक्रांताओं का शिकार बना रहता है। जिस देश की सम्पूर्ण भूमि एक ही छत्र, एक ही सम्राट अथवा एक ही शासन-विधान के अन्तर्गत रहती है, वह न केवल आक्रांताओं से सुरक्षित रहती है, अपितु हर प्रकार से फलती-फूलती भी है। उसमें कृषि, उद्योग तथा कला-कौशल का विकास भी होता है। उसकी आर्थिक उन्नति और सामाजिक सुविधा न केवल दृढ़ ही होती है, बल्कि बढ़ती भी है।

सम्राट समुद्रगुप्त देशभक्त सम्राट थे। वह केवल वैभवपूर्ण राज्य सिंहासन पर बैठकर ही संतुष्ट नहीं थे, वह उन लोलुप एवं विलासी शासकों में से नहीं थे, जो अपने एशो-आराम की तुलना में राष्ट्र-रक्षा, जन-सेवा और सामाजिक विकास को गौण समझते हैं। मदिरा पीने और रंग भवन में पड़े रहने वाले राजाओं की गणना में समुद्रगुप्त का नाम नहीं लिखा जा सकता है। वह एक कर्मठ, कर्तव्यनिष्ठ तथा वीर सम्राट थे।

जिस समय पिता चन्द्रगुप्त की मृत्यु के बाद सन ३३५ के लगभग समुद्रगुप्त ने राज्य-भार संभाला, भारत में अन्य अनेक राजा भी थे। जिनका काम था, प्रजा का शोषण करना और भोग-विलास में डूबा रहना। यद्यपि अधिकतर राजाओं की यह नीति रहती थी कि वे किसी अन्य राजा की कर्मविधि में न कोई हस्तक्षेप करते थे और न कोई अभिरुचि रखते थे। किसी राजा की प्रजा सुखी है अथवा दुःखी, इसकी उन्हें कोई चिन्ता न होती थी और न वे इस बात से कोई सरोकार रखते थे। किन्तु सम्राट समुद्रगुप्त का मानव हृदय यह न देख पाता था। वह सारे संसार के मानवों के प्रति करुणा का भाव रखता था। वह रघु और राम जैसे आदर्श राजाओं की नीति परम्परा का समर्थक और यथासम्भव उनके चरण-चिह्नों का अनुगमन करने का प्रयास किया करता था।

भारत-भूमि के एकीकरण के मन्तव्य से समुद्रगुप्त ने अपनी दिग्विजय-यात्रा प्रारम्भ की। सबसे पहले उसने दक्षिणापथ की ओर प्रस्थान किया और महानदी की तलहटी में बसे दक्षिण-कौशल महाकान्तार, पिष्टपुर, कोहर कांची, अवमुक्त, देव-राष्ट्र तथा कुस्थलपुर के राजा महेन्द्र व्याघ्रराज महेन्द्र, स्वामिदत्त, विष्णुगोप, कोलराज,

कुबेर तथा धनंजय को राष्ट्रीय-संघ में सम्मिलित किया। उत्तरापथ की ओर उसने गणपति-नाग, रुद्रदेव, नागदत्त, अच्युत-नन्दन, चन्द्रवर्मन, नागसेन, बलवर्मन आदि आर्यवर्त के समस्त छोटे-बड़े राजाओं को एक सूत्र में बाँधा। इसी प्रकार उसने मध्य-भारत के जंगली शासकों तथा पूर्व-पश्चिम के समतट, कामरूप, कर्तुपुर, नैपाल, मालव, अर्जुनायन, त्रोधेय, माद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानिक, काक और खर्पपरिक आदि राज्यों को एकीभूत किया।

इस दिग्विजय में समुद्रगुप्त ने केवल उन्हीं राजाओं का राज्य गुप्त-साम्राज्य में मिला लिया, जिन्होंने बहुत कुछ समझाने पर भी समुद्रगुप्त के राष्ट्रीय उद्देश्य के प्रति विरोध प्रदर्शित किया था। अन्यथा उसने अधिकतर राजाओं को रणभूमि तथा न्याय-व्यवस्था के आधार पर ही एकछत्र किया था। अपने विजयाभिधान में सम्राट समुद्रगुप्त ने न तो किसी राजा का अपमान किया और न उसकी प्रजा को संतुष्ट। क्योंकि वह जानता था कि शक्ति बल पर किया हुआ संगठन क्षणिक एवं अस्थिर होता है। शक्ति तथा दण्ड के भय से लोग संगठन में शामिल हो तो जाते हैं किन्तु सच्ची सहानुभूति न होने से उनका हृदय विद्रोह से भरा ही रहता है और समय पाकर फिर वह विघटन के रूप में प्रस्फुटित होकर शुभ कार्य में भी अमंगल उत्पन्न कर देता है।

किसी संगठन, विचार अथवा उद्देश्य की स्थापना के लिये शक्ति का सहारा लेना स्वयं उद्देश्य की जड़ में विष बोना है। प्रेम, सौहार्द, सौजन्य तथा सहस्रित्व के आधार पर बनाया हुआ संगठन युग-युग तक न केवल अमर ही रहता है बल्कि वह दिनों-दिन बढ़े ही उपयोगी तथा मंगलमय फल उत्पन्न करता है।

साधारणतः मनुष्य अपने संस्कारों के प्रति बड़ा दुराग्रही होता है। बुरे से बुरे अनुपयोगी तथा अहितकर संस्कारों के स्थान पर वह शुभ एवं समय-सम्मत संस्कारों को आसानी से सहन नहीं कर पाता। प्राचीनता के प्रति अनुरोध तथा अर्वाचीन के प्रति विरोध उसका सहज स्वभाव बन जाता है। समाज में इस प्रकार के प्राचीन संस्कार रखने वाले लोगों की कमी नहीं होती और वे उनके प्रति किसी सुधार का सन्देश सुनते ही अनायास ही संगठित होकर नवीनता के विरुद्ध खड़े हो जाते हैं। ऐसे अवसर पर यदि किसी शक्ति का सहारा लेकर उन्हें नवीन संस्कारों में दीक्षित करने का प्रयत्न किया जाता है तो एक संघर्ष या निरर्थक टकराव की स्थिति पैदा हो जाती है जिससे समाज अथवा राष्ट्र शक्तिशाली होने के स्थान पर निर्बल ही अधिक बन जाता है।

अतएव समझदार समाज सुधारक, बुद्धिमान राष्ट्रनायक विचार बल से ही किसी परिवर्तन को लाने का प्रयत्न किया करते हैं। हठ से हठ का जन्म होता है। यदि कोई अपने शुभ-विचारों को भी हठात किसी अविचारी के मत्थे मढ़ना चाहता है तो उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप

यह अपने अविचार के प्रति ही दुराग्रही हो जाता है । किसी बाह्य शक्ति का सहारा लेने की अपेक्षा अपने उन विचारों को ही तेजस्वी बनाना ठीक होता है जिनको कोई हितकर समझकर समाज अथवा व्यक्ति में समावेश करना चाहता है । जिसका आचरण शुद्ध है, चरित्र उज्ज्वल और मन्तव्य निःस्वार्थ है उसके विचार तेजस्वी होंगे ही, जिन्हें क्या साधारण और क्या असाधारण कोई भी व्यक्ति स्वीकार करने के लिये सदैव तत्पर रहेगा ।

यद्यपि राष्ट्र को एक करने के लिये परम्परा के अनुसार समुद्रगुप्त ने सेना के साथ ही प्रस्थान किया था, किन्तु उसको शायद ही कहीं उसका प्रयोग करना पड़ा हो । नहीं तो अधिकतर राजा लोग उसके महान राष्ट्रीय उद्देश्य से प्रभावित होकर ही एकछत्र हो गये थे । कहना न होगा कि जहाँ समुद्रगुप्त ने इस राष्ट्रीय एकता के लिये अथक प्रयत्न एवं परिश्रम किया वहाँ उन राजाओं को भी कम श्रेय नहीं दिया जा सकता, जिन्होंने निरर्थक राजदण्ड का त्याग कर संघबद्ध होने के लिये बुद्धिमानी का परिचय दिया । जिस देश के अमीर-गरीब, छोटे-बड़े तथा उच्च निम्न सब वर्गों के निवासी एक ही उद्देश्य के लिये बिना किसी अन्यथा भाव के प्रसन्नतापूर्वक एक ध्वज के नीचे आ जाते हैं, वह राष्ट्र संसार में अपना मस्तक ऊँचा करके खड़ा रहता है । इसके विपरीत राष्ट्रों के पतन होने में कोई विलम्ब नहीं लगता ।

सम्राट समुद्रगुप्त ने अपने प्रयास बल पर सैकड़ों भागों में विभक्त भारत-भूमि को एक करके वैदिक रीति से अश्वमेधयज्ञ का आयोजन किया जो कि बिना किसी विघ्न के सम्पूर्ण हुआ और वह भारत के चक्रवर्ती सम्राट के पद पर प्रतिष्ठित हुआ । उस समय भारतीय साम्राज्य का विस्तार ब्रह्मपुत्र से चम्बल और हिमालय से नर्मदा तक था ।

भारत की इस राष्ट्रीय एकता का फल यह हुआ कि लंका के राजा मेघवर्मन, उत्तर-पश्चिम के दूरवर्ती शक राजाओं, गांधार के शाहिकुशन तथा काबुल के आक्सस नदी तक राज्य करने वाला साहांशु आदि शासकों ने स्वयं ही अधीनता अथवा मित्रता स्वीकार करली ।

इस प्रकार सीमाओं सहित भारत की आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ बनाकर समुद्रगुप्त ने प्रजारंजन की ओर ध्यान दिया । यह समुद्रगुप्त के संयमपूर्ण चरित्र का ही बल था कि इतने विशाल साम्राज्य का एकछत्र स्वामी होने पर भी उसका ध्यान भोग-विलास की ओर जाने के बजाय प्रजा की ओर गया । सत्ता का नशा संसार की सौ मदिराओं से भी अधिक होता है । उसकी बेहोशी सँभालने में एकमात्र आध्यात्मिक दृष्टिकोण ही समर्थ हो सकता है । अन्यथा भौतिक भोग का दृष्टिकोण रखने वाले असंख्यो सत्ताधारी संसार में पानी के बुलबुलों की तरह उठते और मिटते रहे हैं और इसी प्रकार बनते और मिटते रहेंगे ।

चरित्र एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अभाव में ही कोई भी सत्ताधारी फिर चाहे वह राजनीतिक क्षेत्र का हो अथवा धार्मिक क्षेत्र का मदांश होकर पशु की कोटि से भी उतरकर पिशाचता की कोटि में उतर जाते हैं ।

सम्राट समुद्रगुप्त ने अश्वमेध के समन्वय के बाद जहाँ ब्राह्मणों को स्वर्ण मुद्रायें दक्षिणा में दी वहाँ प्रजा को भी पुरस्कारों से वंचित न रखा । उसने यज्ञ की सफलता की प्रसन्नता एवं स्मृति में अनेकों शासन सुधार किये, असंख्यों वृक्ष लगवाये, कुँए खुदवाये और शिक्षण संस्थायें स्थापित कीं ।

एकता एवं संगठन के फलस्वरूप भारत में धन-धान्य की वृद्धि हुई प्रजा फलने और फूलने लगी । बुद्धिमान समुद्रगुप्त को इससे प्रसन्नता के साथ-साथ चिन्ता भी हुई । उसकी चिन्ता का, एक विशेष कारण यह था कि धन-धान्य की बहुतायत के कारण प्रजा आलसी तथा विलासप्रिय हो सकती है । जिससे राष्ट्र में पुनः विघटन तथा निर्बलता आ सकती है । राष्ट्र को आलस्य तथा उसके परिणामस्वरूप जड़ता की सम्भावना के अभिशाप से बचाने के लिये सम्राट ने स्वयं अपने जीवन में संगीत, कला, कौशल तथा काव्य-साहित्य की अवतरणा की । क्योंकि वह जानता था कि यदि वह स्वयं इन कलाओं तथा विशेषताओं को अपने जीवन में उतारेगा तो स्वभावतः प्रजा उसका अनुकरण करेगी ही । इसके विपरीत यदि वह विलास की ओर अभिमुख होता है तो प्रजा बिना किसी अवरोध के आलसी तथा विलासी बन जायेगी ।

प्रजा के कल्याणार्थ सम्राट समुद्रगुप्त ने संगीत, काव्य तथा चित्रकला का स्वयं अभ्यास ही नहीं किया प्रत्युत उसमें निष्णान्त बना, जिसका फल यह हुआ कि उस समय के भारत में सबसे अधिक कवि, कलाकार तथा चित्रकार एवं मूर्तिकार हुये हैं । अपने युगीन भारत की विजयों तथा विशेषताओं की इन कलाओं के स्मृति रूप में समुद्रगुप्त ने समय-समय पर जो सिक्के चलाये उनमें किसी पर स्वयं को वीणा लिये अंकित कराया, किसी पर विजय श्री के रूप में साम्राज्ञी, अश्व तथा कृपाण को अंकित कराया है ।

इस केवल एक संयमी सम्राट के हो जाने से भारत का वह काल इतिहास में स्वर्णयुग के नाम से प्रसिद्ध है, तब भला जिस दिन भारत का जन-जन संयमी तथा चरित्रवान बन सकेगा उस दिन यह भारत, यह विशाल भाषा उन्नति के किस उच्च शिखर पर नहीं पहुँच जायेगा ?

संस्कृति की रक्षार्थ बलिदान—

स्कन्दगुप्त

पाटलिपुत्र के नागरिक सुख की नींद सो रहे थे किन्तु सम्राट स्कन्दगुप्त की आँखों में आज नींद नहीं थी । उनके

कानों में अभी तक उस ब्राह्मण के शब्द गूँज रहे थे—“शत्रु को छोटा नहीं समझें सम्राट ! आपको स्वयं हूणों की राह रोकने के लिए प्रयास करना होगा । नहीं तो टिड्डियों की तरह आने वाले बर्बर हूण इस सभ्यता, संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट करके रख देंगे ।” — “नहीं मेरे रहते ऐसा नहीं हो सकता, इस पुण्यभूमि पर उनके अपवित्र पैर नहीं पड़ सकते ।”

स्कन्दगुप्त को मगध का विशाल साम्राज्य अपने पिता से उत्तराधिकार में मिला था । उन्होंने इसे सुख की सेज नहीं काँटों का ताज मानकर अंगीकार किया था । राज्य सुख भोगने के लिये नहीं, प्रजा की सेवा का सुअवसर समझकर इस सौभाग्य को स्वीकारा था । उन्होंने अपने जीवन को भारतीय संस्कृति के आदर्शों के अनुरूप ढाला था । आयु तीस पार करने को थी पर अभी तक विवाह करने की सूझी ही नहीं । महामात्य कभी से विवाह करने का आग्रह कर रहे थे पर वे टालते ही जाते थे । वे सारा जीवन सेवा में ही व्यतीत कर देना चाहते थे । बहुत आग्रह पर उन्होंने सोचा था कि परिषद में आर्यपट्ट पर राजमहीषी को अभिषिक्ति करने की घोषणा करेंगे किन्तु आज ही तो वह ब्राह्मण देवता आ उपस्थित हुए ।

ब्रह्मतेज से दैदीप्य उनका मस्तक चिन्ता की रेखाओं से घिरा हुआ था । काश्मीर से पाटलिपुत्र तक आने की थकान उनके चेहरे पर स्पष्ट दिखाई दे रही थी । गाढ़े का अधोवस्त्र तथा यज्ञोपवीत रास्ते की धूल से मैला हो उठा था । समाचार जो वे लाये थे वह था ही ऐसा जिसे सुनकर किसी भी भारतीय का चिन्तित हो जाना स्वाभाविक था । उन्होंने कहा —“सम्राट ! कुम्भा के उस पार अगणित हूण एकत्रित हो रहे हैं । ये बर्बर हूण निरे पशु हैं । इनका धर्म केवल पेट-प्रजनन तक ही सीमित है । स्वर्ण-भूमि के वैभव की कहानियाँ सुन-सुन कर उनके मुँह से लार टपकने लगी है । टिड्डि दल की तरह इनके झुण्ड के झुण्ड एकत्रित हो रहे हैं ।” — “ब्राह्मण देवता आप आश्वत होवें । परमवीर गोविन्दगुप्त सीमा पर सन्नद्ध हैं । उनके रहते कोई इधर आँख उठाकर नहीं देख सकता ।” स्कन्दगुप्त के इस कथन पर ही ब्राह्मण ने वह बात कही जो उनको सोने नहीं दे रही थी ।

सम्राट स्कन्दगुप्त इस कल्पना से ही काँप उठे । आज जो वैभव तथा शालीनता आर्यावर्त में परिजात पुष्प की तरह सुरभित हो रही है उसे बर्बर पशु रौंद कर रख देंगे । सुसंस्कृत नागरिक जो पराये धन को अपना बना लेने का विचार तक अपने पवित्र मन में नहीं लाते । घर को ताले नहीं लगाये जाते । अपराधों की संख्या नहीं के बराबर है । नारी को कोई कुदृष्टि से नहीं देखता । मन्दिर जन-जाग्रति के केन्द्र जहाँ उपासना करने नागरिक एकत्रित होते हैं तथा निरन्तर उत्कृष्ट बनने की प्रेरणा पाते हैं क्या यह सब मिट जायगा । यह संस्कृति का सुरम्य उद्यान बर्बरों की घोड़ों की टापों तले रौंद दिया जायेगा । हमारे देव मन्दिर अपवित्र किये जायेंगे । हमारी माँ-बहनों के सतीत्व लूटे

जायेंगे । “नहीं-नहीं” ऐसा नहीं हो सकता । भले ही मुझे अपना बलिदान भी देना पड़े, राज्य भी खोना पड़े मैं ऐसा कदापि नहीं होने दूँगा ।

सौतेली माँ रानी अनन्त देवी की राज्य लिप्सा से वह बेखबर न थे । स्कन्द का पाटलिपुत्र छोड़ते ही वह अपने पुत्र पुरुगुप्त को सम्राट बनाने का षड्यन्त्र रचेंगी । “रच लें— सम्राट होने की साध किसे रही है— व्यक्तित्व की कसौटी तो चरित्र होता है । यह स्वर्णभूमि रही— यह देव संस्कृति रही तो— स्कन्द धन्य ही होगा । अमर होकर तो कोई आया नहीं, न सदा सुख, वैभव, पद ही स्थायी रहे हैं स्कन्दगुप्त को कुम्भा के पार माँ संस्कृति पुकार रही है वह तो वहीं जाएगा ।”

मगध के रणबाँकुरे वीरों की वाहिनी सजी । नगरवासियों ने इन्हें भावभीनी विदाई दी । माताओं ने पुत्रों को बहिनों ने भाइयों को, कुल वधुओं ने अपने पतियों के मस्तक पर तिलक लगाकर संस्कृति की रक्षार्थ मुस्कराते हुए विदा किया । सम्राट स्कन्दगुप्त पर आज प्रजा निछावर हो रही थी । धन जन देने में एक से एक बढ़कर था ।

धर्म, आदर्श तथा नैतिकता सभ्य व सुसंस्कृत लोगों के लिए है । बर्बर तथा लुटेरे उनकी महत्ता को क्या समझें । उनके लिये तो शस्त्र ही उपयुक्त रहते हैं । उनकी लिप्सा का उपचार यही होता है । इन बर्बर हूण आक्रान्ताओं से जूझने के लिए यह वाहिनी चल पड़ी ।

सम्राट स्कन्दगुप्त के इस उदात्त चरित्र के निर्माण में सद्गुण्यों का बहुत योगदान था । उनसे भी अधिक योगदान उनके आचार्य वर का था, जिन्होंने उनको सही दिशा का दिग्दर्शन कराया था । लोभ, मोह, अहंकार जैसी ओछी भावनाओं से ऊपर उठाकर त्याग, तप तथा परमार्थ के श्रेय पथ पर अग्रसर किया था । वे निर्द्वन्द्व थे । किसी प्रकार की चिन्ता उनके मन में शेष न थी । अपने आपको धन्य मानकर वे मातृभूमि तथा संस्कृति की रक्षार्थ प्रस्थान कर रहे थे ।

सूदूर कुम्भा के तट पर इस वाहिनी ने अपना सैन्य शिविर स्थापित किया । पंचनद प्रदेश पीछे छूट चुका था । मगध में बसे अपने परिजनों का अभाव कभी सैनिकों को खला नहीं । उस अभाव की पूर्ति सम्राट स्कन्दगुप्त की आत्मीयता ने पूरा कर दिया था । एक दिन दो दिन की बात नहीं पूरे तीन माह तक सम्राट एक साधारण सैनिक की भाँति नग्न धरती पर सोये ।

झुण्ड के झुण्ड हूण आते और इस अभेद्य प्राचीर-सी मगधवाहिनी से टकराकर पुनः लौट जाते । भारतीय सैनिकों के तीक्ष्ण खड्गों के अचूक बार हूणों के सिर इस प्रकार काट देते जैसे बिजली चली हो । प्रत्येक बार हूण समुदाय को अपने अनेक साथियों के प्राणों की आहुति देकर पीछे हट जाना पड़ा । हूण नेता खिंखिल के स्वप्न धूल में मिलने लगे । वह उन्हें समझा-बुझाकर, प्रलोभन देकर संगठित करके लाता और वे मातृभूमि के रक्षक इन भारतीय वीरों से हार कर भाग खड़े होते ।

स्कन्दगुप्त अपने वीर सैनिकों के साथ कुम्भा तट पर अभाव भरा जीवन जी रहे थे फिर भी उन लोगों का मनोबल बहुत ऊँचा था। क्योंकि वे आदर्शों के लिये लड़ रहे थे। उसी समय पाटलिपुत्र में महारानी अनन्त देवी अपने पुत्र पुरुगुप्त को सम्राट बनाने का षड्यन्त्र रच रही थी।

स्कन्दगुप्त इससे अनभिज्ञ नहीं थे। जिसकी उन्हें पहले से आशंका थी वही हो रहा था। वे मनुष्यों के दुर्बल पक्ष को देखने के आदी नहीं थे। उन्होंने तो उनके उज्ज्वल पक्ष को देखा था। यही भावना व्यक्ति को कर्तव्य पथ से विचलित नहीं होने देती है। यदि दूसरों के दोष ही देखते रहें तो स्वयं की प्रतिभा, उत्साह, निष्ठा तथा लगन ठण्डी पड़ने लगती है। जो करना चाहते हैं वह कर नहीं पाते।

उन्होंने मगध की राजधानी में क्या हो रहा है? उन्हें सहायता क्यों नहीं मिल रही है? उनका भविष्य क्या होगा? कल वे सम्राट थे आज उनकी स्थिति क्या है? इन सब बातों से चिंत को हटा लिया। अपने उद्देश्य के प्रति एकनिष्ठ रहकर वे जूझते रहे। आक्रान्ताओं की संख्या घटने लगी युद्ध में हानि दोनों पक्ष उठाते हैं।

स्कन्दगुप्त स्वयं भी बुरी तरह आहत हो गये। सैनिकों ने उन्हें शिविर में चलने का आग्रह किया पर उन्होंने अस्वीकार कर दिया। प्रातःकाल से युद्ध आरम्भ हुआ। भगवान भास्कर भी स्कन्द का शौर्य देखकर प्रसन्न हो उठे। दिन ढलने लगा। हूणों के पाँव उखड़ गये, वे भाग खड़े हुए।

सम्राट को लगा घाव प्राणघातक था। युद्ध से शिविर में लौटे तब तक बहुत-सा रक्त बह चुका था। स्वयं के प्राणों की परवाह न करके उन्होंने मातृभूमि की लाज बचा ली।

युद्ध का स्वरूप भले ही दूसरा हो। संस्कृति की रक्षा के लिये उत्सर्ग करने का ऐसा ही समय फिर आ पहुँचा है, स्कन्दगुप्त का यह बलिदान जाग्रत आत्माओं के रक्त में उबाल लाये बिना न रहेगा। वे युग धर्म पालन को उठ खड़े होंगे।

राष्ट्र रक्षार्थ सम्राट—यशोधर्मा का प्रबल पुरुषार्थ

भारत के विगत पन्द्रह सौ वर्षों के इतिहास का एक मुख्य अंश विदेशियों के आक्रमण और भारतीयों द्वारा उनके समर्थ प्रतिरोध का इतिहास रहा है। यूनानियों के पश्चात् और अंग्रेजों से पूर्व जितनी भी जातियाँ भारत पर चढ़ कर आयीं वे असभ्य, असंस्कृत और बर्बर थीं। यों स्वार्थपरता और हृदयहीनता में तो यूनानी व अंग्रेज भी कम नहीं थे पर उन्हें असभ्य नहीं कहा जा सकता। गुप्त काल के अन्तिम यशस्वी सम्राट स्कन्दगुप्त के समय में जिस बर्बर जाति ने भारत पर आक्रमण किया वह जाति बर्बरता में सर्वाधिक कुख्यात है। इस जाति का नाम था हूण।

मध्य एशिया से आने वाली यह बर्बर जाति एशिया के अनेकानेक देशों को टिड्डी दल की तरह चाटती हुई भारतवर्ष तक आ पहुँची थी। यह शकों व कुषाणों से भी अधिक भयंकर थी। लाखों की संख्या में दल के दल हूण एशिया को रौंदते हुये चले आ रहे थे। एशिया ही नहीं इन्होंने यूरोप को भी रौंदा था। मध्य एशिया से इन लोगों ने दो दिशाओं में गमन किया था। एक भारत की ओर तथा दूसरे यूरोप की ओर।

भारत में इस जाति को अपने पाँव जमाने में सफलता नहीं मिल सकी। उन्हें उलटे पाँव भागना पड़ा अथवा बर्बरता त्याग कर सांस्कृतिक जीवन अपनाना पड़ा। सारे एशिया को रौंदने वाली इस बर्बर जाति को भारत से भगाने का श्रेय जिन दो पराक्रमी सम्राटों को है वे हैं सम्राट स्कन्दगुप्त और यशोधर्मा।

सम्राट स्कन्दगुप्त ने इस जाति की पहली बाढ़ को कुम्भा नदी के तीर पर ही रोक दिया। वर्षों तक वे वहीं अपनी सेना के साथ चट्टान की तरह अड़े रहे। हूणों को पराजित होकर भागना पड़ा।

कुछ समय बाद खिंखिल के नेतृत्व में ये लोग फिर आये। अबकी बार भी सम्राट स्कन्दगुप्त ने उन्हें कुम्भा के तट पर ही रोक दिया। एक दो महीने नहीं पूरे सोलह वर्ष तक सम्राट स्कन्दगुप्त अपनी सेना के साथ वहाँ डटे रहे। उनके जीते जी एक भी हूण भारत भूमि पर पाँव नहीं रख सका। सोलह वर्ष तक सम्राट एक सामान्य सिपाही की तरह धरती पर सोते रहे, उन्हीं का साधारण भोजन करते रहे। ऐसे उदाहरण विश्व के इतिहास में अन्यत्र नहीं मिल सकेगा।

हूण टिड्डी दल की तरह दल बाँधकर लाखों की संख्या में आते थे, लूट-पाट, हत्या, मद्य-माँस भक्षण उनका स्वभाव था। पशुवत ही था उनका यह जीवन। हमारे देश का नाम सर्वप्रथम आर्यावर्त था। आर्य का अर्थ होता है श्रेष्ठ और सुसंस्कृत मनुष्य। हूण पूर्णरूपेण अनार्य थे। आर्य देश पर चढ़कर आने वाले इन अनार्यों को सम्राट स्कन्दगुप्त के मरते ही भारत में घुस पड़ने का मार्ग मिल गया क्योंकि पीछे से मगध का साम्राज्य उन जैसे सुयोग्य शासक के हाथ में नहीं रहा।

वे लूटमार, अत्याचार और अनाचार करते हुए आगे बढ़ते गये। तक्षशिला विश्वविद्यालय के विशाल पुस्तकालय को उन्होंने जलाकर खाक कर डाला। वे जंगली क्या समझते थे कि विद्या क्या है? ज्ञान क्या होता है? उनकी इस बर्बरता को रोकने की सामर्थ्य तत्कालीन मगध सम्राट में नहीं थी। भारतीय वीर रक्त का घूँट पीकर रह गये, पर क्या करते कोई नेता उठकर खड़ा नहीं हो रहा था। पर तभी एक वीर उठकर खड़ा हुआ। वसुंधरा भला कभी वीरों से खाली रही है। इस वीर का नाम था यशोधर्मा, यथा नाम तथा गुण की उक्ति को सार्थक करने वाला।

मालवा प्रदेश के एक छोटे से प्रदेश के अधिपति यशोधर्मा से यह देखा न गया कि उस देश में जहाँ कोई किसी की वस्तु चोरी करना तो दूर छूना तक पाप मानता

१.६४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

है, जहाँ घरों में ताले नहीं लगाये जाते, अपराध नाममात्र को होते हैं, बर्बर और असभ्य हूण मनमाना अत्याचार करते रहें, हमारे देव मन्दिरों और जनता को लूटते रहें, मातृ-शक्ति को अपमानित करते रहें तो यह जीवन फिर किस दिन काम आयेगा ?

यशोधर्मा ने छोटे-छोटे राजाओं से जो मगध सम्राट को कमजोर देख स्वतन्त्र हो गये थे, अनुरोध किया कि वे हूणों को भारत भूमि से बाहर खदेड़ने में उसकी सहायता करें। नेता के उठ खड़े होते ही सहायक तो अपने आप जुटने लगे। देखते ही देखते एक विशाल सेना खड़ी हो गयी। यशोधर्मा छोटे से प्रदेश का अधिपति होते हुए भी भावनाओं और विचारों से महान था। उसकी अपनी कोई व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा इस संगठन के पीछे नहीं थी फिर ऐसे व्यक्ति को सहायक क्यों न मिलते।

भारतीय राजाओं की इस संगठितवाहिनी का नेतृत्व यशोधर्मा को सौंपा गया। इस वीर ने हूण नेता मिहिरकुल को पराजित कर उसे इस स्वर्णभूमि से बाहर करने की प्रतिज्ञा की। सिंहों की इस संगठित सेना ने हूणों को जा घेरा।

दशपुर (वर्तमान मन्दसौर) नामक स्थान पर घमासान युद्ध हुआ। भारतीय वीर जो अब तक असंगठित होने के कारण हूणों की नृशंस विनाश लीला देख रहे थे। अब उसका गिन-गिन कर बदला चुकाने लगे थे। इन काल ने वीरवेश धारी भारतीयों की असिधार की चमक के आगे हूणों के भाले फीके पड़ गये। देखते ही देखते उनका नेता मिहिरकुल बन्दी बना लिया गया। उसकी बन्दर सेना भाग खड़ी हुई। वह यशोधर्मा के पाँवों में गिरकर प्राणों की भीख माँगने लगा। मगध के बौद्ध सम्राट को दया आ गयी। उसने यशोधर्मा से उसे प्राण दान देने का अनुरोध किया। मिहिरकुल को प्राण दान मिला पर बिना शर्त के नहीं। वह शर्त थी भारतीय प्रदेश खाली करके जाने की।

मिहिरकुल को तब तक बन्दी रखा गया जब तक हूण लोग भारत की सीमा से बाहर नहीं निकल जाते। मिहिरकुल ने अपने सरदारों की हूणों को भारतवर्ष से बाहर निकल जाने के लिये प्रेरित करने भेजा। हूण पहले ही दशपुर के समरांगण में भारतीय वीरों और उनके नेता यशोधर्मा का महाकाल रूप देख चुके थे। अब उनका यहाँ टिक पाना सम्भव नहीं था। अतः उन्होंने अपनी राह लेना ही उचित समझा।

हूणों को पराजित करने के कारण यशोधर्मा की यश पताका सारे देश में फहराने लगी। उज्जैन में उनका भव्य स्वागत किया गया। भारतीय राजाओं ने उन्हें अपना सम्राट मानकर उन्हें सम्राट विक्रमादित्य के सिंहासन पर आसीन किया, वे उनके माण्डलिक बने। सम्राट पद पाने के बाद भी वे उसके मोह से रहित ही रहे। एक बार फिर उन्होंने अपनी सेना सजाई और हूणों को छानकर भारत से बाहर निकाला। मिहिरकुल को उन्होंने ठेठ सिन्धु के तट पर

जाकर छोड़ा।

पराजित हूण नेता की गर्दन नीची झुक गयी। इस बर्बर जाति को इस देश में अपनी बर्बरता दिखाने का अवसर नहीं मिला। वे यहाँ से उलटे पाँव ऐसे भागे कि फिर इधर मुड़कर देखने का प्रयास नहीं किया। वीरवर सम्राट यशोधर्मा का यह यशस्वी कार्य उन्हें प्रातः स्मरणीय बना गया। अपने पुरुषार्थ, पराक्रम और शक्ति का व्यक्तित्व परिधि से बाहर निकल कर सर्वहित के लिए समर्पण करना - व्यक्ति को इतिहास पुरुष बनाने में समर्थ होता है। देश प्रेम, स्वतन्त्रता की रक्षा, संस्कृति और धर्म के क्षरण को रोकने के लिए जिन-जिन महापुरुषों ने भी बलिदान किये हैं वे भले ही स्थूल जीवन का आनन्द अधिक समय तक न ले सके हों पर काल पर विजय प्राप्त कर महामानव बनने का श्रेय उन्हें ही प्राप्त होता रहा है।

शौर्य साहस का धनी-

पुष्यमित्र शुंग

ब्राह्मण पुष्यमित्र ने सुना- दिमित्र यवन अपनी विशाल वाहिनी लेकर पाटलिपुत्र की ओर चल पड़ा है। उसे यहाँ पहुँचने में एक सप्ताह से अधिक न लगेगा। दिमित्र सिकन्दर के अधूरे सपने को पूरा करने आ रहा है और इधर पाटलिपुत्र को अरक्षित छोड़कर मौर्य सम्राट बृहद्रथ अपनी जान बचाकर भागने की चिन्ता में हैं।

पुष्यमित्र में आगे सुनने की हिम्मत न थी इतना ही उसके सोये क्षात्र धर्म को जगाने के लिये पर्याप्त था। उसने ब्राह्मण होते हुए भी आपात्कालीन धर्म के रूप में क्षत्रिय धर्म स्वीकार करने का निश्चय किया। उसे यह स्वीकार न था कि यवन उसके देव मन्दिरों को भ्रष्ट करें तथा मातृभूमि को अपने घोड़ों की टापों तले रौंदें और वह घर में बैठा हुआ अग्निहोत्र ही करता रहे।

उसने भूतपूर्व महामात्य शंकु से विचार-विमर्श किया। महामात्य ने स्वीकार किया "अब मौर्य साम्राज्य पतनोन्मुख हो चला है। सम्राट अशोक के बाद उनके पुत्रों ने विशाल साम्राज्य के चार भाग करके बाँट लिये। मैंने उस समय विरोध किया था तभी मुझे महामात्य पद से हटना पड़ा था। अब न तो उतनी सेना ही राज्य के पास है और न योग्य सेनापति ही है।"

पुष्यमित्र ने कहा-"यह आप जो कह रहे हैं ठीक है पर क्या हम अपनी आँखों के सामने इसे पददलित होते देख सकेंगे। अभी तो समय है, कुछ कर भी सकते हैं। इसीलिये मैंने आपात्कालीन धर्म के रूप में खड्ग पकड़ ली है। हमें मिलकर कुछ उपाय करना चाहिए।"

शंकु सहमत हो गया। वृद्ध महामात्य तथा पुष्यमित्र ने अपनी योजना बना ली। जहाँ अकर्मण्यता होगी वहाँ पतन अपने पाँव फैलाता है पर जहाँ कर्म करने को कोई संकल्प लेकर प्रस्तुत होता है, तो सहायक मिल ही जाते हैं।

अकर्मण्य सम्राट बृहद्रथ से सेना भां प्रसन्न नहीं थी । महामात्य शंकु का कई गुल्म नायकों पर अब भी प्रभाव था उनकी एक गोष्ठी आयोजित की गई ।

पुष्यमित्र ने उन्हें उद्बोधन दिया- “मौर्य वाहिनी के वीरो! तुम्हें स्मरण होगा इसी पाटलिपुत्र के सम्राट ने सेल्यूकस का मानमर्दन करके उससे अपमानजनक संधि कराई थी । इन्हीं वीरों ने सारे भारत को सम्राट अशोक के नेतृत्व में एक सूत्र में पिरोया था ।

तुम्हें पता होगा दिमित्र पाटलिपुत्र विजय करने आ रहा है और हमारे सम्राट को अपने विलास-कक्ष से बाहर निकलने का समय ही नहीं ।

बोलो ! क्या तुम अपने जीते जी इस भूमि को पद दलित होने दोगे ।

“कदापि नहीं । कदापि नहीं ॥”

“मुझे तुमसे यही आशा थी ।”

इसी प्रकार का उद्बोधन नागरिकों को भी दिया गया ।

“पाटलिपुत्र के नागरिको ! आपको ज्ञात होगा कि दिमित्र यवन पाटलिपुत्र पर आक्रमण करने आ रहा है । क्या आप इसके गौरव की रक्षा को तन, मन व धन देकर बचाने का प्रयास नहीं करेंगे ?” करेंगे ! अवश्य करेंगे । एक समवेत स्वर गुँजा । “कल सब सम्राट के सम्मुख उपस्थित होंगे वहाँ निर्णय होगा ।” पुष्यमित्र ने कहा ।

दूसरे दिन । सम्राट के दर्शनों के लिये प्रजा एकत्रित हो चुकी थी पर उन्हें यवन दासियों से पाँव दबाने से फुसंत नहीं थी । पुष्यमित्र ने परिचारिका को कहा-“सम्राट से निवेदन करो प्रजा आपके दर्शन करना चाहती है ।

बड़ी देर में सम्राट पधारे । “सम्राट बृहद्रथ की जय” प्रजा ने जयकार की ।

“आप लोगों को कोई कष्ट है ? हम सम्राट हैं, कहो ?”

“सम्राट, मैं पुष्यमित्र शृंग पाटलिपुत्र की प्रजा के सेवक के रूप में श्रीमान् से निवेदन करना चाहता हूँ कि पाटलिपुत्र के नागरिक अपने आप को असुरक्षित अनुभव कर रहे हैं । श्रेष्ठिजन नगर छोड़कर जा रहे हैं । सारे नगर में भय की लहर छाई है ।”

“इस का कारण ?” सम्राट ने पूछा ।

“यवन दिमित्र का आक्रमण ।”

“तो इसमें भय करने की क्या बात है । हम अहिंसा के प्रजारी हैं व्यर्थ का रक्तपात हमें पसन्द नहीं । हम राज्य उन्हें दे देंगे ।” सम्राट बोले ।

“प्रजा पूछती है कि क्या आज तक यही हमारी परम्परा रही है ? यवन नगर को बिना लूटे छोड़ देंगे ? हमारे देव मन्दिरों को नहीं तोड़ेंगे ?” पुष्यमित्र ने कहा ।

“तो मैं क्या करूँ ? प्रजा क्या चाहती है ?

“प्रजा युद्ध चाहती है सम्राट !”

“हमारी सेना पूरी यहाँ है नहीं, आने में काफी समय लगेगा, तब तक पाटलिपुत्र की रक्षा असम्भव है ।” सम्राट बोले ।

“प्रजा मान सहित मरना पसन्द करती है सम्राट ! प्रजा ही सेना की तरह लड़ेगी । मैं इसका सेनापतित्व करूँगा । यही प्रजा पाटलिपुत्र का गौरव अक्षुण्ण रखेगी ।” पुष्यमित्र ने कहा ।

सम्राट का पतनोन्मुख जीवन उन्हें खोखला बना चुका था वे पुष्यमित्र के व्यक्तित्व के आगे ठहर न सके । “मैं तुम्हें सेनापति के समस्त अधिकार सौंपता हूँ ।” सम्राट ने कहा ।

“सेनापति पुष्यमित्र की जय” के जयघोष से पाटलिपुत्र में नवजीवन आ गया ।

पुष्यमित्र ने बाहर गई सेना को बुलाने विश्वस्त सैनिक भेज दिये । सम्राट तथा उनके महामात्य महलों में ही नजरबन्द कर दिये गये । सैनिकों को इकट्ठा करके नगर के प्राचीरों पर पहरा आरम्भ करवा दिया ।

धनिकों ने धन दिया, युवक सैनिक प्रशिक्षण पाने लगे महिलाओं ने रसद व गर्म पानी तथा पत्थरों की व्यवस्था जुटानी आरम्भ कर दी । कल का अरक्षित पाटलिपुत्र आज गौरव से सिर उठाकर खड़ा हो गया ।

यवन सेना ने आकर दुर्ग घेर लिया । दुर्ग के चारों ओर खाई में पानी भरा था । जो भी तैर कर प्राचीर पर चढ़ने का प्रयास करता, उस पर वह मार पड़ती कि भागता ही नजर आता । यवनों के तीर प्राचीर तक पहुँच नहीं पाते थे । प्राचीर पर से बरसाये तीर गजब ढा रहे थे ।

यवनों की आधी सेना समाप्त हो गई । दिमित्र के सपने चूर-चूर होने लगे । उसने रात्रि में दूर एक नावों का बेड़ा बाँधा दिन में उसे गंगा के पानी में खाई तक ले आया । एक सैनिक को इसकी भनक पड़ गई । उसने पुष्यमित्र को इसकी सूचना दी । यदि वह इसमें सफल हो जाता तो फिर उनका प्राचीर पर चढ़ना सरल था ।

उसने अपने पुत्र अग्निमित्र के साथ पन्द्रह गिने हुए सैनिक गुप्त रास्ते से खाई में प्रविष्ट करा दिये वे अन्दर ही अन्दर बेड़े तक जा पहुँचे और सब नावें बहा आए । इस जोखम भरे काम को इन वीरों ने इस कुशलता से किया कि यवन जान भी न सके ।

दूसरे दिन मगध की बाहर गई सेना वापस आ चुकी थी । यवन दो पाटों के बीच फँस गए । जब उनके योद्धा कट-कट कर गिरने लगे तो सेना में खलबली मच गई । दिमित्र सिर पर पाँव रखकर भागता नजर आया ।

पुष्यमित्र के परिश्रम और साहस से पाटलिपुत्र का सम्मान अक्षुण्ण रह गया । नागरिकों ने पुष्यमित्र को ही वहाँ का सम्राट चुन लिया । उसने अपने दायित्व को बड़ी कुशलता से निभाया ।

पुण्यमित्र शृंग की भूमिका प्रस्तुत करने के लिये आज भी समय जाग्रत आत्माओं को युग धर्म पालन के लिए पुकार रहा है ।

निष्काम लोकसेवी—

महाराजा हर्षवर्धन

“अब भी आप राज्यारोहण के लिये तैयार नहीं हैं ।” बाल्य बंधु माधव गुप्त ने स्थानेश्वर नरेश प्रभाकरवर्धन के द्वितीयपुत्र शिलादित्य से पूछा ।

“माधव, अब तुम्हें कितनी बार कहूँ कि मुझे राजा बनने में कोई अनुरक्ति नहीं है । मैं तो धर्म-प्रचार करके अपना यह जीवन सफल सार्थक करना चाहता हूँ । कितना अच्छा होता कि मैं किसी साधारण व्यक्ति के घर जन्म लेता तो आज की-सी विषम स्थिति तो सामने नहीं आती ।”

राजकुमार आप यह समझते हैं कि बौद्ध भिक्षु बन कर ही आप लोकसेवा कर सकेंगे, अपना जीवन सफल, सार्थक कर सकेंगे । राजा बनकर नहीं । मेरी दृष्टि में तो आपका यह सोचना ठीक नहीं । मनुष्य यदि अपना दृष्टिकोण सही रखे तो वह किसी भी काम को करता हुआ लोकसेवा कर सकता है । आप राज्याधिकार को अपनी महत्वाकांक्षा, तृप्ति, सुखोपभोग, ऐश्वर्य लाभ के लिये नहीं अपने दायित्व के रूप में निष्काम भाव से भी तो ग्रहण कर सकते हैं । फिर आप जो कार्य बौद्ध भिक्षु बनकर कर सकते हैं उससे कहीं अधिक स्थानेश्वर सम्राट बन कर भी कर सकते हैं । ऋषि-मनीषियों का कथन है कि संसार से भागने की आवश्यकता नहीं है, अपनी दृष्टि को असंसारी बनाने की है ।

अपने बाल्य बंधु का कथन उन्हें तथ्यपूर्ण लगा । वे उस पर गहराई से विचार करने लगे । माधव गुप्त ने देखा उसकी बातों का असर होने लगा है । अतः उसने अपनी बात आगे बढ़ायी — “आज आपका व्यक्तित्व जवान है । आप शरीर से पुष्ट, बलवान, बौद्धिक दृष्टि से परिपक्व और ज्ञानवान हैं । आपको इस स्थिति तक पहुँचाने में आपके स्वर्गीय पिताजी—परम भट्टारक महाराजा राज प्रभाकर वर्धन, आपके अग्रज महाराज राज्यवर्धन, भगिनी राज्यश्री आदि का स्नेह, सहयोग रहा है । स्वर्गीय महाराज की यशकीर्ति को अधुण रखना, अपने अग्रज की मृत्यु का प्रतिकार लेना, भगिनी की असहाय्यता में सहायता करना भी तो आपका दायित्व है और फिर स्थानेश्वर के राज्यसिंहासन पर बैठकर प्रजा को सुशासन देना, राष्ट्र की समृद्धि का उद्योग करना भी तो पुण्यकार्य ही है । उसे भी आप निष्काम भाव से करते रह सकते हैं ।”

शिलादित्य पर माधव गुप्त की बातों का प्रभाव पड़े बिना न रह सका । ठीक ही तो कह रहा है वह । व्यक्ति का दृष्टिकोण सेवापरक हो भोगपरक नहीं तो फिर वैभव

उसे बाँध कैसे पाएगा । वह तो उनसे निर्लस रह कर अपने अभीष्ट को पूरा करता रहेगा । मैं भी स्थानेश्वर का राज्यसिंहासन प्रजा के सेवक के रूप में ही ग्रहण करूँ तो अपने जीवनोद्देश्य से भटक नहीं सकता ।

शिलादित्य हर्षवर्धन के नाम से स्थानेश्वर के राज्य सिंहासन पर बैठा । उन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता राज्यवर्धन की धोखे से हत्या कर देने वाले मालवाधिपति देवगुप्त और गौड़ाधिपति शशांक नरेन्द्र गुप्त को पराजित किया । भगिनी राज्यश्री को कान्यकुब्ज के राजा गृहवर्मा को ब्याही गयी थी, मालवाधिपति देवगुप्त के आक्रमण और गृहवर्मा की हत्या के उपरान्त विध्यांचल की ओर चली गयी थी । उसके राज्य की रक्षा और उसकी खोज के प्रयत्नों में निरत हर्ष के ज्येष्ठ भ्राता राज्यवर्धन भी धोखे से मारे जा चुके थे । कन्नौज का राज्य तो हर्ष ने आक्रमणकारियों से छीन लिया था पर राज्यश्री का कोई पता नहीं चल रहा था ।

राज्यश्री की खोज के लिये हर्ष एक विशाल सेना लेकर विध्यांचल की उपत्यकाओं में भटकते फिरे । बड़ी खोज के बाद उन्हें राज्यश्री मिली । वह अपनी दुःखद स्थिति से हारकर चित्तारोहण करने ही जा रही थी कि हर्ष वहाँ जा पहुँचे और उन्होंने अपनी बहिन को बचा लिया । पति और भ्राता की हत्या और राज्य छिन जाने की वेदना ने उसे झिंझोड़ कर रख दिया था । वह विक्षिप्त-सी हो गयी थी । अपने जीवन से निराश राज्यश्री को जीवन की वास्तविकता और महान उद्देश्य से परिचित कराने के लिये हर्ष को बहुत प्रयास करने पड़े । अपने इन प्रयासों में वे सफल भी हुए ।

प्रायः देखा जाता है कि सफलता के पश्चात् व्यक्ति अपने आदर्शों से गिर जाता है । किन्तु निरन्तर आत्म-निरीक्षण करते रहने के कारण वे अपने आदर्शों से गिरे नहीं वरन् उन्होंने महाराज जनक की तरह अपने आपको राज्य और वैभव से निर्लस ही रखा ।

सामयिक परिस्थितियों से निपटने के बाद उन्होंने एक क्रान्तिकारी निर्णय लिया— कान्यकुब्ज के राजसिंहासन पर अपनी बहिन राज्यश्री को बिठाने का । राज्यश्री इसके लिए बड़ी कठिनाई से तैयार हुई । राज्यश्री को कान्यकुब्ज की साम्राज्ञी बनाकर वे स्वयं उसके माण्डलिक बने । उनके द्वारा पराजित देवगुप्त व शशांक नरेन्द्रगुप्त आदि राजाओं को भी उन्होंने कान्यकुब्ज साम्राज्य के माण्डलिक बनने पर विवश किया । ऐसा आज तक के इतिहास में नहीं हुआ था । नारी द्वारा इतने बड़े साम्राज्य का सूत्र संचालन करना और कितने ही पुरुष राजाओं द्वारा उसका माण्डलिक बनना, नारी और पुरुष की समानता सिद्ध करने का यह हर्ष का साहसिक कदम था साथ ही उनकी निस्वार्थता का परिचायक भी था ।

गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् हर्षवर्धन ने एक बार फिर हारे आर्यावर्त को एक सुदृढ़ साम्राज्य के रूप में गठित करने का भागीरथ प्रयास किया । उनका यह प्रयोग भी एक नवीनता लिये हुये था । उन्होंने सभी राजाओं से

अनुरोध किया कि वे आपस में लड़ना-झगड़ना छोड़कर परस्पर मित्र बन जायें। राज्यों के बीच परिवार भाव का विकास करके एक झण्डे तल आ जायें। राज्यश्री को उन्होंने अपनी बहिन के नाते नहीं मातृ-शक्ति के नाते उस संघ राज्य की अधिष्ठात्री बनाने की बात की। वे स्वयं भी उसके माण्डलिक बने तथा अपनी तरह दूसरे राजाओं को भी कान्यकुब्ज साम्राज्य के माण्डलिक बन जाने का अनुरोध किया। उनकी इस तथ्यपूर्ण बात को जिन राजाओं ने समझा वे बन गये। किन्तु जो दुराग्रही थे उन्हें युद्ध द्वारा यह बात मनवानी पड़ी। इस प्रकार उन्होंने शृंखलित आर्यावर्त को पुनः एक सुदृढ़ साम्राज्य के रूप में गठित किया। राज्य को एक सूत्र में पिरोकर एक सुसम्बद्ध माला का रूप दिया। उनका यह उद्योग इसीलिये था कि समर्थ भारत विदेशी आक्रमणकारियों की भ्रष्ट कामनाओं को भस्मीभूत कर सके। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद उनके इस उद्योग ने पुनः भारत को शक्तिशाली बनाया था। उनकी विशेषता यह थी कि उन्होंने यह सब सहयोग व सद्भावना के आधार पर ही करना चाहा था।

आपद्धर्म की तरह राज्याभिषेक करा लेने और राज्य का सूत्र संचालन करते हुये भी हर्ष त्यागी-विरागी ही बने रहे जैसा कि उन्होंने अपने आप को बनाये रखना चाहा था। कहीं राज्य में मोह न उत्पन्न हो जाय इसलिये वे कान्यकुब्ज के सिंहासन पर आरूढ़ नहीं हुए। उन्होंने विवाह भी नहीं किया। आजन्म अविवाहित रहते हुए वे निष्काम भाव से राष्ट्रसेवा करते रहे। विवाह कर लेने और संतान हो जाने पर उनके उत्तराधिकारी अयोग्य होते हुए भी राज्य पर अपना अधिकार जता सकते थे अतः उन्होंने विवाह किया ही नहीं। वे राजाओं के सामने एक आदर्श उपस्थित करना चाहते थे कि राजा बनने का उद्देश्य राज्य भोगना नहीं एक सेवक की भाँति उसका प्रबन्ध करना होना चाहिए।

अविवाहित होते हुए भी अपना स्नेह लुटाने के लिये उन्होंने एक अनाथ बालिका को अपनी पालित पुत्री बना लिया था। इस प्रकार मानव मन की सहज स्वाभाविक भूख सन्तान पाने, उसका पोषण-निर्माण करने की कामना को उन्होंने एक परमार्थिक दृष्टि दी थी। अविवाहित रहते हुए भी सन्तान का सुख पाया जा सकता है, यह उनके इस आचरण द्वारा स्पष्ट हो जाता है।

हर्षवर्धन को तत्कालीन राजा लोग समझ नहीं पाये थे। यह भी हो सकता है कि समझकर भी अपने स्वार्थों से ऊपर नहीं उठ पाये थे। इसी कारण उन्हें समूचे आर्यावर्त को एक सुदृढ़ साम्राज्य के रूप में गठित करने में ही अपने जीवन के अधिकाधिक वर्ष लगा देने पड़े थे, जब अधिकांश राज्य स्वेच्छा से संगठित होने को तैयार नहीं हुए तो उन्हें सैन्यबल व युद्ध में पराजित करके एक साम्राज्य के माण्डलिक बनने को विवश करना पड़ा था। वे लोग स्वेच्छा से उनकी सुन्दर और हितकारी योजना को स्वीकार कर लेते तो उस समय उस शक्ति को किसी और ही दिशा में लगाते जो युद्धों में खर्च हुई।

अधिकांश समय सुदृढ़ साम्राज्य के गठन में लगाते हुये भी उन्होंने बहुत से ऐसे काम किये जो राजाओं के लिये आदर्श कहे जा सकते हैं।

धन और धरती तो ईश्वर की है। उस पर सभी मनुष्यों का समान अधिकार है। राजा सामान्य मनुष्य से अधिक सुख, सम्पदा व ऐश्वर्य क्यों भोगें? राज्य के कोष में क्यों जनता के श्रम बिन्दुओं द्वारा उपार्जित पूँजी जमा पड़ी रहे। अतः वे हर पाँचवें वर्ष प्रयाग में एक विशाल सम्मेलन करते थे। इस सम्मेलन का स्वरूप धर्म सम्मेलन का था। इस अवसर पर वे सभी प्रचलित धर्मों को सम भाव से सम्मानित किया करते थे। यों वे स्वयं बौद्ध धर्म के मानने वाले थे किन्तु अपने धर्म के प्रचार के प्रति ही वे आग्रही नहीं थे। बौद्ध, वैदिक, जैन तथा अन्य सभी धर्मों के देवताओं की प्रतिमाओं की इस अवसर पर पूजा किया करते थे। पाँच वर्ष तक राज्य कोष में जो सम्पदा एकत्रित होती थी उसका जनहित में विनियोग करते थे। गरीबों, असहायों और कष्टपीडितों को सहायता देने के साथ-साथ लोकसेवी-संस्थाओं और शिक्षण-संस्थाओं को मुक्त हस्त दान दिया करते थे।

यह अवसर एक प्रकार से सर्वस्वदान का अवसर होता था। वे अपने वस्त्राभूषण तक दान में दे दिया करते थे और फिर अपनी बहिन राज्यश्री से माँगकर वस्त्र पहना करते थे। राज्यश्री के साम्राज्य के प्रबंध संचालन में भी वे उसकी सहायता किया करते थे। धार्मिक-सहिष्णुता और सर्वधर्म समन्वय का जो प्रयास हर्षवर्धन ने किया था उससे प्रजा पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा था।

उनके समय में चीन से ह्वेनसांग नामक एक यात्री भारत आया था। वह उनके इस शासन प्रबन्ध को देखकर बहुत प्रभावित हुआ था। उसने अपने यात्रा संस्मरणों में तत्कालीन जन जीवन की सुख, समृद्धि तथा सुन्दर राज्य प्रबंध का वर्णन किया है। उसने लिखा है कि उस समय के सभी लोग सुखी, समृद्ध और संतुष्ट थे। पारस्परिक स्नेह, सद्भाव और सहयोग को व्यक्ति आवश्यक मानता था। कर बहुत कम थे। अपराध नहीं के बराबर होते थे। दण्ड व्यवस्था कठोर थी। राजा अपने को प्रजा का स्वामी नहीं सेवक मानता था।

हर्ष कुशल प्रशासक, योद्धा व जनसेवी राजा ही नहीं श्रेष्ठ लेखक भी थे। उसने नागानन्द, रत्नावली, प्रियदर्शिका आदि ग्रन्थों की रचना की थी। बाणभट्ट नामक महाकवि उसी के दरबार का रत्न था। 'हर्षचरित' व 'कादम्बरी' उसकी प्रमुख रचनाएँ हैं। धर्म प्रचार व शिक्षा प्रसार के लिये भी उन्होंने बहुत यत्न ही नहीं किया वे धर्म की मूल भावना तक पहुँचे थे। सब धर्मों के मूलतत्त्व एक हैं उनके बाह्य स्वरूप में भले ही थोड़ा बहुत अन्तर हो सकता है। अतः प्रत्येक धर्मावलम्बी को इतर धर्मों के साथ सहिष्णुता बरतनी चाहिए। इस भावना को व्यवहार में लाने के लिये ही वे हर पाँचवें वर्ष धर्म सम्मेलन का आयोजन करते थे।

१.६८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

हर्षवर्धन का काल ५९० ई० से ६४८ ई० तक का काल था। राजा प्रजा का सेवक होता है। उसकी अपनी सारी क्षमताएँ, योग्यता, विभूतियाँ अपने लिये न होकर जनता के लिये होती हैं। उन्होंने यह आदर्श अपने जीवन में उतारकर बताया है। राजा का पद वंश क्रमानुसार नहीं योग्यता और सेवा भावना के आधार पर मिले इसके लिये उन्होंने विवाह तक नहीं किया। यदि उनके इन आदर्शों को तत्कालीन राज्यों ने अपने जीवन में उतारा होता तो आज हमारा इतिहास कुछ और ही होता। उनके ये आदर्श आज के राजनेताओं के लिये भी कम अनुकरणीय नहीं हैं।

वस्तुतः कोई भी पद अथवा अधिकार अपने लिए सुख-सुविधाएँ बढ़ाने के लिए नहीं मिलता। उनके मिलने का तो एक ही कारण है कि हम उसके माध्यम से और अच्छी तरह जनसेवा कर सकें। सम्राट हर्षवर्धन ने अपने जीवन और चरित्र के माध्यम से यह आदर्श हमारे सामने रखा कि जिसको जानकर हम भी अपने जीवन में उतार सकें।

धर्म समन्वित शिक्षा ही सार्थक

हर्षवर्धन कई दिन से बहुत चिन्तित थे—“प्रजा की उन्नति किस तरह हो?” सच्चा उत्तराधिकारी वही तो है जो अपने आश्रित के कल्याण की बात सोचे और उसे हर तरह से पूरा करने का प्रयत्न भी करे।

इस सम्बन्ध में उन्होंने मन्त्रियों से मन्त्रणा की सबने कहा—“महाराज शिक्षा का व्यापक प्रसार हुए बिना प्रजा की उन्नति सम्भव नहीं है इसलिये देश भर में स्थान-स्थान पर विद्यालयों की स्थापना की जावे। प्रौढ़ों के लिये रात्रि पाठशालायें चलाई जावें। इसके लिये शिक्षकों की कमी को अन्य राज्यों से उधार लेकर भी पूरा किया जा सकता है पर साक्षरता देश की उन्नति के लिये अत्यावश्यक है।”

बात ठीक है “शिक्षा के बिना बौद्धिक विकास नहीं हो पाता। विचार की दिशाएँ व लोगों के मनोबल शिक्षा से ही विकसित होते हैं।” यह विचार मस्तिष्क में अच्छी तरह बैठ गया तब हर्षवर्धन ने सारे राज्य में विद्यालयों का जाल बिछा दिया।

शिक्षा प्रत्येक बच्चे के लिए अनिवार्य कर दी गई। प्राथमिक स्तर के विद्यालयों से लेकर बड़े-बड़े विश्व-विद्यालयों की स्थापना की गई। प्रजा ने कंधे से कंधा मिलाकर सहयोग दिया। जिसके पास धन था धन दिया, जमीन वालों ने जमीन दी और शिक्षितों ने अपनी योग्यताएँ प्रजा को साक्षर बनाने में समर्पित कर दीं। देखते-देखते सारे राज्य से अविद्या का अन्त हो गया एक भी निरक्षर न रहा।

शिक्षा बढ़ने के साथ ही उन्नति की आकांक्षाएँ जाग पड़ीं। जगह-जगह नये-नये उद्योग स्थापित हुए। दूसरे राज्यों से व्यापार बढ़ा। कृषि में अनेक तरह के

अनुसंधान हुए। शिक्षा के प्रसार में राज्य ने जो तपस्या की वह आर्थिक उन्नति के रूप में तुरन्त देखने में आई।

किन्तु यह स्थिति थोड़े दिन ही चल पाई थी कि सारे राज्य में धन, पद, प्रतिष्ठा की होड़ लग गई। लोगों में इनके लिये द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ। ईर्ष्या, द्वेष, मनोमालिन्य, छल, कपट के दौवपेंच खेले जाने लगे। सर्वत्र भ्रष्टाचार और अनाचार फैल गया। हर्षवर्धन बड़े चिन्तित हुये। शिक्षा जैसी महत्वपूर्ण साधना के फल भी कुत्सित हो सकते हैं? राज्यों में किसी ने इसकी कल्पना भी न की थी। अब इसका क्या उपाय किया जावे कि राज्य में बह रही सामाजिक अशान्ति दूर हो— यह चिन्ता सारे प्रबुद्ध नागरिकों, सभासदों में व्याप्त हो गई। राजा हर्षवर्धन को स्वयं नहीं सूझ रहा था कि क्या किया जावे?

एक दिन वे इसी चिन्ता में डूबे हुये अन्यमनस्क से बैठे थे तभी उधर से महारानी राज्यश्री ने प्रवेश किया। दोनों ने बड़ी देर तक मन्त्रणा की। कोई उपाय समझ में न आया तब राज्यश्री ने कहा—“महाराज आज्ञा हो तो विद्यालयों का भ्रमण कर आया जावे, सम्भव है कोई त्रुटि समझ में आ जाय।”

हर्ष और राज्यश्री प्रातःकाल राज्य-भ्रमण पर निकले। वे एक महाविद्यालय पहुँचे। विद्यालयों का भवन न्यास देखते ही बनता था। उसे चारों ओर से वृक्ष-वाटिका से घेर दिया गया था जिससे उसकी शोभा और भी द्विगुणित हो रही थी। महाराज ने देखा— इतिहास भूगोल, गणित, वैद्यक, कला, संगीत सब कुछ सिखाने का प्रबन्ध है। सारा प्रबन्ध देखकर वे गद-गद हो उठे।

मानव जीवन की गरिमा, उद्देश्य और आचार को सिखाने का प्रबन्ध न हो तो यह शिक्षा फलवती नहीं हो सकती। धार्मिक मर्यादाओं का ज्ञान न होने के कारण ही आज लोग स्वार्थ में डूबे हैं, इसी कारण प्रजा अशान्त है।

हर्ष की समझ में बात आ गई। भूल ठीक करली गई, प्रत्येक विद्यालय में धर्म-शिक्षण अनिवार्य कर दिया गया और तब प्रजा की उन्नति की स्थिति उस आभूषण सज्जित राजकुमारी की-सी हो गई जो शरीर से भी बहुत सौन्दर्यवती होती है।

दक्षिण भारत के चाणक्य-

विद्यारण्य

सन् ७१२ ई० में अरबों ने भारत पर पहला आक्रमण किया। इस आक्रमण का नेतृत्व किया था मुहम्मद बिन कासिम ने और पहला आक्रमण का निशाना बनाया था सिन्ध को। मुहम्मद कासिम ने सिन्ध के शासक दाहिर को परास्त करने में सफलता प्राप्त की और वहाँ अपने साम्राज्य का झण्डा फहराया। सिन्ध से देवल और मुलतान तक भी अरब साम्राज्य का विस्तार हुआ और यह सारा विस्तार तीन चार वर्षों के प्रयत्नों का ही परिणाम था।

उससे आगे का अभियान जुनैद और तामिन नामक प्रतिनिधियों को सौंपकर कासिम वापस लौट गया। तब तक भारतीय जनता और राजाओं में भी स्थिति के प्रति जागरूकता और सतर्कता आ गयी थी परिणामस्वरूप एकता, शौर्य और साहस में अद्वितीय स्थान रखने वाली भारतीय जनता के सम्मुख जुनैद और तामिन तथा उनकी सेनाओं की एक न चल सकी। यद्यपि वे अपने अभियान को सफल बनाने के लिए एड़ी चोटी का जोर लगाते रहे परन्तु सफलता नहीं मिली।

अरब आक्रमण से भारतवर्ष लगभग तीन शताब्दियों तक एक प्रकार से सुरक्षित हो गया। परन्तु इन तीन शताब्दियों के दौरान ही कुछ ऐसा राजनीतिक घटनाचक्र चला कि हमारे देश की राष्ट्रीय एकता ख़तरे में पड़ गयी। भारतीय राजा आपस में लड़ने लगे। दसवीं शताब्दी में पुनः एक बार जोरदार अरब आक्रमण हुआ और पंजाब हाथ से निकल गया। भारतीय रियासतों को फिर भी इस घटना से कोई सबक नहीं मिला। वे आपस के झगड़ों में ही अपनी शक्ति नष्ट करते रहे। गुजरात के चालुक्य और अजमेर के चौहान, महोबा के चन्देल और कन्नौज के गहरवाल जिनके सम्मिलित प्रयासों ने आक्रमकों के दाँत खट्टे किये थे आपस में ही लड़ने-भिड़ने और मरने-मारने लगे।

इस स्थिति का लाभ उठा कर महमूद गजनवी ने छब्बीस वर्षों के भीतर भारत पर सत्रह बार हमले किये। भारतीय सेनाओं ने आनन्दपाल के नेतृत्व में महमूद का मुकाबला झेलम के किनारे किया परन्तु बिखरी हुई शक्तियों का अस्थायी गठबन्धन गजनवी का मुकाबला नहीं कर सका और विजय महमूद को ही मिली। महमूद गजनवी ने इस आक्रमण में विजयी होकर मथुरा, वृन्दावन, कन्नौज, कालिंजर के मन्दिरों को लूटा। गुजरात के प्रसिद्ध सोमनाथ मन्दिर को लूटने और सोमनाथ की मूर्ति का भंजन कर 'वृत्त शिकन' होने का धर्मान्व श्रेय भी गजनवी ने ही प्राप्त किया। फिर भी मूलतः वह लुटेरा था। उसकी रुचि साम्राज्य स्थापित करने की अपेक्षा हीरे जवाहरातों से अपना कोष भरने में अधिक थी। अपने इस उद्देश्य में एक दृष्टि से सफल होकर वह वापस चला गया।

साम्राज्य स्थापना की इच्छा से मोहम्मद गौरी ने ११९१ में भारत पर पहला आक्रमण किया। इस आक्रमण का सामना किया दिल्ली के प्रसिद्ध शूरवीर सम्राट पृथ्वीराज चौहान ने परन्तु अपने स्वार्थों के लिए राष्ट्रीय हितों का खून करने वालों की भी कमी नहीं थी। व्यक्तिगत शत्रुता के कारण, राजा गौरी का स्वागत किया कन्नौज के जयचन्द ने। जिसका नाम ही देशद्रोही प्रवृत्तियों का प्रतीक बन गया है और दिल्ली पर एक लम्बे संघर्ष के बाद मोहम्मद गौरी ने विजय प्राप्त की और भारत की दासता का अन्धयुग आरम्भ हुआ कतिपय देशद्रोही तत्वों के कारण।

इस लम्बी भूमिका के प्रस्तुतीकरण का उद्देश्य राष्ट्रीय विपत्तियों के मूल में एकता का अभाव कहना ही है।

मुगल साम्राज्य की स्थापना के बाद धीरे-धीरे अन्य राज्यों में भी उनका प्रभाव प्रबल होता गया। कोई विजेता राष्ट्र विजय के बाद विजित राष्ट्र की सांस्कृतिक आधार शिलाओं पर चोट करता है ताकि भविष्य में उसके प्राणों में राष्ट्रीयता का बीज अंकुरित न होने पाये। भारतीय धर्म और भारतीय संस्कृति पर जब बर्बर आक्रमणों की शुरुआत हुई और उनकी भीषणता बढ़ती गयी तो ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता प्रबल हुई जो अपनी मेधा, प्रतिभा के बल पर बिखरे मणि-माणिक्यों को एक सूत्र में आबद्ध कर सके और उस समय यह आवश्यकता पूरी की चौदहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत के दो भाइयों ने। उन्होंने विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की और इस राज्य की सीमा का विस्तार भी किया। यद्यपि इस प्रयास का श्रेय उनके संस्थापकों हरिहर और बुक्काराय को दिया जाता है परन्तु बहुत कम लोग जानते हैं कि इस प्रयास के मूल में चाणक्य की तरह का एक अद्भुत व्यक्ति काम कर रहा था जिसका नाम था -विद्यारण्य।

विद्यारण्य बचपन का नाम था। उनके पिता विजयनगर राज्य के संस्थापक हरिहर-बुक्काराय के कुलगुरु बने। इसी कारण उन्हें हरिहर वंश के निकट सम्पर्क में रहने का अवसर प्राप्त हुआ। विद्यारण्य ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा अपने पिता तथा राजवंश के कुलगुरु आचार्य मायण के सान्निध्य में सम्पन्न की और आगे चलकर अपने समय के विख्यात विद्वानों विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ और श्रीकण्ठ के सान्निध्य में चली। विद्या तीर्थ श्रंगेरी मठ के शंकराचार्य थे, भारतीतीर्थ भी वेदान्त के ही उपदेष्टा थे और श्रीकण्ठ से उन्होंने साहित्य तथा संस्कृति का ज्ञान अर्जित किया।

कहा जा चुका है कि उस समय न केवल भारतीय राजनीति पर ही विदेशी शक्तियाँ हावी थीं वरन् धर्म और संस्कृति को भी पूरी तरह नष्ट करने का कुचक्र जोरों से चल रहा था। बालक माधव ने अपने बाल्यकाल से ही देश और समाज की इस तपनशील अवस्था को देखा था तथा जागरूक अन्तःकरण में आक्रोश भी उत्पन्न होता अनुभव किया था। विद्यारण्य के एक जीवनीकार ने उस समय की स्थिति का उल्लेख करते हुए लिखा है-“उस समय लोग चिदम्बरम के पवित्र तीर्थ को छोड़कर भाग गये थे। मन्दिरों के गर्भगृह और मण्डलों में घास उग आयी थी। अग्रहारों से यज्ञ-धूप की सुगन्धि के स्थान पर पकते माँस की गन्ध आने लगी थी। ताप्पणी नदी का जल चन्दन से मिश्रित होने के स्थान पर गौरक्त से मिश्रित होने लगा था। देवालियों और मन्दिरों पर कर लग गये थे। अनेक मन्दिर देखभाल न होने के कारण या तो स्वयं गिर गये थे अथवा गिरा दिये गये थे। हिन्दू राज्य छल-बल से समाप्त होते जा रहे थे।”

जिन विभूतियों को माधव के शिक्षण और मार्गदर्शन का दायित्व प्राप्त था, वे भी किसी प्रकार इस दुःस्थिति को उलट देने के लिए लालायित थीं, व प्रयत्नशील भी थीं। माधव ज्यों-ज्यों बड़े होते गये वे अपने व्यक्तित्व निर्माताओं

के प्रयासों के अनुरूप ढलने लगे । और जब गुरुगृह से लौटने लगे तो भारतीय परम्परा के अनुसार उन्होंने गुरुओं से पूछा- ब्राह्मण परम्परा के अनुसार मैं आपको दक्षिणा में क्या अर्पित करूँ ?''

‘अपना जीवन’ छह अक्षरों का उत्तर मिला और उन्होंने जीवन अर्पित कर दिया। जिसको दक्षिणा स्वरूप ग्रहण कर प्रसाद स्वरूप इस शर्त के साथ लौटा दिया कि-“राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से खण्ड-खण्ड होते जा रहे भारत का पुनर्जागरण कर भारतीय धर्म और संस्कृति को पुनर्जीवन देना ।”

माधवाचार्य (बाद में विद्यारण्य) अपनी कुल परम्परा से हरिहर और बुक्काराय के वंश के कुलगुरु बने । इन सामन्त पुत्रों से उनका निकट सम्बन्ध था अतः उन्हीं की प्रेरणा और संरक्षण में संगमराज के पुत्र हरिहर प्रथम ने सन् १३३६ ई० में विजयनगर राज्य की नींव डाली । दक्षिणभारत को दिल्ली का कमजोर मुगल शासन अपनी नियन्त्रण व्यवस्था में रख पाने में असमर्थ हो रहा था । इसी कमजोरी का लाभ उठाकर चौदहवीं शताब्दी में अपने ढंग का यह पहला प्रयास हुआ। विजयनगर के नाम से तुंगभद्रा नदी के तट पर एक सुन्दर नगर बसाया गया, जिसकी रमणीयता का वर्णन करते हुए उस समय भारत आये एक फारस के यात्री ने लिखा है-“संपूर्ण विश्व में विजयनगर जैसा साम्राज्य न देखा है और न सुना है उसके चारों ओर सात दीवारें हैं । बाहर की दीवार के चारों ओर लगभग ५० गज की चौड़ाई और लगभग साढ़े तीन फुट की ऊँचाई के पत्थर लगे हैं जिससे नगर की सुरक्षा होती है और प्रहरियों की निगाह बचाकर कोई भी नगर में प्रवेश नहीं कर सकता । नगर के भीतर विभिन्न वस्तुओं के बाजार अलग-अलग स्थित हैं । हीरे-जवाहरात आदि बहुमूल्य चीजें खुले बाजार में स्वतन्त्रतापूर्वक बिकती हैं देश में अच्छी खेती होती है और जमीन उपजाऊ है ।” एक दूसरे इटालियन यात्री ने विजयनगर साम्राज्य को सर्वाधिक शक्तिशाली और सम्पन्न राज्य कहा है ।

इन सफलताओं को प्राप्त करने में लम्बा समय लगा । विजयनगर राज्य की स्थापना के बाद उसकी स्थिति को सुदृढ़ बनाना तथा उद्देश्य का अगला चरण पूरा करना था जिसे दृढ़तापूर्वक अमल में लाना था । विद्यारण्य के छोटे भाई सायण विद्वान होने के साथ साथ एक योग्य सेनापति भी थे । सायण के नायकत्व में विजयनगर साम्राज्य की सेनाओं ने आसपास फैले मुगल साम्राज्य पर आक्रमण आरम्भ किया । उस समय दिल्ली में मुहम्मद बिन तुगलक का शासन था जो पूर्वापेक्षा काफी अशक्त और क्षीण हो गया था । विजयनगर की सेनाओं ने अपने राज्य के समीपवर्ती कई क्षेत्रों को विदेशी दासता के चंगुल से मुक्त किया । इस अभियान के संचालक और मार्गदर्शक

विद्यारण्य ही थे, जिनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि जिस प्रकार चाणक्य ने बिना तलवार उठाये नन्द साम्राज्य का अन्त किया और भारत का राष्ट्रीय स्वरूप प्रतिष्ठित किया उसी प्रकार दक्षिण भारत में विद्यारण्य ने भी बिना शस्त्र ग्रहण किये भारतीय संस्कृति की विजय पताका के पुनर्जीवन का कार्य सम्पन्न किया ।

विजयनगर ने दक्षिण भारत के समुद्री तट पर अधिकांश भाग में स्वदेशी शासन की स्थापना कर ली थी । कोंकण तट मालावर का समुद्री तट और कावेरी नदी सहित होयसल राज्य भी विजयनगर साम्राज्य के अंग बन गये । कहा जाता है कि इस विजय अभियान के लिये ग्यारह लाख देशभक्त युवकों को सेना में भर्ती किया गया था । साम्राज्य का विस्तार इतना अधिक हो गया था कि उसकी सीमा के भीतर ३०० बन्दरगाह आते थे ।

हरिहर बुक्काराय के शासन काल में वहाँ हिन्दू संस्कृति का पुनरुत्थान भी हुआ । प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया गया और जिनमें पूजा आरती का क्रम बन्द हो गया, वहाँ का वातावरण पुनः घन्टा घड़ियालों से निनादित होने लगा । जो मन्दिर और देवालय विदेशी आक्रमणकारियों ने तुड़वा दिये थे उन्हें फिर से बनवा कर तैयार किया गया । गुरुकुल परम्परा तथा आश्रम व्यवस्था पुनः प्रचलित हुई । इन सब प्रवृत्तियों के पीछे विद्यारण्य का दिशा-निर्देशन तथा शासकों की निष्ठा भावना थी । वहाँ की स्थिति का उल्लेख इतिहासकारों ने कुछ इस प्रकार किया है- विजयनगर राज्य की स्थापना विदेशी शासकों के अनाचार और अत्याचार तथा सांस्कृतिक ध्वंसलीला के विरुद्ध एक समर्थ प्रतिरोधक शक्ति के रूप में हुआ था । प्रजा और राजा दोनों ही धर्मरत थे । अधिकांश लोग वैष्णव मत को मानने वाले थे फिर भी राज्य व्यवस्था किसी की धर्मनिष्ठा में कोई हस्तक्षेप नहीं करती थी यहाँ तक कि विधर्मियों के प्रति भी उदार-नीति बरती जाती थी । राज्य की ओर से सभी धर्मावलम्बियों के लिए समान व्यवहार किया जाता था ।

भारतीय संस्कृति के नवोन्मेष अभियान के दो चरण थे । पहला-राजनीति में स्वदेशभक्ति की प्रतिष्ठा और दूसरा धर्मतन्त्र को स्वस्थ तथा परिष्कृत रूप देना । माधवाचार्य के रूप में अब तक प्रथम चरण के लिए कार्यरत रहते हुए आरम्भ की गयी परम्पराओं को भली-भाँति प्रचलित और सुदृढ़ देख आश्चर्य होकर माधवाचार्य दूसरे चरण के लिए संन्यासी हो गये । भारतीय धर्मदर्शन को नयी सामयिक दृष्टि परिप्रेक्ष्य देने के लिए संन्यास जीवन में माधवाचार्य ‘विद्यारण्य’ के नाम से दीक्षित हुए ।

उनका संन्यास किसी जंगल में बैठकर मौन एकान्त साधना या आत्मकल्याण और व्यक्तिगत मोक्ष की प्राप्ति के लिए नहीं था वरन् वे तो इस देश में जनकल्याण और शिक्षण का प्रयोजन पूरा करना चाहते थे । एक कुटिया में रहते हुए उन्होंने अपने तपोनिष्ठ जीवन द्वारा सर्वसाधारण

को धर्म और अध्यात्म के व्यावहारिक स्वरूप को समझना आरम्भ किया। उनकी प्रतिष्ठा, पाण्डित्य और विद्वता ने उनके उद्देश्य को व्यापक बना दिया। लोग उनके पास व्यक्तिगत समस्याओं से लेकर सार्वजनिक गुत्थियों का हल पूछने तक आया करते और वे यथाशक्य उनकी आशा-अपेक्षाओं को पूरा करते।

संलाप चर्चा द्वारा वाणी के माध्यम से लोकशिक्षण करने के साथ उन्होंने महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन भी किया। उनकी लिखी हुई पराशर माधवीय में हिन्दू धर्म के आचार-पक्ष और विचार-पक्ष का बड़ा सुन्दर विवेचन है। दक्षिण भारत के विद्वान इस ग्रन्थ को अब भी 'मनुस्मृति' के समतुल्य महत्व देते हैं। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त उन्होंने जीवन्मुक्ति, विवेक पंचदशी और जैमिनीय न्यायमाला नामक ग्रन्थ भी लिखे जिन्हें भी धर्मशास्त्रों के समान लोकप्रियता प्राप्त है।

विजयनगर साम्राज्य सम्पूर्ण रूप से भारतीय धर्म और संस्कृति की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए उदित हुआ था। कला, संगीत, स्थापत्य आदि को प्रोत्साहित किया गया। इस राज्य के आरम्भ काल में वेदों पर भाष्य भी लिखे गये और दर्शन ग्रन्थ भी प्रणीत हुए। इन कार्यों में विद्यारण्य ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। माधवाचार्य ने सन् १३७७ में विद्यारण्य के नाम से संन्यास ग्रहण किया था और फिर वे आजीवन इसी प्रकार लोकसेवा साधना में लगे रहे।

यद्यपि उन्होंने धर्मतन्त्र के माध्यम से ही लोकसेवा का मार्ग अपना लिया था फिर भी राज्यकार्यों में आवश्यक परामर्श व मार्गदर्शन देते रहते थे। हरिहर बुक्काराय तथा अन्य बाद के शासक उनके महिमामंडित व्यक्तित्व से लाभ उठाने के लिए प्रायः उनकी कुटिया पर आया करते थे और उनसे राजनीतिक समस्याओं पर समाधान चर्चा किया करते थे। विद्यारण्य उन्हें समुचित मार्ग निर्देशन देते और राज्य-संचालन की गुत्थियाँ सुलझाने में सहायता करते। उनके रहते विजयनगर साम्राज्य के सभी शासकों ने विद्यारण्य को राजगुरु रूप में प्रतिष्ठित रखा। हरिहर प्रथम ने उन्हें अपने से भी ऊँचा आसन और सम्मान दिया था तथा वैदिक मार्ग प्रतिष्ठाता के सम्मानित सम्बोधन से सम्बोधित किया।

तत्कालीन सामाजिक परिवर्तन में विद्यारण्य का एक प्रमुख योगदान यह रहा कि उन्होंने संन्यास का सम्बन्ध सूत्र सीधे समाज से भी जोड़ा। प्रायः साधु-संन्यासी उस समय भी समाज से निरपेक्ष और विमुख रहकर लोगों को कोरी भक्ति और पूजा-पाठ का उपदेश दिया करते थे। विद्यारण्य ने अपने समय के कई विख्यात और लोकाद्वित साधु-महन्तों को लोकसेवा के रचनात्मक कार्यों में लगाया। उनके समय के प्रख्यात वैष्णव भक्ति के प्रचारक वेदान्त देशिक को समग्र भारतीय धर्म और अध्यात्म के पुनरुत्थान में नियोजित करने की घटना तो ऐतिहासिक है।

विद्यारण्य ने अपने समय में वाणी और लेखनी द्वारा ही नहीं व्यक्तित्व और कृतित्व द्वारा भी लोकनेतृत्व का जो आदर्श उपस्थित किया है, वह भारत के प्रथम राष्ट्र निर्माता चाणक्य का स्मरण दिला देता है। विजयनगर साम्राज्य की इतिहास में जितनी प्रशंसा होती है उसके पीछे आधार रूप में विद्यारण्य का ही व्यक्तित्व विद्यमान है।

जिन्होंने राष्ट्ररक्षा के लिये तलवार थामी—

‘विक्रमादित्य’ हेमू

भारत धन, धान्य और स्वर्ण से भरा पूरा देश है। इस तथ्य से परिचित हो यहाँ की सुख-समृद्धि पर डाका डालने के लिये क्रमशः यूनानी, शक, हूण, कुषाण, पर्शियन, मुसलमान और अंग्रेज आये। सदियों तक भारत माँ के लाड़ले सपूत अपने देश की, अपने धर्म की, अपनी संस्कृति और जातीय स्वाभिमान की रक्षा के लिए इन स्वार्थी बर्बरों से लोहा लेते रहे।

धन और धरती तो शूरों की होती है। नर-रत्न गर्भा माँ भारती की कोख से ऐसे कितने ही सपूत उपजे थे जिन्होंने इसकी विदेशियों से रक्षा करने के लिये महान उद्योग और प्रबल पुरुषार्थ किया। विक्रमादित्य हेमू इन्हीं नर-पुंगवों में से एक थे जिन्होंने समय की युकार पर अपने धर्म को, कर्तव्य को निभाया।

अपने को अमीर तैमूर का वंशज कहने वाला राज्यलिप्सु, धनलिप्सु बाबर भी भारत के वैभव की कहानियाँ सुनकर भारत आया। तैमूर स्वयं एक लुटेरा था उसका वंशज क्या उससे कम होता? दिल्ली पर उन दिनों इब्राहीम लोदी नामक बादशाह राज्य करता था। वह बाबर के सामने टिक नहीं सका। पानीपत के मैदान में उसे करारी हार मिली। मेवाड़ पर उन दिनों प्रतापी हिन्दू राजा महाराणा साँगा राज्य करते थे। उन्होंने ठेठ फतहपुर सीकरी के पास खानवा के मैदान में जाकर बाबर को रोका। महाराणा साँगा के आह्वान पर कितने ही राजपूत राजा एकत्रित होकर राष्ट्ररक्षा के लिये खानवा के मैदान में जा डटे। बाबर के पास नयी किस्म के अस्त्र-तोपें व बन्दूकें जो दूर से मार सकती थीं, होते हुए भी उसकी सेना राजपूतों के आगे टिक न सकी और भाग खड़ी हुई। भागती सेना का पीछा करना भारतीय वीरों ने उचित नहीं समझा, वे विजयोत्सव ममाने लगे। किन्तु बाबर अपने सपनों को यों चूर-चूर नहीं देखना चाहता था। वह लुटेरे साधियों को पुनः संगठित कर असावधान राजपूतों पर चढ़ बैठा। वे बड़ी वीरता से लड़े पर व्यूह रचना टूट जाने से उनकी पराजय हुई पर बाबर भी उससे आगे बढ़ने की हिम्मत न कर सका।

महाराणा साँगा युद्ध में बुरी तरह चायल हुए। वे स्वस्थ होकर इस पराजय के कलंक को धोने की तैयारी में लगे पर वे इस युद्ध के कुछ समय बाद ही दिवंगत हो

गये। उनका पुत्र उदयसिंह उनकी तरह पराक्रमी नहीं निकला कि उस पराजय का बदला चुकाता।

ऐसे विकट समय में जब चारों ओर अंधकार छाया हुआ था कोई क्षत्रिय राजा ऐसा नजर नहीं आता था जो कि बाबर अथवा उसके वंश को पुनः पराजित करके उस अपमान का बदला चुकाता व पुनः हिन्दू-राज्य की स्थापना करके सुशासन स्थापित करता। समय के इस धर्म की चुनौती को जिस व्यक्ति ने स्वीकारा वह था हेमू-हेमचन्द्र, जिसकी सात पुस्त तो क्या पूरे वंश में किसी ने तलवार को हाथ नहीं लगाया था। वणिक् पुत्र हेमू के पुरखे वैश्य थे। व्यापार करना और धन की वृद्धि करना, हिसाब-किताब रखना यही थे उनके कर्म। युद्ध क्या होता है, विजय कैसे मिलती है और पराजय क्या होती है उन्हें पता ही न था पर हेमू भला चुप कैसे बैठता।

उसके पुरखों ने काफी धन सम्पदा एकत्रित कर रखी थी। वे दिल्ली सम्राट के मुख्य कोषाधिकारी हुआ करते थे। हेमू भी दिल्ली दरबार में प्रधानमंत्री रह चुके थे। उन्होंने मुगलों को भारत से मार भगाने का निश्चय कर लिया। अनेकों छोटे-छोटे हिन्दू राजाओं से उनका परिचय था। संगठन की शक्ति से तो वे परिचित थे ही। अपनी सारी सम्पदा को उन्होंने देश की स्वाधीनता के लिये अर्पित करके अपनी एक सेना तैयार कर ली। छोटे-छोटे राजाओं को मिला अपने भगवा झण्डे तले आकर विदेशी-सत्ता को उखाड़ फेंकने की तैयारी कर ली।

विदेशी आक्रमणकारी बाबर अधिक समय तक जीवित नहीं रहा। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्रों में राज्य-प्राप्ति के लिए संघर्ष चला। चलता क्यों नहीं स्वार्थी और लुटेरों के वंशजों से और आशा ही क्या की जा सकती थी। भाइयों की हत्या करके और पिता को बंदी गृह में डालकर राज्य करने की परम्पराएँ इसी वंश में चलती रही थीं। बाबर का पुत्र हुमायूँ उसकी तरह वीर नहीं था। उसके भाई कामरान ने उससे विद्रोह किया। गृह-कलह के कारण उसे ईरान भाग जाना पड़ा।

इस स्थिति को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये उपयुक्त जान हेमू ने अपनी शक्ति और संगठन की गतिविधियाँ और भी तेज कर दीं। देखते ही देखते उसके पास एक विशाल सेना संगठित हो गयी। हेमू ने अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं को पूरी करने के लिये वैश्य धर्म से क्षत्रिय धर्म अंगीकार कर सेन्य संगठित ही नहीं की थी वरन् मुगलों को भारत से बाहर निकालने के ध्येय की पूर्ति के लिये भरसक प्रयत्न किया था। अतः उन्हें सहयोगियों की कमी नहीं रही।

अवसर हाथ लगते ही उन्होंने दिल्ली पर धावा बोल दिया। उनकी विजय हुई। दिल्ली का सिंहासन पुनः भारतीय राजा के हाथ में आ गया। उस पर भगवा रंग की धर्म-ध्वजा फहराने लगी। यह वह समय था जब शेरशाह सूरी का पतन हो चुका था। हुमायूँ की मृत्यु हो चुकी थी। उसका पुत्र अकबर, बैरमखान के संरक्षण में बड़ा हो रहा था।

दिल्ली को हस्तगत कर लेने पर हिन्दू राजाओं ने अपने इस वीरनायक को ही सम्राट मान लिया। वे उसके माण्डलिक बने। हेमू को विक्रमादित्य की उपाधि से विभूषित किया गया। दिल्ली से आगरा तक का प्रदेश अब उनके अधिकार में आ चुका था। वहाँ से मुगल सेना भाग खड़ी हुई थी।

हेमू ने सिंहासन पर बैठकर राज्य को सुव्यवस्थित किया। थोड़े वर्षों को ही सही पर इस सुशासन में प्रजा ने अनुभव किया कि विदेशी शासकों से यह स्वदेशी शासन हजार गुना अच्छा था। हमारे देश का इतिहास व्यक्तिगत महानता की दृष्टि से तो बड़ा कैचा उठरता है पर जहाँ राष्ट्रीयता की भावना और जनसामान्य की बात है इस दृष्टि से भारतवासी कमजोर ही रहे हैं। राणा साँगा के बाद जिस प्रकार हेमू ने राजाओं को संगठित कर एक स्वदेशी शक्ति गठित की यह उनकी मृत्यु के बाद स्थिर न रह सकी।

'विक्रमादित्य' हेमू ने अपने छोटे से जीवन काल में पन्द्रह से अधिक लड़ाइयाँ लड़ीं। उन्होंने निर्णायक युद्ध पानीपत के मैदान में अकबर से लड़ा। अकबर बड़ी विकट स्थितियों में पलकर बड़ा हुआ था। उसे पढ़ने का अवसर भी नहीं मिला था। इसका कारण हेमू द्वारा मुगलों का दिल्ली से आधिपत्य समाप्त कर देना था। सच पूछा जाय तो ये विदेशी बर्बर राज्यलिप्सु अपनी वीरता के बल पर भारतीयों से नहीं जीते थे वरन् इनकी बर्बरता व धोखे बाजी से ही उन्होंने वीर भारतीयों पर अल्पकाल के लिये आधिपत्य भर जमाने में सफलता प्राप्त की थी। पानीपत के युद्ध में विक्रमादित्य हेमू काम आये। सेनापति के मरते ही सेना में भगदड़ मच गयी इस कारण अकबर जीत गया। और वह दिल्ली का बादशाह बना।

अकबर ने अपने साम्राज्य को भेद-नीति से बढ़ाया वीरता से नहीं। राजपूत राजाओं की फूट और अहमन्यता पर ही उसका मुगल साम्राज्य विस्तारित हुआ। यद्यपि हेमू को अपने ध्येय में अल्पकाल तक ही सफलता मिली थी पर इतने समय तक ही सही वे सूर्य की तरह विदेशी शासन के तिमिर को चीरते रहे। इस साहस, पराक्रम व पुरुषार्थ के लिये वे आज भी स्मरणीय, अनुकरणीय बने हुए हैं।

मुगलराज्य के हिन्दू प्रशासक -

टोडरमल

१५८९ में सम्राट अकबर जब कश्मीर गया तो सवाल उठा कि राजकाज किसकी देखरेख में सौंपा जाय यों उसके पास एक से एक योग्य और दक्ष अधिकारी थे। नवरत्नों के नाम से अपने पास अकबर ने प्रतिभाशाली विद्वान और योग्य व्यक्तियों को एकत्रित कर रखा था। परन्तु अकबर को सबसे अधिक विश्वसनीय लगे दीवान-

ए-अशरफ टोडरमल । उसने सारा शासन प्रबन्ध टोडरमल की देखरेख में छोड़ दिया ।

दूसरे विद्वानों को टोडरमल की इस प्रतिष्ठा से जलन हुई। कोई भी व्यक्ति साधारण स्थिति से परिश्रम और पुरुषार्थ के बल पर ऊँचा उठता है, तो अच्छे लोग ईर्ष्या करने लगते हैं। टोडरमल प्रारम्भ से ही इन परिस्थितियों का सामना करते आये थे इसलिए उन्हें चिन्ता नहीं हुई। वे सौंपे गये उत्तरदायित्व को निश्चिन्तापूर्वक पूरा करते रहे।

टोडरमल का जन्म उत्तर प्रदेश के लहरपुर गाँव में हुआ । उनका परिवार सम्पन्न स्थिति का नहीं कहा जा सकता । फिर भी टोडरमल अपने आस-पास घटने वाली घटनाओं का सूक्ष्म-दृष्टि से निरीक्षण करना सीख गये । इसी प्रकार उनकी बुद्धि का विकास हुआ ।

उस समय राज्य के अधिकारीगण किसानों से कर वसूल करने के लिये प्यादतियाँ किया करते थे । टोडरमल ने यह सब देखा और विचार किया । उन्होंने पहली बार बौद्धिक प्रतिभा का परिचय दिया । अधिकारियों को उनसे ऐसे सुझाव और परामर्श मिले कि राज्यकोष में भी अधिक धन इकट्ठा हुआ और कृषक भी प्यादतियों से बच गये । अन्य वर्षों की अपेक्षा इस वर्ष प्यादा धन इकट्ठा हुआ । इसके समाचार अकबर तक पहुँचे और वह बड़ा प्रभावित हुआ। युवक टोडरमल को अकबर ने अपने राज्य-शासन में अच्छा पद और सम्मान दिया । बौद्धिक क्षमता के बल पर सामान्य स्थिति में भी अच्छा सम्मान, प्रतिष्ठा, ख्याति और अधिकार प्राप्त किया जा सकता है ।

सन् १५७३ में अकबर ने टोडरमल को भूमि प्रबन्ध के लिये गुजरात भेजा । वहाँ उन्होंने सारी जमीन की नाप जोख करवायी और जमीन की किस्म, क्षेत्रफल तथा पैदावार के हिसाब से मालगुजारी की दरें निश्चित कीं । इस नयी व्यवस्था से शासन और किसान दोनों को ही लाभ पहुँचा। हमेशा मालगुजारी की वसूली के अवसर पर पैदा होने वाली अशान्ति दो वर्षों में ही समाप्त हो गयी । टोडरमल की इस सुझबुझ से प्रभावित होकर अकबर ने पूरे साम्राज्य की भूमि का प्रबन्ध टोडरमल को सौंप दिया ।

छोटी सफलतायें प्राप्त कर लेने के बाद और बड़े उत्तरदायित्व निभाने की पात्रता मिल जाती है और उसे भी अच्छी प्रकार निभाकर बुद्धिमान व्यक्ति अपनी योग्यता का विकास करते रहते हैं । टोडरमल ने सारे राज्य का भूमि प्रबन्ध नये सिर से करने के लिए सम्पूर्ण साम्राज्य को १८२ परगनों में बाँटा । प्रत्येक परगने के लिए एक अफसर नियुक्त किया गया जिसे करोड़ी कहा जाता था ।

परगने के लगान की रकम हाथ में आने के कारण करोड़ी लालची होते गये । वे किसानों से मनमाना कर वसूल करने लगे । इन मनमानियों की शिकायत टोडरमल और अकबर तक पहुँची । अकबर ने उन्हें दीवाने-अशरफ मालगुजारी का सर्वोच्च अधिकारी नियुक्त किया । दीवाने अशरफ के इस पद पर रहकर उन्होंने विभाग में आवश्यक सुधार किये ।

लालची करोड़ियों को कठोर दण्ड दिया गया । कई को आजन्म कारावास मिला। टोडरमल ने जमीन की नपाई के लिए रस्सियों का प्रयोग किया था । ये रस्सियों पानी में भिगाने से सिकुड़ जातीं और करोड़ी इसी प्रकार की चालाकियाँ करते थे । टोडरमल ने रस्सी के स्थान पर लोहे के कड़ों से जरीबें तैयार करवायीं । थोड़े बहुत परिवर्तन से इसी प्रकार की जरीबें अब भी प्रयोग में लायी जाती हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि बेईमानी, अनैतिकता और हरामखोरी को रोकने के लिए पतितों को आतंकित करने के लिए सम्भावनाओं को निर्मूल करने का ही व्यावहारिक तरीका अपनाया ।

सुप्रबन्ध क्षमता और कार्यदक्ष होने के कारण सम्राट अकबर का अन्य चापलूस दरबारियों के जलते रहने के बाद भी टोडरमल अपना विश्वास बढ़ाता गया । टोडरमल ने भी खुशामद और अनावश्यक चाटुकारिता का ओछा और अयोग्यों द्वारा अपनाया जाने वाला तरीका छोड़कर विशुद्ध कर्मठता, लगन और परिश्रम का मार्ग चुना । यहाँ तक कि जब अकबर के चलाये धर्म दीन इलाही को कई दरबारी स्वीकार कर चुके थे । टोडरमल से इस विषय में राय जानने पर उन्होंने स्पष्ट इन्कार कर दिया । धर्म के सम्बन्ध में टोडरमल कट्टर हिन्दू थे । वे घर पर परम्परागत पोशाक धोती-कुर्ता ही धारण करते थे । दोनों समय संध्या उपासना और पूजा पाठ नियमित रूप से किया करते । जब तक नित्यकर्मों से निवृत्त नहीं हो जाते उन्हें चैन नहीं मिलता ।

बादशाह को भी धार्मिक संकीर्णता का त्याग कराने में उनका बड़ा हाथ था । उन्होंने चल रहे जजिया कर को इस आधार पर हटाने की सलाह दी कि मात्र हिन्दू होने के कारण वर्ग विशेष से किसी प्रकार का कर वसूल करना अवांछनीय है । उनके इस तार्किक प्रतिपादन को समझकर ही अकबर ने जजिया कर हटाया था । यही नहीं हिन्दुओं को शासन में उचित स्थान दे कर उन्हें अपना बनाने का प्रयास भी किया ।

तत्कालीन शासन की उदार धर्म नीति के मूल कारण टोडरमल से इसीलिये लोग जला करते थे । वे धर्म उदार चेता धर्मानुयायी थे । साम्प्रदायिक पक्षपात को अनुचित ठहराते हुए अपने विभाग और प्रशासन में भी योग्यता और प्रतिभा को संयुक्त करने की परम्परा चलायी । फल स्वरूप शासन व्यवस्था में भी इसके सत्परिणाम सामने आये ।

टोडरमल केवल प्रबन्ध और व्यवस्था में ही नहीं अन्य क्षेत्रों में भी कुशल थे । अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में सफल और दक्ष होने के साथ-साथ वे वीर सेनापति भी थे । अकबर ने कई बार उन्हें युद्ध के मोर्चों पर लड़ने के लिए भेजा था । उन्होंने उस समय जो वीरता और शौर्य प्रदर्शित किया वह उनकी बहुमुखी प्रतिभा का ही प्रतीक है । राजधानी से दूर होने के कारण बंगाल में प्रायः विद्रोह हुआ करते थे । जिसे दबाने के लिए टोडरमल को ही भेजा । चार वर्ष तक कठोर परिश्रम कर उन्होंने बंगाल

में स्थायी शांति कायम की । गुजरात के सुलतान जफर को भी उन्होंने ही पराजित किया ।

सैन्य-व्यवस्था में मनसबदारी की प्रथा विकृतियों को समाप्त करने का श्रेय भी टोडरमल को ही था । उस समय सम्राट वेतनभोगी मनसबदार नियुक्त किया करता था। ये मनसबदार कालान्तर में भ्रष्टाचारी बन गये। टोडरमल ने सम्राट को भ्रष्टाचार जड़-मूल से उखाड़ फेंकने के लिए बहुमूल्य परामर्श दिये । जिनके परिणामस्वरूप स्वस्थ परम्परायें बन सकीं ।

जन हितकारी, स्वच्छ और न्यायपूर्ण शासन व्यवस्था ही टोडरमल का लक्ष्य था जिसे उन्होंने जीते जी प्राप्त कर लिया। अनुशासन और व्यवस्था अच्छे राज्य के दो आवश्यक तत्व हैं । जिनकी प्रतिष्ठापना के लिए टोडरमल ने स्वयं के जीवन की आहुति दे दी और इसी के लिए मृत्यु का वरण भी किया। उनकी हत्या सन् १५८९ में एक व्यक्ति ने कर दी थी । जिसे उन्होंने किसी अपराध के कारण दण्डित किया था ।

कर्तव्यपालन उनकी दृष्टि में सबसे बड़ा धर्म था । वृद्धावस्था के कारण कार्य करने में असमर्थ हो जाने के कारण उन्होंने राज काज से अवकाश ग्रहण कर हरिद्वार जाना चाहा । अकबर ने तीर्थयात्रा का प्रबन्ध कर दिया और वे चल दिये । मार्ग में ही उन्हें समाचार मिला कि ऐसे काम के लिए जिसे कोई और नहीं कर सकता है उनकी आवश्यकता है । टोडरमल अपनी यात्रा को बीच में ही छोड़कर वापस आ गये और सम्बन्धित कार्य देखने लगे । इसके कुछ समय बाद ही एक सजातीय व्यक्ति ने उन्हें मार डाला । जिन्होंने अपने विचारों से सम्राट को भी प्रभावित कर लिया वे अकबर के सबसे बड़े और योग्य व्यवस्थापक के रूप में अविस्मरणीय रहेंगे।

मेवाड़ के भीष्म—

राजकुमार चूड़ामणि

जोधपुर नरेश राव रणमल का राजपुरोहित टीका नारियल लेकर मेवाड़ के राज दरबार में उपस्थित हुआ । मेवाड़ की यशकीर्ति उन दिनों अपने यौवन पर थी । महाराणा कुम्भा के गुजरात विजय की बात अभी पुरानी नहीं पड़ी थी । उस विजय की स्मृति में बनाये गये विजय-स्तम्भ की नूतनता पर आतप, शीत और वर्षा का प्रभाव भी परिलक्षित नहीं हो पाता था । व्योमवर्णी प्रस्तरों की कान्ति अभी धूमिल नहीं पड़ी थी ।

मेवाड़ के राज्य सिंहासन पर वीरवर कला प्रेमी महाराणा कुम्भा के पुत्र महाराणा लाखा आसीन थे । महाराणा कोई पचास बसन्त देख चुके थे । उनके ज्येष्ठ पुत्र राजकुमार चूड़ामणि भी पच्चीस के आस-पास पहुँच चुके थे । उनके शौर्य और सच्चरित्रता की कहानियाँ राजघरानों में विकसते पाटल की सुरभि-सी फैल रही थी । उसी को

सुनकर जोधपुर नरेश ने अपनी कन्या विन्दुमती का हाथ उनके लिये प्रेषित किया था । इसी प्रयोजन से जोधपुर राज्य के राजपुरोहित मेवाड़ के यश-वैभव के अनुरूप ही भेंट के साथ यह रिश्ता लेकर पहुँचे थे ।

दरबार लगा हुआ था । सोलह-बत्तीसी उमराव अपने-अपने स्थानों पर बैठे थे । महाराणा के सिंहासन से थोड़ा हटकर कुछ नीचाई पर युवराज राजकुमार चूड़ामणि का आसन था । वे उस पर आसीन थे । उगते सूरज का-सा उनका प्रखर व्यक्तित्व सभा को और भी गरिमा प्रदान कर रहा था । महाराणा लाखा यों पचास के हो चले थे । पर दीखते पैंतीस के आस-पास ही थे । मुखमण्डल पर वैसा ही कसाव था जैसा प्रायः युवकों के चेहरे पर होता है । उनकी भरी हुई दाढ़ी और मस्तक पर पड़ी रेखाएँ भले ही उनकी आयु का प्रदर्शन कर रही हों पर स्वास्थ्य की दृष्टि से वे युवा सदृश्य ही थे ।

राव रणमल के राज पुरोहित ने अभिवादन, अभ्यर्थना के पश्चात् अपने आगमन का प्रयोजन बताया तो महाराणा लाखा के मुख मण्डल पर मुस्कान खिल आयी । वे हँसते हुए बोले—“हम जानते हैं पुरोहित जी राव रणमल अपनी कन्या का रिश्ता युवक राजकुमार चूड़ामणि के लिये नहीं तो क्या हम जैसे वृद्धों के लिये भेजेंगे ।” उन्होंने यह बात कही तो हँसी में थी पर, जब वे यह बात कह रहे थे राजकुमार चूड़ामणि की दृष्टि उनके मुखमण्डल पर ही जमी हुई थी। अपने वृद्ध होने के अहसास के प्रकटीकरण के समय मानव की स्वभावगत दुर्बलता उनकी आँखों में रक्तिम डोरों के रूप में उभर आयी थी । यदि वे ही युवा होते तो उनका भी विवाह उस नवयौवना से हो जाता । पिता की यह दुर्बलता राजकुमार से छिपी न रही । अतः इसके पहले कि महाराणा इस सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते राजकुमार बोल उठे—

“अन्नदाता! जब आपने रणमल जी की सुपुत्री के सम्बन्ध में ऐसी बात कही तो वे मेरे लिए माता के तुल्य हो गयी हैं । अब मैं उन्हें पत्नी के रूप में कैसे स्वीकार कर सकता हूँ । आप अपने लिये ही इस सम्बन्ध को स्वीकार कर लें ।” राजकुमार का यह कथन सुनकर सभा में सन्नाटा छा गया । इस अप्रत्याशित घटना पर सभी हतप्रभ रह गये । महाराणा धर्म संकट में पड़ गये । राव रणमल के प्रतिनिधि किंकर्तव्यविमूढ़ कभी राजकुमार की ओर ताकते और कभी महाराणा की ओर ।

“हमने तो यह बात हँसी में कही थी राजकुमार! तुम्हें इसे इतनी गहराई से नहीं लेना चाहिए ।”

“क्षमा करें अन्नदाता ! आपने किसी भी रूप में कहा हो अब वे मेरी माता बन चुकीं ।”

राव रणमल का प्रतिनिधि भी राजनीति कुशल और व्यवहार कुशल व्यक्ति था । वह अपने महाराज से पूरी बात करके ही आया था । वे अपनी पुत्री को मेवाड़ की

महारानी बनाना चाहते थे । पुरोहित को दूर की सुझी क्यों राजकुमारी को मेवाड़ की महारानी ही नहीं राजमाता भी बना दिया जाय । उसने महाराणा से निवेदन किया-

“महाराज ! हमारे महाराज ने युवराज और राजकुमारी जी के सम्बन्ध का प्रस्ताव इसलिये भेजा है कि वे मेवाड़ के भावी महाराणा हैं । क्षमा करें महाराज यदि युवराज के कथनानुसार आप राजकुमारी जी से विवाह कर भी लें तो आपके बाद में राज्य स्वामी तो युवराज ही होंगे, हमारा राजकुमारी जी की कोख से उत्पन्न राजकुमार नहीं ।”

राजपुरोहित की यह अर्धभरी बात सुनकर राजकुमार चूड़ामणि बोले-“आप निश्चिन्त रहें पुरोहित जी आपकी राजकुमारी जी की कोख से जो बालक उत्पन्न होगा वही मेवाड़ का महाराणा बनेगा । मैं ईश्वर को साक्षी रखकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि मेवाड़ के राज्य सिंहासन का न तो मैं कभी दावेदार बनूँगा और न मेरी सन्तान ही । मैं अपना युवराज पद छोड़ता हूँ ।

तिनके की भाँति इतने विशाल और समृद्ध राज्य का उत्तराधिकार छोड़ने वाले राजकुमार चूड़ामणि की ओर सभी सभासदों की दृष्टियाँ उठ गयीं । राजकुमार के चेहरे पर मुस्कान खेल रही थी, त्याग का अपूर्व सुख उस पर आभा बनकर विराज गया था । महाराणा ने अपने पुत्र की ओर देखा और बोले-“युवराज, तुम एक बार फिर सोच लो ।” हमें पता होता कि हैसी-हैसी में कही गयी बात की ऐसी प्रतिक्रिया होगी तो हम वैसा कभी नहीं कहते । आये हुये टीके को फेरने में हमारी हेठी ही नहीं होगी जोधपुर महाराज भी अपना अपमान समझेंगे । ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते राज्य के उत्तराधिकारी तुम्हीं हो । तुम्हारी योग्यता और वीरता पर हमें भरोसा भी है । मेवाड़ का हित इसी में है कि तुम्हीं हमारे पश्चात् महाराणा बने । ऐसी स्थिति में हम धर्म संकट में पड़ गये हैं ।

“आप चिन्ता न कीजिये महाराज ! जब तक चूड़ामणि जीवित है मेवाड़ के गौरव चन्द्र को कोई राहू ग्रस नहीं सकता । शासन के प्रबन्ध में सिर कटाने की बात हो तो मैं आधी रात को तैयार हूँ पर सिंहासन पर बैठने की बात अब नहीं बनेगी ।”

राजकुमार की इस भीष्मप्रतिज्ञा पर सभी विस्मित चकित थे । इस त्याग के कारण उन्होंने वह श्रेय सम्मान पा लिया था जो मेवाड़ के राज्य सिंहासन से भी उच्च था, ऐसी कीर्ति पायी थी जिसकी प्रभा कभी धूमिल होने वाली नहीं थी ।

जोधपुर नरेश का अपमान न हो इसलिये महाराणा लाखा ने जोधपुर की राजकुमारी विन्दुमती से विवाह कर लिया । वे मेवाड़ की महारानी बनीं । विवाह के कुछ ही वर्ष पश्चात् उनके मोकल नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ । मोकल आठ वर्ष का भी नहीं हो पाया था कि महाराणा लाखा का देहावसान हो गया ।

अल्पवयस्क मोकल को महाराणा पद पर अभिषिक्त किया गया । राजकाज माता विन्दुमती देखती थीं । राजकुमार चूड़ामणि उनकी सहायता करते थे । एक प्रकार से राज्य का सारा प्रबन्ध वे ही किया करते थे । काम तो वे करते थे महाराणा पद पर मोकल आसीन थे । राजमाता विन्दुमती को उन पर पूरा विश्वास था । राजकुमार के त्याग ने उनके हृदय में बहुत ऊँचा स्थान बना लिया था । वे उन्हें बहुत मानती थीं ।

किन्तु जोधपुर नरेश राव रणमल के मन-मस्तिष्क में कुछ और ही खिचड़ी पक रही थी । वे मेवाड़ को अपने पैरों के नीचे करने की घृणित कामना को सफल करने में लगे हुए थे । उन्होंने अपने कुचक्र चलाने आरम्भ कर दिये । राजमाता विन्दुमती के मन में उन्होंने राजकुमार चूड़ामणि के प्रति अविश्वास उत्पन्न करना आरम्भ कर दिया । पहले तो उन्होंने उनकी बातों पर विश्वास नहीं किया पर अपने पिता द्वारा बार-बार उसी बात को दोहराने पर वह भी उन पर शंका करने लगी । यद्यपि उनकी शंका निराधार थी । राव रणमल राजकुमार चूड़ामणि को मेवाड़ से बाहर निकलवाकर अपने मार्ग का कौटा दूर करना चाहते थे ।

राजमाता विन्दुमती ने भी अपने पिता की बातों पर विश्वास करके राजकुमार चूड़ामणि से परामर्श लेना बन्द कर दिया । राज्य के जिम्मेदार पदों पर उन्होंने अपने पिता की राय के अनुसार उनके अपने आदमी नियुक्त करने आरम्भ कर दिये । राजकुमार चूड़ामणि ने उन्हें सचेत किया कि ऐसा करने से हमारे भेद बाहर चले जायेंगे । इस पर राजमाता ने उन्हें कटुवचन कहे-“राजकुमार, आप मोकल के स्थान पर अपने आपको महाराणा बनाना चाहते हो इसीलिये ऐसी बातें कह रहे हो । हम स्वयं जैसे होते हैं हमें दूसरे भी वैसे ही दिखाई देते हैं । मैं आपका यहाँ मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़गढ़ में रहना आवश्यक नहीं समझती । आप यहाँ से चले जाइये ।

राजकुमार चूड़ामणि, राजमाता के ये वचन सुनकर बहुत दुःखी हुए । उन्होंने अपने अपमान को पी लिया और बोले-“यदि आपको मेरे में खोट लगता है तो मैं यहाँ नहीं रहूँगा । मैं सलुम्बर के बीहड़ प्रदेश में चला जाता हूँ पर आप इतना याद रखें महाराणा मोकल पर कोई संकट आये तो मुझे सूचित किये बिना न रहें ।”

राजकुमार चूड़ामणि अपने थोड़े से परिवार और साथियों सहित सलुम्बर के पर्वतीय प्रदेशों में चले गये । उनके चले जाने पर राव रणमल को खुलकर खेलने का अवसर मिल गया । राजमाता उन्हें अपना और महाराणा मोकल का शुभचिन्तक ही समझती रहीं पर जब उनके पिता का वास्तविक स्वरूप उजागर हुआ तो वे काँप उठीं । अब उनके हाथ में कुछ नहीं रहा था । राव रणमल के विश्वासपात्र सामन्त दायित्वपूर्ण पद सम्हाले बैठे थे । वास्तविक सत्ता उन्हीं के हाथों में थी । अल्पवयस्क

महाराणा मोकल के प्राणों पर कभी भी संकट आ सकता था। अब उन्हें अपनी भूल ज्ञात हुई। राजकुमार चूड़ामणि के उच्चादर्श समन्वित उच्चचरित्र पर विश्वास न कर उन्होंने अपने पिता पर, रक्त के रिश्तों पर विश्वास किया, जो झूठा निकला।

इस संकट की घड़ी में उन्होंने एक दूत के हाथ राजकुमार चूड़ामणि के पास सन्देश भेजकर महाराणा मोकल की रक्षा करने की प्रार्थना की। राजकुमार चूड़ामणि को इसी बात की आशंका थी। उन्होंने उस स्थिति से निपटने की तैयारी भी कर रखी थी। सलुम्बर रहकर उन्होंने अपना सैन्य बल भी बढ़ा लिया था। राजमाता का संदेश पाते ही वे सदल बल चित्तौड़ के लिए कूच कर पड़े। गुप्त मार्ग से दुर्ग में प्रविष्ट होकर उन्होंने महाराणा मोकल की सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध किया। फिर सोलह-बत्तीसी सरदारों से मन्त्रणा की। सबने मिलकर राव रणमल के सामन्तों का सफाया कर दिया।

मानापमान की परवाह न करते हुए उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा— अपने कर्तव्य का पालन किया। जब तक मोकल वयस्क नहीं हुए उन्होंने उनका संरक्षण किया। तदनन्तर वे पुनः सलुम्बर चले गये। व्यक्ति का चरित्र और उसकी उच्च भावनाएँ ही उसे महान और यशस्वी बनाती हैं, पद सम्मान नहीं। राजकुमार चूड़ामणि के व्यक्तित्व और कर्तृत्व में यह तथ्य प्रखर रूप में उद्भाषित हुआ है। उनके त्याग ने उन्हें ही नहीं उनके वंशजों को भी अक्षय गौरव प्रदान किया। उनके वंशज जो 'चूड़ावत' कहलाते थे, की सहमति के बिना कोई मेवाड़ के सिंहासन पर आसीन नहीं हो सकता था। इस मर्यादा का प्रचलन राजमाता विन्दुमती ने ही किया था, राजकुमार चूड़ामणि की कीर्ति को स्थायी बनाने के लिये। उस परम्परा का पालन अन्त तक होता रहा। राजकुमार चूड़ामणि अपने इस त्याग के कारण सदा सर्वदा के लिये आदर्श बन चुके हैं। आज भी कोई यश पाना चाहे तो उसका मार्ग वही है जो उन्होंने चुना था।

स्वतन्त्रता, स्वाभिमान और संस्कृति के

संरक्षक —

महाराजा छत्रसाल

उस दिन विंध्यवासिनी देवी के मन्दिर पर भारी भीड़ लगी हुई थी। देवी पूजा के उत्सव का आयोजन चल रहा था और दूर-दूर से आये श्रद्धालु अपनी आराध्या जगज्जननी देवी के मन्दिर में श्रद्धा के फूल चढ़ा रहे थे। मार्ग में चल रहे कुछ घुड़सवार एक बगीचे के पास रुके और उन्होंने बगीचे में फूल चुन रहे एक किशोर को फूहड़ता के साथ पुकारा। युवक ने फिर भी नम्रता और शिष्टता से उत्तर देते हुए पूछा—“क्या बात है?”

“तुम लोग जिस देवी की पूजा करते हो उस देवी का मन्दिर कहाँ है?”— घुड़सवार ने पूछा।

किशोर युवक ने कहा—“क्या आप भी माँ की पूजा करने आये हो। जरा उतरिये, मैं फूल चुन लूँ फिर हम साथ-साथ ही चलेंगे।”

“हमारे पास समय नहीं है।” सरदार से लगने वाले घुड़सवार ने अहंकारपूर्वक कहा—“और हमें पूजा-वृजा से कोई भी मतलब नहीं है। हम तो सल्तनत के आदमी हैं और हमें वह मन्दिर तोड़ना है।”

तब तक नवयुवक के साथी भी एकत्र हो गये थे। युवक ने अपने फूलों की टोकरी अपने साथी को धमा दी और घुड़सवार के नजदीक जाकर बोला— जरा तमीज से बात करो सरदार। देवी माँ के लिए ऐसी बात मुँह से निकाली तो ज़बान खींच लूँगा।

युवक की भवें तन गयी थीं और होंठ फड़फड़ाने लगे थे। घुड़सवार को इस किशोर से ऐसे उत्तर की आशा नहीं थी। वह घोड़े से यह कहता हुआ नीचे उतरा—“तू तो क्या तेरी देवी माँ भी मेरा बाल बाँका नहीं कर सकती। उठर अभी तुझे मजा चखाता हूँ।” यह कहता हुआ सरदार घोड़े से नीचे उतरा और उसके पास आने लगा। एक लड़के का ऐसा साहस उस गर्वोन्मत्त घुड़सवार को सहन नहीं हो रहा था और वह इस तरह उत्तर देने वाले लड़के का सिर ही उतार लेने की सोच रहा था। घुड़सवार उतरकर युवक के पास आ ही रहा था कि युवक ने आनन-फानन में अपने कमर में खोँसी हुई तलवार निकाली और सरदार जिसका नाम रसदुल्ला ख़ाँ था की छाती में घोंप दी। रसदुल्ला ख़ाँ वहीं ढेर हो गया। अपने सरदार की यह दशा देखकर साथ आये अन्य घुड़सवार भी उस युवक पर टूट पड़े। युवक भी कोई कमजोर नहीं था। उसने तथा उसके साथियों ने मिलकर ऐसे वीरतापूर्ण हाथ दिखाये कि दुश्मन को छटी का दूध याद आ गया। इस छोटे से युद्ध की खबर मन्दिर में पूजा कर रहे राजपूत वीरों और चम्पतराय तक भी पहुँची, जो उस युवक के पिता थे। वे लोग जब तक तैयार होकर आते तब तक तो छत्रसाल अपने शत्रुओं पर काबू पा चुके थे।

किशोरवय में ही अपनी संस्कृति के प्रति इतना भक्तिभाव रखने और आक्रमणकारियों का वीरतापूर्वक मुकाबला करने वाले इस युवक का नाम था छत्रसाल जिसके सम्बन्ध में शिवाजी के राजकवि भूषण ने कहा था— “शिवा को सराहों के सराहों छत्रसाल को।” इतिहासकारों द्वारा बुन्देलखण्ड के शिवाजी कहे जाते थे वीर छत्रसाल। उनके पिता चम्पतराय बुन्देलखण्ड के राजा थे। चम्पतराय का अधिकांश जीवन शाहजहाँ और औरंगजेब से स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करते हुए बीता। तब बुन्देलखण्ड पर मुगलों का आधिपत्य हो गया था और शत्रु सेना चम्पतराय को पकड़ने के लिए उनके पीछे-पीछे दौड़ रही थी। चम्पतराय अपनी और बुन्देलखण्ड के

भावी नरकेसरी की जीवन रक्षा के लिए महारानी लाड़ कुँवरि के साथ विंध्याचल की मोर पहाड़ी में जा छुपे थे। अज्ञातवास के दौरान ४ मई, १६४९ को छत्रसाल का जन्म हुआ।

चम्पतराय सोचते थे कि अपना जीवन तो यहाँ-वहाँ लुकते-छिपते और शत्रु ठिकानों पर धावा बोलते ही बीतेगा। ऐसी परिस्थिति में अबोध शिशु को सुरक्षापूर्वक पालना-पोसना कठिन था। इसलिए उन्होंने छत्रसाल को उसकी ननिहाल भेज दिया। लाड़ कुँवरि के पिता अपनी बेटी की इस निशानी को राष्ट्र की धरोहर मानकर पालने-पोसने लगे। नाना के घर पर रहते हुए ही छत्रसाल ने तलवार चलाना, तीर-कमान से निशाना साधना और घुड़सवारी करना सीख लिया। इसके साथ ही उन्होंने संस्कृत की शिक्षा भी ग्रहण की।

जब छत्रसाल १४ वर्ष के थे तभी उक्त घटना घटी। इस घटना के साथ ही उन्होंने अनुभव किया कि औरंगजेब के अधीन रहते हुए अपने धर्म और अपनी संस्कृति को स्वाभिमानपूर्वक अपनाना सम्भव नहीं है। उनके नाना के पास अक्सर दूसरे सम्बन्धी भी आया करते थे, जो अन्य छोटी-छोटी रियासतों के स्वामी थे। उनकी बात-चीत से ही छत्रसाल को मालूम हुआ कि इन रियासतों को कर देना पड़ता है। इतना ही नहीं अपने धर्म का पालन करने के लिए भी हिन्दुओं को जजिया चुकाना पड़ता है। दो चार मर्तबा उन्होंने बातचीत के दौरान अपने सम्बन्धियों को सलाह दी थी कि इस तरह अपमानपूर्वक जीने से तो बेहतर है कि संघर्ष करते हुए मृत्यु का वरण कर लिया जाय। सम्बन्धियों ने इसे बचकाना कहा और यह व्यंग्य भी कसा कि-“तुम्हारे पिता ने ऐसा किया है तो उनको क्या परिणाम भुगतने पड़े हैं।”

सम्बन्धियों के सोचने-विचारने का यह ढंग देखकर छत्रसाल ने अपने उद्देश्य के लिए एक योजना बनायी। इसी बीच चम्पतराय और लाड़ कुँवरि शत्रु के हाथों पड़ जाने पर अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए आत्महत्या कर चुके थे। इस घटना ने छत्रसाल के खून में खौलाव ला दिया था पर उन्होंने धैर्य और सूझ-बूझ से काम लेना ही उचित समझा। वे महाराज जयसिंह के पास गये। जयसिंह उस समय औरंगजेब के अधीनस्थ, उसकी आज्ञानुसार बर्तने वाले राजा थे। जयसिंह के पास जाकर छत्रसाल ने अपना परिचय दिया और कहा कि वे सेना में भर्ती होना चाहते हैं। जयसिंह के कानों में तब विन्ध्यवासिनी देवी के मन्दिर पर घटी घटना का विवरण पहुँच चुका था और वह इस युवक के शौर्य तथा साहस से बड़े प्रभावित भी हुए थे। उन्होंने छत्रसाल को अपनी सेना में भर्ती कर लिया।

छत्रसाल जयसिंह की सेना के साथ युद्ध पर जाते और अपनी वीरता का बढ़ा-चढ़ा प्रदर्शन करते। इस प्रकार काम करने का उद्देश्य यह था कि वे युद्ध विद्या का व्यावहारिक शिक्षण प्राप्त करें और मुगलों की युद्ध नीति को भी अच्छी तरह समझ सकें। उन्होंने कई युद्धों में भाग

लिया और जब देखा कि आवश्यक शिक्षण प्राप्त कर लिया है तो जा पहुँचे शिवाजी के पास। शिवाजी ने अपनी नीतिमत्ता, सूझबूझ और कौशल के बल पर एक सुगठित भारतीय साम्राज्य की स्थापना कर ली थी। उनके राज्य की सीमाओं पर कड़ा पहरा रहता था और कोई अजनबी इस पहरे से बचकर राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता था। अतः छत्रसाल ने वनमार्ग से छुपकर जाने का निश्चय किया। बरसात का मौसम था। रास्ते में भीमा नदी पड़ती थी और भीमा नदी में भयंकर बाढ़ आयी हुई थी। वे इस बाढ़ की पर्ववाह किये बिना ही नदी में उतर पड़े और प्रलयंकर प्रवाह से संघर्ष करते हुए उस पार पहुँचे।

शिवाजी के पास पहुँचकर छत्रसाल ने अपना परिचय दिया और अब तक की कहानी सुनायी तो वे बड़े प्रभावित हुए। उनके साथ कुछ और साथी भी थे। बड़े सम्मान के साथ शिवाजी ने छत्रसाल को अपने यहाँ ठहराया और उनकी योजना ध्यानपूर्वक सुनी। छत्रसाल को उन्होंने अपने हाथ से तिलक लगाया और एक तलवार कमर में बाँधी। इस प्रकार शिवाजी ने छत्रसाल को संघर्ष की दीक्षा दी एवं हर घड़ी सहयोग करने का आश्वासन दिया। छत्रसाल वहाँ से बुन्देलखण्ड चले आये और वहाँ के आदिवासियों, मजदूर पेशाओं और निम्न श्रेणी के लोगों को संगठित करने का काम आरम्भ किया। इस काम के लिए पैसों की आवश्यकता थी और पैसा छत्रसाल के पास था नहीं। वे तो कुछ गहने जो मोर पहाड़ी में उस मकान में उनकी माँ की निशानी के रूप में गढ़े हुए थे जहाँ उनका जन्म हुआ था। छत्रसाल ने उन गहनों को बेचकर पैसा जुटाया और स्वतन्त्रता प्रेमी नवयुवकों को संगठित करने लगे।

इन सेनानियों को शस्त्र चलाने और घुड़सवारी करने का अभ्यास छत्रसाल स्वयं कराते थे। २२ साल की आयु में छत्रसाल ने क्रान्ति का बिगुल बजाया और मुगल छावनियों तथा किलों पर आक्रमण करने लगे। पद्धति वही थी जो शिवाजी ने अपनायी थी। शत्रु जब असावधान रहता तो रात के समय उसके डेरे पर जाकर धावा बोल देते। सबसे पहले सन् १६७२ में उन्होंने गढ़कोटा के किले पर अधिकार किया और उसके बाद विजय का ताँता सा लग गया। पन्ना को उन्होंने अपनी राजधानी बनाया और इसके बाद उनके आक्रमण दर आक्रमण का क्रम चलता रहा। कहते हैं छत्रसाल ने अपने जीवनकाल में ५२ लड़ाइयाँ लड़ीं और बुन्देलखण्ड राज्य की सीमाओं को जमुना, चम्बल और नर्मदा तक फैलाया। भारतमाता की ये पुत्रियाँ जैसे उनके राज्य की सीमा निर्धारित करती थीं।

सन् १६८४ में स्वामी प्राणनाथ से छत्रसाल की भेंट हुई। समर्थ रामदास की भाँति ही स्वामी प्राणनाथ भी किसी ऐसे शिष्य की खोज में घूम रहे थे जो उनके भारतीय साम्राज्य का स्वप्न साकार कर सके। छत्रसाल के संघर्षों की कहानियाँ उनके कानों तक पहुँचती रहती थी और उनकी असंदिग्ध देशभक्ति तथा धर्मनिष्ठा से प्रभावित होकर

स्वयं प्राणनाथ पन्ना आये थे । छत्रसाल ने स्वामी प्राणनाथ का खूब आदर-सत्कार किया और उनके लिए अपना सिंहासन खाली कर दिया । कुछ देर तक स्वामी जी सिंहासन पर बिराजे और फिर उठते हुए बोले-“अब यह राज्य तुम्हारा अपना नहीं है । मेरी अमानत के रूप में इसकी सुरक्षा और सुव्यवस्था करो ।”

इससे पूर्व ही छत्रसाल स्वामी प्राणनाथ को अपना गुरु मान चुके थे । उन्होंने गुरु आज्ञा को शिरोधार्य किया और आजीवन उनके आदेश का निष्ठापूर्वक पालन करते रहने का संकल्प लिया । इसके चार वर्ष बाद ही स्वामी प्राणनाथ ने छत्रसाल को ‘महाराजा’ की उपाधि से विभूषित किया । वस्तुतः उन्होंने अपने इस नाम को पहले ही सार्थक कर लिया था । उनका राज प्रबन्ध इतना बढ़िया था कि बुन्देलखण्ड राज्य की वार्षिक आमदनी १ करोड़ ८ लाख होती थी । छत्रसाल द्वारा अपने पुत्र को लिखे गये एक पत्र से पता चलता है कि वे राजकोष में १४ करोड़ रुपये छोड़कर मरे थे । जबकि औरंगजेब ने जनता को दोनों हाथों से लूटा-खसौटा और फिर भी उसके मरते समय दिल्ली का खजाना लगभग खाली था । दिल्ली और पन्ना के खजाने की यह स्थिति औरंगजेब की अविशेषपूर्ण राजनीति और छत्रसाल की दूरदर्शितापूर्ण प्रशासन दक्षता का प्रमाण है ।

छत्रसाल अन्तिम साँस तक भारतमाता का चप्पा-चप्पा स्वतन्त्र कराने के लिए संघर्ष करते रहे । उन्होंने अन्तिम युद्ध ८० वर्ष की आयु में किया जो मुहम्मद खान बंगश के साथ हुआ । इस युद्ध में पेशवा बाजीराव ने भी छत्रसाल का साथ दिया और वे स्वयं सेना लेकर पहुँचे । आजीवन लड़ाई के मैदान में जूझते हुए छत्रसाल के सम्बन्ध में यह जानकर आश्चर्य होना तो स्वाभाविक ही है कि वे अच्छे साहित्यकार भी थे । यों राजा महाराजा साहित्य में रुचि तो लेते रहे हैं पर आश्चर्य इस बात का होता है कि जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तलवारों की झंकार के नीचे रहने वाले छत्रसाल काव्य-रचना के लिए कब फुरसत निकाल लेते थे । उनकी प्रारम्भिक रचनायें ‘छत्रसाल ग्रन्थावली’ के नाम से प्रकाशित हुई । छत्र-विलास, नीति-मंजरी और राज-विनोद के अलावा भी उनके रचे कुछ काव्य ग्रन्थ और भी हैं ।

स्वयं कवि होने के साथ-साथ छत्रसाल गुण ग्राहक भी थे । महाकवि भूषण को तो उन्होंने इतना सम्मान दिया कि उनकी पालकी ही अपने कन्धे पर उठा ली । सन् १७३१ में उनका निधन हुआ । उन्होंने अपने जीवन काल में दिल्ली के तख्त पर आठ बादशाह बैठते और उतरते देखे पर आने वाली पीढ़ी को स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ाते हुए उन्होंने मध्य देश को स्वतन्त्र कराने का लक्ष्य प्राप्त कर ही लिया ।

छत्रसाल की चरित्रनिष्ठा

छत्रसाल अपनी प्रजा की देखभाल बच्चों की तरह करते थे । वह समय-समय पर अपने राज्य का दौरा करते और जन-सम्पर्क द्वारा उनसे कठिनाइयाँ पृष्ठते रहते थे । एक बार उनके स्वस्थ और सुन्दर शरीर को देखकर एक युवती उनकी और आकर्षित हुई । कामातुरता के सम्मुख भय और लज्जा कैसी ?

वह युवती महाराज के पास आई और मौका देखकर बोली राजन् ! आप जैसे दयालु राजा के राज्य में भी मैं दुःखी रहती हूँ ।

राजा बड़े दुःखी हुये । वह सोचने लगे कि मेरे निरन्तर प्रयत्नशील रहने पर भी राज्य के स्त्री पुरुष दुःखी रहें, अभाव ग्रस्त रहें फिर मेरे राज्य करने से भी क्या लाभ है ?

वह बोले “देवी ! बताइये आपको क्या कष्ट है मैं उसे दूर करने के लिये भरसक प्रयत्न करूँगा ।”

“राजन ! ऐसी मीठी-मीठी आश्वासन भरी बातें कह तो सब देते हैं पर करते-बिरले ही हैं । आप वचन दें तब मेरा बताना भी सार्थक है ।”

उस महिला ने अपना पासा फेंका । महाराज ठहरे सरल हृदय वाले और प्रजावत्सल उन्होंने कहा “देवी ! आपके दुःख दूर करने के लिये मैं यथाशक्ति प्रयत्न करूँगा ।”

“बात बड़ी छोटी-सी है । मैं चाहती हूँ कि आप जैसी सन्तान मेरे भी हो ।”

उसकी बात सुनकर कुछ क्षण के लिए महाराज छत्रसाल स्तब्ध रह गये, पर उन्होंने बड़ी विवेकशीलता तथा संयम से कार्य किया । वे उस कामातुर नारी के चरणों में मस्तक नवाकर बोले-“माताजी ! सम्भव है आप जिस पुत्र को जन्म दें वह मेरी तरह न हो अतः आज से आप मुझे ही अपना पुत्र स्वीकार कर लीजिए ।”

राजा की कही यह बात सुनते ही उस महिला का स्वप्न टूट गया । उसे अपनी त्रुटि का बोध हो गया । पर छत्रसाल अपने जीवन भर उसके प्रति श्रद्धा रखते रहे और राजमाता की तरह सम्मान प्रदान करते रहे ।

महत्वाकांक्षी वीर—

महादाजी सिंधिया

मराठों और अहमदशाह अब्दाली के बीच हुई भयंकर लड़ाई में मराठों को पराजय का मुख देखना पड़ा था । उससे उनकी बढ़ी-चढ़ी प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का पहुँचा । इस पराजय का समाचार जब पेशवा नानासाहब को मिला तो वे इतने दुःखी हुए कि इसी शोक और निराशा में घुलते हुए थोड़े ही दिनों में उनका प्राणान्त हो गया ।

पानीपत की इस पराजय के कारण महाराष्ट्र मण्डल में व्याप्त निराशा को मिटाने और खोयी हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने का श्रेय जिन थोड़े से पुरुषार्थियों को दिया

जा सकता है उनमें शीर्षस्थ व्यक्ति दो हैं- निष्काम भाव से हिन्दू महाराष्ट्र को पुनर्प्रतिष्ठित करने वाले कुशल राजनीतिज्ञ नाना फड़नवीस और वीरवर महादाजी सिंधिया । महादाजी सिंधिया महाराष्ट्र मण्डल की सुदृढ़ बलिष्ठ भुजदण्डों के सदृश्य थे तो नाना फड़नवीस उसके तेज तर्रार मस्तिष्क बल ।

महादाजी सिंधिया मालवा के एक छोटे से क्षेत्र के अधिपति राणोजी सिंधिया के पुत्र थे । राणोजी सिंधिया के पुरखे मुगल सम्राट के दरबार में उच्च पद पर आसीन थे । किन्तु परिस्थितिवश उन्हें पेशवा के सामान्य भृत्य का कार्य करना पड़ा । इस तुच्छ से कार्य को भी राणोजी ने इस निष्ठा व दायित्व के साथ निभाया कि पेशवा ने प्रसन्न होकर उन्हें मालवा के उत्तरार्द्ध का प्रशासक नियुक्त कर दिया ।

महादाजी सिंधिया राणोजी की एक ऐसी उपपत्नी के पुत्र थे जिसका पूर्व चरित्र सम्मानास्पद नहीं रह सका था । इस कारण कुलीन मराठा वंशों के अधिकांश सामन्त अपने संकीर्ण दुराग्रहों के कारण उनका सम्मान नहीं करते थे । राणोजी के कोई अन्य पुत्र नहीं होने के कारण महादाजी को उनका उत्तराधिकार मिला था ।

महादाजी एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति थे । वह स्वयं पानीपत के युद्ध में सेनापति सदाशिवराव भाऊ के सहायक बनकर गये थे । पानीपत में हुई पराजय के अनन्तर वह भी वहाँ से भाग आये थे । इस युद्ध में उन्होंने काफी अनुभव प्राप्त किया था ।

महादाजी सिंधिया और नाना फड़नवीस ने मिलकर महाराष्ट्र के गौरव को पुनः प्रतिष्ठापित करने का प्रबल प्रयास किया । महादाजी सिंधिया जैसा पराक्रमी, शूरवीर उस समय महाराष्ट्र मण्डल में दूसरा कोई नहीं था । अतः नाना फड़नवीस ने उन्हें अपना अनन्य सहयोगी बना लिया ।

पिछले वर्षों में पूना और बड़ौदा के अतिरिक्त मध्य भारत में ग्वालियर और इन्दौर में दो मराठा राज्य उदित हुये थे । महादाजी सिंधिया को उन्हीं में से एक ग्वालियर का आधिपत्य उत्तराधिकार में मिला था । महादाजी के नेतृत्व में मराठा सेना ने कई बार अँग्रेजों को करारी हार ही नहीं दी, वरन् मुगल सम्राट के संरक्षक भी महादाजी सिंधिया ही बने । महाराष्ट्र मण्डल एक बार पुनः भारत की सबसे बड़ी शक्ति बन सका, इसमें महादाजी के इस पराक्रम का बहुत बड़ा हाथ था ।

सन् १७७९ में मराठों और अँग्रेजों के बीच जो युद्ध हुआ उसके सेनापति महादाजी ही थे । महादाजी सिंधिया और होल्कर को नाना फड़नवीस ने पूना दरबार की सेनाओं की कमान थमाकर लड़ने के लिये भेजा । अँग्रेजों को देशद्रोही रघोवा अपने साथ लेकर आ रहा था । वह पेशवा बनने के सपने देखता हुआ अँग्रेजों की कठपुतली बना उन्हें अपने ही घर पर चढ़ाकर ला रहा था ।

मराठे सरदारों ने खाण्डेल तक उनकी सेना को नहीं रोका । बम्बई से १८ मील दूर नली गाँव में वे उनका

वीरोचित स्वागत करने को तैयार खड़े थे । इस सजी-सजाई सेना को देखकर अँग्रेज काँप उठे । लड़कर पराजित होने की अपेक्षा उन्होंने लौट पड़ना ही ठीक समझा । अतः वे लौट पड़े । लौटती हुई अँग्रेजी सेना पर मराठे वीर भूखे सिंह की भाँति टूट पड़े । उनकी रसद और गोला बारूद पर अधिकार कर लिया । चारों ओर से अँग्रेज सेना को घेर लिया और उन्हें आत्मसमर्पण के लिए विवश कर दिया । मजबूर होकर उन्हें अपमानजनक सन्धि करनी पड़ी ।

महादाजी वीर थे पर वह नाना फड़नवीस की तरह दूरदर्शी नहीं । न वे निष्काम भाव से राष्ट्रसेवा करने के व्रती थे वरन् उनकी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएँ भी कम बड़ी-चढ़ी नहीं थीं । यही कारण था कि वे वीर होते हुए भी अपनी इस वीरता से राष्ट्र का कोई विशेष हित अपनी स्वेच्छापूर्वक नहीं कर पाये । नाना फड़नवीस उसकी वीरता और युद्ध कौशल का सदुपयोग समय-समय पर राष्ट्र हित में करते रहे थे पर महादाजी के हृदय में उन उच्च भावों की अपेक्षा व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं का अधिक स्थान था । फिर भी साधन रूप में और अपने पराक्रम से मुगल साम्राज्य को हिला देने व उसका संरक्षक बनने के रूप में उनकी वीरता का महत्त्व असंदिग्ध ही है ।

महादाजी की इस व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा के मूल में एक कारण यह भी था कि उसे अन्य मराठे सरदार राणोजी की उपपत्नी के पुत्र होने के कारण असम्मानित दृष्टि से देखते थे और वह महाराष्ट्र मण्डल के हित से अपने व्यक्तिगत हित को ऊपर स्थान दिया करते थे । महादाजी की इस महत्वाकांक्षा को समाप्त किया जा सकता था यदि उनकी वीरता और पराक्रम के अनुरूप उन्हें मान दिया जाता । महाराष्ट्र मण्डल के सूत्र संचालक नाना फड़नवीस अवश्य उन्हें वह मान देते थे जिसके वे अधिकारी थे । नाना फड़नवीस ने उनकी भूलों को समय-समय पर सुधारा भी ।

बम्बई के युद्ध में हुई विजय के पश्चात् सन्धि की शर्तों के अनुसार दो अँग्रेजों को महाराष्ट्र मण्डल में बंधक रखा गया था । नाना फड़नवीस ने यह गौरव महादाजी को ही दिया कि वह उन दोनों का निरीक्षण करें तथा उन्हें अपने अधिकार में रखें । राघोवा को अँग्रेजों ने सन्धि की शर्तों के अनुसार महाराष्ट्र मण्डल को सौंप दिया था । उसके नियन्त्रण का दायित्व भी महादाजी को ही सौंपा गया ।

कर्नल गाईड ने महादाजी पर अपना जाल फैलाया । उन्हें प्रलोभन दिया कि वह उसे महाराष्ट्र मण्डल में सबसे प्रमुख बना देगा । महादाजी वीर थे पर कूटनीतिज्ञ नहीं थे साथ ही महत्वाकांक्षी भी थे सो उसके झाँसे में आ गये । उन्होंने दोनों अँग्रेज प्रतिनिधियों व राघोवा को उनके हाथों में सौंप दिया । महादाजी सोचते थे कि ऐसा करने के कारण अँग्रेज उनसे अलग सन्धि करेंगे पर कर्नल गाईड ने ऐसा कुछ नहीं किया वरन् उसने सिंधिया के सैनिकों पर छापा भी मारा ।

१.८० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

इस चूक से भी वे सबक नहीं ले सके । नाना फड़नवीस ने जब मुगल सम्राट, अर्काट के नबाव, हैदरअली, निजाम तथा अन्य छोटे-छोटे राष्ट्रों को संगठित कर अंग्रेजों को समूल नष्ट करने की तैयारियाँ आरम्भ कीं तो कर्नल गाईड ने पुनः सिंधिया को मध्यस्थ बनाया । सालवाई की सन्धि इसी मध्यस्थता का परिणाम थी । महादाजी यदि बीच में नहीं पड़ता तो बहुत सम्भव था उस समय साम्राज्याधिक मतभेद भुलाकर एक हुए भारतीय राजागण अंग्रेजों को सदा के लिये बाहर निकाल देते । हैदरअली तो पहले ही इसके लिये तैयार बैठा था पर सालवाई की सन्धि ने उस सम्भावना पर पानी फेर दिया । यहाँ नाना फड़नवीस भी चूक गये थे । वे महाराष्ट्र मण्डल की ही बात न सोच कर सारे भारत की सोचते तो ऐसा न होता ।

इन भूलों के करते हुए भी इतना तो मानना पड़ेगा कि वह वीर और पराक्रमी थे । उन्होंने हिन्दुओं का डंका ठेठ दिल्ली के मुगल तख्त तक बजाया था । उनकी समझ में उस समय यह बात नहीं आयी थी कि उनका वास्तविक शत्रु कौन है ? वह अब भी मुगलों और अन्य मुस्लिम शासकों को ही भारतीयों का शत्रु समझता था । जबकि स्थिति परिवर्तित हो चुकी थी । अब अंग्रेज समस्त भारतवासियों को लील जाने के लिये आ पहुँचे थे पर वह उन्हें समझ नहीं पाया था । यही कारण था कि वह उन्हें मुसलमानों की अपेक्षा अपना मित्र मानता था ।

दिल्ली के बादशाह शाहआलम को इलाहाबाद से दिल्ली पहुँचाकर तख्तनशीन करवाने के लिए महादाजी ने उससे दस लाख रुपये लिये । महादाजी ने उसे तख्त पर बिठाया । वह उस कठपुतली बादशाह के संरक्षक भी बने । इस प्रकार दिल्ली पर हिन्दू राजा का वर्चस्व स्थापित हुआ । अपनी दृष्टि से महादाजी ने यह गौरवपूर्ण कार्य किया था । उनके इस कार्य का महत्व स्वीकारना ही पड़ेगा । पर यह बात अखरती है कि वे दूरदर्शी नहीं थे किन्तु उन्हें तो नाना फड़नवीस निभाते रहे थे ।

सालवाई की सन्धि में अंग्रेज मराठों की शक्ति का लोहा मान चुके थे । उन्हें अपनी भूमि और प्रतिष्ठा खोनी पड़ी थी पर वस्तुतः यह उनकी चाल थी । वे नाना फड़नवीस और महादाजी के रहते हुए महाराष्ट्र मण्डल पर हाथ नहीं डाल सकते थे । अतः इस सन्धि के माध्यम से उन्होंने अपना बचाव किया था । उस समय तो महादाजी को यह गौरवपूर्ण लगा था और इस सन्धि से प्रत्यक्षतः मराठों का प्रभुत्व बढ़ा ही था ।

इस सन्धि के उपरान्त १७८२ में वे दिल्ली पहुँचे । दिल्ली पर महादाजी का बड़ा प्रभाव था । सब पर उसकी धाक बैठी हुई थी । उसने आगरा में रहकर मुगल सम्राट के शासन का प्रबन्ध किया । राज्य में कई हेर-फेर किये । अयोग्य व्यक्तियों को कार्यमुक्त करके उनके स्थान पर योग्य व्यक्तियों को नियुक्त किया । वस्तुतः दिल्ली दरबार की सारी शक्ति उसके हाथों में केन्द्रित हो गयी थी । वह जब

तक आगरा रहा उसकी स्थिति सम्राट की ही थी । शाहआलम तो नाम का सम्राट था ।

अपने समय में महादाजी ने सारे भारत में एक बार पुनः महाराष्ट्र मण्डल का भगवा ध्वज जिसे धर्म राज्य प्रतीक रूप में समर्थ रामदास ने शिवाजी को सौंपा था, फहराया । अंग्रेज लोग उसके पराक्रम के आगे पानी भरते थे । पूना के पेशवा के प्रतिनिधि की हैसियत से उन्होंने यह दिखा दिया था कि दिल्ली के साम्राज्य का संरक्षण करने की और परोक्ष रूप में उस पर आरुढ़ रहने की सामर्थ्य किसी में है तो वह मराठों में ही है ।

हिन्दू जनता का स्वाभिमान महादाजी के समय में एक बार पुनः हिलोरे लेने लगा था कि सारे देश में पुनः भारतीयों का शासन हो जाएगा । १७७२ में उन्होंने इस आशा को चरम शिखर पर पहुँचा दिया था । दुर्भाग्य से अगले ही वर्ष उनका देहावसान हो गया । समय के चाणक्य नाना फड़नवीस का चन्द्रगुप्त महादाजी लक्ष्यपूर्ति से पूर्व ही चल बसा । उनका हाथ टूट गया । इस वीर की मृत्यु से महाराष्ट्र मण्डल की जो क्षति हुई उसे पूरा करने वाला फिर कोई मिला नहीं । अपनी वीरता और अदूरदर्शिता के कारण महादाजी का जीवन आज भी सीख बना हुआ है । वीरता ही पर्याप्त नहीं होती उसके साथ निष्काम राष्ट्र भावना व दूरदर्शिता भी आवश्यक है ।

साहस व धैर्य के धनी-

बहादुर शाह जफर

२० सितम्बर, १८५८ का सूरज अपनी प्रखर किरणों से लाल किले को दुलार रहा था । उसी समय किले के भीतरी कक्ष में नजरबंद अन्तिम मुगल सम्राट किसी गम्भीर चिन्तन में निमग्न थे । पाँसा पलट चुका था । विप्लव असफल रहा था । अपने मन की साध पूरी हो जाने का उस वृद्ध शहंशाह को संतोष था । विजय श्री भले ही न मिली हो अन्याय का प्रतिकार करने वह उठ खड़ा तो हुआ था । उस संतोष की आभा उसके श्वेतकेशी व फहराती लम्बी दाढ़ी युक्त चेहरे पर चमक रही थी ।

अंग्रेज सेनापति हड़सन ने कक्ष में प्रवेश किया । पहरे पर खड़े संतरी ने एड़ियाँ मिलाकर उसे 'सेल्यूट' दिया । हड़सन के साथ एक सैनिक भी था जिसके हाथ में बड़े से रेशमी रूमाल से ढका हुआ थाल था । हड़सन ने बादशाह का अभिवादन करते हुए कहा-“बादशाह सलामत ! कम्पनी ने आपसे दोस्ती का इजहार करते हुए आपकी खिदमत में यह नायाब तोहफा भेजा है । इसे कबूल फरमाएँ ।” उसके इस कथन के साथ ही सैनिक ने थाल बहादुरशाह 'जफर' के सामने कर दिया । काँपते हाथों से किन्तु दृढ़ हृदय से उन्होंने रेशमी कपड़ा हटाया तो अंग्रेजों की क्रूरता निरावृत हो गयी । उसमें बादशाह के लङ्कों के कटे हुए सिर थे ।

हड़सन ने सोचा था कि बूढ़ा अपने बेटों के कटे सिर देखकर विलाप करने लगेगा। किन्तु इस सम्भावना के विपरीत वृद्ध पिता कुछ क्षण अपने पुत्रों के कटे सिरों की ओर देखकर अपनी नजरें हड़सन के क्रूर चेहरे पर जमाते हुये निर्विकार भाव से कहा-“अलह हम्दो लिस्लाह!”

तैमूर की औलाद ऐसे ही सुखरू होकर अपने बाप के सामने आया करती है। गजब का धैर्य था इस व्यक्ति में।

‘जफर’ अपमान और परवशता के जीवन से मृत्यु को बेहतर समझते थे। यही कारण था कि अपने पुत्रों के इस असामयिक अन्त पर वे दुःखी नहीं हुए। वरन् प्रसन्न थे कि जो हसरत वे पूरी नहीं कर सके वह उनके पुत्रों को पूरी करने का अवसर मिला था। बहादुरशाह के मुगल सम्राट बनने के पहले ही मुगल सल्तनत दिल्ली के लाल किले की चहारदीवारी में आ सिमटी थी। वह नाममात्र के बादशाह थे। बादशाह क्या थे अंग्रेजों के कृपापात्र उनकी कठपुतली भर थे। वे जैसे चाहते उन्हें नचा सकते थे। उनके पूर्वजों ने विलास से समझौता करके अपने आप को परवश बना दिया था। यही उनके भाग्य की लकीर बन कर उन्हें भी भोगना पड़ा था। किन्तु वे कभी उस जिन्दगी को भली नहीं मान पाए थे।

सोने के पिंजरे में बन्द तोते की जो दशा होती है वही उनकी भी थी। वे अपनी इस दशा पर सदैव धुब्ध व असंतुष्ट थे किन्तु करते क्या उनके पर तो अंग्रेजों ने पहले ही उनके पूर्वजों के समय ही काट दिये थे। वे स्वयं को अंग्रेजी शासन के घंगुल से बचाना तथा भारत के तत्कालीन राजाओं में स्वतन्त्रता की लहर उत्पन्न करना चाहते थे किन्तु उसके लिये सभी रास्ते बन्द हो चुके थे यह उनकी बहुत बड़ी व्यथा थी। इस व्यथा को उनके पूर्वज हास-विलास, स्त्री व शराब की दुनिया में उलझ कर भुलाते रहे पर वे भुला न सके। वे विद्रोह करना चाहते थे।

बहादुरशाह अच्छे शायर थे। ‘जफर’ उनका उपनाम था। उनकी शायरी में उनकी यह व्यथा खुलकर सामने आयी है “लगता नहीं है दिल मेरा उजड़े दयार में दो गज जमीन भी ना मिली कुँए ए यार में।” जैसी कृतियों में उनकी यह व्यथा अपने पूरे यौवन के साथ उभरी है। मनुष्य की आत्मा हास-विलास, आराम व शौक-मौज में कभी तृप्त नहीं होती है। वह तो मानवोचित गौरव गरिमा युक्त जीवन जीने में ही तृप्ति पाती है। यही कारण था कि ‘जफर’ का दिल इस उजड़े दयार में नहीं लगता था। वे चाहते थे कि एक पुरुषार्थी व्यक्ति की तरह इस जंजाल से मुक्त हो स्वतन्त्रता की ज्योति जलाते। किन्तु घुटकर रह जाते थे।

और फिर वह समय भी आया जबकि उनकी वह धिर संश्लिष्ट अभिलाषा पूर्ण हुई। जिस प्रकार के विद्रोही स्वर उनके हृदय में गूँज रहे थे। वैसे ही स्वर अन्य कई

लोगों के हृदयतंत्रियों की झंकार बने हुए थे। १८५० का विप्लव इसी का परिणाम था। भीतर ही भीतर यह आग बबन्डर का रूप धारण करती जा रही थी। स्वतन्त्रता प्रेमी भारतीय राजाओं, सैनिकों व प्रजाजनों ने विप्लव की पूरी की पूरी योजना बना रखी थी। उसको सुनियोजित ढंग से कार्यान्वित करने के लिए हजारों, लाखों व्यक्ति घर-घर जाकर जन-जन के हृदय द्वारों पर दस्तक दे रहे थे।

इस जन क्रान्ति के सूत्रधार थे विदूर के पेशवा नाना साहब। उनके सहयोगियों ने बहादुरशाह ‘जफर’ से इस जन क्रान्ति का नेतृत्व करने का अनुरोध किया। ‘जफर’ अब तक इन्तजार करते-करते थक चुके थे। उनके शरीर में वह शक्ति नहीं रही थी कि अपना जौहर दिखा सकें। किन्तु अंग्रेजों से दो-दो हाथ करने की उम्रमें अभी वैसी ही जवान थीं। उन्होंने उस पर, सहमती दे दी। यह सब गुप्त रूप से हुआ था। अंग्रेजों ने इसकी कानों-कान खबर नहीं थी।

यह सुनियोजित क्रान्ति यदि निश्चित तिथि ३१ मई, १८५७ के दिन एक साथ सारे भारत में फूटती तो अंग्रेजी साम्राज्य का पता ही न चलता। किन्तु उसके पहले ही मेरठ में सैनिक विद्रोह हो गया और लोगों के धैर्य का बाँध टूट गया और भिन्न-भिन्न तिथियों को भिन्न भिन्न स्थानों पर विद्रोह हुआ। फिर भी अंग्रेजों के होश-हवाश गुम हो गये। पहले-पहल तो सब जगह क्रान्तिकारियों की विजय हुई।

१५ मई को लाल किले पर विप्लवी क्रान्तिकारियों का अधिकार हो गया। दिल्ली से अंग्रेजों का सफाया हो गया। बहादुरशाह ‘जफर’ को भारत का सम्राट बनाया गया। अंग्रेजों के हाँसले परस्त हो गये। कई अंग्रेज युद्ध में मारे गये व कई बन्दी बनाये गये। बन्दियों के साथ बहादुरशाह ने मानवोचित व्यवहार किया। १५ मई से १४ सितम्बर तक दिल्ली पर क्रान्तिकारियों का आधिपत्य रहा। उसके पश्चात् अंग्रेज प्रबल होने लगे तथा २० सितम्बर को बहादुरशाह व उनकी बेगम व बच्चों को अंग्रेजों ने बन्दी बना लिया। इस प्रकार भारत में क्रान्ति का शंखनाद फूँकने में उनका महत्वपूर्ण योगदान व नेतृत्व रहा।

८० वर्ष के शहंशाह बहादुरशाह पर लालकिले के दीवाने खास में, लेफ्टीनेन्ट जनरल डेलास के नेतृत्व में ५ सदस्यों की सैनिक अदालत में अभियोग चलाया गया। जिसने उन्हें काले पानी की सजा सुनायी। २७ जनवरी, १८५९ को उन्हें रंगून के बन्दीगृह में भेज दिया गया। यहाँ के सामान्य नागरिक की तरह उन्हें बन्दी जीवन भोगना पड़ा। कारावास के इस जीवन से जफर व्यथित नहीं थे। वे उसे अपने पापों के प्रायश्चित्त के रूप में ही लेते। उनके पुत्रों का वध अंग्रेजों ने पहले ही कर दिया था। उनकी बेगम व पुत्रवधुओं के साथ भी अंग्रेजों ने मानवीय व्यवहार नहीं किया। उन्हें भी अपने संरक्षक के साथ दुःख व कष्ट

का जीवन व्यतीत करना पड़ा। किन्तु वह जीवन उस जीवन से श्रेष्ठ था वहाँ आत्मा-हनन की स्थिति नहीं थी। रंगून जेल में ७ नवम्बर, १८६२ को बहादुरशाह 'जफर' का निधन हो गया। एक सच्चे इंसान, सहृदय कवि व क्रान्ति के सैनिक के रूप में उन्हें याद किया जाता रहेगा। उनका जीवन हमें आत्म-हनन करके सुख ऐश्वर्य भोगने की विडम्बना से बचने के लिए सचेत करता रहेगा।

अपनी मुक्ति छोड़ने वाले—

सन्त गौरीनाथ

“चारों तरफ गोलियों की आये दिन बौछार होती थी। मन्दिर गिराये जा रहे थे, मूर्तियाँ तोड़कर मार्ग पर फेंकी जा रही थीं, गाँवों का निर्दयतापूर्वक कत्ल चिढ़ाने और अपमानित करने के लिए किया जा रहा था। संगीनों की नौक पर ईसाई बनाया जा रहा था। बहुसंख्यक होते हुए भी गोवा का हिन्दू समाज अपने आपको हताश, असहाय अनुभव कर रहा था।

यह घटना है सोलहवीं शताब्दी की जब गोवा में पुर्तगालियों का शासन था। वे गोवा का आर्थिक शोषण तो कर ही रहे थे, पर उससे भी भयंकर बात यह थी वे गोवा से हिन्दू धर्म और संस्कृति को नष्टकर वहाँ ईसाइयत का प्रचार करने के लिये बर्बर उपायों का आलम्बन ले रहे थे। हिन्दुओं के सभी धार्मिक कृत्य लगभग निषिद्ध, प्रतिबन्धित किये जा रहे थे। अगर कोई हिन्दू धार्मिक कृत्य नजर करता आता तो उसे तरह-तरह से सताया जाने लगता। अत्याचारों के कारण दृढ़ निश्चयी हुए तो वे बुरी तरह पिस जाते या फिर कमजोर मन वाले ईसाई बन कर उस उत्पीड़न से छुटकारा पा जाते। जनता इन अत्याचारों से बुरी तरह आतंकित हो उठी थी।

पुर्तगालियों के अत्याचार दिनों-दिन बढ़ते जाते थे। ऐसे वातावरण को देखकर कनारा गाँव के एक सन्त बाबा गौरीनाथ सिंह उठे। पूजा-पाठ को उन्होंने गौण कर दिया। वे इस आतंक से लोहा लेने के लिए आगे आये। वे मूलतः एक धार्मिक पुरुष थे। अपना अधिकतर समय ईश्वर आराधना में लगाकर मोक्ष प्राप्त करना चाहते थे। किन्तु जब उन्होंने पुर्तगालियों के बर्बर अत्याचारों और जनता की विवशता को देखा तो उनका हृदय रो पड़ा।

उनका हृदय अब जन-जन में, पीड़ित मानवता में ईश्वर-दर्शन करने लगा था। अस्तु, उनका प्रधान कार्य मानवोचित शौर्य साहस उत्पन्न करने के लिए जन सम्पर्क बनाना और जनसाधारण के क्रिया-कलापों में निरत रहना बन गया। वे घर-घर जाते, जन-जन से मिलते और यही समझते कि यदि संगठित रूप से अत्याचार-अनाचार का प्रतिरोध किया जाये तो शक्तिशाली बर्बरता को भी परास्त किया जा सकता है। व्यक्तियों का संगठन करके ये जगह-जगह क्रान्ति की आग लगा रहे थे। जिससे जनता के अन्दर एक नवीन साहस पैदा होने लगा।

उसी समय पुर्तगालियों के बर्बर अत्याचार की एक और घटना घटित हुई। मन्दिर के पुजारी को खम्भे से बाँधकर घर की स्त्रियों से अमानुषिक व्यवहार किया गया। इस घटना से जनता का खून खौल उठा। जबर्न बनाये गये ईसाइयों ने गले से क्रास चिह्न निकाल फेंके और बाइबिल के स्थान पर पुनः गीता और रामायण की स्थापना की गई। पुर्तगालियों के प्रति जनता में घोर घृणा भर गई और उनसे बदला लेने के लिए आतुर हो उठे। तोड़े गये मन्दिरों का निर्माण कार्य उसी समय आरम्भ हो गया और सन्त गौरीनाथ ने एक बगावत खड़ी कर दी।

लोगों ने सरकार को तरह-तरह से हानि पहुँचाना आरम्भ कर दिया। जगह-जगह तोड़-फोड़ की घटनाएँ होने लगीं। पुर्तगालियों के पैरों से जमीन खिसकने लगी उन्हें लगा कि जाग्रत जनता उन्हें खदेड़कर ही दम लेगी।

पुर्तगाली यह जानने को बेचैन थे कि जो आतंकित जनता मुँह खोलने का साहस नहीं कर सकती थी, उसमें इस प्रकार विद्रोह के बीज डालने वाला कौन है? बहुत खोजबीन के बाद उन्हें पता चला कि इस आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले एक सन्त गौरीनाथ हैं। उन्होंने जन-जन से सम्पर्क बनाया है और उन्होंने विद्रोह की आग लगाई है। सन्त गौरीनाथ को पकड़वाने के लिए बड़े-बड़े इनाम रखे गये किन्तु गौरीनाथ कहीं पकड़ने में न आते थे। क्योंकि जनता उन्हें बेहद प्यार करती थी।

सन्त गौरीनाथ छुपे-छुपे ही आन्दोलन का नेतृत्व करते और योजनानुसार वे पुर्तगालियों को काफी हानि पहुँचाते सरकार परेशान थी कि न तो कोई उनका पता बताता था न पुर्तगाली सैनिक उन्हें ढूँढ़ पाते थे।

एक ऐसा दुर्भाग्य का दिन आया कि पुलिस द्वारा उन्हें पकड़ लिया गया और लाकर जेल के सीखचों में बन्द कर दिया गया। पहले तो उन्हें बहुत प्रलोभन दिये गये कि वे इस आन्दोलन के मार्ग से हट जायें और ईसाई धर्म स्वीकार कर लें तो भारी इनाम के साथ बाइज्जत छोड़ दिया जायेगा। किन्तु जब वे तैयार न हुए तो कहा गया कि वे अपने साथियों के नाम ही बता दें, जिन्होंने इस आन्दोलन में उनका साथ दिया था। इस पर गौरीनाथ बोले, “मैं ही उन सबका प्रतिनिधि नेता हूँ। उन सबका दण्ड मैं अकेले ही सहने को तैयार हूँ।”

जब पुर्तगालियों ने देखा कि उनके किये गये सभी प्रयोग निष्फल हो रहे हैं तो बर्बरतापूर्वक उन्हें सताया गया। उन्हें हंटरों से पीटा गया जिससे उनके शरीर पर अनेकों घाव हो गये थे। अँधेरी, गीली, दुर्गन्ध वाली कोठरी में उन्हें कई दिनों तक भूखा-प्यासा रखा गया। इस पर भी उन्होंने पुर्तगालियों की शर्तों को स्वीकार नहीं किया।

एक दिन सन्त गौरीनाथ को जेल से बाहर निकाला गया। उन्हें गन्दे व फटे चिथड़े पहनाये गये, गले में फटे गन्दे जूतों की माला डालकर उन्हें क्रूर पुर्तगाली पीटते हये गिरजाघर के सामने लाये और उनसे फिर ईसाई धर्म में सम्मिलित होने के लिए कहा गया। इस पर उन्होंने इतना

ही कहा-“न मुझे लोभ अपने पथ से विचलित कर सकता है और न ही अत्याचार डिगा सकते हैं।”

“इतना सुनते ही पुर्तगालियों ने गिरजाघर के सामने बड़ा-सा गड्ढा खोदकर उन्हें कमर तक गाढ़ दिया गया एक बार पुनः उनसे ईसाई धर्म स्वीकार करने को कहा गया। इस पर उन्होंने कहा-“धर्म के प्रति सच्ची निष्ठा की इस अग्नि परीक्षा में मुझे उत्तीर्ण होने दीजिये जो आप करना चाहें करें, मुझसे निष्ठा से विचलित करने की आशा मत कीजिये।”

सन्त गौरीनाथ के ऊपर खूँखार शिकारी कुत्ते छोड़े गये जो उनकी बोटियों नौचने लगे किन्तु उनके चेहरे पर अन्त तक शान्ति और सन्निष्ठा की झलक दिखाई देती रही। गौरीनाथ की मृत्यु-दण्ड का समाचार जब गोवा की जनता ने सुना तो उसका खून खौलने लगा। आन्दोलन ने जोर पकड़ा और पुर्तगालियों को सब ओर अपना विनाश और काल ही खड़ा दिखाई देने लगा।

छापामार विद्रोहियों ने उनकी करोड़ों की सम्पत्ति नष्ट की और सैकड़ों को मौत के घाट उतारा। सन्त गौरीनाथ की जलाई हुई आग कभी धीमी, कभी तीव्र गति से जलती ही रही। समय तो लगा पर ज्वाला शान्त तब हुई जब पुर्तगालियों का गोवा की भूमि पर से पूरी तरह से मुँह काला हो गया।

जिनका बल-विक्रम निरर्थक ही रहा—

राजा जसवन्तसिंह

सत्रहवीं शताब्दी के छठे दशक का उत्तरार्द्ध। दिल्ली के लालकिले में रोग शैया पर पड़े मुगल सम्राट शाहजहाँ पर काल मुस्कुरा रहा था। राज्य सत्ता के स्वार्थ पंक्त में लिप्त हो पारिवारिक सौमनस्य को ही लील जाने वाली जिस परम्परा का श्री गणेश उसके पिता ने किया था, वह स्वयं भी उसे अस्वीकार नहीं कर सका था। अब वही नाटक उसके सामने दोहराया जाना वाला था, भाई के द्वारा भाई की हत्या का पार्श्विक नाटक। शाहजहाँ का पेशाब रुक गया था। जाने कब मृत्यु आ जाय कुछ कहा नहीं जा सकता, पर मृत्यु यों आसानी से आने वाली नहीं थी। कर्मों का फल उसे यहीं भोगना था। शाहजहाँ का चहेता पुत्र दाराशिकोह नहीं चाहता था कि सम्राट के अस्वस्थ होने की सूचना उसके भाइयों तक पहुँचे नहीं तो वे उस पर चढ़ बैठेंगे। किन्तु किले का हर व्यक्ति अपने-अपने स्वार्थ में लगा था। किसी को किसी से कोई सरोकार ही नहीं था। शहंशाह की अस्वस्थता के समाचार हवा के घोड़ों पर बैठकर उड़ चला था।

ऐसे विषम समय में दारा को किसी व्यक्ति पर भरोसा था तो जोधपुर के राजा जसवन्तसिंह और उनके बीस हजार राजपूत सिपाहियों पर। अतः उसने किले की रक्षा का भार जसवन्तसिंह को सौंप दिया। लाल किले पर

जसवन्तसिंह के सैनिकों का पहरा बिठा दिया गया सच ही कहा है किसी ने कि बेईमान आदमी भी ईमानदार साथी चाहता है। राजपूत अपनी आन-बान और वचन के पक्के होते हैं। राजा जसवन्तसिंह में भी ये गुण कूट-कूट कर भरे थे। सभी मुगल सामन्त उनके शौर्य और उनकी रणकुशलता का लोहा मानते थे। राजदरबार में उनका बड़ा मान था।

कुचक्रा शहजादे औरंगजेब को अपनी बहिन रोशन-आरा के द्वारा अपने पिता शहंशाह के अस्वस्थ होने की सूचना मिली तो उसने अपना कूटनीतिक चक्र चलाना आरम्भ कर दिया। मुगल राजवंश में पिता से विद्रोह करने की परम्परा तो शहजादों की महत्वाकांक्षा और स्वार्थ ने अपने आप ही डाल दी थी। किन्तु सम्राट अकबर ने शहजादियों के लिये एक अलिखित परम्परा यह चला दी थी कि वे विवाह नहीं कर सकतीं। इस परम्परा ने बेचारी शहजादियों की स्थिति आम आदमी की लड़की से भी तुच्छतर बना दी थी। यदि वे शादी करतीं तो उनके पति व पुत्र भी उत्तराधिकार के लिये झगड़ते इस अन्यायपूर्ण परम्परा ने रोशनआरा को विद्रोही बना दिया था।

औरंगजेब के उकसाने पर उसके भाई दिल्ली पर चढ़ बैठे। शहजादा शुजा बंगाल से एक बड़ी सेना लेकर चल पड़ा। दारा ने जयपुर के राजा जयसिंह के नेतृत्व में एक बड़ी सेना उसे पराजित करने भेजी। उसके खाना होने के थोड़े ही दिनों बाद उसे औरंगजेब और मुराद की सम्मिलित सेनाओं के आक्रमण की सूचना मिली। उसने राजा जसवन्तसिंह व कासिम खाँ की कमान में चालीस हजार सिपाहियों को उन्हें मजा चखाने के लिए भेजा। धरमत नामक स्थान पर दोनों पक्षों में जमकर लड़ाई हुई। कासिम खाँ दगा देकर औरंगजेब की ओर मिल गया। अकेले जसवन्तसिंह और उनके बीस हजार जाँबाज सिपाहियों ने राजपूती आन-बान का परिचय दिया। वे खूब जमकर लड़े। बढ़-बढ़ कर हाथ मारे। किन्तु कहाँ सत्तर हजार और कहाँ बीस हजार। राजा जसवन्तसिंह युद्ध में बुरी तरह घायल हो गये फिर भी वे मैदान छोड़ना नहीं चाहते थे। “राजपूत मर जाना बेहतर समझते हैं पीठ दिखाना नहीं” इस आन के अनुरूप ही वे निकट आयी मौत को ललकारते रहे। अपने सेनापति के प्राण संकट में पड़े देखकर राजपूत सैनिकों ने उन्हें बलात् रणक्षेत्र से हटा लिया। विजयश्री औरंगजेब के हाथ रही। जसवन्तसिंह को जीवन भर अपने साथियों द्वारा रणक्षेत्र से निकाल लाने का मलाल बना रहा।

राज्य सिंहासन पाने के इस संघर्ष में शुजा, मुराद और दारा औरंगजेब की कूटनीति के शिकार हो मारे गये। अपने भाइयों को मार और पिता को कैद करके औरंगजेब दिल्ली के रक्त सने सिंहासन पर बैठा। यही नहीं उसने अपने भाई दारा की बेगमों को भी अपने हरम में रख लिया।

ऐसे अन्यायी औरंगजेब ने जब राजा जसवन्तसिंह से मित्रता का हाथ बढ़ाया तो उन्होंने सब कुछ भुलाकर उसे स्वीकार कर लिया। इतिहास इस बात का साक्षी है कि राजपूत चरित्र, वीरता, साहस, शौर्य और आन-बान में मुगलों से हजार गुना अच्छे थे। उनकी वीरता, कर्तव्य-परायणता और जाँबाजी के किस्सों से इतिहास के पृष्ठ रंगे पड़े हैं। किन्तु यही सब कुछ नहीं होता। उसके सदुपयोग और एकता की भावना का उनमें सर्वथा अभाव था। ये सब गुण राजपूतों ने व्यक्तिगत महत्ता के रूप में लिये थे। राजपूतों के 'शौर्य' और 'मर मिटना' ये सब बातें उनके अहंकार को बढ़ाने वाली और उन्हें समाज और मातृभूमि के प्रति दायित्वों से परान्मुख बनाने की कारण बनीं थीं।

राजपूत राजाओं के इस मिथ्याभिमान व अविवेक का लाभ मुगलों ने उठाया था। उनके राज्य की नींवें इन्हीं राजपूत राजाओं के बल पर खड़ी रही थीं। मुसलमान इतिहासकारों ने सत्य को छिपाया है। राजपूत राजाओं से मुगलों ने दोस्ती की थी न कि उन्हें अपने अधीन रखा था। किन्तु यह मित्रता नीतिसंगत और व्यावहारिक नहीं थी। यह तो बेर और कदली के सामीप्य जैसी मित्रता थी। उसके फलस्वरूप राजपूतों का गौरव तो कम हुआ ही पराधीनता का कलंक भी भारत भूमि को ढोना पड़ा। विकट प्रदेश काबुल को जीतने वाले जसवन्तसिंह जैसे राजपूत राजाओं का वह शौर्य, साहस व पराक्रम उन्हीं के पराभव का कारण बना। उनके रहते हमारे देव मन्दिर अपमानित हुए। मौ-बहिनों का अपमान हुआ। फिर उस शौर्य की क्या सार्थकता रही। राजा हम्मीर, महाराणा प्रताप, महाराणा राजसिंह की तरह उन्होंने भी लोलुप और शिथिल चरित्र मुगल सम्राटों से मित्रता न की होती और संगठित होकर उन्हें पराजित किया होता तो दासता का कलंक उनके माथे पर नहीं लगता।

राजा जसवन्त सिंह जोधपुर के राजा थे। उन्हें अपनी वीरता पर आवश्यकता से अधिक गर्व हो गया था। वे शाहजहाँ व औरंगजेब के दरबार में रहते यह समझते थे दिल्ली का शहंशाह हमारे बलबूते पर शहंशाह है। हम चाहें तो उसे दिल्ली का शहंशाह बना सकते हैं और वे इसी गर्व में फूलते रहते। इस अभिमान से उनके सारे बल पराक्रम पर पानी फिर जाता।

जसवन्तसिंह ने यह सोचने का प्रयास नहीं किया कि यह क्रूर निर्दयी, अन्यायी औरंगजेब जब अपने पिता को कैद कर सकता है, भाइयों को कत्ल करवा सकता है तो समय आने पर उन्हें भी दगा दे सकता है। उनके परिवार पर संकट ला सकता है, उनका राज्य हथिया सकता है। उन्होंने औरंगजेब के दरबार में रहना स्वीकार कर लिया।

जसवन्तसिंह की वीरता और पराक्रम से औरंगजेब ने जी भरकर लाभ उठाया। राजपूत राजा मुगल दरबार में रहने में अपना एक स्वार्थ यह भी देखते थे कि उनकी सेना का और उनका खर्च मुगल कोष से मिलता है पर वे

यह भूल जाते थे कि उसके लिये उन्हें लड़ना भी पड़ता है। जसवन्तसिंह ने उसके लिए कठिन से कठिन संग्राम जीते। लेकिन शंकालु प्रवृत्ति का औरंगजेब उनसे भीतर ही भीतर भयभीत रहता था। यदि जसवन्त सिंह बदल गया तो उसकी 'आलमगीरी' धरी रह जायगी। फलतः उनकी यही वीरता उनके प्राणों की ग्राहक बन गयी। औरंगजेब ने उन्हें धोखे से मरवा दिया।

कुटिल की मित्रता और अपना अति अभिमान उनकी मृत्यु का कारण ही नहीं बना वरन् उनके परिवार और राज्य पर संकट आने का कारण भी।

जसवन्तसिंह ने अपने पुत्रों को भी अपने ही जैसे प्रखर योद्धा, वीर, साहसी और आन-बान वाला बनाया था। कहा जाता है शाहजहाँ ने जंगल से एक शेर पकड़ कर मँगवाया। उसके पिंजड़े को दरबार में लाया गया तो शाहजहाँ बोला—“जंगल का यह राजा भारत सम्राट का लोहा मानता है।”

उसके इस कथन की सब दरबारियों पर तो आशानुरूप प्रतिक्रिया हुई पर जसवन्तसिंह के चेहरे पर व्यंग्य की रेखाएँ खिंच गयीं जो शाहजहाँ से छिपी न रही। उसने पूछा—“राजा जसवन्तसिंह! आपको हमारी बात पसन्द नहीं आयी।” इस पर वे बोले—“जहाँपनाह! ऐसे शेर तो मेरे घर में खेला करते हैं।” इस पर शाहजहाँ ने अपने शेर से जसवन्तसिंह के शेर की लड़ाई कराने का प्रस्ताव रखा जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। दूसरे दिन मुकाबला रखा गया। वे अपने पुत्र पृथ्वीसिंह को अपने साथ मुकाबले के लिये ले गये। शाहजहाँ ने जब उन्हें शेर के लिये पूछा उन्होंने पृथ्वीसिंह को प्रस्तुत किया। निहत्ये पृथ्वीसिंह ने उस बबर-शेर को पछाड़ दिया।

हो सकता है इस कहानी में अतिशयोक्ति हो किन्तु यह बात असम्भव नहीं है। क्षत्राणियों के लिये ऐसे नर केहरियों को जन्म देना कठिन नहीं था। जसवन्तसिंह के पुत्र ऐसे ही पराक्रमी थे। औरंगजेब इस बात से भी परिचित था। दया तो उसमें थी नहीं, न्याय का भी लेश मात्र नहीं। उसने जसवन्त को ही नहीं उनके पुत्रों को भी धोखे से मरवा दिया। जोधपुर का राज्य भी उसने हथिया लिया। उनकी रानी और नवजात शिशु अजीतसिंह को दुर्गादास राठौर नामक स्वामिभक्त वीर बड़ी कठिनाइयों से औरंगजेब के पंजे से छुड़ाकर लाने में सफल हुआ नहीं तो उनका वंश ही मिट जाता।

राजा जसवन्तसिंह के पास जो बल विक्रम था वह सही दिशा में न होकर गलत दिशा में प्रयुक्त हुआ। वह स्वयं उनके लिये, उनके परिवार के लिये तथा हिन्दू जाति के लिये निरुपयोगी ही सिद्ध नहीं हुआ वरन् उसका लाभ उठाकर औरंगजेब ने अपना स्वार्थ सिद्ध किया। किसी को ईश्वर सम्पदा, विभूति अथवा सामर्थ्य देता है तो निश्चित रूप से उसके साथ कोई न कोई सदप्रयोजन जुड़ा होता है। मनुष्य को समझना चाहिए कि वह विशेष अनुदान उसे

किसी समाजोपयोगी कार्य के लिए ही मिला है। अतः उस पर अपना अधिकार न मानकर सम्पूर्ण समाज का अधिकार मानना चाहिए। जहाँ वह व्यक्तिगत सम्पदा-सामर्थ्य मान लिया जाता है वहीं वह अहंकार का कारण बन जाता है। अहंकार आ जाने पर व्यक्ति को हर कोई झूठी प्रशंसा करके अपने पथ से विचलित कर देता है। वह समाजवादी से व्यक्तिवादी बन जाता है। यह व्यक्तिवाद उसकी सामर्थ्यों को निरर्थक बना देता है। जसवन्तसिंह ने भी यही भूल की थी।

राजा जसवन्तसिंह को उस काल के अधिकांश हिन्दू राजाओं का प्रतीक कहा जा सकता है जिनकी सत्ता, सामर्थ्य, बल, पौरुष व सैन्य शक्ति या तो आपस में लड़ने झगड़ने और मिथ्या मानापमान में उलझकर परस्पर ईर्ष्या द्वेष उपजाने में ही खर्च होती रही अथवा उसका लाभ दूसरे लोगों द्वारा उठाया जाता रहा। आज के समय में भी सच्चे और ईमानदार व्यक्तियों को यदि दीन-हीन देखा जाता है तो उसके पीछे एक कारण यह भी है कि उसका लाभ बुरे लोग उठा लेते हैं। अतः सच्चाई, ईमानदारी और नैतिकता को व्यक्तिगत क्षेत्र में ही उपयोगी व अपने अहं का कारण ही नहीं बनाना चाहिए। सच्चे लोगों को संगठित होना चाहिए। यह भी देखना चाहिए कि उसके लाभ गलत व्यक्ति तो नहीं उठा रहे हैं। नहीं तो यह अच्छाईयों भी राजा जसवन्त सिंह के पराक्रम की तरह निरर्थक चली जायेगी।

जातीय मर्यादा की रक्षा

विशालवाहिनी का सरित-प्रवाह नगर के मुख्य द्वार पर आकर रुक गया। द्वार बन्द थे। सेना के अग्र भाग में पैदल सैनिक गुल्म थे। उनके पीछे अश्वारोही तथा गज सेना थी।

एक प्रहर दिन चढ़ जाने पर भी नगर के द्वार बन्द देखकर सभी विस्मित थे। नगरवासियों द्वारा अपने महाराज के स्वागत का आयोजन तो दूर, द्वार तक बन्द थे। समय पर सूचना पहुँचा दी गई थी कि महाराज काबुल अभियान से लौट रहे हैं।

महाराज जसवन्तसिंह को सेना की गति रुकने का कारण समझ में नहीं आया। वे सेना के अन्तिम भाग में अपने सुसज्जित गजराज पर आसीन थे। उन्होंने अपने निकटस्थ अश्वारोही से गति रुक जाने का कारण पूछा। उसने कहा-“महाराज द्वार बन्द है।”

“जाओ द्वारपाल से कहो कि द्वार खोले तथा नगर-पाल से कहे स्वागत की तैयारी की जाय।”

थोड़े ही समय में अश्वारोही लौट आया। उसने महाराज को वस्तुस्थिति बताई-“महाराज! द्वारपाल ने द्वार खोलने से इन्कार कर दिया है तथा उसने श्रीमान की सेवा में निवेदन किया है कि यह महारानी जी की आज्ञा टालना मेरे बस में नहीं। आपसे महारानी जी का यही निवेदन है कि आप पुनः काबुल विजय हेतु प्रस्थान करें।

राजपूत या तो युद्ध से विजय श्रीवरण कर लौटता है या वहीं प्राणोत्सर्ग कर देता है। राजपूत नारी विजयी होकर लौटने की स्थिति में उसका अपूर्व स्वागत करती है तथा मृत्यु वरण करने पर हँसते-हँसते उसके शव के साथ चितारोहण करती है। इन दो स्थितियों के अतिरिक्त तीसरी दशा में पराजित होकर लौटने पर उसका स्वागत इसी प्रकार होता है।

क्षत्राणी के इस कथन को सुनकर महाराज जसवन्त सिंह का सिर लज्जा से झुक गया। उन्होंने सैनिकों को पुनः काबुल की ओर प्रयाण करने का आदेश दिया। उन्होंने मन में यह दृढ़ निश्चय कर लिया था तो वे जीतकर लौटेंगे या मृत्यु का वरण करने पर उनका पार्थिव शरीर ही जोधपुर नगर के द्वार पर पहुँचेगा।

प्रथम अभियान की कठिनाइयों को वे भूले नहीं थे। दिल्ली से काबुल का रास्ता अतीव दुर्गम तथा भूल-भूलैया-सा था। सैनिक भी थक चुके थे। उन्होंने अपने सैनिकों को सम्बोधित करते हुए कहा-वीरो! मैं जानता हूँ कि तुम थक गये हो, मार्ग दुर्गम तथा बीहड़ है। किन्तु व्यक्ति अपने संकल्प पर दृढ़ रहता है तभी तक वह मनुष्य कहलाने, वीर कहलाने का अधिकारी होता है। हम कायर नहीं, वीर हैं। हम जीयेंगे, साथ जीयेंगे, मरेंगे, साथ ही मरेंगे। जीवित रहे तो विजय का सेहरा हमारे मस्तक पर बँधेगा ही, मर गये तो कीर्ति पा स्वर्ग को जायेंगे।”

अपने सेनानायक के इस प्रकार के उत्साह भरे वचन सुनकर सैनिकों में नवीन उत्साह तथा स्फूर्ति जाग गयी। यह उत्साह ही उनकी काबुल विजय का कारण बना।

महाराज जसवन्तसिंह अपनी पराजय का कलंक धोकर जब विजय श्री वरण कर लौटे तो जोधपुर नगर में दीवाली मनाई गयी। उनका स्वागत करने के लिए स्वयं महारानी द्वार पर उपस्थित थीं। उन्होंने उनकी आरती उतारी तथा चरणों में मस्तक झुका दिया। सत्य है व्यक्ति की पूजा नहीं होती उसके गौरव मण्डित व्यक्तित्व को ही पूजा जा सकता है।

राजा जसवन्तसिंह की यह जाति स्वाभिमान की दर्पमयी रानी उदयपुर के सिसौदिया वंश की क्षत्रिय कन्या थी। अपने पति को इस प्रकार पराजित लौटते देखकर उसने अविचलित भाव से उन्हें पुनः रण यात्रा को विवश किया था। क्षत्राणियों अपने पुत्रों को भी वैसी सीख दिया करती थीं। यही कारण था कि मुट्ठी भर मेवाड़ के राजपूत विशाल मुगल साम्राज्य को चुनौती देते रह सके थे।

नौकर से बादशाह बने—

शेरशाह

मुगलकालीन भारतीय इतिहास में शेरशाह सूरी का समय स्वर्णकाल के नाम से जाना जाता है। प्रशासन और न्याय की उत्कृष्ट व्यवस्था किसी भी शासक को इतिहास

पुरुष सिद्ध कर देती है। शेरशाह सूरी के शासनकाल से भी अधिक प्रेरणादायी है उनका जीवन। एक साधारण नौकर के पुत्र से दिल्ली सल्तनत के सिंहासन तक पहुँचने के लिए उन्होंने जो संघर्ष किया और कठिनाइयाँ झेलीं उन्हें देखकर कोई भी व्यक्ति आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रह सकता।

उनके दादा इब्राहीम खाँ अफगानिस्तान के एक सौदागर थे। लेकिन भारत में जब अफगानों का राज्य हुआ तो वे अपना देश छोड़कर यहाँ चले आये। उनका व्यवसाय कोई खास नहीं चलता था। रोजगार की तलाश करने के लिए भारत आकर उन्होंने राजकीय परिवार में नौकरी पाने का प्रयत्न किया। राज परिवार की सेवा का तो उन्हें अवसर नहीं मिला परन्तु सेना में अवसर जगह मिल गयी। इब्राहीम खाँ हिसार और नारनौल के जागीरदारों की फौज में भर्ती हो गये। उनके मरने के बाद शेरशाह के पिता मियाँ हसन को जौनपुर के बादशाह ने दो गाँव की जागीर दे दी। तब तक शेरशाह सूरी का जन्म भी हो चुका था। उनके जन्म का नाम फरीद खाँ था।

फरीद खाँ अपने बाप का सबसे बड़ा बेटा था। जागीर मिलने पर बाप विलासिता और रागरंग में डूबा रहने लगा। यहाँ तक कि मियाँ हसन ने अपनी एक दासी से विवाह भी कर लिया। फरीद खाँ को सौतेली माँ के साथ रहना पड़ा। मियाँ हसन की नयी पत्नी के भी बच्चे हुए तो उसमें सौतेला डाह जाग उठा और उसने अपने पति के कान भरना शुरू कर दिये। मियाँ हसन भी डपटने लगा। फरीद खाँ आरम्भ में तो सब कुछ सहते रहे। सोचा कभी तो पिता का व्यवहार सुधरेगा। परन्तु स्थिति दिनों-दिन बिगड़ने लगी। सौतेली माँ का दुर्व्यवहार, पिता का भेदभाव और प्रताड़ना तथा छोटे सौतेले भाइयों की मारपीट और गाली-गलौज अपनी सीमा से बाहर होते गये। फरीद खाँ ने तंग आकर घर छोड़ दिया और जौनपुर चला गया।

जौनपुर उन दिनों शिक्षा का अच्छा केन्द्र था। मजदूरी करते हुए उसने पढ़ना भी शुरू कर दिया। अपनी परिस्थितियों से न घबराकर और थोड़ी-सी सूझबूझ ने फरीद खाँ को कठोर परिश्रम के लिए प्रेरित किया। प्रगति और विकास की मंजिल की ओर अग्रसर करने में कठिनाइयाँ तथा विपत्तियाँ बड़ी सहायक सिद्ध होती हैं। ऐसे अवसरों पर घबड़ाना या किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं हो जाना चाहिए। फरीद खाँ ने उसी सूझ-बूझ से काम लिया और शिक्षा प्राप्त कर अपनी योग्यता तथा प्रतिभा को विकसित करने की ठानी। जौनपुर में उसने फारसी भाषा और अन्य विषयों का अध्ययन किया। गुलिस्ताँ, बोस्ता और सिकन्दरनामा जैसी पुस्तकें कण्ठस्थ कर लीं। फरीद खाँ की विशेषता और बुद्धि के समाचार जब मियाँ हसन ने सुने तो उन्हें अपनी गलती का ज्ञान हुआ और बेटे

को वापस बुलाकर जागीर सम्हालने का उत्तरदायित्व सौंप दिया।

प्राप्त किये अनुभवों तथा तज्जनित चतुराई और बुद्धिमत्ता के बल पर फरीद खाँ ने जागीर का इतना अच्छा प्रबंध किया कि सभी लोग उससे खुश रहने लगे। उसके सद्व्यवहार ने काश्तकारों, जागीर में रहने वालों तथा सिपाहियों सभी का मन जीत लिया। फरीद खाँ के व्यवस्था कौशल की खबर बिहार के बादशाह सुलतान मुहम्मद को लगी तो बादशाह बड़ा प्रभावित हुआ। सुलतान मोहम्मद खाँ ने उसे अपने पास बुलवा लिया। निस्संदेह फरीद खाँ अपनी तारीफ के अनुसार ही निकला। अपनी योग्यता, सूझबूझ और बुद्धिमत्ता के बल पर वह बादशाह का दाहिना हाथ बन गया। बादशाह उसे २४ घण्टे अपने साथ रखने लगा। कहा जाता है कि एक दिन जब सुलतान शिकार पर गया तो एक शेर ने बादशाह पर प्राणघातक हमला किया। फरीद खाँ भी सुलतान के साथ ही था। तत्काल शेर पर तलवार का ऐसा वार किया कि एक ही वार में उसके दो टुकड़े हो गये। बादशाह ने स्वामिभक्ति और बहादुरी से प्रसन्न होकर फरीद खाँ को पुरस्कृत किया तथा शेरखाँ का नाम दिया।

शेरखाँ एक बार अपने मित्रों के साथ आगरा गया। उस समय बाबर हिन्दुस्तान का बादशाह था। आगरा की शासन व्यवस्था तथा मुगलों का रहन-सहन देखकर शेरखाँ ने अनुमान लगाया कि ये लोग ऐशो आराम में पड़कर निकम्मे हो चुके हैं। भोग विलास में डूबे व्यक्तियों की शक्ति तो वैसे ही कुंठित हो जाती है। फिर सामान्य-सी परिस्थितियाँ या संघर्ष भी आसानी से उनको बेधने में सफल हो जाती हैं। संसार की बड़ी से बड़ी शक्तिशाली जातियों के पतन का एकमात्र कारण यही रहा है कि वे लोग प्राप्त सफलताओं के मद में चूर होकर सुख-सुविधाओं तथा भोग-विलास के संसाधनों में इस कदर लिप्त हो जाते हैं कि उन्हें अपना तनिक भी ध्यान नहीं रहता। शेरखाँ ने मुगलों की इस कमजोरी को जानकर उन्हें भारत से खदेड़ने का निश्चय किया।

यदा-कदा वे अपने मित्रों से भी कहते रहते कि अब इन लोगों को भगाना आसान है। मित्रों में इस बात पर बड़ी हैसी उठती। इस पर उन्होंने अपने मित्रों से इस प्रकार की चर्चा करना ही बन्द कर दिया। मित्रों का हँसना भी अकारण नहीं था। उन्हें विश्वास नहीं था कि बिहार के एक छोटे से सुलतान का दरबारी, जिसकी अपनी शक्ति कुछ भी नहीं है, गहरी नींव जमे मुगल साम्राज्य को उखाड़ने का दिवा स्वप्न किस प्रकार पूरा कर सकेगा।

व्यक्ति की अन्तर्निहित योग्यता और संकल्प शक्ति किसी के चेहरे पर नहीं लिखी होती। अपनी बातों पर कोई विश्वास कर सकता है तो वह स्वयं ही। होना भी यही चाहिए। अपने महान लक्ष्यों की चर्चा औरों से कर उपहासास्पद बनने की अपेक्षा स्वयं आत्मविश्वास को दृढ़

बनाते जाना चाहिए। यह विश्वास और संकल्प जितने ही मजबूत होते जायेंगे सफलता की मंजिल उतनी ही समीप आती जायेगी।

एक दिन शेरखाँ बाबर के दरबार में गये। बाबर से उन्होंने इतनी खुलकर बातचीत की कि उसे भी आश्चर्य होने लगा। बाबर ने जब अपनी बातों का बेधड़क उत्तर पाया तो उसे लगा कि आज किसी बराबर के व्यक्ति से पाला पड़ा है। शेरखाँ के खुले व्यवहार ने बाबर के संदेहशील हृदय में शंका के बीज बो दिये। उसे लगने लगा कि एक न एक दिन इस व्यक्ति से मुगल सल्तनत को खतरा हो सकता है। बाबर ने भावी खतरे को शुरू से ही निर्मूल करना उचित समझा और शेरखाँ को पकड़कर मार देने का षड्यन्त्र रचा।

इस षड्यन्त्र का पता शेरखाँ को लग गया और वे आगरा छोड़कर बिहार चले गये और वहाँ रहकर पठानों को संगठित करना शुरू कर दिया। तभी बाबर की मृत्यु हो गयी और उसका बेटा हुमायूँ गद्दी पर बैठा। शेरखाँ थोड़े से ही सैनिक संगठित कर पाये थे कि एक ओर तो हुमायूँ की विशाल फौजें तथा बंगाल के बादशाह का लश्कर था दूसरी ओर शेरखाँ के मुट्ठी भर जवान। परन्तु अपनी संगठन शक्ति और सूझबूझ का प्रयोग कर शेरखाँ ने एक-एक राज्य जीतना आरम्भ कर दिया। चूनागढ़ और रोहतासगढ़ को विजित करते हुए शेरखाँ की सेनाएँ दिल्ली की ओर बढ़ने लगीं। वस्तुतः संख्या और साधन नहीं, मनोबल और साहस किसी की विजय का कारण बनते हैं। रणभूमि में भी और जीवन संग्राम में भी। दिल्ली पहुँचते-पहुँचते शेरखाँ की हुमायूँ से दो बार टक्कर हुई और अन्तिम बार तो हुमायूँ को दिल्ली छोड़कर ईरान भागना पड़ा।

दिल्ली के सिंहासन पर शेरखाँ ने शेरशाह सूरी के नाम से आरोहण किया। अपनी सफलता से गर्वित न होकर उन्होंने तत्काल राज्य व्यवस्था को सुधारने तथा जनता की सुख-शान्ति बढ़ाने के लिए प्रयत्न आरम्भ कर दिये। अपने राज्य को सैतालीस सूबों में बाँटा और इन सूबों को परगनों में। उस समय मुगल शासन की नींव खोदने में शासकीय कर्मचारी भी बड़ी मुस्तैदी से लगे हुए थे। शेरशाह सूरी ने तुरन्त ही इस ओर ध्यान दिया तथा ऐसी व्यवस्था बनायी जिसके अनुसार एक स्थान पर अधिक समय तक किसी कर्मचारी का टिका रहना मुश्किल हो गया। उनका स्थानान्तरण होने लगा। यह व्यवस्था उसी समय से चली है। ऐसा प्रबन्ध भी किया जिसमें भ्रष्टाचार की तनिक भी गुंजाइश न रहे। इसके बाद भी जो कुछ हरकत करते तो उन्हें कड़ा से कड़ा दण्ड दिया जाता। इन सुधार कार्यों ने ऐतिहासिक रूप धारण कर लिया।

न्याय की सुरक्षा और जनता की सुख-सुविधा का ध्यान रखना शेरशाह का मुख्य उद्देश्य बन गया था। इसी उद्देश्य से उन्होंने सस्ता, शीघ्र और निष्पक्ष न्याय दिलवाने की व्यवस्था की। यहाँ तक कि स्वयं अपने बेटे को भी

नहीं बख्सा। फकीरों और भूखों से लेकर यात्रियों तक के लिए उन्होंने आवश्यक प्रबन्ध किया। पाँच वर्ष शासन करके ही उनका देहान्त हो गया। परन्तु पाँच वर्ष की अवधि में भी उन्होंने इतना काम कर दिखाया जितना कोई शासक अपने जीवन भर नहीं कर सका। अपनी शासन व्यवस्था और पुरुषार्थ के बल पर ही वे सच्चे अर्थों में बादशाह बने।

पीड़ितों के सहायक—

वीर हम्मीरदेव

अलाउद्दीन खिलजी का एक सरदार बड़ा स्वामिभक्त, सच्चा और बहादुर था। उसने अनेक युद्धों में इतनी वीरता दिखाई कि वह जनचर्चा का विषय बन गया। दुष्टप्रवृत्तियों के दास अलाउद्दीन को अपने उस सरदार की नामबरी पसन्द न आई। वह चाहता था कि जनता में यदि किसी की बहादुरी की चर्चा हो तो यह मेरी ही हो। मेरे सिवाय किसी दूसरे की चर्चा बिल्कुल न हो। स्वार्थ एवं अहंकार का दोष मनुष्य को इसी सीमा तक संकीर्ण बना देता है।

सरदार की चर्चा सुन-सुन कर अलाउद्दीन मन ही मन जल-धुनकर रहने लगा। किन्तु करे तो करे भी क्या? सत्य का प्रकाशन आतंक से तो रोका नहीं जा सकता। सरदार अपनी सेवा और कर्तव्य में कोई छोट नहीं करता था। दोष लगाकर उसे अपदस्थ करने का अवसर नहीं था। अस्तु, मन ही मन ईर्ष्या की भट्टी सुलगाता और स्वयं उसमें जलता रहा। एक बार दुष्ट अलाउद्दीन को झूठा बहाना मिल गया और उसने अपना फन सीधा कर दिया।

सरदार की वीरता की चर्चा हरम में बेगमों के बीच भी होती थी। एक दिन देर तक चर्चा होते रहने के कारण एक बेगम ने स्वप्न में बड़बड़ाते हुए उसका नाम ले लिया। बस हीनवृत्ति खिलजी को बहाना मिल गया और उसने बेगम के साथ सरदार के प्रेम का कलंक खड़ा कर दिया। ईर्ष्या और अहंकार ने उसके विवेक को इस सीमा तक दूषित कर दिया था कि वह यह न समझ सका कि बेगम का साथ सरदार को प्रेम का कलंक लगाने का अर्थ है अपनी ही पगड़ी उछालना। लेकिन अलाउद्दीन तो सरदार को अपदस्थ ही नहीं, ईर्ष्यावश दण्डित करना चाहता था। उसे तो बहाना चाहिए था। पगड़ी उछलती है तो उछला करे। अस्तु, उसने उस गहिँत आधार पर सरदार को दुश्चरित्र और विश्वासघाती घोषित कर गिरफ्तारी का फरमान निकाल दिया।

सरदार बड़ा नेक आदमी था। वह बेगम पर लगे कलंक की असत्यता और अपनी नेक चलनी को प्रमाणित करने का अवसर चाहता था। लेकिन गिरफ्तारी के परिणाम से भी अनभिज्ञ न था। मृत्यु दण्ड की इस भूमिका को अच्छी तरह समझता था। उसके पास निकल भागने के सिवाय और कोई चारा न था। अस्तु, एक दिन वह रात में दिल्ली की सीमा से अकेला ही बाहर हो गया।

उसने भारत के लगभग सभी राजा नवाबों के पास जाकर शरण माँगी। किन्तु अलाउद्दीन की शक्ति और दुष्टता के आतंक से भयभीत कोई भी राजा नवाब उसे आश्रय देने को तैयार न हुआ।

वक्त का मारा सरदार एक स्थान पर बैठा न्याय-अन्याय और सत्य-असत्य की वास्तविकता पर विचार कर रहा था कि एक राहगीर ने उसकी व्यथा मालूम करके परामर्श दिया कि वह रणथम्भौर के राजा हम्मीर देव के पास चला जाये, वे उसे जरूर शरण देंगे। सरदार अभी तक बड़े-बड़े राजा नवाबों के पास गया था। उसने छोटे-छोटे राजपूत राजाओं के विशाल हृदय न देखे थे। मरता क्या न करता। सन्देश होते हुए भी सरदार रणथम्भौर गया। महाराज हम्मीरदेव ने उसकी व्यथा की कथा सुनी और पाया कि सरदार निर्दोष है। अलाउद्दीन उस पर अन्याय कर रहा है। उसने सरदार को शरण दे दी।

अलाउद्दीन को पता चला और उसने सरदार को वापस करने के लिए रणथम्भौर सन्देश भेजा। महाराज हम्मीरदेव ने स्पष्ट कहला दिया कि सरदार निर्दोष है। मैंने उसे शरण दी है और शरणागत को उसके शत्रु के हवाले करना मेरे धर्म के विरुद्ध है। परिणाम एक ही होना था। खिलजी ने छोटे से रणथम्भौर पर तीन लाख सेना के साथ आक्रमण किया। वीर हम्मीरदेव ने धर्म का ध्यान कर तलवार सँभाली और भयानक शौर्य के साथ अलाउद्दीन खिलजी को पराजित करके यह सिद्ध कर दिया कि विजय सत्य की ही होती है।

माता के अनुरूप ही सुसंतति का निर्माण

चित्तौड़ के राजकुमार एक चीता का पीछा कर रहे थे। वह चोट खाकर झाड़ियों में छिप गया था। राजकुमार थोड़े को झाड़ी के इर्द-गिर्द घूमा रहे थे, पर चीते को बाहर निकालने में सफल नहीं हो पा रहे थे। किसान की लड़की यह दृश्य देख रही थी। उसने राजकुमार से कहा-“थोड़ा दौड़ने से हमारा खेत खराब होता है। आप पेड़ की छाया में बैठें। चीते को मारकर मैं लाये देती हूँ।” वह एक मोटा डण्डा लेकर झाड़ी में घुस गई और मल्ल युद्ध में चीते को पछाड़ दिया। उसे घसीटते हुए बाहर ले आई और राजकुमार के सामने डाल दिया। राजकुमार दंग रह गये। उन्होंने किसान से विनय करके उस लड़की से विवाह कर लिया। प्रख्यात योद्धा हमीर उसी लड़की की कोख से पैदा हुआ था। माताओं के अनुरूप ही संतान का निर्माण होता है।

हम्मीर हठ, जिसने रुढ़ियों के बन्धन तोड़े

“यह केवल हठ की बात नहीं है काका सा! आप यह क्यों नहीं सोचते कि हम भारतीयों के घरों में नारी की स्थिति पहले ही कैसी दयनीय है? राजकुमारी वसुमती का वैधव्य मेरे लिए अमंगल हो सकता है तो यह सारे

भारतीयों के मस्तक पर भी कलंक क्यों न होना चाहिए? विधवाओं की सबसे ज्यादा संख्या इसी देश में है और उसके उत्तरदायी सामाजिक कारण भी पुरुषों द्वारा ही तैयार किए गये हैं। क्या अपने किए का प्रायश्चित्त पुरुषों को नहीं करना चाहिए?”

राणा हम्मीर इतना कहते-कहते कुछ आवेश में आ गए थे, पर अपने काका सा- अजय सिंह और अन्य सभासदों का वे पूर्ण सम्मान करते थे। इसलिए फिर अपनी वाणी को संयम और विनीत बनाते हुए बोले- “काका सा। राजकुमारी के कोई सन्तान नहीं है, वे छोटी आयु में ही विधवा हो गई। राज परिवार संन्यासी का-सा जीवन नहीं जी सकता फिर क्या यह राजकुमारी की कोमल भावनाओं पर आघात न होगा कि उन्हें हँसते-खिलखिलाते जीने की इस आयु में रीति-रिवाजों के बन्दीगृह में डाल दिया जाय? सम्बन्ध मुझे करना है और मैं तैयार हूँ आप लोग किसी अमंगल की बात अपने मन से निकाल दें।”

“किन्तु हम्मीर! तुम नहीं जानते चित्तौड़ नरेश भालदेव ने हमारे साथ छल किया है। उसने जान-बूझ कर विधवा कन्या का सम्बन्ध भेजा है। तुम्हारे जैसे वीर और प्रतिष्ठित राजकुमार के लिए विधवा से सम्बन्ध करना शोभा नहीं देता- हम्मीर! युद्ध ही करना है तो हम तैयार हैं, पर हम इस पक्ष में कभी नहीं कि तुम्हारा सम्बन्ध एक ऐसी कन्या से हो जो पहले कभी किसी का वरण कर अपवित्र हो चुकी हो।” अजयसिंह ने दृढ़ शब्दों में कहा और सामन्तों ने उनका अनुमोदन किया।

पर हम्मीर उस धातु के बने नहीं थे जो किसी भी समय कैसे भी मोड़े और झुकाये जा सकते? हम्मीर किसी सिद्धान्त को देर से स्वीकार करते थे। लेकिन एक बार उसमें सत्य और आदर्श की रक्षा देख लेते तो उसके लिए ऐसा हठ करते कि फिर सारा संसार एक तरफ हो जाता तो भी वचन से पीछे न हटते। ‘हम्मीर हठ’ उन दिनों जन साधारण के लिए दैनिक बोल बन गए थे।

हम्मीरदेव ने कहा- “काका सा! पुरुष जब चार-चार रानियाँ लाकर राजमहलों में डाल देता है तब अपवित्र नहीं होता, फिर नारी एक ऐसी अवस्था में जबकि उसे सहारे की आवश्यकता होती है और दूसरा विवाह कर दिया जाता है तो वही अपवित्र क्यों हो जाएगी। मान्यतायें मनुष्य ने बनाई हैं, पर उनमें केवल वही बातें मान्य हो सकती हैं जिनका कुछ विवेक-जन्य औचित्य भी हो? विधवा अपवित्र और अमंगल होती है- यह कोई तर्क नहीं, सच बात तो यह है, यदि वह निःसन्तान है तो सबसे पहले सहारे की अधिकारिणी भी वही है।” हम्मीर के हठ के आगे किसी की एक न चली। वह लगन मण्डप पर जा पहुँचे और सम्बन्ध कर ही लिया। सैनिक जो मेवाड़ से युद्ध करने गए थे, वह बराती बनकर लौटे।

वसुमती ने उस दिन पूर्ण शृंगार किया था, पर उसे ऐसा लग रहा था जैसे महाराणा हम्मीर उसके साथ कहीं छल तो नहीं कर रहे। समाज ने विधवा के जीवन में जो आत्महीनता लाद दी है, वसुमती उसी के कारण कुछ भयभीत-संकुचित-सी लग रही थी। लेकिन शीघ्र ही उसके भ्रम का निवारण हो गया। महाराणा के प्रेमिल व्यवहार से उसे जल्दी ही मालूम हो गया कि हम्मीर ने यह कार्य सिर्फ हठ के कारण नहीं-मानवीय करुणा और रुढ़ियों को तोड़ फेंकने के शौर्य के रूप में किया है।

उसने हम्मीरदेव को शासन व्यवस्था में ऐसा सहयोग प्रदान किया कि एक दिन राणा हम्मीर बिना किसी द्वन्द्व रक्तपात के ही मेवाड़ के शासक बन गए। पहले जो लोग कहा करते थे कि विधवा से विहार हम्मीर के अमंगल का सूचक है वही पीछे कहने लगे- विधवा कभी अमंगल नहीं होती। उसे मानवीय सम्मान मिले तो वह किसी भी योग्य जीवन साथी के कर्तव्यों का पालन कर सकती है।

संकल्पों का धनी—

अलक्षेन्द्र सिकन्दर

“माँग लीजिए जो कुछ आप माँगना चाहते हैं मुझसे।” राजा के भीतर से राजाधिपति होने का मिथ्या दंभ बोला। उसे सुनकर संत के चेहरे पर मुस्कान फैल गयी।

“देना ही चाहते हो तो पाँच मुट्ठी धूप दे दो मुझे।” संत बोले। राजा उनकी इस माँग को सुनकर लज्जित हो उठा। संत दायोजिनस और सम्राट अलक्षेन्द्र सिकन्दर मनुष्य की उसी एक भूख को स्पष्ट करते हैं। मनुष्य चाहता है कि उसका अधिकार क्षेत्र विस्तृत हो। उसकी एकमात्र सीधी सच्ची राह यही है कि मनुष्य अपने आपे को उतना विस्तृत करदे जितनी यह धरती है। दूसरे रास्ते तो कई दीखते हैं पर वे मात्र मृग मरीचिका ही हैं। अलक्षेन्द्र ने भी ऐसे ही एक माया पूरित राह चुनी थी। जहाँ राह गलत होती है वहाँ जीवन के सार्थक होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता फिर भी अलक्षेन्द्र के संकल्प और व्यक्तित्व से बहुत कुछ सीखा जा सकता है जो सही मार्ग पर चलने वाले के लिये भी उपयोगी सिद्ध होगा।

मकदूनिया के महत्वाकांक्षी राजा के पुत्र अलक्षेन्द्र ने भी अपने पिता के ही मार्ग का अनुसरण किया। क्योंकि उन दिनों पश्चिम में मनुष्य के लिए यही गौरव की बात मानी जाती थी कि वह अपनी प्रभुता को सिद्ध कर दिखाये। उसका पिता फिलिप चाहता था कि जिस फारस ने यूनान पर आक्रमण करके उसे अपमानित किया है उसका वह बदला फारस को हराकर ले। बालक सिकन्दर के मन में भी वैसे ही संस्कार पड़ने और संकल्प जागने स्वाभाविक ही थे। वह सोचा करता था कि जब पिताजी ही सारे देशों को जीत लेंगे तो वह किसे जीतेगा।

उसके मन में यह बात आ ही कैसे सकती थी कि प्रदेशों को जीत लेने से ही व्यक्ति महान नहीं बन जाता वह महान बनता है अपने सद्बिचारों से, सत्कर्मों से विश्व मानव की सेवा से।

भारत और पाश्चात्य देशों के निवासियों के सोचने के ढंग में यही अन्तर था। वे स्थूल को महत्व देते थे, शरीर को ही सत्य मानते थे, आत्मा उनके लिए कुछ नहीं थी। यही कारण है कि भारतवासियों ने अपनी संस्कृति, अपने आध्यात्मिक दर्शन के कारण विश्व में अपनी कीर्ति पताका फहरायी। उन्होंने कभी तलवार लेकर किसी देश पर चढ़ाई नहीं की। किन्तु पश्चिमी देशों ने तलवार के बल पर राज्य विस्तार के लम्बे चौड़े सपने देखे।

अलक्षेन्द्र का सपना था विश्वविजय करने का। उस सपने को साकार करने के लिए उसने स्वयं को वैसा ही सुदृढ़ बनाना आरम्भ कर दिया। उसका सपना कितना बड़ा था। साधारण व्यक्ति या साधारण राजा ऐसा सपना नहीं देख सकता था। अलक्षेन्द्र को अपनी असाधारणता पर विश्वास था। मनुष्य कितने बड़े संकल्प कर सकता है। उन संकल्पों को साकार भी कर सकता है अलक्षेन्द्र उसका अनुपम उदाहरण है। भूल उसकी यही थी कि उसने केवल अपने अहम् की तुष्टि के लिये यह सब किया। यदि वह दूसरों के हित का ध्यान रखकर कोई ‘बहुजन हिताय बहुजन सुखाय’ का सपना देखता तो उसकी दिशा भी सही मानी जाती। उसका परिणाम भी शुभ होता।

एक दिन उसके पिता की सभा में एक घोड़ा लाया गया। इस शानदार और शक्तिशाली घोड़े पर उसका कोई दरबारी काबू नहीं कर पाया। बालक अलक्षेन्द्र ने इस चुनौती को स्वीकार किया क्योंकि वह भी तो असामान्य स्वप्न देख रहा था, असम्भव को सम्भव बनाने के स्वप्न संजो रहा था। वह अपने स्थान से उठा घोड़े की लगाम पकड़ी उसका मुँह सूर्य की ओर किया और वह कुछ उछले उसके पहले ही उसकी पीठ पर जा सवार हुआ। बालक के इस दुस्साहस पर सभी चकित रह गये। “घोड़ा उसे गिराकर छोड़ेगा” वह यही सोचकर उसकी रक्षा के लिए प्रयत्नरत हो गये। किन्तु आशांका के विपरीत अलक्षेन्द्र ने उसे काबू में कर लिया। उसे उसने इतना दौड़ाया कि वह थककर बेदम हो गया। तभी से फिलिप जान गया कि उसके बेटा बहुत बड़ा राजा बनेगा।

कहते हैं अपनी माता की उपेक्षा करने के कारण अलक्षेन्द्र ने अपने पिता की हत्या कर दी और अपनी सौतेली माँ और उसके पुत्रों को बलि चढ़ा दिया। सत्ता के मद में चूर फिलिप के अपनी पत्नी ओलिम्पियास की उपेक्षा करना और अलक्षेन्द्र का उसे मौत के घाट उतार देने जैसे अप्रिय प्रसंग प्रायः सम्पन्नता और वैभव के साथ-साथ आत्मशक्ति का सम्पादन न करने के कारण मध्य युग में भी देखने को मिल जाते थे और आज भी कुछ दूसरे ढंग से हमारे समाज में ही देखने को मिल जाते हैं।

फिलिप के बाद अलक्षेन्द्र मकदूनिया का शासक बना। शासक बनते ही उसने विश्वविजय के सपनों को साकार करना आरम्भ किया। सर्वप्रथम उसने अपनी सैन्य शक्ति का विस्तार किया। सैनिकों को प्रशिक्षित करने और अनुशासित रखने के लिये उसने विशेष प्रयत्न किये।

सेना सुगठित हो जाने पर उसने एक-एक करके सारे यूनानी राज्यों को जीत लिया और उन हारे हुए राजाओं के साथ उदारता का व्यवहार करके उन्हें अपना मित्र बना लिया, जो उसके अगले विश्व विजय अभियान में साथी बने। उसकी यह उदारता उसके विरोधी पैदा नहीं होने देती थी।

अलक्षेन्द्र ने अपनी शरीर साधना बखूबी की थी। वह तलवार तथा अन्य शस्त्रास्त्र चलाने में प्रवीण था। यूनानी सेना में उसके एक सेनापति आनेकलीज को छोड़कर और कोई उसके मुकाबले का योद्धा नहीं था। उसका शरीर पूरा ऊँचा बलिष्ठ और त्वरामय था। उसका शरीर सौष्ठव देखते ही बनता था। उसके सारे शरीर पर मत्स्याकृत माँसपेशियाँ उभरी हुई थीं।

यूनान के पश्चात् उसने अपने आस-पास के दूसरे देशों पर विजय प्राप्त की। फिर वह फारस की ओर उन्मुख हुआ, जो उस समय का सबसे बड़ा राज्य था, जिसका राजा दारा अपने आप को सारे संसार का स्वामी समझता था। वह भी विश्वविजय के सपने देखा करता था। इसी के लिए उसने बहुत बड़ी सेना एकत्रित कर रखी थी। वह पहले यूनानियों को हरा भी चुका था। अलक्षेन्द्र की सेना में तीस हजार पैदल और पाँच हजार घुड़सवार थे। दारा की सेना उसकी सेना से तीन गुनी से भी अधिक थी। आइसस के मैदान में दोनों में टक्कर हुई। प्रशिक्षित और अनुशासित सेना के बल पर अलक्षेन्द्र ने अपने से तीन गुनी सेना रखने वाले दारा को पराजित कर दिया। वह मैदान छोड़कर भाग निकला। उसकी माँ, पत्नी तथा बच्चे पकड़े गये। सिकन्दर उनके साथ बड़ी सभ्यता से पेश आया और उनकी सुरक्षा का प्रबंध किया। दारा की पत्नी अत्यंत रूपवती थी। अलक्षेन्द्र के स्थान पर और कोई होता तो उसको अपनी पत्नी बना लेता पर सिकन्दर ने ऐसा नहीं किया क्योंकि वह जानता था कि चरित्र ही मनुष्य की सबसे बड़ी सम्पदा है। वह तो राज्यों को जीतना भर चाहता था, पराजित राजाओं की रानियों को अपनी अंकशायिनी बनाना नहीं। अलक्षेन्द्र में यह चारित्रिक बल न होता तो वह अपने काम में सफल भी नहीं होता।

पराजितों के साथ भी सम्मानजनक व्यवहार करना उसकी नीति थी। दारा ने पराजित होकर भी आत्म-समर्पण नहीं किया था। वह अपने बच्चे हुए सैनिकों के साथ इधर-उधर भागता फिरा। एक दिन उसके ही एक सैनिकों ने उसे छुरों से घायल करके उसे मरा समझकर छोड़ दिया अलक्षेन्द्र को वह मृतप्राय दशा में मिला। अपने मरणासन्न शत्रु को उसने अपना दुशाला उढ़ाकर सम्मान प्रकट किया। दारा ने उसे अपनी पत्नी व बच्चों के प्रति

किये गये व्यवहार के लिए धन्यवाद दिया।

उसकी इस उदारता के कारण उसकी सेना के कुछ उच्चाधिकारी अप्रसन्न भी हो जाते थे। किन्तु वह उनकी अप्रसन्नता की चिंता किये बिना अपनी इस नीति पर दृढ़ रहा करता था। भारतीय राजा पुरु के साथ भी उसने ऐसी ही उदारता बरती थी। वह पुरु की वीरता से प्रभावित भी कम नहीं हुआ था।

अलक्षेन्द्र और उसकी सेना को तो पुरु की विशाल सेना और वीर सैनिकों के प्रबल आक्रमण को देखकर यह लगने लगा था कि इस बार पराजय के अतिरिक्त कुछ हाथ लगने वाला नहीं है। ऐसे कठिन समय में अलक्षेन्द्र ने धैर्यपूर्वक सोचा तो उसे एक युक्ति समझ में आयी। उसने अपने सैनिकों को हाथियों की आँखों में बाण मारने की आज्ञा दी। उसकी यह युक्ति काम में आयी। पुरु के हाथी बिगड़ खड़े हुये और वह पकड़ा गया। उसे जब अलक्षेन्द्र के सामने लाया गया तो अलक्षेन्द्र ने उससे पूछा—“बोलो हम तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार करें।”

“जैसा एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है।” पुरु ने निर्भीकतापूर्वक उत्तर दिया। उसके इस वीरोचित उत्तर से वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उसके जीते हुए प्रदेश को लौटा दिया। वस्तुतः यह बात यूनानी इतिहासकारों द्वारा लिखी गयी है। इस सम्बन्ध में इतिहासकार सच्चाई को खोजने का प्रयास कर रहे हैं। सत्य यह लगता है कि अलक्षेन्द्र पुरु से हार गया था।

प्रत्यक्ष युद्ध में भले ही अलक्षेन्द्र हारा न हो लेकिन यहाँ आकर उसका विश्व-विजय का स्वप्न चूर-चूर अवश्य हो गया। चाहे पुरु हारा भी हो तो भी यह सच्ची विजय नहीं थी। उसके सैनिकों का साहस इस युद्ध में चुक गया था। उन्हें अब तक ऐसे वीरों से मुकाबला नहीं पड़ा था। जब उन्होंने मगध के राजा नन्द की विशाल मागधी सेना और उसके पराक्रम की बात सुनी तो वे आगे बढ़ने से इन्कार कर गये।

अलक्षेन्द्र ने विपाशा के तीर पर उन्हें आगे बढ़ने का आह्वान किया तो वे तैयार न हुए। अलक्षेन्द्र को इससे बड़ी निराशा हुई। वह तीन दिन तक अपने खेमों से बाहर नहीं निकला। अन्त में उसे अपनी बात वापस लेनी पड़ी और वे लौट चले। लौटते समय वह बहुत उदास था। उसके स्वप्न ही धूल में नहीं मिल गये थे वरन् वह अपनी धूल पर पछता भी कम नहीं रहा था। स्वयं को विश्व विजेता सिद्ध करने के लिए उसने हजारों आदमियों का रक्त बहाया था कितनी ही माँगों का सिन्दूर पोंछ दिया था, कितनी माताओं की गोद सूनी करदी थी और कितने ही बच्चों को अनाथ कर दिया था। हाय रे दुर्बुद्धि यह कैसी विजय है। यह विजय का सेहरा नहीं यह तो कलंक का टीका है। इन विचारों से वह बड़ा त्रस्त हो गया। उनसे मुक्त होने के लिए उसने शराब का सहारा लिया। भारत से लौटते समय वह बहुत पीने लगा था लौटते हुए रास्ते में ही उसे निमोनिया हुआ और मर गया।

अलक्षेन्द्र केवल ३३ वर्ष ही जी सका। उसने केवल १३ वर्ष ही राज्य किया। यदि स्वयं विश्व विजय करने का पागलपन मतिष्क में बिठाये स्वयं भी चैन से नहीं बैठना न अपने सैनिकों को बैठने देना और न दूसरे राजाओं को यदि इसी का नाम राज्य करना है तो वह राजा था अन्यथा मनुष्य जीवन की उन रसानुभूतियों और आत्मसंतोष से तो वह वंचित ही रहा जो सामान्य स्थिति का मनुष्य ही पा लेता है। संत दायोजिनस ने उसे पहले ही यह बात स्पष्ट कर दी थी। किन्तु अलक्षेन्द्र के सिर पर तो दूसरा ही भूत सवार था। किसी उर्दू कवि ने ठीक ही कहा है- "न हुई हृद सिकन्दरी न कारुण्य की चली, मौत का आ गया पैगाम कि चलते चलते।" अलक्षेन्द्र का यह संकल्प और उसके लिए जुटाया गया साधन, श्रम, समय और जीवन किसी काम नहीं आया। एक कहानी भर बनकर रह गया। केवल स्वार्थ और मिथ्याभिमान से प्रेरित होकर किया गया काम कितना ही बड़ा क्यों न हो न तो उस व्यक्ति को ही सुखी और सन्तुष्ट कर सकता है और न मानव समाज को ही कुछ दे सकता है। अलक्षेन्द्र का जीवन इस सत्य को सिद्ध करता है, सिखाता है बड़े आदमी बनने की अपेक्षा महान कार्य करने की कामना हजार गुनी श्रेष्ठ है।

पारस्परिक विश्वास-बन्धु सिकन्दर और फिलिप

घटना उस समय की है जब सिकन्दर फारस देश पर आक्रमण करने जा रहा था। यह अपनी विशाल सेना का नेतृत्व करता जा रहा था कि सहसा एक स्थान पर रुक गया और घोड़े से उतर पड़ा। उसे ऐसा लगा मानो उसे मूर्छा आने वाली है। वह घोड़े की रास थामे थोड़ी देर खड़ा रहा। सारी सेना रुक गई और सरदार लोग घोड़ों से उतर-उतर कर उसे घेर कर खड़े हो गये और हाल पूछने लगे। सिकन्दर ने धैर्य तथा साहस से अपने आपको अचेत होने से रोक लिया और सरदारों से कहा-सेना का पड़ाव यहीं डाल दो, मेरी तबियत कुछ खराब हो रही है, आगे चल सकना कठिन है।

सेना का पड़ाव डाल दिया गया और जब तक रहने उठरने की व्यवस्था हो सिकन्दर रोग से तड़पने लगा। उसके पेट तथा हृदय-स्थल में प्रचण्ड पीड़ा शुरू हो गई थी। किसी तरह शीघ्रता से उसका तम्बू लगा और वह एक पलंग पर लिटा दिया गया। सिकन्दर पलंग पर पीड़ा से तड़पने और छटपटाने लगा।

सिकन्दर के साथ यूनान के कई सुयोग्य हकीम आये हुये थे, जिनके पास अच्छी-से-अच्छी दवायें थी। उन्होंने सिकन्दर की हालत देखी और शरीर व नाड़ी की परीक्षा की। सभी हताश हो गये। उन्हें विश्वास हो गया कि वह चन्द मिनटों का ही मेहमान है। अब वह किसी प्रकार बचाया नहीं जा सकता।

इधर यूनान के राजा विश्व-विजय के स्वप्नदर्शी सिकन्दर की हालत खराब होती जा रही थी और वह सहायता के लिए असहाय-सा हकीमों और सरदारों की ओर देखता था। इधर सरदार सहायता से यह सोच कर मुँह छिपा रहे थे कि शायद इसकी मृत्यु के बाद यह अधिकार हमें मिल जाये और हकीम सोच रहे थे कि अब यह बचेगा तो है ही नहीं। यदि मेरी दवा लेने के बाद मर गया तो लोग यह संदेह करेंगे कि इसे मैंने जानबूझ कर मार डाला है, तब बेकार में अपनी जान आफत में फँसेगी, उन सब का स्वामी और सम्राट सिकन्दर मर रहा था और उसकी मृत्यु घड़ी देख कर सब अपने-अपने हित की सोच रहे थे। निश्चय ही उनका सबका वह स्वार्थ और असहयोग धिक्कार के योग्य था। कुछ उसकी मृत्यु की बात इसलिये देख रहे थे कि उसका अधिकार उन्हें मिल जायेगा, दूसरे उसे बचाने का जोखिम इसलिये नहीं ले रहे थे कि कहीं उन्हें उसकी मृत्यु का कलंक न लग जाये और उनको किसी संकट का सामना न करना पड़ जाये। वास्तव में अधिकार पद बड़ा विडम्बनापूर्ण होता है। जब तक वह सक्षम तथा समर्थ है, लोग उसकी झूठी चाटुकारी किया करते हैं और जब वह असहाय और विवश होता है तो तुरन्त आँखें ही नहीं फेर लेते बल्कि न उठ सकने योग पतन के लिये दो धक्के और दे देते हैं। सिकन्दर भी इस समय इसी अवस्था में था।

जब तक शक्ति-मन्तों की भुजा में बल, वाणी में प्रभाव और विस्तार पर नियंत्रण रहता है, सभी उसे नमन करते, उसके अत्याचार को वीरता, अनीति को चातुर्य और शोषण को आवश्यकता मानते रहते हैं। किन्तु ज्यों ही उसकी वे विशेषतायें समय पाकर क्षीण हो जाती हैं त्यों ही लोगों के मन और दृष्टिकोण बदल जाते हैं। उसके गुण नीचे पड़ जाते हैं, उसके उपकार यदि कोई होते हैं तो दब जाते हैं और सारे दोष उभर आते हैं। लोग निर्णायक की तरह उसके जीवन तथा कृत्यों का लेखा-जोखा करने लगते हैं और उससे भी अधिक विपरीत हो जाते हैं, जितने कि अनुकूल थे।

सिकन्दर शक्तिमन्त था। उसका अपना देश था, अपना राज्य था, अपना पद और अपना सिंहासन था। किन्तु वह अपनी इन वसुधाओं और अपनी उस सीमा में संतुष्ट न रह सका। सारे विश्व को अपने पैरों तले लाने की महत्वाकांक्षा उस पर प्रेत की तरह सवार हो गई, जिसने उसे आततायी बना दिया और वह पागल समीर की तरह मित्र, अमित्र तथा तटस्थ सभी देशों की ओर उन्हें रक्त रंजित और कुचल डालने के लिये दौड़ने लगा। अनावश्यक रूप से उसने सारे ससार की शान्ति भंग कर दी। सुख और चैन से रहती जनताओं में भय, रोष और शंका की वृत्तियाँ जगा दीं। सारे देश उसके समाचार सुन-सुन कर अपने घर सुरक्षा और युद्ध की तैयारी करने लगे। सेनायें बढ़ाई जाने लगीं, घर-घर के लाड़ले नवयुवक

बलि-वेदी पर दीक्षित होने लगे। सैन्य भंडारों में संचय होने लगा, सामान्य जीवन महंगा हो गया। कर और राजस्व बढ़ गया और जनता आर्थिक भार से कसमसा उठी। यह सब इसलिये कि सिकन्दर की शक्तिमत्ता अपनी परिधि में न रह सकी।

अन्य देश ही नहीं, उसकी उस अनुचित महत्वाकांक्षा से उसके अपने देश का भी जीवन शान्त न रह सका था। उसे विश्व-विजय योग्य लश्कर चाहिये था। किसी घर में नवयुवक न छोड़े गये। उस विशालवाहिनी की रसद के लिये प्रजा को धन-धान्य से रिक्त कर दिया गया। कोई विरोध अथवा असंतोष खड़ा न हो इसलिये सिर पर आतंक की नंगी तलवार लटका दी गई। सेना बनाम देश के नागरिकों को उनके घर-बार से दूर सैकड़ों कोस विदेशी सीमाओं में डाल दिया गया। दिन-रात लड़ाई, रक्तपात, छल-कपट और अभियान प्रयाण। न कोई शान्ति और न कोई सकून। लाखों कटते, हजारों भूखों मरते और न जाने कितने रोगी हो जाते। किन्तु कोई सुनने वाला नहीं। लोग त्रस्त, क्लान्त तथा असंतुष्ट थे। किन्तु तब तक शक्तिमन्त की भुजा में बल, वाणी में तेज और विस्तार पर नियंत्रण था। समय पूरा न हुआ था।

किन्तु आज जबकि सिकन्दर रोग से विवश तथा असहाय हो गया कौन कह सकता है कि उसके अपनों के हृदयों में वे सब त्रास और कष्ट न कसक उठे हों जो उनमें बलात् इसलिये उठवाये कि सिकन्दर अपने जिगीषु दम्भ को तुष्ट करना चाहता था, जिसका कोई लाभ, कोई श्रेय उनमें से किसी को न होना था। बहुत सम्भव था कि हकीमों और सरदारों के असहयोग के पीछे यह भाव काम कर रहा हो कि यह एक मौत के आँचल बँधे और हम सब को सुख चैन की साँस लेना नसीब हो। क्या उनमें से बहुतों को यह याद न आया होगा कि कब-कब सिकन्दर ने कहाँ, कारण और अकारण ही उन्हें दलित, तिरस्कृत अथवा ताड़ित किया है। क्या उस समुदाय में ऐसे लोग न होंगे जिन्हें यूनान के उन लाखों घरों की याद आती हो जहाँ उस समय पुत्र और पति के वियोग में मातायें और पत्नियाँ आँसू बहा रही होंगी और उन पिताओं की जो पुत्र के हाथ में हल और पतवार सौंपकर निश्चिन्त हो चुके थे किन्तु उन्हें फिर वह भार इसलिये लेना पड़ा होगा कि उनके कर्णधारों को सिकन्दर ने विदेशों के मोर्चों पर कटवा डाला है। शक्तिमन्त, सिकन्दर इस समय विवश और असहाय था, सबके मन और विचार-कोण बदल चुके थे और पहले जहाँ लोगों को उसके गुण ही गुण दिखलाई देते थे, अब दोष ही दोष दृष्टिगोचर होने लगे।

यदि सिकन्दर ने अपनी शक्ति जनहित और संसार में सुख-शान्ति की वृद्धि में लगाई होती तो उसकी सहायता की जोखिम से लोग डरते नहीं बल्कि अपने प्राण देकर भी उसे बचाने का प्रयत्न करते। राज-पद और उस पर भी अनीति तथा आतंक से दूषित राज पद ऐसा ही प्रतारणा

पूर्ण होता है कि लोग न तो उस पर स्वयं विश्वास करते हैं और न यही विश्वास रखते हैं कि वह उन पर विश्वास कर रहा होगा। सिकन्दर संसार से जा रहा था और उसके पार्श्ववर्ती उसकी सहायता से मुँह चुरा रहे थे।

फिर भी जहाँ प्रतिशोधी, स्वार्थी तथा अवसरवादियों की कमी नहीं हो तो वहाँ विशुद्ध मनुष्य भी होते हैं जो आपत्ति तथा पीड़ा में देखकर शत्रु का भी अपकार भूल जाते हैं और मनुष्यता के नाते उसकी सहायता में तत्पर हो जाते हैं। सिकन्दर के एक फिलिप नाम के सेवक से उसकी पीड़ा न देखी गई। वह बड़ा विश्वासी व्यक्ति था, और उसे यह भी विश्वास था कि सिकन्दर उस पर विश्वास रखता है। वह पीड़ा से तड़पते सिकन्दर के पास आया और बोला—“स्वामी आप धीरज रखिये मैं अभी आपके लिए दवा तैयार करके लाता हूँ, आप शीघ्र ही अच्छे हो जायेंगे।” फिलिप दवा लाने चला गया।

अनेक लोग फिलिप के पास पहुँचे और उसे समझाते हुये बोले—“फिलिप क्या मूर्खता करने जा रहे हो। सिकन्दर अब किसी प्रकार बच नहीं सकता। यदि वह तुम्हारी दवा पीने के बाद मर गया तो लोग यही समझेंगे कि तुमने उसे विष देकर मार डाला है। इसलिये तुम उसे दवा देने की गलती न करो, नहीं तो तुम्हारी जान संकट में पड़ जायेगी।”

फिलिप दवा बनाता हुआ साधारण वाणी में बोला—“मेरी आत्मा शुद्ध है, मैं उनके लिये अच्छी से अच्छी दवा तैयार कर रहा हूँ। मुझे पूरा विश्वास है कि वे मेरी दवा से शीघ्र ही अच्छे हो जायेंगे और यदि वे परमात्मा की इच्छा मेरी दवाई पीकर न भी रहे और मुझे उन्हें मार डालने की शंका पर प्राणदण्ड भी दे दिया गया तो भी मुझे कोई असन्तोष न होगा। मेरी आत्मा की पवित्रता मुझे स्वर्ग ले जायेगी और फिर बहुत से मनुष्य-मनुष्य की जान बचाने में, किसी का उपकार करने में स्पष्ट मौत आलिंगन कर लेते हैं, तो क्या मैं इस विश्वास के साथ उनकी मदद नहीं कर सकता, कि वे अवश्य बच जायेंगे, अप्रत्याशित मृत्यु के भय से मैं मानवीय कर्तव्य से क्यों विमुख हो जाऊँ?”

फिलिप के पास अनेक अपरिचित ऐसे भी आये जिन्होंने उसके जुलूम, शोषण तथा अत्याचार का चित्र दिखाते हुए उसे मनुष्यों का शत्रु और उसका दासकर्ता सिद्ध करने का प्रयत्न किया। किन्तु फिलिप पर इसका भी कोई प्रभाव न पड़ा और वह यह कहकर दवा बनाता रहा कि सिकन्दर इस समय केवल एक पीड़ित तथा असहाय मनुष्य है, न वह राजा है, न जालिम और न मुझको गुलाम बनाने वाला आततायी।

जिस समय फिलिप दवा बना रहा था उस समय सिकन्दर के पास एक अधिकारी का पत्र आया। सिकन्दर ने जैसे-तैसे पत्र खोलकर पढ़ा—उसमें लिखा था—आप फिलिप से सावधान रहें। फारस के राजा ने आपको विष पिला कर मार डालने का षडयन्त्र किया है। इस कार्य के

लिए उसने, अपार धनराशि और अपनी बेटी का विवाह कर देने का लालच देकर फिलिप को नियुक्त किया है।

सिकन्दर ने पत्र पढ़कर अपने तकिये के नीचे रख लिया। फिलिप दवा लेकर आया- सिकन्दर ने एक हाथ से प्याला लिया और दूसरे हाथ से वह पत्र निकाल कर फिलिप को दे दिया। उधर फिलिप ने पत्र पढ़ना शुरू किया। फिलिप ने जब उस पत्र से आँखें उठाकर कातर दृष्टि से सिकन्दर की ओर देखा तब तक वह प्याला खाली कर चुका था। दवा ने तीव्र प्रभाव किया, सिकन्दर अचेत हो गया। सरदारों ने मृत्यु-दृष्टि से फिलिप की ओर देखा और फिलिप अपनी आत्मा की सच्चाई पकड़े साहसपूर्वक खड़ा रहा। कुछ देर बाद सिकन्दर सचेत हुआ और उठ कर बैठ गया, उसकी सारी पीड़ा जा चुकी थी, वह बिल्कुल ठीक हो गया था।

उसने उठकर फिलिप को गले लगाया और धन्यवाद दिया। किन्तु फिलिप आँसुओं से उसे तर करता हुआ बोला- स्वामी ! ऐसा पत्र पाकर भी आपने मुझ पर विश्वास कैसे कर लिया। सिकन्दर मुस्कराता हुआ बोला- प्यारे फिलिप ! मुझे आदमियों की बहुत कुछ पहचान है। मुझे पूरा विश्वास था कि तुम्हारा जैसा सज्जन व्यक्ति कभी विश्वासघात नहीं कर सकता और फिर यदि तुम वैसा करते भी तो भी मैंने संशयपूर्ण निकृष्ट मृत्यु मरने की अपेक्षा विश्वासपूर्ण मृत्यु मरना अच्छा समझा।

सिकन्दर ने फिलिप को बहुत-सा पुरस्कार देना चाहा किन्तु फिलिप ने उसे न लेते हुये कहा- ऐसे अवसर पर आपने मुझ पर विश्वास करने की महानता तथा आदर दिया है, वह ही बहुत है मेरे स्वामी !

खाली हाथ जा रहा हूँ

विश्वविजय का स्वप्न देखने वाला अजेय योद्धा सिकन्दर एक साधारण से जन्तु मच्छर का सामना नहीं कर सका। बेबीलोन में जाकर उसकी मृत्यु मलेरिया से हुई। नित्य शराब पीने और रागरंग में मस्त रहने के कारण उसका शरीर इतना निर्बल हो चुका था कि मच्छर के काटने और मलेरिया के कीटाणु शरीर में प्रविष्ट हो जाने के कारण उसका शरीर उन कीटाणुओं का भी प्रतिरोध नहीं कर सका।

मृत्यु के समय उसके जीवन की एक-एक स्मृतियाँ उभरकर आने लगीं। अभी तीन वर्ष पूर्व मिली नैतिक पराजय वह भूला भी नहीं था जो उसे भारत की युद्ध यात्रा में मिली थी और वह भी गाँव की दो साधारण कन्याओं द्वारा पराजय का सारा दृश्य उसकी आँखों के सम्मुख घूम आया।

उस समय वह भारत के परम प्रतापी राजा पुरु को परास्त कर चुका था और आगे बढ़ने की योजना बना रहा था। अगले दिन कूच कर देना था। भारत के उत्तरी पश्चिमी सीमान्त के एक नगर के पास उसकी सेनाओं का डेरा था। सिकन्दर दिन भर की थकान मिटाने के लिए

पास ही के एक गाँव में गया। साथ में कुछ थोड़े से अधिकारी भी थे। ऊँचे कन्धे, लम्बे कद और हट-पुट शरीर के इस युवक को देखकर गाँववासी ठिठक आये। वे कोई जल्सा मना रहे थे। जल्सा रोक दिया गया।

सिकन्दर ने अपने अधीनस्थ कर्मचारियों द्वारा कहलवाया-“जल्सा रोकने की कोई जरूरत नहीं है। आप लोग उसी प्रकार खुशियाँ मनाइये। हमारे सम्राट सिकन्दर महान भी आपकी खुशियों में सम्मिलित होना चाहते हैं।”

और जल्सा फिर चलने लगा। मधुर वाद्य यन्त्र ढोल और नगाड़ों का शोर तथा उनकी थाप पर पड़ने वाले ग्रामीण युवक-युवतियों के पाँव- सब इतने मन मोहक लगे कि सिकन्दर अपनी सुध-बुध खो बैठा। बीच में प्यास लगी तो सिकन्दर के लिए पानी लाया गया। उस समय तक रात भी गहराती जा रही थी और सिकन्दर के भोजन का समय भी हो चला था। सोचा गया यहीं भोजन भी कर लिया जाय। इसलिये सिकन्दर के लिए भोजन की माँग की गयी। खाना वहीं मँगवा लिया गया।

थोड़ी देर बाद दो ग्रामीण युवतियाँ एक थाली को कीमती चादर से ढक कर लाईं और सिकन्दर के सामने खड़ी हुईं। भोजन की थाली चादर सहित सिकन्दर के सामने रख दी। चादर हटाकर ज्यों ही देखा तो सम्राट के क्रोध का पारावार न रहा। जी चाहता था कि इस प्रकार मजाक करने वाली इन युवतियों का सिर धड़ से अलग कर दिया जाय। परन्तु भारतीयों के प्रत्येक विचित्र व्यवहार में एक गम्भीर अर्थ खोजने वाले युवा सम्राट ने युवतियों से जो पास ही खड़ी थीं पूछा-“यह क्या हमने तो खाना मँगवाया था और आप ये क्या ले आयीं ?”

एक युवती ने बड़ी निर्भीकता से उत्तर दिया- वही जो आप खाते हैं।

“हम यह खाते हैं ?”

“हमने तो सुन रखा है मकदूनियों का सम्राट सिकन्दर महान सोने और चाँदी का भूखा है- उस थाली में सोने चाँदी के आभूषण थे- और यह भी कि वह अपनी इस भूख को मिटाने के लिए भारत आया हुआ है। सो आपकी सेवा में आपका भोजन।”

इस कटाक्ष से सिकन्दर विक्षिप्त हो उठा।

और आज जब अन्तिम घड़ी आ उपस्थित हुई हैं तो वह घटना रह-रहकर याद आ रही है। उसे याद आया कि वह अपने सैनिकों द्वारा जोर डालने पर ही भारत की जय यात्रा को बीच में रोककर वापस हो गया था। वह ही नहीं उसके सैनिक भी हिम्मत हार चुके थे। सिकन्दर ने यह आखिरी साँस जानकर अपने एक सेनापति को बुलाया और कहा- “देखो मित्र। जब मेरा अर्थी बनायी जाय तो मेरे दोनों हाथ अर्थी से बाहर निकाल देना ताकि दुनिया वाले यह जान सकें कि मैं कुछ नहीं ले जा रहा हूँ और उसके दोनों हाथ खाली थे।”-इतना कहकर उसने दम तोड़ दिया।

गुरु गरिमा

सिकन्दर और अरस्तू साथ-साथ जा रहे थे। रास्ते में नदी मिली। अरस्तू पहले पार जाना चाहते थे, पर सिकन्दर न माना और वही पहले उतरा, अरस्तू बाद में उतरे। पार जाने पर अरस्तू ने सिकन्दर से कहना न मानने का कारण पूछा। सिकन्दर ने जबाब दिया कि यदि सिकन्दर डूब जाता, तो अरस्तू ऐसे दस सिकन्दर बना सकते थे, पर अगर अरस्तू डूब जाते तो दस सिकन्दर मिलकर भी एक अरस्तू नहीं बना सकते थे।

शोषण से संघर्ष को दायित्व मानने वाले-

अर्नेस्ट गोवेरा

“जिन हालातों में मैंने पूरे महाद्वीप की यात्रा की उनमें मैं गरीबी, भूख और बीमारी के बहुत निकट सम्पर्क में आया और मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि बीमार बच्चों को नीरोग नहीं किया जा सकता क्योंकि स्वस्थ रहने के लिए जो साधन आवश्यक हैं वे उन्हें प्राप्त होना तो दूर उनके दर्शन तक नहीं हो पाते। आधे पेट खाकर तन तोड़ मेहनत करने वाले लोग जो इन कारणों से रोगी हैं केवल डाक्टरों के दम पर जिन्दा नहीं रह सकते। इस कारण मैंने यह निश्चय किया कि मुझे महाद्वीप पर से भूख और बीमारी को दूर करने के लिए डाक्टरी शोध के स्थान पर कुछ और करना चाहिए। कुछ इस प्रकार का जो कि ऐसी शोध से अधिक महत्वपूर्ण और प्रभावकारी सिद्ध हो सके”- ये शब्द हैं क्यूबाई क्रान्ति के एक नायक गोवेरा के जो उस समय चिकित्सा व्यवसाय को पेशे के रूप में नहीं सेवा के रूप में ही अपनाये हुए थे। ये तो उन्हें क्यूबा की जनता ने अपनी श्रद्धा और प्रेम के कारण कहकर सम्बोधित किया था। अन्यथा उनका वास्तविक नाम था अर्नेस्ट गोवेरा डी० लासरना।

अमेरिका के दक्षिण में कैरिबीयन सागर का छोटा-सा द्वीप है- क्यूबा। इसकी खोज अब से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व कोलम्बस ने की थी और काफी समय तक यह स्पेन के आधीन रहा। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में यहाँ आजादी आयी। परन्तु वहाँ की जनसामान्य की दशा में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। शोषक और शोषित जनों के बीच की खाई ज्यों की त्यों ही बनी रही- इतना ही नहीं वह और भी बढ़ती गयी। अर्नेस्ट ने एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के देशों को तीसरी दुनिया का नाम दिया। जहाँ एक वर्ग के पास सब कुछ और दूसरे के पास कुछ नहीं। एक वर्ग के लोग गोरे थे और दूसरे के काले। एक मालिक था तो दूसरा गुलाम। दिन भर कड़ी मशक्कत करने के बावजूद शाम को चैन की नींद आ सके इतना भी भरपेट भोजन उन्हें नहीं मिल पाता था परिणामस्वरूप वे तरह-तरह के रोगों के शिकार बनते। गरीबों की सीमा रेखा से भी काफी नीच स्तर का जीवन गुजारते थे।

और इस वर्ग की मुक्ति के लिए संघर्ष का आह्वान किया अर्नेस्ट ने। न केवल आह्वान वरन् स्वयं भी सैनानी बनकर मैदान में उतरे और उस पूरी समाज व्यवस्था को बदल डाला जहाँ शोषण, अन्याय और अत्याचार को पोषण मिलता था, वह फलता-फूलता था। उनका यह संघर्ष किसी देश, जाति या सीमा की परिधि तक ही नहीं बँधा रहा वरन् उन्होंने अपना यह लक्ष्य ही बना लिया कि जहाँ-जहाँ भी अन्याय और शोषण हो रहा है वहाँ-वहाँ संघर्ष उन्हें पुकारता है। यही कारण है कि क्यूबाई क्रान्ति के नायक होते हुए भी उन्हें समूची तीसरी दुनिया में अर्धविकसित देशों के सैनिक के रूप में याद किया जाता है।

अर्नेस्ट गोवेरा का जन्म १४ जून, १९२८ को अर्जेण्टीना के रोसरिया नगर में हुआ था। उनके पिता न तो सम्पन्न स्थिति के कह जा सकते थे और न ही एकदम दीन-हीन। फिर भी जीविकोपार्जन के लिए उन्हें कठोर परिश्रम करना पड़ता था। इसलिए पुत्र जन्म पर उन्हें इस आशा से बड़ी खुशी हुई कि उनकी सहायता के लिए दो हाथ और आये। आज न सही भविष्य में कभी भी तो बेटा सहारा बनेगा। अभी वे दो वर्ष के ही थे कि उन्हें अस्थमा जैसी भयंकर बीमारी का दौरा पड़ा और जैसा कहते हैं कि दमा दम के साथ ही जाता है यह रोग उनका अन्त तक साथी रहा। जीवन भर अस्थमा के मरीज रहते हुए अर्नेस्ट ने न केवल मुक्ति संघर्ष का नेतृत्व किया वरन् उसमें सैनिक बनकर स्वयं भी लड़ते रहे - यह कैसे सम्भव हो सका लोगों को जानकर आश्चर्य होता है।

वय सन्धि पार करने तक उनके जीवन में दो ऐसी घटनाएँ घटीं जिन्होंने अर्नेस्ट को डॉक्टर बनने के लिए प्रेरित किया। पहले उनकी दादी और फिर कुछ वर्षों बाद माँ का देहान्त एक ही रोग कैंसर से हुआ था और भी कई लोग इस बीमारी से मरते देखे थे पर दादी और माँ को इस रोग के कारण मरता देख उनके मन में यह लगन उत्पन्न हुई कि वे डॉक्टर बनेंगे। सन् १९४६ में उनका परिवार 'आवस्त' आकर रहने लगा और वे डॉक्टरी पढ़ने लगे। उनकी समझ में तब तक यह बात आने लगी थी कि इस व्यापक रोग का कोई बड़ा कारण होना चाहिए और उस कारण को जानने के लिए उन्होंने दूर-दूर तक के गाँव छान मारे और वहाँ जाकर रहे, वहाँ के जन-जीवन का निकट रहकर अध्ययन किया। पूरे साल उनका यही क्रम रहता एक बार तो उन्होंने साइकिल पर सवार होकर पूरे अर्जेण्टीना को ही नाप डाला। फिर सोचा कि पूरे महाद्वीप का दौरा किया जाय अतः अपने एक साथी को लेकर निकल पड़े। मार्ग में खर्च के लिये तो कुछ रहता नहीं था। अतः तरह-तरह का काम कर, कभी होटलों में प्लेटें धोकर तो कभी कुलीगिरी कर अपना राह खर्च निकाला।

इसी यात्रा के दौरान उन्होंने एक कोढ़ियों की बस्ती में भी निवास किया और उनके दुःख-दर्द का अध्ययन

किया। इस यात्रा से प्राप्त अनुभवों ने उन्हें गहन विचार मंथन में डाल दिया था। फिर भी वे यात्रा समाप्त कर जब लौटे तो डॉक्टरी पास करने के लिए दिन-रात एक कर जुट गये। सन् १९५३ में उन्होंने डॉक्टरी की परीक्षा पास की और कुछ समय तक प्रैक्टिस भी जारी रखी। परन्तु यात्रा अनुभवों ने उन्हें उस निष्कर्ष बिन्दु पर पहुँचा दिया जिसका उल्लेख आरम्भ में कर चुके हैं। वे उन मूल कारणों को दूर करने के लिए तो कृत संकल्प थे परन्तु अभी तक मार्ग नहीं मिल रहा था।

मार्ग मिला उसी वर्ष डॉक्टरी छोड़ने के बाद बोलिविया में असफल क्रान्ति हुई। यद्यपि यह विद्रोह असफल रहा परन्तु इसके कारण सरकार को अपने रवैये में काफी परिवर्तन करना पड़ा। क्रान्ति की असफलता के कारणों में तब तक पहुँचने के बाद अर्नेस्ट ने यह मत बनाया था कि देशवासियों के हृदय में गहराई तक क्रान्ति की विचारधारा जब तक न पहुँचायी जाय और जब तक उनका सहयोग न मिले तब तक क्रान्ति सफल नहीं हो सकती। बोलिविया में असफल क्रान्ति होने के बाद वे उस देश में भी गये और वहाँ की परिस्थितियों का अध्ययन किया। उन्होंने यह आवश्यक समझा कि क्रान्ति फिर से होनी चाहिए और पिछली भूलों को नहीं दोहराया जाना चाहिए।

और वे क्यूबा लौट आये। वहाँ उन्होंने क्रान्ति के लिये सर्वोत्तम मार्ग चुना गुरिल्ला युद्ध का और उन्होंने क्यूबा के वर्तमान प्रधानमंत्री फिडिल कास्ट्रो के साथ मिलकर एक गुरिल्ला दस्ता गठित किया। इस दस्ते में अभी सौ से भी कम सैनिक थे और उसमें भी प्रशिक्षण का अभाव था। फिर भी कास्ट्रो तथा अर्नेस्ट ने आशा व हिम्मत नहीं हारी और अपना पहला धावा अल्जीरिया डी पालो पर बोला। लेकिन अनुभवहीनता और अपरिपक्वता के कारण यह हमला असफल रहा। यही नहीं विपक्षी सेनाओं के प्रत्याक्रमण में उनके तीन चौथाई से भी ज्यादा सैनिक मारे गये। किसी प्रकार वे तथा उनके कुछ अन्य वरिष्ठ साथी भाग निकले।

अर्नेस्ट बचपन से ही अस्थमा के रोगी थे। अतः उन्हें दवायें सदैव साथ रखना पड़तीं। महीनों तक अपने साथियों के साथ पुनः गुरिल्ला दस्ता गठित करने के लिए उन्हें स्थान-स्थान पर भटकना पड़ा। समय पर न भोजन-पानी की व्यवस्था थी और न कहीं सोने बैठने का प्रबन्ध। अपने दस्ते को पुनः संगठित करने के लिए उन्होंने किसानों की मदद प्राप्त करना आरम्भ किया। उन्हें मदद मिली भी, जिसके बल पर उन्होंने क्रान्ति की चरमराती धुरी को मजबूत बनाया और गुरिल्ला दस्ता पुनः संगठित किया। युद्ध के दौरान इन लोगों ने अपरिपक्व अनुभवों के कारण कई गलतियाँ कीं जिनका परिणाम विफलता के रूप में भोगना भी पड़ा परन्तु उन्होंने अपनी प्रत्येक गलती से सबक सीखा और उसे न दोहराने का प्रयत्न किया।

साथ ही जनसामान्य को अपने साथ करने के लिए व्यावहारिक कदम भी उठाते रहे।

उन्होंने अपने प्रत्येक सैनिक को सचेत कर दिया कि किसान, मजदूर और साधारण वर्ग के लोग ही नहीं शत्रु सेना के घायल सैनिकों और युद्धबन्दियों के साथ भी उन्हें मानवीय व्यवहार करना चाहिए। हमारी लड़ाई-अन्याय से है जनता से नहीं। इस नीति का अच्छा परिणाम हुआ और धीरे-धीरे युद्ध में विजय भी मिलती गयी। यों कहा जाता है कि गुरिल्ला युद्ध में गुरिल्ले जीतते नहीं हैं शत्रु सेना धिरती है। इस अर्थ में प्रतिपक्ष कमजोर पड़ने लगा।

अन्ततः क्यूबा में पुरानी व्यवस्था का तख्ता उलटा और क्रान्तिकारी सरकार बनी। उन्हें औद्योगिक विभाग का अध्यक्ष बनाया गया फिर चार वर्ष बाद वे उद्योग मन्त्री बने। इस पद पर रहते हुए उन्होंने क्यूबा के औद्योगिक विकास हेतु कई बड़े कदम उठाये। बाद में उन्हें राष्ट्रीय बैंक के संचालक पद पर भी नियुक्त किया गया जहाँ उन्होंने अपनी प्रतिभा का पूरा-पूरा लाभ जनता को दिया।

परन्तु १९६५ में अर्नेस्ट गोवेरा ने सदा के लिए क्यूबा को छोड़ दिया। कारण था उनकी अन्तरात्मा की वह ध्वनि जो हर स्थान पर संघर्ष के लिए प्रेरित करती थी जहाँ कि अन्याय हो रहा है। समस्त लैटिन अमेरिका में क्रान्ति की आग फैलाने के लिए उन्होंने घुमकूड़ गुरिल्ला योद्धा का जीवन स्वीकार किया। क्यूबा से विदा होते समय उन्होंने फिडिल कास्ट्रो-प्रधानमंत्री से कहा-अब देश के नेतृत्व की जिम्मेदारी तुम पर है। दूसरे देश जहाँ कि अन्याय का कुचक्र चल रहा है मुझे संघर्ष के लिए-मदद के लिए पुकार रहे हैं। उस समय गोवेरा अथेड़ावस्था के करीब पहुँच चुके थे-पर इस अवस्था में भी उन्होंने अपने मुक्ति संघर्ष में सक्रिय योगदान को कितना महत्व दिया-अस्थमा के रोगी होते हुए भी यह उनकी ध्येय निष्ठा का ही परिचायक है। वहाँ से अर्नेस्ट फिर बोलिविया चले गये और वहाँ लगभग एक साल तक काम करते रहने के बाद वे एक सैनिक टुकड़ी से मोर्चा लेते समय घायल हो गये और बन्दी बना लिये गये। उसी वर्ष उन्हें मृत्युदण्ड की सजा दे दी गयी और अर्नेस्ट गोवेरा शहादत को प्राप्त हुए।

जीवन भर क्रान्ति के लिए संघर्षरत रहते हुए वे आर्थिक दृष्टि से अभावग्रस्त रहे। परन्तु अभावों से उन्हें असन्तोष नहीं था वरन् उन्हें धन से-निजी सम्पत्ति से एक प्रकार की घृणा-सी थी। क्रान्तिकारी सरकार के महत्वपूर्ण पदों पर रहने के बाद वे चाहते तो अपने अभावों को मिटा सकते थे परन्तु उन्होंने अपनी आवश्यकतायें इतनी कम कर ली थीं कि धन उनके लिए कोई महत्वपूर्ण चीज नहीं रह गया था। उन्होंने मरने के बाद अपने पत्नी बच्चों के लिए भी कुछ नहीं छोड़ा और इस स्थिति में बड़ा गौरव अनुभव किया। क्यूबा छोड़कर जाते समय उन्होंने फिडिल कास्ट्रो को जो विदाई पत्र

लिखा उसमें यह भी था कि - मैंने अपनी पत्नी और चार बच्चों के लिए एक पैसा भी नहीं छोड़ा और इस बात से मुझे बड़ी खुशी और गर्व का अनुभव हो रहा है ।

समाजवाद की स्थापना उन्होंने न केवल अपने देश में की वरन् उसके आदर्शों को स्वयं भी आत्मसात कर लिया । सम्पत्ति पर सामाजिक अधिकार और उसका समान वितरण ही समाजवाद का आधारभूत सिद्धान्त है । अतः अर्नेस्ट गोवेरा ने इस आदर्श को अपने निजी जीवन में भी उतारा और धन के प्रति कभी आकर्षण अनुभव नहीं किया । अर्नेस्ट गोवेरा- जिन्हें लोग प्यार से चे गोवेरा कहते थे ने अपनी परम्परा के अनुयायियों के लिए संस्मरण और आवश्यक मार्ग निर्देशक साहित्य भी लिखा है । जिसका एक-एक शब्द अनुभूतियों के सागर से मोती की तरह निकला है । समाजवाद में ही सारी मनुष्य जाति का कल्याण देखने वाले चे गोवेरा तीसरी दुनिया के लिए प्रकाशस्तम्भ का काम करते रहेंगे ।

प्रेम, कर्तव्य विमुखता नहीं सिखाता- संयोगिता

पृथ्वीराज चौहान को सुन्दरी संयोगिता क्या मिली, वह सब कुछ भुलाकर उसी में लिप्त हो गये । न राज्य प्रबन्ध सूझता न राज्य की रक्षा करने की ही सुध थी । उन्होंने अपने आपको अपनी दुनिया को संयोगिता के विलास-कक्ष तक ही समेट लिया ।

दीपक जलाया तो प्रकाश के लिये जाता है, किन्तु गृहस्वामी की असावधानी तथा अविवेक से वही घर को जलाकर राख भी कर सकता है । नारी का स्नेह पुरुष के जीवन में सरसता भरता देता है । इस प्रकार प्रकृति ने जीवन पथ की अगणित कठिनाइयों को पार करने के लिये पुरुष तथा स्त्री को सहयोगी बनाकर भेजा है ताकि यह यात्रा दुरूह न हो जाय । यदि साथी को पाकर मंजिल ही भुला दी जाय, चला ही छोड़ दिया जाय तो इससे बड़ी विडम्बना और क्या होगी ?

पृथ्वीराज ऐसी ही भूल-भूलैया में फँसे थे । विलास का अखण्ड दौर चल रहा था । कब सूर्योदय होता है ? कब सूर्यास्त होता और पुनः रात्रि आ जाती इसका भान ही नहीं था । देखते-देखते आँखें थक जातीं पर नव परिणीता पत्नी के सौन्दर्य से आँख नहीं हटती । स्पर्श सुख की प्यास ज्यों-ज्यों बुझाई जाती त्यों-त्यों अतृप्ति भी बढ़ती जाती । मरुभूमि में पानी के लिए तरसते हरिण को दिखाई देने वाली मृगतृष्णा की तरह-अग्नि में घृत डालकर बुझा पाने की मिथ्या धारणा की तरह वह कभी पूरी नहीं होती ।

मोहम्मद गौरी फिर भारत पर चढ़कर आ रहा था । कन्नौज के राजा जयचन्द ने उसे सहायता का वचन देकर

निमन्त्रित किया था, इसी कारण उसका यह साहस हो सका था । नहीं तो वह अपने ही बलबूते पर आक्रमण करने वाला न था । अनेक बार हारने तथा प्राणों के लाले पड़ जाने की बात वह भूला न था ।

पृथ्वीराज के परम मित्र, राज कवि चन्द तथा मन्त्री गुरुराम उन्हें आक्रमण की सूचना देने आये तो परिचारिका ने राजा की आज्ञा बतादी- "वे किसी से नहीं मिल सकते ।" अति आवश्यक कार्य बताकर राजा से पुछवाया पर उत्तर वही मिला । एक बार, दो बार नहीं पूरे तीन बार उन्हें निराश होना पड़ा ।

चौथी बार तो कवि चन्द अड़ गये । अभी नहीं तो फिर राजा से कभी मिलना न हो सकेगा । उन्होंने अपना सन्देश लिखकर भेजा-"कगार अप्पहं राज कर, मुँह चप्पह इंह बत्त। गौरी रत्तौ तुअ धरनी तुअ गौरी रस रत्त (यह काम करने के लिये पूरा जीवन पड़ा है । गौरी तुम्हारी मातृभूमि को ताक रहा है और तुम स्त्री के रस में डूब रहे हो ।)

कवि चन्द का सन्देश पढ़कर भी पृथ्वीराज को चेत नहीं आया । उसने दहलाया-"कह दो कवि चन्द ही लड़ ले।" इस कथन में पृथ्वीराज का अहंकार ही नहीं संयोगिता के प्रति गहन आसक्ति भी बोल रही थी । संयोगिता ने अपने पति की ओर प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा वह समझ न सकी कि वे अपने सखा राज कवि से मिलना क्यों नहीं चाहते । उसने पुछा- "क्या हुआ नाथ ?"

"कुछ नहीं गौरी ने हमारे देश पर आक्रमण किया है ।"

"तो फिर आप यहाँ क्या कर रहे हैं ?"

पृथ्वीराज उसे देखता ही रह गया । जो सच्चाई वह अपने जीवन के पैंतीस वर्षों में नहीं जान पाया था उसे संयोगिता ने सहज रूप में बता दी थी । भोग की कोई सीमा नहीं । यह तो सुरसा की तरह मुँह फैलाता ही रहता है । तेज मदिरा की तरह चेतना पर छाकर विवेक को कुण्ठित ही कर देता है । उन्हें पश्चात्ताप होने लगा । विदेशी आक्रमणकारी मेरी मातृभूमि पर चढ़ा आ रहा है, हमें पद दलित करने आ रहा है । मैं भी कितना मूर्ख हूँ कि नारी को इस रूप में देखता रहा जिसे वह कभी स्वीकार नहीं करती । संयोगिता के कथन ने एक क्षण में उसके उस रूप को उजागर कर दिया ।

पृथ्वीराज के लिए एक क्षण भी उस विलास कक्ष में रुकना कठिन हो गया । वह कर्तव्य पथ पर चल पड़े ।

नैपोलियन की निराशा

नैपोलियन को बड़ी मानसिक वेदना का सामना करना पड़ रहा था । उसे न साथी-मित्र की सराहना मिलती और न अपने से बड़ों का प्रेम । कहीं से प्रेरणा मिली कि वह कलम का उपबोग कर साहित्य की साधना करे ताकि अभीष्ट सफलता मिले और प्रसिद्धि भी ।

१७ वर्ष की आयु में उसने कलम पकड़ी। तब वह एक सैनिक स्कूल में पढ़ रहा था। वहाँ उसे दुःख भरा जीवन व्यतीत करना पड़ रहा था। निदान अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरी करने के लिए पूर्ण साधना अध्ययन का आरम्भ किया। रूसो की दि सोशल काण्ट्रेक्ट और ऐम्बे रेनाल की एक रचना जिसमें सामाजिक समस्याओं का अध्ययन था, पढ़ डाली। दूसरी अन्य पुस्तकें भी पढ़ीं और निश्चय किया कि मैं भी देश की समस्याओं पर समाधानपरक कोई ग्रन्थ लिखूँ। इसी विचार से उसने लिखना आरम्भ किया। लिखा-काट, फिर लिखा फिर काटा इसी प्रकार काफी समय और श्रम लगाकर उसने 'कार्सिका का इतिहास' नामक पुस्तक लिख डाली।

किसी अच्छे लेखक से संशोधन करवाने के लिए नैपोलियन ने वह पुस्तक एम्बे रेनाल को भेजी। बिना पढ़े ही उसने यह नोट लगाकर वापस भेज दी कि दुबारा गहरी खोज कर पुस्तक फिर से लिखो।

यह उत्तर पाकर नैपोलियन बड़ा झुंझलाया परन्तु फिर से वह दुबारा लिखने लगा। जब दुबारा मेहनत करने के बाद पुस्तक तैयार हुई तो नैपोलियन ने उसे फिर रेनाल के पास भेजा। रेनाल से पुनः वही निराशाजनक उत्तर मिला।

उसने इतिहास-लेखक का प्रयास ही छोड़ दिया और स्वतन्त्र लेखन करने लगा। सर्वप्रथम नैपोलियन ने प्रेम पर एक शोधपूर्ण निबन्ध लिखकर विद्वान लेखकों के पास भेजा तो वहाँ भी निराशा मिली।

अगली बार आनन्द विषय पर कलम चलाई पर इसके लिए नवयुवक लेखक को डाँट ही मिली।

उन्हीं दिनों एथेन्स की विद्वत परिषद् ने एक निबन्ध प्रतियोगिता का आयोजन किया। इस प्रतियोगिता में नई कलमों को भाग लेने के लिए प्रेरित किया गया था।

निबन्ध पर डेढ़ हजार लिब्रे का इनाम भी घोषित किया गया पर परीक्षकों ने इस टिप्पणी के साथ कि उसका निबन्ध इतना अव्यवस्थित है और इतनी बुरी तरह से लिखा गया है कि इस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया जा सकता।

आठ वर्षों तक लगातार कलम घिसने के बाद भी नैपोलियन को अपना स्वप्न पूरा होता दिखाई नहीं दिया तो दूसरे क्षेत्र में अपनी किस्मत आजमाने का फैसला किया।

नैपोलियन अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिये अन्य मार्ग तलाश रहा था। अन्ततः उसने रणक्षेत्र में अपनी प्रतिभा और सामर्थ्य को आजमाने का निश्चय किया और सेना में भर्ती होकर एक साधारण सैनिक के रूप में अपने महत्वाकांक्षी जीवन का आरम्भ किया। वहाँ वह अपनी क्षमताओं, मानसिक गुणों और प्रतिभा को निखारने में लगा। बढ़ते-बढ़ते वह अपने देश का नहीं अन्य देशों का भाग्य विधाता भी बन गया।

जब उसने कई प्रदेशों को जीत लिया तो एक अवसर पर कहने लगा कि बार-बार असफल होकर भी मैं ग्रन्थ-कार बनने का सपना देखता रहता तो सम्भवतः मैं कोई अदना-सा लेखक बन जाता पर शीघ्र ही, मुझे अपने स्वरूप और उसकी क्षमता का परिचय मिला तथा मैं अब महान विश्वविजेता बन सका हूँ।

अपनी क्षमताओं को पहचानने और उनका विकास करने के लिए भी व्यक्ति को गहरी सूझ-बूझ की आवश्यकता है। किसी भी क्षेत्र में असफलता पर असफलता मिलने से निराश होकर बैठ जाने की अपेक्षा बेहतर है अन्य क्षेत्रों में प्रयोग किये जायें।

एक क्षेत्र में असफल होने पर दूसरे क्षेत्र में प्रवेश करके व्यक्ति अपनी महत्वाकांक्षाओं को निश्चित रूप से पूरा कर लेते हैं तथा उल्लेखनीय सफलताएँ अर्जित करते हैं।

बुद्धि, कर्म व साहस की धनी प्रतिभायें

बुद्धि, बल व साहस के धनी—

महाराणा राजसिंह

चारुमती ने यौवन की देहलीज पर पाँव रखा ही था, बचपना अभी छूटा न था, रूपनगर की यह राजकुमारी एक ऐसा ही बचपना कर बैठी । दिल्ली से एक चित्र बेचने वाली स्त्री आई थी । राजकुमारी ने उससे वीर हिन्दू राजाओं के चित्रों के साथ औरंगजेब का चित्र भी खरीदा और उसी के सामने फाड़कर फेंक दिया । उसकी सहेलियों ने उसे पाँवों तले रौंदा ।

चित्र बेचने वाली ने वे टुकड़े ले जाकर औरंगजेब को दिखाए साथ ही चारुमती के रूप का भी वर्णन कर दिया । उस रूपरस-लुब्ध-भ्रमर के मुँह में पानी भर आया । उसे क्या पता था कि इसी चारुमती के आगे उसकी शाहजादी और बेगम को बंदी बनकर जाना पड़ेगा । उसने रूपनगर के राजा को इस आशय का संदेश भेज दिया कि राजकुमारी चारुमती का विवाह उसके साथ कर दें अन्यथा रूपनगर की ईंट से ईंट बजाकर रख दी जायगी ।

चारुमती ने जब उसका यह संदेश सुना तो बड़ी चिंतित हुई । यह चिंता अधिक समय उसे घुलाती न रह सकी, उसने अपना निर्णय कर लिया कि राजपूत राजाओं में यदि कोई उसकी रक्षा करने में समर्थ हो तो वह उसे पति रूप में वरण कर लेगी अन्यथा विषपान करके प्राण त्याग देगी किन्तु अन्याय के सामने सिर नहीं झुकाएगी । सच है जिसे मृत्यु से भय नहीं उसे अन्यायी झुका नहीं सकता चाहे वह कितना ही सामर्थ्यवान क्यों न हो ।

रूपनगर के राजा विक्रम बड़े सोच में पड़ गए । वे सम्राट से लड़ने में समर्थ नहीं थे तथा मरने से भय खाते थे । उन्होंने हिन्दू राजाओं के पास इस आशय से दूत भेजे कि वे राजकुमारी से विवाह कर लें । केवल मेवाड़ के राणा राजसिंह के पास संदेश नहीं भेजा क्योंकि उनसे पुरानी शत्रुता थी । वाह रे संकुचित हिन्दू हृदय । जिसे विधर्मी के अन्याय के सामने घुटने टेक देने की लज्जाजनक स्थिति स्वीकार है पर अपने ही जाति तथा धर्म के किसी व्यक्ति के साथ समझौता करना स्वीकार नहीं ।

राजा लोग सभी अपने क्षुद्र स्वार्थों के वशीभूत होकर अपने आपको सामर्थ्यहीन, हीन-वीर्य बना चुके थे । औरंगजेब से शत्रुता लेने का उनमें साहस नहीं था । वे इस विषय में अपनी अस्वीकृति देते गये । विक्रम सिंह ने आत्म-रक्षार्थ बेटी का बलिदान स्वीकार कर लिया उसने औरंगजेब का आदेश स्वीकार कर लिया ।

चारुमती ने फिर भी साहस नहीं छोड़ा । उसने विचार किया तो उसे एक राह सूझ गई । तत्कालीन हिन्दू राजाओं

में एक राजा उसे ऐसा दिखाई दिया जो उसकी रक्षा करके धर्म और स्त्री-गौरव की रक्षा कर सकते थे । वह थे मेवाड़ के राणा राजसिंह । उसने उन्हें एक पत्र लिखा जिसमें अपने ऊपर आने वाले संकट का वर्णन था और उनसे अपने उद्धार करने की प्रार्थना की गई थी । उसने अपने पिता की तरह संकीर्ण बुद्धि नहीं रखी । पत्र अपने विश्वस्त राज पुरोहित के हाथ उदयपुर भिजवा दिया ।

राणा राजसिंह ने जब पत्र पढ़ा तो वे चारुमती को उस नर-पशु की वासना का शिकार होने से बचाने के लिये सहमत हो गये ।

उन्होंने अपने सरदारों को बुलाया । उनसे मंत्रणा की । सभी सरदार सहमत थे कि राजकुमारी की रक्षा करना हमारा धर्म है । मेवाड़ भी यदि मर्यादा की रक्षा नहीं करेगा तो और कौन करेगा । महाराणा अपने इन सरदारों पर बड़े प्रसन्न हुए । उनका मस्तक गर्व से ऊँचा उठ गया, साहस द्विगुणित हो गया । न सही मेरे पास विशाल सेना, न सही मेरे पास गोला-बारूद, न सही मेरे पास तोपें और बंदूकें । मेरे सरदार जो मेवाड़ की आन व निर्बलों की रक्षा के लिए प्राण हथेली पर लेकर जूझते हैं ये इन जड़ वस्तुओं से कम नहीं हैं । सत्य का सहारा क्या मेरे लिए कम है । जब तक जी सकते हैं शान से जीयें, मनुष्य की गौरव गरिमा से जीयें, अन्याय से संघर्ष करके जीयें और संघर्ष करते हुए वीर की मृत्यु भरें । अन्यायी कितना ही बड़ा और शक्तिवान क्यों न हो ईश्वर उसके साथ नहीं होता अतः उसे हारना ही पड़ता है ।

अपनी सैन्य-शक्ति तथा सम्पदा का औरंगजेब को गर्व था । इसके बल पर उसने कई राजाओं से अपनी गलत इच्छायें भी पूरी करा ली थीं । वह समझता था कि सौ गाँवों का एक छोटा-सा रूपनगर राज्य भला उसकी विशाल वाहिनी के आगे क्या टिकेगा । विक्रम सिंह ने जब अपनी बेटी उसे ब्याहना स्वीकार कर लिया तो वह फूला न समाया । उसे क्या पता था कि अन्याय तभी तक फूलता-फलता है जब तक उससे संघर्ष, विरोध करने कोई खड़ा नहीं होता ? पर जब छोटा सा संगठन भी सम्पूर्ण मनोयोग व तन, मन और धन से इसके विरोध में खड़ा हो जाता है तो अन्याय चल नहीं सकता ।

उसने अपनी विशाल सेना मुबारक बेग के सेनापतित्व में रूपनगर भेज दी । राणा राजसिंह भी सतर्क थे । उन्होंने ऐसी योजना बनाई की साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे । मेवाड़ को धन जन की हानि भी न हो और राजकुमारी की रक्षा भी हो जाय । वे राजस्थान के चप्पे-चप्पे से परिचित थे । दिल्ली से रूपनगर आने का एक ही मार्ग था । उस मार्ग पर एक सँकरे स्थान पर अपनी सेना की एक छोटी सी टुकड़ी चुन्डावत सरदार की कमान में

वहाँ औरंगजेब की सेना को रोकने के लिए भेज दी। स्वयं ५० सैनिक साथ ले वेष बदलकर रूपनगर जा पहुँचे तथा युक्ति से चारुमती की डोली उदयपुर लेकर चले आये।

उदयपुर आकर राजसिंह ने चारुमती से कहा “आप जी चाहे जब तक हमारे संरक्षण में रहें, हमारे जीवित रहते औरंगजेब आपकी ओर आँख उठा कर भी नहीं देख सकता।” चारुमती मन में उन्हें अपना पति स्वीकार कर चुकी थी उसने उन्हें अपना मन्तव्य बता दिया। इस पर राणा ने कहा “हमारे विवाह का आदर्श काम तृप्ति नहीं है। आप स्वेच्छा से मेवाड़ की महारानी बनना चाहती हैं तो आपका स्वागत है। आप पर हमने किसी प्रकार का अहसान नहीं किया, यह तो हमारा धर्म था।”

राजकुमारी चारुमती के मन मंदिर में राजसिंह की मूर्ति देवता की भाँति स्थापित हो चुकी थी। ऐसे नर केसरी सा पति उसे अन्यत्र कहाँ मिल सकता था? उसने मेवाड़ की महारानी बनना स्वीकार कर लिया।

औरंगजेब को जब अपनी सेना की असफलता का समाचार मिला तो वह आपे से बाहर हो गया। उसने मेवाड़ को समूल नष्ट कर देने की ठान ली। अपनी सेना के चार भाग करके मेवाड़ को चारों ओर से घेरने के लिए वह स्वयं दिल्ली से चल पड़ा।

राजसिंह को इसकी आशंका पहले से ही थी। उसके स्वागत की तैयारी वे पहले से किये बैठे थे। प्रकृति ने उन्हें पहले ही वरदान दे रखा था। मेवाड़ राज्य के चारों ओर पर्वत श्रेणियों का परकोटा खिंचा था जिसमें आगे केवल चार मार्ग थे। ये चारों सँकरे दर्रे थे। उन पर रण-बाँकुरे जवानों और मातृभूमि के लिए प्राण न्योछावर करने वाले तीर कमानधारी आदिवासी भीलों के द्वारा मोर्चाबंदी कर ली गई।

मुगल सेना को दर्रे में प्रवेश करने देकर दोनों तरफ से दर्रे के मुँह बड़े-बड़े पत्थरों से बन्द कर दिये और ऊपर से पत्थरों की वर्षा की गई सो आधी सेना तो खत्म हो गई शेष में से बहुत सारे भीलों के तीर व राजपूतों की तलवार से मौत के घाट उतर गये इस युद्ध में औरंगजेब भी बुरी तरह घायल हुआ। सारी मुगल सेना तितर-बितर होकर भाग खड़ी हुई।

किसी प्रकार गिरते-पड़ते औरंगजेब अपनी सीमा में आ सका। इतनी बुरी हार की कल्पना भी उसने नहीं की थी।

राजसिंह जानते थे कि औरंगजेब फिर आक्रमण करेगा जिससे इसकी तैयारी उन्होंने पहले ही करली थी। उन्होंने अब की बार पहले वाली युद्ध-नीति नहीं अपनाई। उससे औरंगजेब परिचित हो चुका था।

दिल्ली जाकर औरंगजेब ने फिर सेना का संगठन किया और स्वयं अपने परिवार सहित और खजाने सहित उसके साथ चल पड़ा। विलासी और असंयमी पुरुष चाहे कितनी ही सम्पदा और शक्ति का धनी हो पर संयम का बल उसके पास नहीं होता, जो व्यक्ति अपनी बेगम से कुछ

महीने भी दूर न रह सके, युद्ध क्षेत्र में भी जिसे विलास की तलाब लगी रहे भला वह राजसिंह जैसे संयमी व चरित्रवान पुरुष से क्या जीत सकता था।

ज्यों ही देवारी की सँकरी राह से वह विशाल वाहिनी गुजरी किसी ने प्रतिरोध नहीं किया। औरंगजेब हैरान हो गया। मेवाड़ सारा वीरान पड़ा था। न किसी खेत में फसल न गाँव में मनुष्य। उदयपुर सूना पड़ा था महल भी सुने पड़े थे। क्या हुआ? सब कहाँ गये? किससे लड़े। उसका क्रोध निर्जीव मन्दिरों व मूर्तियों पर उतरा।

वह वापस लौट पड़ा देवारी की सँकरी राह से सारी सेना बाहर निकल गई, पीछे रह गई रसद और बेगमों की पालकियाँ। वहीं छिपे हुये महाराणा की सेना ने उन पर अधिकार कर लिया और उदयपुर लेकर चले गये। औरंगजेब चूहेदानी में फँस चुका था न खाने को रसद और न पीने को पानी ही उजाड़ वन में था। शेष सेना बाहर निकल चुकी थी और उसे घाटी में फँसाकर दोनों तरफ से बन्द कर दिया गया था।

सैनिक भूखों मरने लगे। पर्वत पर भील तीर कमान लिये खड़े थे। मेवाड़ के द्वार पर रणबाँकुरे राजपूत दीवार बन कर अड़े थे। औरंगजेब इतना निराश हो गया कि वह अपमानजनक संधि करने पर विवश हो गया। उसने कभी मेवाड़ पर आक्रमण न करने का वचन दिया।

बेगम व जेबुन्निसा शहजादी को उदयपुर में वन्दिनी के रूप में कई दिनों तक रहना पड़ा। संधि की यह भी शर्त थी कि औरंगजेब के दिल्ली पहुँचने पर ही उन्हें भेजा जाएगा। उनके साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार नहीं किया गया - सम्मान सहित रखा गया।

औरंगजेब ने तीसरी बार भी मेवाड़ पर आक्रमण किया पर इस बार भी उसे असफल होना पड़ा। वह शिवाजी व राजसिंह से इतना परेशान हो चुका था कि उसका जीना कठिन हो गया था। उसकी सारी जिन्दगी इसी में बीत गई। सत्य है जो व्यक्ति दूसरों को दुःख देना ही चाहता हो वह स्वयं सुखी कैसे हो सकता है?

महाराणा राजसिंह सदा-सर्वदा सत्य-पथ के पथिकों को, अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने वालों को प्रेरणा, प्रकाश देते रहेंगे। अन्याय का प्रतिकार करने के लिये थोड़े ही सही संघबद्ध रूप से प्रतिकार होते रहेंगे तथा धर्म की पुनर्स्थापना ऐसे ही साहसी योद्धा अपने बुद्धि-बल से करते रहेंगे।

लुटेरे गजनवी का मानमर्दन करने वाले

राजा संग्राम राज

विभूतियों के स्वामी की चित्त-वृत्तियाँ कुमार्ग पर चल पड़ीं तो सर्वनाश उपस्थित हो गया। वह स्वयं न जीवन भर चैन से सोया न करोड़ों को उसने चैन की नींद सोने दिया। उसने भौतिक सम्पदा से सुख पाना चाहा। ज्यों-ज्यों धन मिलता गया त्यों-त्यों उसकी भूख बढ़ती गई। उसका

२.३ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

दीन-ईमान केवल पैसा रह गया, पैसे के भूखे हजारों नर पशुओं की विशाल वाहिनी सजा कर वह एशिया भर में लूट मचाने लगा। जिधर उसका रुख फिर जाता उधर कितने ही गाँव श्मशान बन जाते, जीवन-मृत्यु में और मुस्कान आँसू में बदल जाती।

गजनी का यह दुर्दान्त दैत्य-लुटेरा महमूद गजनवी सत्रह बार भारत में लूट-मार करने आया। कई बार वह अकूत धन सम्पदा लूटकर ले गया। उसकी इस सफलता का अर्थ यह नहीं था कि भारत में सभी मिट्टी के पुतले ही रहते थे। वीरता तथा बुद्धि कौशल में भारतीय नरेश उससे कम नहीं थे न कायर ही थे। ऐसे नर-रत्नों की कमी नहीं थी जिन्होंने उसके एक बार नहीं तीन बार दाँत खट्टे किये थे। उसे पराजय का मुँह ही नहीं देखना पड़ा वरन् ज्ञान बचाकर भागना पड़ा था। ऐसे ही पराक्रमी राजाओं में काश्मीर के राजा संग्राम राज का नाम अग्रणी है।

राजा क्षेमगुप्त की मृत्यु के पश्चात् काश्मीर राज्य के सिंहासन पर रानी दिद्वा बैठी। रानी वीरता, शौर्य, प्रबन्ध कौशल, धैर्य जैसे अनेक गुणों की स्वामिनी थी। उसने आजीवन काश्मीर के शासन को सुव्यवस्थित रूप से चलाया। मनुष्य में हजार गुणों के साथ एक अवगुण हो तो वह सब पर पानी फेर देता है। उसकी कीर्ति कलंक उस कालिमा से धूमिल हो जाती है। रानी दिद्वा का चरित्र शिथिल था। कामुकता के घृणित दोष के कारण वह निंदा की पात्र ही नहीं बनी वरन् वह ऐसे दुष्कर्म भी कर बैठी जो माँ होकर कोई नहीं कर सकती। वह पतन के मार्ग पर चलकर इतनी नीचे गिरी कि उसने अपने पुत्रों तथा पौत्रों का वध करवा दिया।

चार दिन की जवानी के बाद बुढ़ापा आया। मृग तुष्णा की तरह मन की हविस तो ज्यों की त्यों थी। भला आग में घी डालने से कभी वह बुझी है? संयमहीन जीवन कभी सुख का हेतु नहीं होता। उसने अपने पिछले जीवन का सिंहावलोकन किया तो उसके पापों के पहाड़ के नीचे अपनी आत्मा को सिसकते पाया। अपनी भूलों पर वह फूट-फूट कर रोयी। अब क्या हो सकता था। उत्तराधिकारी के लिए उसे अपने भाई उदयराज के आगे झोली फैलानी पड़ी।

राजा उदयराज के कई पुत्र थे। उनमें से एक को उसे अपना उत्तराधिकारी चुनना था। सब राजकुमारों को उसने अपने यहाँ बुलाया तथा उनकी परीक्षा ली। एक सेवों से भरा टोकरा उसने उन राजकुमारों के बीच रखा तथा कहा कि जो सबसे अधिक सेव लेकर उसके पास आयेगा उसी को वह अपना उत्तराधिकारी चुनेगी। शेष सब राजकुमार अधिक सेव लेने के लिये लड़ने लगे। संग्राम राज चुपचाप खड़ा रहा। वे लड़ने में व्यस्त थे कि मौका देखकर वह सबसे ज्यादा सेव उठाकर रानी के पास जा पहुँचा।

संग्राम राज युवराज घोषित किया गया। युवराज बन जाना एक बात थी और उसकी पात्रता उत्पन्न करना दूसरी

बात। संग्राम राज ने एक योग्य राजा की पात्रता विकसित करना आरम्भ कर दिया। वह युद्ध कला, शासन-प्रबन्ध, नीतिशास्त्र, धर्म शास्त्र आदि विद्याओं में पारंगत हो गया।

१००३ में रानी दिद्वा की मृत्यु हो गयी। संग्राम राज सिंहासनारूढ़ हुए। काश्मीर राज्य की स्थिति उस समय अत्यन्त जर्जर हो चली थी। प्रजा की श्रद्धा रानी की चरित्रहीनता के कारण शिथिल हो चुकी थी। सेनापति तुंग योग्य, साहसी तथा प्रचण्ड योद्धा था। परन्तु उसे स्वयं पर बड़ा गर्व था साथ ही वह भी रानी दिद्वा की तरह ही शिथिल चरित्र कामुक था। इसके विरुद्ध प्रजा में असंतोष उमड़ रहा था।

इन्हीं दिनों गजनी के लुटेरे दैत्य महमूद गजनवी के आक्रमण होने आरम्भ हो गये थे। वह दो बार पंजाब को पदाक्रांत कर चुका था। राजा जयपाल अपनी हार से इतना दुखित हुआ कि उसने आत्म-हत्या कर ली। महमूद के आक्रमण का काश्मीर राज्य को भी भय था। सारा उत्तर भारत संगठन के अभाव में भयाक्रांत हो रहा था जिसकी लहर काश्मीर तक पहुँच चुकी थी।

इन विकट परिस्थितियों में राजा सिंहासन काँटों की सेज बना हुआ था। इस काँटों की सेज को संग्राम राज ने स्वीकार किया। उसने धीरज से काम लिया। राज्य में शांति बनाये रखने के लिये उसने प्रजा के प्रतिनिधियों को अपने पास बुलाकर उनसे मंत्रणा की। वे तुंग को सेनापति पद से हटाना चाहते थे। राजा संग्राम राज अपनी बुआ को वचन दे चुका था कि वह तुङ्ग का कोई अनिष्ट नहीं होने देगा पर प्रजा के सच्चे आग्रह को उसने स्वीकार कर के तुङ्ग को सेनापति के पद से हटा दिया। उसने वचन नहीं विवेक का ध्यान रखा तथा प्रजा को सुशासन दिया।

प्रजा पर उन दिनों ब्राह्मण वर्ग का प्रभुत्व था। ब्राह्मण के हाथों में होना आवश्यक भी है किन्तु जब जाति का आधार कर्म न रहकर जन्म मान लिया तब समाज में विशृंखलता आना प्रारम्भ हो गया। ये तथाकथित ब्राह्मण संग्राम राज के लिये सिर दर्द बन गये। उन्होंने पदच्युत सेनापति तुङ्ग के महल में एक ब्राह्मण का दाह-कर्म करने का प्रपंच रचा। राज कलश इन सिरफिरो का नेता था। उसने यह निर्णय दिया। मृतक तुङ्ग के अत्याचारों से मरा है अतः उसे उसके महल में ही जलाया जायेगा। जनता इन तथाकथित धर्म के ठेकेदारों से आतंकित थी। संग्राम राज ने देखा कि पानी अब सिर से ऊपर चढ़ आया है। प्रजा उसके पक्ष में थी। उसने इन प्रपंच रचने वालों को पकड़ कर यह कुकृत्य बन्द कराया।

१००९ में महमूद फिर पंजाब पर चढ़ आया था। राजा अनङ्गपाल ने उसका मुकाबला किया तथा उसे पीछे हटने को विवश कर दिया। अनङ्गपाल की विजय निश्चित थी पर उसका हाथी बिगड़ गया जिसका परिणाम यह हुआ कि वह हार गया। महमूद ने जी भर कर लूट मचाई, गाँव जलाये, मंदिर तोड़े।

यह खबर जब काश्मीर पहुँची तो संग्राम राज बहुत दुःखी हुए। उन्होंने संकल्प लिया कि अब जब भी वह पंजाब पर आक्रमण करेगा काश्मीर उसकी जी-जान से सहायता करेगा। राज्य में आंतरिक विग्रह नहीं उठ खड़े होते तो वह भारत के सब राजाओं को एक सूत्र में पिरो कर अपने राष्ट्र के धर्म तथा संस्कृति की रक्षा के लिये एक सुदृढ़ दीवार खड़ी करता। उन्होंने अन्य राजाओं के पास अपने दूत भी भेजे। उन दूतों ने उन्हें यही संदेश दिया कि व्यक्तिगत मिथ्याभिमान से ऊपर उठकर हम संगठित होकर ही इस प्रकार के आक्रमणकारियों को सबक सिखा सकते हैं।

शासन सूत्र ग्रहण करते ही संग्राम राज ने अपनी सेना को सुव्यवस्थित किया, दुर्गों की मरम्मत करवाई तथा सेना वृद्धि की। नियमित अभ्यास प्रशिक्षण की व्यवस्था बनाई।

उनका विश्वास था कि मनुष्य में 'सद्मार्ग' पर चलने की स्वाभाविक इच्छा होती है। यदि इस प्रवृत्ति को निरन्तर पुष्ट किया जाता रहे तो मनुष्य कैचाइयों के शिखर पर चढ़ता जाता है। इसमें ढिलाई बरतने पर बिना मौजे बर्तन की तरह वह मैला भले ही हो जाय पर उसकी वह वृत्ति मरती नहीं है। इस विश्वास के कारण ही वह सेनापति तुङ्ग तथा महारानी दिदा को अपने अनुकूल चला सका था। तुङ्ग को अपदस्थ करने पर भी उसके प्रति संग्राम राज के व्यवहार तथा आत्मीयता में कोई कमी नहीं आयी तथा तुङ्ग उसका विरोधी नहीं बना।

१०१४ में महमूद गजनवी फिर पंजाब पर चढ़ आया। उस समय अनङ्गपाल का पुत्र त्रिलोचनपाल वहाँ का शासक था। संग्राम राज ने तुङ्ग के नेतृत्व में एक विशाल सेना उसकी सहायता के लिये भिजवा दी। दोनों सम्मिलित सेनाएँ जब उस लुटेरे से भिड़ीं तो उसे छटी का दूध याद आ गया। वह इन वीरों का मुकाबला नहीं कर पाया। महमूद के पाँव उखड़ गये।

लुटेरे की न कोई नीति होती है न कोई मर्यादा। वह कुछ समय के लिये पीछे हट गया, काश्मीर की सेना के लौटते ही असावधान त्रिलोचनपाल पर चढ़ बैठा। जिसका परिणाम यह हुआ कि त्रिलोचनपाल हारा और उसे काश्मीर में संग्राम राज के संरक्षण में आना पड़ा।

गजनवी काश्मीर पर पहले ही दाँत पीस रहा था। वह चोट खाये साँप की तरह भयानक हो उठा था। वह तोपी नदी को पार करके काश्मीर की ओर बढ़ा। उसे क्या पता था कि वहाँ संग्राम राज उसकी प्रतीक्षा में ही बैठा है। अब तक उसका शूरवीरों से तो पाला पड़ा था पर एक चरित्र-बल सम्पन्न विवेकवान शूरमा से भिड़ने का यह प्रथम अवसर था।

एक समय इसी पथ से चीनी यात्री ह्वेनसाँग भारत आया था। ह्वेनसाँग आत्मा की प्यास, ज्ञान की भूख से प्रेरित होकर आया था। भारतीय सभ्यता, संस्कृति तथा आत्म-विज्ञान को पाकर वह धन्य हो गया। अमीर

कहलाने वाला यह डाकू धन की प्यास लेकर आया और जीवन भर अतृप्ति की आग में झुलसता रहा। अन्त समय उसे अपनी भूल ज्ञात हुई तथा उसने उसे स्वीकार किया। अपने खाली हाथ उसने जनाजे के बाहर रखवाए ताकि ऐसी भूल फिर कोई न करे।

संग्राम राज तथा त्रिलोचन पाल दोनों अपनी सेना सहित लोहर के दुर्ग में पहुँच गये तथा मोर्चेबन्दी कर ली। लोहर का अजेय दुर्ग सामरिक महत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण था। यही नाका था जहाँ से काश्मीर में प्रवेश होता था। इसे दरें को पार करके पूँछ घाटी में प्रवेश किया जाता था।

ज्यों ही गजनवी की विशाल लुटेरों की भीड़-बहुत बढ़ी सेना किले के पास आयी। भारतीय वीरों के वाणों की भीषण वर्षा ने उसका रास्ता रोक दिया गया। दो महीने तक यह सेना आगे न बढ़ सकी। फिर ठंड का मौसम आ गया। काश्मीर की घाटियाँ बर्फ से जम गयीं और गजनवी चूहेदानी में फँस गया।

उसे भूखे-प्यासे आधी से अधिक सेना गँवाकर वापस लौटना पड़ा। लौटते तुकों पर भारतीय सिंह झपट पड़े और उन्हें पीर पंजान तक खदेड़ आये, जहाँ मृत्यु उनके लिए आँखे बिल्लाए बैठी थी। बड़ी कठिनाई से गजनवी अपना सा मुँह लेकर खाली झोली अपनी राजधानी को लौट सका।

गजनी जाकर फिर उसने लुटेरों की एक सेना इकट्ठी की। सोने की चिड़िया भारतवर्ष आकर लुटने के लिए भूखे नंगे बबर्लों की कमी क्या थी फिर १०२१ में वह काश्मीर पर चढ़ आया। इस बार इसने पूरी तैयारी के साथ काश्मीर पर आक्रमण किया। उसकी राह वही पुरानी राह थी। कोपा पार करके फिर लोहर दुर्ग को जीतने के सपने सजाये वह आ पहुँचा। इस बार भी उसे हार खानी पड़ी तथा खाली हाथ अपनी सेना गँवाकर भाग खड़ा होना पड़ा। इस बार घेरा पूरे सात महीने तक चला। फिर ठंड और भूख ने गजनवी की तीन चौथाई सेना को लील लिया।

यही नहीं संग्राम राज अन्य अरबों के आक्रमणों के समय भी चट्टान बनकर भारत की सीमा पर अड़ा रहा। अपने देश, धर्म व संस्कृति की रक्षा के लिये उसने अपना पूरा जीवन अर्पित कर दिया। इस प्रकार के व्यापक प्रयत्न यदि अत्याचारी, लुटेरों तथा अन्यायियों के विरुद्ध होते रहें तो वे कभी सिर उठाने का साहस नहीं कर सकते। राजा संग्राम राज ने ठेठ सिन्धु में जाकर अरबों के विरुद्ध युद्ध किया तथा उन्हें वापस खदेड़ा।

इतिहास साक्षी है कि कुमार्ग पर चलने वाले महमूद की सफलता का कारण उसकी शक्ति नहीं थी उसकी सफलता के कारण ये भारतीय राजाओं की आपसी फूट तथा उनका अहंकार। संग्राम राज के आवाज देने पर कोई साथी नहीं आये। इससे वह निराश नहीं हुआ। अकेले ही लड़ा। लड़ा ही नहीं उसे तीन बार पराजित करके खदेड़ा। आदर्शों के पथ पर कर्तव्य तथा लोकमंगल व राष्ट्र की रक्षार्थ अकेले भी उनकी तरह लड़ा जा सकता है तथा विजय पायी जा सकती है।

स्वातन्त्र्य सेनानी—

नाना साहब पेशवा

१८२९ पेंशन प्राप्त पेशवा बाजीराव ने अपनी वसीयत लिखी। इस वसीयत के अनुसार पेशवा की पेंशन तथा सम्पूर्ण सम्पत्ति का उत्तराधिकार उनके दत्तक पुत्र नाना साहब को मिलने वाला था। उस समय तो अँग्रेज अधिकारियों ने इस वसीयत का विरोध नहीं किया। १८५२ में पेशवा की मृत्यु हो गई तब अँग्रेजों ने इस वसीयत को अमान्य ठहराया।

नाना साहब गरीब माता-पिता की संतान थे। उन्हें अँग्रेजों की पेंशन का लोभ नहीं था किन्तु अँग्रेजों की यह अनीति उन्हें अच्छी नहीं लगी। स्वार्थ के लिये नहीं अन्याय के प्रतिकार को अनिवार्य समझकर वे अपना यह अधिकार पाने का प्रयास करने लगे। १८१७ में लार्ड हेस्टिंग्स तथा पेशवा बाजीराव की जो संधि हुई थी उसकी शर्त थी कि पेशवा के राज्य का प्रबन्ध अँग्रेज सम्हालेंगे तथा पेशवा तथा उसके उत्तराधिकारी को ८ लाख रुपये पेंशन के रूप में देते रहेंगे। इस शर्त के अनुसार नाना साहब को पेंशन पाने का पूरा अधिकार था।

अँग्रेज पदाधिकारियों से पेशवा नाना साहब ने अपने अधिकारों की माँग की। कम्पनी ने उनकी इस माँग को ठुकरा दिया। अँग्रेजों ने इसी प्रकार अधिकांश भारतीय राजाओं को धोखा देकर उनके पास से राज्याधिकार छीन कर उन्हें पंगु बना दिया था। इस प्रकार के विश्वासघाती को दण्ड देने के लिए नाना साहब कृत संकल्प हो गये। अँग्रेजों के पास हुकूमत थी, बड़ी सेना थी, उनके सहायक भी बहुत थे उनके सामने नाना साहब की कुछ भी स्थिति नहीं थी। वह कानपुर के पास बिदूर में रहते थे। उनके पास केवल पाँच हजार सैनिक थे। इतनी बड़ी ताकत से टकराना अपने विनाश को बुलाना था। नाना साहब को विनाश का भय नहीं था। अन्याय का प्रतिकार मानव मात्र का धर्म होता है, इस धर्म से विमुख होकर जीना-क्या जीना है वह तो मृत्यु से भी बदतर जीवन है।

नाना साहब ने अँग्रेजों से लड़ने की ठान ली। उन्हें आशा नहीं थी कि उन्हें बिना लड़े न्याय मिल जायेगा फिर भी वे समझौते का प्रयास करते रहे। अपने प्रतिनिधि अजीमुल्ला को उन्होंने इंग्लैण्ड भेजा। इंग्लैण्ड जाकर अजीमुल्ला ने सम्राट की अदालत में कम्पनी के इस अन्यायपूर्ण निर्णय के विरुद्ध अपील की। यह अपील खारिज हो गई तथा कम्पनी के अधिकारियों का निर्णय ही मान्य रहा। नाना साहब ने अँग्रेज पदाधिकारियों से भी व्यक्तिगत प्रयासों के माध्यम से अपना निर्णय बदलवाने का प्रयास किया पर अँग्रेज नहीं माने।

अजीमुल्ला इंग्लैण्ड से असफल होकर लौटा। नाना साहब ने उससे कहा कि “मुझे यही आशा थी कि यह

अपील मंजूर नहीं होगी।” अँग्रेज समझते हैं कि भारत के सभी राजा पंगु हो चुके हैं किन्तु अब वे ही देखेंगे कि अभी भी उनमें अन्याय का प्रतिकार करने की क्षमता है।

नाना साहब ने देशव्यापी क्रान्ति की योजना बनाई। अँग्रेजों का जो नग्न रूप नाना के सामने आया था उससे भारत के राजा तथा प्रजा दोनों कभी ग्रसित हो चुके थे। नाना साहब जानते थे कि अब तक कोई व्यक्ति साहस करके आगे नहीं आया था इस कारण वे चुप बैठे हैं पर यदि उन्हें जगाकर एक सूत्र में पिरोया जाय तो वे इस विदेशी शासन को उखाड़ कर फेंक सकने में समर्थ होंगे। आज तक प्रत्येक राजा अपने स्वार्थ के लिए ही लड़ा था। न तो उसमें राष्ट्र के एकत्व की भावना थी, न अन्य नरेशों का सहयोग ही मिला था। अँग्रेजों को भी वह अपनी ही तरह एक नरेश भर मानते चले आ रहे थे। नाना अब उनको अँग्रेजों का वास्तविक रूप बताने वाले थे, जो महा भयानक था।

न्याय के पक्ष में लड़ने वाले असफलता के भय से अपने निर्णय को स्थगित नहीं करते। उनके सामने तो एक ही लक्ष्य होता है अन्याय का प्रतिकार। अन्याय सहना अन्याय करने से कई गुना बड़ा अपराध है। इसका यह अर्थ नहीं कि नाना साहब की योजना सुनियोजित न थी। नाना साहब ने अँग्रेजों के विनाश के लिए सुनियोजित क्रान्ति का ताना-बाना बुना। उन्होंने अँग्रेजों के अत्याचारों तथा घृणित उद्देश्यों को बताते हुए भारतीय नरेशों को उनके विरुद्ध क्रान्ति करने के लिए संगठित होने के लिए आह्वान किया। जनता में प्रचार करने के लिए गुप्त वेशधारी प्रचारक भेजे। भारतीय सैनिकों में देशभक्ति जगाने के लिये संदेश वाहक भेजे।

अन्याय तब तक ही फलता-फूलता है जब तक उसका प्रतिकार करने के लिए कोई संगठन उठ खड़ा नहीं होता। अँग्रेज भारतियों को मरा हुए समझे बैठे थे। उन्हें क्या पता था कि उन्हें जिस क्रान्ति का पता नहीं है, सुनियोजित ढङ्ग से कोई उसका सूत्र संचालन कर रहा है। देखते ही देखते नाना साहब को पत्रों के उत्तर प्राप्त होने लगे। नाना साहब को अब पता लगा कि व्यक्ति अपने विचारों से ही छोटा और बड़ा होता है। कल तक वे पेंशनयाप्ता राजा भर थे पर आज वे भारत के स्वातन्त्र्य संग्राम के दृष्टा हैं कितने ही नरेश उनकी योजना के अनुसार काम करने को तत्पर हो उठे। अँग्रेजों ने यदि उसके पौरुष को चुनौती नहीं दी होती तो आज वे इस प्रकार लोगों की श्रद्धा के पात्र नहीं बन सकते थे।

नाना साहब इस क्रान्ति के सूत्रधार बने। इस काम में अजीमुल्ला ख़ाँ उनका दाहिना हाथ बना। यह प्रथम प्रयास था जबकि हिन्दू-मुसलमानों ने सम्प्रदाय भेद को मिटाकर भारत की मुक्ति के लिए संगठित रूप से प्रयास किया। अँग्रेज, इतिहासकार सर जान के इस कथन से “क्रान्ति के लिये किये गये प्रयासों की व्यापकता का दर्शन होता है।” महीनों से नहीं वर्षों से अँग्रेजी राज्य के विरुद्ध

समस्त देश में क्रान्ति की आग लगाई जा रही थी। नाना साहब के दूत क्रान्ति की आग भड़काने वाले पत्रों को लेकर सारे देश में घूम रहे थे। बड़ी सावधानी तथा दूरदर्शी के साथ इन पत्रों में लोगों को समझाने की बातें लिखी होती थीं। देश के भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों और परस्पर विरोधी नरेशों तथा नबावों को बड़ी समझदारी के साथ उद्देश्य की पूर्ति के लिए तैयार किया जाता था।

इस क्रान्ति के सूत्र संचालन के लिये नाना साहब ने दिन रात एक कर दिये। एक तरफ क्रान्ति के लिए जनता तथा राजाओं को उकसाया जा रहा था दूसरी तरफ अँग्रेजों के साथ नाना का व्यवहार भी मैत्रीपूर्ण होता जा रहा था। जब कई राजा, नबाव इसके लिए सहमत हो गये तब वह अजीमुल्ला के साथ उनसे बात चीत करने के लिए तीर्थ यात्रा के बहाने सारे देश में भ्रमण के लिए निकले। जहाँ भी ये गये इनका हार्दिक स्वागत हुआ। अँग्रेज पदाधिकारियों से मिलना नाना साहब नहीं भूले। जहाँ भी जाते वहाँ इनसे अवश्य मिलते।

इस क्रान्ति के लिए कितना प्रचार किया गया था यह इस बात से ही स्पष्ट हो जाता है कि जनता में अँग्रेजी शासन को उखाड़ फेंकने के लिए इतना जोश उत्पन्न हो चुका था कि वह निश्चित समय के पूर्व ही भड़क उठी। क्रान्ति की तिथि ३१ मई तय थी पर यह ६ मई को ही आरम्भ हो गई थी। यह तिथि मुख्य-मुख्य लोगों को ही बताई गई थी। साधारण जनता को तो प्रतीक्षा करने को ही कहा गया था।

एक साथ एक ही दिन सारे भारत में क्रान्ति होने वाली थी। इसी तिथि पर यदि यह क्रान्ति होती तो अँग्रेजों को सम्भलने का मौका नहीं मिलता। बैरकपुर के सैनिकों के विद्रोह ने समय से पूर्व ही इसे आरम्भ कर दिया। दूसरे क्रान्तिकारी भी चुप नहीं रह सके। भिन्न-भिन्न स्थानों पर अलग-अलग तिथियों को क्रान्ति हुई। असमय क्रान्ति के फूट पड़ने पर भी लोगों ने अँग्रेजों को दिन में तारे दिखा दिये। अँग्रेज परिवारों को जान बचाकर अपने देश भागना कठिन लग रहा था।

कानपुर में क्रान्ति की खबरें आ पहुँची। अँग्रेज लोग भय से पीले पड़ गये। उन्होंने इस देश को जी भरके लूटा था, अत्याचार किये थे, भारतवासियों को अपमानित किया था। उनके कुकर्म ही आज क्रान्ति बनकर उन्हें डसने आ रहे थे। क्रान्ति इस ढङ्ग से नियोजित की गई थी कि इसकी सूचना नाना साहब के साथियों को पहले मिल जाती थी उसके दो तीन दिन बाद अँग्रेजों को पता लगता था।

नाना साहब अब ३१ मई की प्रतीक्षा नहीं कर सके। उन्होंने कानपुर पर आक्रमण कर दिया। विप्लवी सैनिक टुकड़ियाँ उनसे आ मिली थीं। उन्होंने देखते ही देखते खजाने तथा गोला-बारूद पर अधिकार कर लिया। अँग्रेज सेनापति हिलर को भागकर किले में शरण लेनी पड़ी।

कुछ दिनों किले के सहारे रहा पर नाना के आगे वह ठहर न सका। उसे आत्म-समर्पण कर देना पड़ा। कानपुर पूरी तरह नाना के अधिकार में आ गया था। दिल्ली तथा अन्य स्थानों पर पहले ही क्रान्तिकारियों का अधिकार हो चुका था।

नाना साहब के पिता धर्म-निष्ठ ब्राह्मण थे। बाल्यकाल से ही उन्होंने हिन्दू धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया था। गीता उनका प्रिय धर्म-ग्रन्थ था। वीर पूजक नाना के बचपन में ही शिवाजी आदर्श रहे। यह युद्ध उनके दैनिक नित्यकर्म की तरह ही था। इस धार्मिक विश्वास से उन्हें जो बल मिला उसी का परिणाम था कि नाना साहब ने दुःख कष्टों की परवाह नहीं की तथा राष्ट्र में नवीन प्राण फूँके।

२० जून, १८५७ कानपुर के सत्ती चौरा घाट पर ४० नावें गंगा तट से लगीं। उनमें अँग्रेज परिवारों को बिठाकर इलाहाबाद भेजा जाने वाला था सेनापति हिलर को नाना ने हाथी पर बैठकर विदा होने का आग्रह किया पर वह राजी न हुआ। सेनापति नाना साहब ने सच्चे मानव की भूमिका निभाई। शत्रु के साथ भी मानवीय व्यवहार किया। जनरल नील के अत्याचार की खबरें कानपुर तक आ पहुँची थीं। भारतीय अँग्रेज परिवारों को इस प्रकार सुरक्षित जाते देखकर क्रुद्ध हो उठे। नाना साहब को यह ज्ञात हुआ तो वे तत्काल वहाँ पहुँचे, उन्होंने स्त्रियों व बच्चों की रक्षा की तथा सुरक्षित स्थान पर पहुँचाया।

नाना साहब ने तीन महीने तक कानपुर को अपने अधिकार में रखा। ये तीन महीने कानपुर की जनता के गौरव का समय था। न्याय तथा सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध नाना साहब ने किया।

अँग्रेजों की कूटनीति तथा उत्तम अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित सेना ने इस क्रान्ति को सफल नहीं होने दिया। चंद देश-द्रोहियों ने अपने घृणित स्वार्थ के वश होकर अँग्रेजों की सहायता की। समय से पहले क्रान्ति का फूट पड़ना भी एक प्रमुख तथ्य था नहीं तो सफलता मिलने में कोई अंदेशा नहीं था, पर इस क्रान्ति का परिणाम दूरगामी हुआ। नाना साहब का यह प्रयास अँग्रेजों को भारत से भगाने का शुभारम्भ ही कहा जायेगा।

नाना साहब ने देखा कि अब भारत में रहकर क्रान्ति का संचालन कठिन है। क्रान्तिकारियों के गढ़ एक-एक करके टूटते चले गये तो वे नेपाल की तरफ चले गये। नेपाल नरेश ने इन्हें सहायता देने के बजाय अँग्रेजों को नेपाल प्रवेश की आज्ञा दे दी। साठ हजार स्त्री-पुरुष नाना साहब के साथ नेपाल के भयंकर जंगलों में गये। अँग्रेजी सेना के आक्रमण करने पर उनमें से अधिकांश वापस भारत लौट आये। आजादी के अग्रदूत नाना साहब की छाया भी अँग्रेज न पा सके। पराधीनता की अपेक्षा उन्होंने दुःख-कष्ट सहना स्वीकार किया तथा नेपाल के बीहड़-वनों में उन्होंने अपना शेष जीवन बिताया।

२.७ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

अंग्रेजी शासन के अन्धकार से लड़ने के लिये अकेले दीपों को प्राणवत् करने का जो साहस तथा श्रम नाना ने किया वह एक जीवित जाग्रत महान आत्मा का ही काम था। समाज सुधार के क्षेत्र में आज ऐसी ही जाग्रत आत्माओं को उठ खड़े होने की आवश्यकता है।

१८५७ की क्रान्ति के सर्वोच्च सेनापति— ताँत्या टोपे

गौरवर्ण, छोटी पर मोटी और मजबूत गर्दन के ऊपर गोल-मटोल तेजस्वी मुख, भारी सिर पर अर्ध गोलाकार मखमली रत्नजड़ित लाल टोपी, ओजपूर्ण चमकीली आँखें, मझोले कद के सुझील और गठे हुए शरीर में चकले जैसी छाती, अंग-अंग में विद्युत् सी चपलता और मस्तक पर गहन विचारों की रेखा, यह है हमारे १८५७ के प्रथम स्वातन्त्र्य-संग्राम के सर्वोच्च सेनापति महाबली स्वर्गीय ताँत्या टोपे का चित्र।

ताँत्या टोपे का जन्म १८१४ के लगभग अहमदनगर के येवला नामक गाँव में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता पांडुरंग येवलकर पेशवा बाजीराव के धर्मगुरु थे। ताँत्या टोपे का जन्म का नाम रामचन्द्रराव था। इस जन्मजात क्रान्तिकारी रामचन्द्रराव ने पुरोहिताई में याचक वृत्ति का दूषण देखकर उसे अपनाने में अनिच्छा प्रकट की, उन्हें आरम्भ से ही शास्त्रों की अपेक्षा शास्त्रों से विशेष अनुराग था। बालक की रुचि के अनुकूल शस्त्रविद्या सिखाने का कार्य स्वयं बाजीराव पेशवा ने अपने हाथों में लिया। धीरे-धीरे बालक रामचन्द्रराव की शस्त्र चलाने की असाधारण प्रतिभा मुखरित हो उठी। वर्छा, तलवार, बिछवा आदि अस्त्र-शस्त्र चलाने में उन्होंने अद्भुत कौशल का परिचय दिया। बाण की प्रत्यंचा चढ़ाने में तो वह अद्वितीय थे। एक बार हाथ से निकला तीर कभी व्यर्थ नहीं जाता था। बालक की इस असाधारण प्रतिभा पर मुग्ध होकर बाजीराव पेशवा ने भरी राजसभा में युवक रामचन्द्र राव को एक रत्न जड़ित लाल मखमली टोपी से विभूषित किया और 'टोपे' कहकर पुकारा तभी से बालक रामचन्द्र का नाम ताँत्या टोपे पड़ गया। उस समय इस युवक का मुख बाल रवि की भाँति शोभायमान हो रहा था। पेशवा ने इस अवसर पर आशीर्वाद देते हुए कहा था कि बेटा देश की धरती को एक दिन तुम नापाक फिरंगियों से अवश्य मुक्त कराओगे। इस कार्य में भगवान् तुम्हारी सहायता करेंगे। बस, उसी दिन से रामचन्द्रराव ताँत्या टोपे के नाम से प्रसिद्ध हुए।

१८३७ में देश के अनेक भागों में ईस्ट इन्डिया कम्पनी का शासन स्थापित हो चुका था, अंग्रेजों की स्वेच्छाचारिता और निरंकुशता बढ़ती चली जा रही थी। कम्पनी के अंग्रेज शासकों ने बाजीराव पेशवा को पूना से निर्वासित कर दिया था, इन्हीं के साथ ताँत्या परिवार भी निर्वासित हुआ। इस प्रकार छोटी आयु से अपनी मातृभूमि

को छोड़कर ताँत्या टोपे कानपुर के पास बिदूर (ब्रह्मावर्त) चले आये थे। यहीं सर्वप्रथम झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई और नाना फडनवीस से उनका साक्षात्कार हुआ था। इस समय ताँत्या टोपे की अवस्था लगभग २४ वर्ष, नाना फडनवीस की १६ वर्ष और लक्ष्मीबाई की कुल दस वर्ष की थी। ताँत्या टोपे ने बिदूर के दुर्ग में रानी लक्ष्मीबाई और नाना साहब को शस्त्र विद्या की शिक्षा दी। शस्त्र विद्या के साथ-साथ ताँत्या टोपे ने इन दोनों के अन्दर राजनीति और क्रान्तिकारी भावनाओं का समावेश किया। नकली दुर्ग बनाना, कल्पित सेनाओं पर आक्रमण करना, किलों को तोड़ना, शिकार करना, छापामार युद्ध करना आदि में ताँत्या टोपे ने इन्हें प्रवीण कर दिया था।

पेशवा बाजीराव ने ताँत्या टोपे को पहले से ही काँटों का ताज पहनकर आने वाली भीषण क्रान्ति का कर्णधार निर्धारित कर दिया था, समय-गति तेजी से करवट बदल रही थी। अंग्रेजों के अत्याचारों एवं जघन्य कृत्यों के विरुद्ध देश का वातावरण गर्म हो उठा था, देश के सभी छोटे-बड़े राष्ट्रों का अंग्रेज क्रमशः अन्त और विनाश करते जा रहे थे। भारतीय राजा-नबावों के सभी रीति-रिवाज और प्रथाओं का अन्त कर अंग्रेजी-सभ्यता प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। मदोन्मत्त फिरंगियों में चरित्रहीनता भी बहुत बढ़ गई थी।

अंग्रेजों के खिलाफ ताँत्या टोपे के सुनिश्चित षडयन्त्र का श्रीगणेश १८५१ में हुआ जबकि पेशवा बाजीराव की मृत्यु के पश्चात् कम्पनी के शासन ने नाना साहब को उनका दत्तक-पुत्र मानने से इन्कार कर दिया था पेशवा बाजीराव ने नाना साहब को १८२७ में ही दत्तक पुत्र के रूप में गोद ले लिया था। वास्तव में वे ही उनके उत्तराधिकारी थे पर अंग्रेजों ने उनके इस अधिकार की अवहेलना की। इसी कारण ताँत्या टोपे का अन्तर्द्वन्द्व प्रथम बार क्रान्ति का मूर्तरूप लेकर प्रकट हुआ।

पूरे ६ वर्ष तक ताँत्या टोपे ने इस क्रान्ति आन्दोलन को सक्रिय रूप देने के लिये सारे देश का भ्रमण कर सभी राजाओं एवं गण्यमान्य व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित किया और सावधानी के साथ क्रान्ति की अग्नि को सुलगाया। महीनों के विचार-विमर्श के पश्चात् ३१ मई, १८५७ क्रान्ति दिवस निश्चित किया गया किन्तु दुर्भाग्यवश इस क्रान्ति के ज्वालामुखी का लावा २५ दिन पूर्व ही मेरठ में फूट निकला।

इस संग्राम में महावीर ताँत्या की चमकती हुई तलवार ने काल का रूप धारण कर अनेक देशी-विदेशी शत्रुओं का संहार किया। अपनी अन्तिम श्वास तक ताँत्या टोपे ने कभी अंग्रेजों की आधीनता स्वीकार नहीं की। जिस समय अंग्रेज सभी देशी राष्ट्रों का अन्त कर भारत में एकछत्र राष्ट्र स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे। सेनापति ताँत्या टोपे भला ऐसे अपवित्र शासन को कैसे सहन कर सकते

थे । उन्होंने बिदूर के दुर्ग पर खड़े होकर बगावत का झण्डा बुलन्द किया ।

मेरठ में विप्लव का विस्फोट होते ही नाना फड़नवीस अपने भाई राव साहब और ताँत्या टोपे को पेशवा की गद्दी का उत्तराधिकारी बनाकर क्रान्ति का नेतृत्व करने मेरठ की ओर प्रस्थान कर गए । क्रान्ति की अग्नि देश में सर्वत्र धधक रही थी । आवश्यकता थी एक रण-बाँकुरे सेनापति की जो क्रान्ति का सुचारु रूप से नेतृत्व कर सके । सप्ताहों महारानी लक्ष्मीबाई, नाना फड़नवीस और प्रमुख क्रान्तिकारियों ने इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार-विनिमय किया और अन्त में १८ जून, १८५७ को ताँत्या टोपे को इस महाक्रान्ति का सर्वोच्च सेनापति चुन लिया ।"

विप्लवी सेनाओं की बागडोर अपने हाथ में लेते हुए देश की जनता के नाम सेनापति ताँत्या टोपे ने एक संदेश प्रसारित किया । जिसमें कहा गया था कि—“भारत की स्वतन्त्रता को चिरस्थायी और अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए देश के सभी लोग आपसी भेदभाव भुलाकर अँग्रेजों को मार भगाने के लिए संगठित हो जायें । अँग्रेजों ने हमें परतन्त्र रखने के लिए देश में जो दमन आरम्भ किया है, हमें उसका खुले रूप में मुकाबला करना है । अँग्रेजों की उदण्ड सैनिक शक्ति और नापाक हुकूमत को हिन्दुस्तान से समाप्त करने के लिये विप्लवी सेनाओं का पूरा-पूरा साथ देना आप लोगों का कर्तव्य है । ‘जय भारत’ आपका तुच्छ सैनिक ताँत्या टोपे ।”

सेनापति ताँत्या टोपे के इस आह्वान पर भारतीय स्वतन्त्रता की उन्मुक्त सेनायें उनके नेतृत्व में सिंह-गर्जना के साथ लोहा लेने को कटिबद्ध हो गई । भारतीय सेनायें अँग्रेजी फौजों का सफाया करती निरन्तर आगे बढ़ रही थीं । कितने ही अँग्रेज मारे गये । अनेक अपनी जान बचाकर भाग निकले और यत्र-तत्र जा छिपे । इस समय बहुत से देशद्रोही भी अँग्रेजों का साथ दे रहे थे । ऐसे सभी लोगों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर ताँत्या की विप्लवी सेनाओं ने मौत के घाट उतार दिया और जिन लोगों ने क्षमायाचना कर उनकी आधीनता स्वीकार करली, उनको सेनापति ने अभयदान दिया ।

ताँत्या टोपे में विलक्षण दैवी-शक्ति थी । विकट परिस्थिति में जब कभी मार्ग में घोंड़े को छोड़ देना पड़ता था तब सेनापति ताँत्या टोपे द्रुतगति से क्रान्ति का संचालन करने के लिये अपने पैरों में एक विशेष प्रकार के बने हुए लम्बे बाँसों का प्रयोग किया करते थे । जिस समय वे इन बाँसों को पैरों में बाँधकर वायु वेग से भागते थे, उस समय अँग्रेज शत्रुओं की दक्ष, सुसज्जित और साधन सम्पन्न सेनायें उनके पैरों की उड़ती हुई धूल को भी नहीं देख पाती थीं ।

ताँत्या टोपे के अपूर्व बल और रण-चातुर्य पर मुग्ध होकर लन्दन के ‘डेली न्यूज’ और लन्दन टाइम्स तक ने उनकी बड़ी प्रशंसा की । ‘टाइम्स’ ने लिखा—“ताँत्या बड़ा साहसी वीर है, वह धैर्यवान् विचारक और कुशल योद्धा है ।” नेलसन नामक एक अँग्रेज लेखक ने अपनी

भारत-विद्रोह का इतिहास नामक पुस्तक में लिखा है—‘निःसंदेह संसार की किसी भी वीर सेना ने इतनी तीव्रगति और साहस के साथ कभी कूच नहीं किया जितनी तेजी के साथ बहादुर ताँत्या टोपे की सेना ने किया ।’

लन्दन के ‘डेली न्यूज’ के सम्पाददाता की रिपोर्ट के अनुसार—“हमारा विचित्र मित्र ताँत्या इतना चतुर और कठोर है कि मैं उसकी सराहना किये बिना नहीं रह सकता । उसने हमारे बहुत से नगर उजाड़ दिये, खजाने लूट लिये, युद्ध के शस्त्रागार खाली कर दिये । उसने सेनाएँ इकट्ठी कीं और कटवा डालीं । हमारी तोपें छीन लीं और हमारा ही सफाया किया । अपनी गति में तो वह बिजली को भी मात कर रहा है । कई-कई सप्ताह चालीस-पचास मील प्रति घण्टे की गति से यात्रा करता रहता है । हमारी सेनाओं के आगे रहता हुआ अचानक पीछे पहुँच जाता है, सर्वोत्तम मशीन भी इतनी तेजी न कर सकेगी जितनी तूफानी तेजी ताँत्या करता है । पर्वतों की चढ़ाई पर, कन्दराओं में, घाटियों में, पीछे-आगे, ऊपर-नीचे कहीं भी ताँत्या टोपे के जाने में कोई बाधा नहीं डाल सकता है । वह चक्करदार मार्गों से तुरन्त ही हमारी सेनाओं और सामान की गाड़ियों पर बाज की तरह आक्रमण करता है किन्तु हमारे हाथ नहीं आता ।”

ताँत्या टोपे ने दूर-दूर तक अँग्रेजों का सफाया कर दिया था किन्तु कुमक पहुँचने पर अँग्रेजी सेनाएँ पुनः आगे बढ़ आती थीं और अपनी भयानक तोपों से नगर के नगर और ग्राम के ग्राम ध्वंस करती थीं ।

ग्वालियर के युद्ध में असफल होकर सेनापति ताँत्या नर्मदा नदी को पार कर महाराष्ट्र पहुँचे और वहाँ उन्होंने जनता को अँग्रेजों के विरुद्ध युद्ध के लिये संगठित किया । झाँसी की रानी के बाद अँग्रेज यदि किसी से चबराते थे तो वह थे ताँत्या टोपे । इसलिए अँग्रेजों की सेनाएँ निरन्तर उनकी खोज में रहती थीं । कहा जाता है कि ताँत्या वर्षा काल में चम्बल की तूफानी लहरों पर सर्प की भाँति तैर जाते थे । सेनाएँ और सामग्री की कमी के दिनों में अँग्रेजी सेनाएँ उनको पकड़ने के लिये मार्ग रोककर दीवार बनकर खड़ी रहती थीं किन्तु विप्लवी देशभक्त सेनाएँ सदैव उनसे डटकर लोहा लेती रहीं और उनकी पंक्तियों को तोड़-फोड़ कर आगे बढ़ती रहीं । उन्होंने अपने अपूर्व युद्ध-कौशल से अँग्रेजों को परास्त कर कानपुर पर पेशवाई का झण्डा फहरा दिया पर अँग्रेजों ने पुनः कानपुर पर चढ़ाई की और महीनों तक दोनों ओर से सेनाएँ जूझती रहीं । घमासान युद्ध चलता रहा । निश्चय ही विजय देशभक्त सेनाओं की होती किन्तु तत्काल ही अँग्रेजों की नई सेना के आ जाने के कारण ताँत्या टोपे चिर गये और उन्हें युद्ध स्थगित कर मैदान छोड़ देना पड़ा ।

फिर भी वे हतोत्साह नहीं हुए । कानपुर पर पुनः अधिकार करने के लिये विद्रोही ताँत्या की सेनाओं ने परखारी पर अधिकार कर लिया । कानपुर पर धावा बोलने की तैयारी थी कि रानी लक्ष्मीबाई ने दूसरे मोर्चे पर

सैनिक सहायता की माँग की, इसलिए वह स्वयं अधूरा रह गया।

इस क्रान्ति को काफी समय हो गया था। धीरे-धीरे ताँत्या टोपे के अनेक मित्र और सहयोगी विप्लव की आहुति में प्राणार्पण कर चुके थे। कुछ देशद्रोही बन गये थे, किन्तु ताँत्या टोपे अन्तिम श्वास तक संघर्ष करते रहे।

एक बार किसी वन में छिपी ताँत्या की सेनाएँ विश्राम कर रही थीं। अँग्रेजी सेनाओं ने उन्हें चारों ओर से घेरकर आग लगा दी। वह सब जंगल जलकर राख हो गया और अँग्रेजों सेनाएँ ज्यों की त्यों खड़ी रहीं। अँग्रेज समझे कि वे सब लोग जलकर खाक हो गये किन्तु ज्यों ही उनकी सेनाएँ पीछे हटीं त्यों ही महा वीर ताँत्या टोपे की जीवट सेना ने अचानक वेग से अँग्रेजी सेनाओं पर घातक आक्रमण कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप सारे अँग्रेज मारे गये।

ताँत्या टोपे की मृत्यु के सम्बन्ध में इतिहासकारों के विभिन्न मत पाये जाते हैं। कोई कहता है कि ताँत्या टोपे को गिरफ्तार करके उसी समय उनके हाथ-पैर बाँधकर मार डाला था। कई लोगों का कहना है कि उनको फाँसी दी गई थी किन्तु इतिहास के गहन अध्ययन से पता चलता है कि मानवता, न्याय और नीति की दुहाई देने वाले कई क्रूर अँग्रेजों ने मिलकर उनकी बड़ी बेरहमी से हत्या की। इस पर भी जब उनकी पैशाचिक प्यास नहीं बुझी तब प्रतिशोध लेने के लिए उन्होंने मृत शरीर को १८ अप्रैल १८५९ को तोप के मुँह से बाँधकर उड़ा दिया।

निष्ठा और संकल्प के धनी— टीपू सुल्तान

अँग्रेज माताएँ अपने शरारती बच्चों को टीपू आया कहकर चुप कराती थीं। टीपू सुल्तान का भय अँग्रेज बच्चों से लेकर सैनिक, सेनाधिकारियों तथा शासकों तक के हृदय में ऐसा समाया हुआ था कि वे उनका नाम सुन कर घबड़ा उठते थे। टीपू सुल्तान अपने समय के एक मात्र ऐसे देशभक्त योद्धा थे, जिन्होंने अँग्रेजों को देश से बाहर निकालने का संकल्प लिया और उसे पूरा करने के लिए जीवन भर प्राणपण से डटे रहे।

वे महाप्रतापी हैदर अली के पुत्र थे। हैदर अली ने बचपन से ही उन्हें ऐसी शिक्षा दी थी कि उनके हृदय में अपने देश, भूमि और शोषित जनता के प्रति निष्ठा और सहानुभूति का भाव जागे। उन्हें बचपन से ही लड़ाई लड़ना और शस्त्र चलाना सिखाया गया। भावना और निष्ठा से सम्पन्न टीपू ने अपने शिक्षण काल में ही ऐसा कौशल दिखाया कि उनके पिता को अपने पुत्र की योग्यता पर विश्वास जम गया।

वे जब १९-२० वर्ष के थे तो हैदर अली ने उन्हें मद्रास में हवा खोरी कर रहे अँग्रेजों और उनकी सेनाओं को खदेड़ने के लिए भेजा। हैदर अली ने टीपू को पाँच

हजार सेना दी और टीपू मद्रास इतनी तेजी से पहुँचा कि जब तक स्मिथ और उसके अधीनस्थ अधिकारियों को पता चला तब तक तो वह जा ही धमका। टीपू के पहुँचने का समाचार सुनकर सभी कर्मचारी हक्के-बक्के रह गये और वे तुरन्त भाग खड़े हुए। मद्रास बन्दरगाह पर खड़े जहाज से निकल कर बड़ी मुश्किल से उन्होंने अपनी जान बचायी।

बिना लड़े ही मद्रास टीपू ने जीत लिया। अब उसने आस-पास के अँग्रेजी क्षेत्रों को जीतना आरम्भ किया। उन्होंने अपने आस-पास का सारा इलाका अँग्रेजों से छीन लिया। इस समय निजाम भी टीपू सुल्तान का साथ दे रहा था। जब बहुत बड़ा इलाका जीत लिया गया तो एक साथ लड़ने की शर्तों के अनुसार बराबर बाँट लिया गया। टीपू सुल्तान अपने वचन और सन्धियों के प्रति ईमानदार थे। कई अवसरों पर उन्हें ईमानदारी और मैत्री, विश्वास के कारण धोखा खाना पड़ा परन्तु उन्होंने इन मानवीय सिद्धान्तों को कभी तिलांजलि नहीं दी।

छल-छद्म राजनीति का प्रधान अंग है। अपने स्वार्थों और हितों को पूरा करने के लिए राजनेता मानवीय आदर्शों को ताक में रखकर घृणित सौदे किया करते हैं। परन्तु इतिहास में उन्हें वह सफलता नहीं मिलती जो कि आदर्शों और सिद्धान्तों को प्राण से संयुक्त कर लेने वाले वीर पुरुषों को। निजाम हैदराबाद ने टीपू सुल्तान को ऐन उस वक्त पर धोखा दिया जब अँग्रेजी सेनाओं के साथ वे मंगलौर में लोहा ले रहे थे। उस समय भले ही इन साधियों ने टीपू सुल्तान का साथ छोड़ दिया हो परन्तु मंगलौर की जनता ने उनका हार्दिक स्वागत किया। एक भयानक लड़ाई हुई और अँग्रेजों के पैर उखड़ गये। इस विजय की खुशी में टीपू सुल्तान ने मद्रास के किले के बाहर एक चित्र बनवाया, जिसमें हैदर अली टीपू के पिता-तख्त पर बैठे थे और अँग्रेज ढेरों अशर्फियाँ बिखरे हुए उनके सामने सन्धि-पत्र लेकर खड़े थे।

वस्तुतः स्थिति भी ठीक थी। कर्नल स्मिथ ने टीपू सुल्तान और उनके पिता को कई बार प्रलोभन देकर अपनी ओर फोड़ लेने की साजिश की। परन्तु उन्होंने सदैव झूठे प्रलोभनों को ठुकरा दिया और प्रस्तुत किये गये आकर्षणों से अप्रभावित रहकर अपने अभियान को जारी रखा उद्देश्य पूर्ति के मार्ग में चल रहे सभी व्यक्तियों को प्रायः अनेक आकर्षण अपनी ओर खींच कर उन्हें विमुख करने के लिए आया करते हैं, समझदार व्यक्ति इन आकर्षणों में कभी नहीं फँसते और लक्ष्य की ओर बढ़ते ही रहते हैं।

मंगलौर में अँग्रेजों की पराजय ने लार्ड वारेन हेस्टिंग्स को बड़ा चिन्तित कर दिया, उन्होंने इस जागती हुई शक्ति को दबाने के लिए अपने विश्वस्त सेनापति कर्नल आयर कूट को मद्रास का प्रशासक बनाकर भेजा। टीपू-सुल्तान और हैदर अली का दमन करने के लिए कर्नल आयर कूट

ने मैसूर राज्य पर तीन आक्रमण किये और तीनों बार पराजित हुआ।

पिता का देहान्त होने के बाद १७८२ में टीपू सुल्तान मैसूर राज्य के राजा बने। उन्होंने अपने पिता हैदरअली के उद्देश्य और योजना को अच्छी प्रकार समझा था। उसे पूरा करने के लिए देशी राजाओं को संगठित कर विदेशी शासकों को परास्त करने के लिए सम्मिलित प्रयास करने की योजना बनायी परन्तु पिता के साथ हुए विश्वासघातों को देखकर यह विश्वास फलित होते न दीखा।

फिर भी अंग्रेजों को बाहर तो निकालना ही था और यह काम उनको अपने अकेले के बस का नहीं लगा। उन्होंने फ्रांस से सहायता प्राप्त करने के लिए अपना एक दूत पेरिस भेजा और बातचीत शुरू की। इस बात से अंग्रेजों को और भी भय हुआ। टीपू सुल्तान की वीरता उनके रणकुशल सैनिक और फ्रांस के समर्थ साधन सम्पन्न शास्त्रास्त्र ये तीनों मिलकर अंग्रेजी साम्राज्य को सचमुच ही ध्वस्त कर सकते हैं। बहुत सी विशेषतायें जब एक स्थान पर एकत्रित हो जाती हैं तो सचमुच ध्येय की प्राप्ति सहज और सरल बन जाती है, परन्तु विरोधी शक्तियाँ भी अवरोध पैदा करने में कोई कसर नहीं छोड़ती।

उस समय कम्पनी का गवर्नर लार्ड कार्न वालिस था। १७९० में उसने विशाल सेनायें लेकर कर्नाटक पर हमला बोल दिया। वह स्वयं युद्ध संचालन कर रहा था। दो वर्ष तक घमासान युद्ध होता रहा। टीपू के सैनिक बड़ी वीरता पूर्वक लड़े परन्तु साधन और संख्याबल में कम होने के कारण उनके पैर शीघ्र ही उखड़ने लगे। टीपू सुल्तान को परास्त होकर संधि करनी पड़ी। इस संधि के अनुसार श्री रंगापट्टम में टीपू को अपना आधा राज्य और युद्ध का हर्जाना देना पड़ा। अंग्रेजों को बड़ा महल, सलेम, डिंडी गल और मलावार के प्रदेश मिल गये।

इतना हो जाने का टीपू सुल्तान को बड़ा क्षोभ तो हुआ परन्तु वे निराश नहीं हुए। वे फिर शक्ति संचय और सैन्य संगठन करने में लग गये। अंग्रेजों को उनका बढ़ता हुआ प्रताप फूटी आँखों नहीं भाया। रंगापट्टम की संधि के अनुसार टीपू सुल्तान को अंग्रेजों की ओर से किसी आक्रमण की आशंका नहीं करनी चाहिए थी। परन्तु कार्न वालिस के बाद १७९९ में लार्ड वेलेजली ने मैसूर पर आक्रमण करने का निश्चय किया। इस आक्रमण में हैदरा बाद के निजाम ने भी अंग्रेजी सेनाओं का ही साथ दिया। वही निजाम जो पन्द्रह बीस वर्ष पूर्व टीपू सुल्तान का सहयोगी था। सत्ता और धन का आकर्षण ही ऐसा है। जिसमें अच्छे-अच्छे लोग फँस जाते हैं।

निजाम की तीस हजार सेना तथा अंग्रेजी सेना ने मिल कर उसी वर्ष युद्ध छेड़ दिया। टीपू सुल्तान को जल और थल दोनों तरफ से घेर लिया गया। साथ ही उनके मातहत सैनिक अधिकारियों को भी फोड़ने का प्रयत्न किया गया। टीपू को कदम-कदम पर अपने सेनापतियों द्वारा धोखा,

विश्वासघात और बेईमानी का सामना करना पड़ा फिर भी उन्होंने संतुलन नहीं खोया वे बड़े साहस के साथ रणभूमि में शत्रु का मुकाबला करते रहे। मीर सादिक नामक एक अति विश्वासपात्र सैनिक भी उस अवसर पर अंग्रेजों से मिल गया और उसने किले की एक दीवार तुड़वा दी जिसमें से होकर अंग्रेज राजधानी के भीतर घुस आये। इस पर भी टीपू ने अंग्रेजों का सामना किया, उन्होंने अपने मुट्ठी भर साथियों को जो कि उनका साथ दे रहे थे-लेकर मुकाबला अंत तक जारी रखा। लड़ाई में उन्हें दो गोलियाँ छाती पर लगीं फिर भी बन्दूक दागते रहे। उनके साथियों ने युद्ध क्षेत्र से हट जाने के लिए कहा परन्तु टीपू सुल्तान तो 'साध्येम् वा देह पातयेत्' के सिद्धान्त को लेकर चलने वाले थे, छाती से फूटते खून के फुब्बारे छूट रहे थे फिर भी वे शत्रु का सामना करते रहे।

अन्त में उनके सहयोगियों ने जबदस्ती पकड़ कर उन्हें पालकी में बिठाया और ले जाने लगे। तभी कुछ अंग्रेज पालकी के पास पहुँच गये। टीपू सुल्तान ने यहाँ भी अपनी तलवार से दो अंग्रेजों को मौत के घाट उतार दिया। फौरन एक गोली उनकी कनपटी को छेद गयी और टीपू सुल्तान जमीन पर गिर पड़े, तत्क्षण उनका देहान्त हो गया।

आदर्शों के लिए अड़े रहने वाले—

ब्रुंडेज

क्रीड़ा जगत में नैतिक आदर्शों की स्थापना और सुरक्षा के लिए एक अक्खड़ किन्तु कर्मठ व्यक्ति की तरह निरन्तर काम करने वाले श्री एवरी ब्रुंडेज को सदा याद किया जाता रहेगा। ओलम्पिक खेलों का सीमा विस्तार ही नहीं उनका स्तर और गौरव बढ़ाने में भी मानो उन्होंने अपने व्यक्तित्व को घुला ही दिया हो।

ओलम्पिक संस्थान के प्रधान ८० वर्षीय लौह-पुरुष ने अपने कर्तव्य को विश्व का महत्वपूर्ण क्रिया-केन्द्र बनाने में अद्भुत सफलता पाई है। यह सब अनायास ही नहीं हो गया, न उत्तराधिकार में मिला है, न किसी के अनुग्रह ने उन्हें यह संस्थान दिलाया है वरन् अपनी क्षमता और प्रतिभा के कारण ही वे इस स्थान तक पहुँचे हैं।

उनका स्वावलम्बी जीवन १२ वर्ष की आयु से आरम्भ होता है जब उन्होंने माँ-बाप से बिछुड़ कर एक मजदूर के रूप में अपने पैरों पर खड़े होने का प्रयास किया। वे पढ़े पर अपनी पढ़ाई और निर्वाह की व्यवस्था बचे हुए समय में मजदूरी करके जुटाई। वे चाहते तो किन्हीं उदार व्यक्तियों एवं संस्थाओं की सहायता भी ले सकते थे पर उन्हें यह जरा भी पसन्द नहीं था। हाथ-पाँव रहते हुए क्यों किसी के आगे हाथ पसारें? यह मानवीय स्वभाव के विरुद्ध है। जब उन्हीं के कई साथी असहाय बनकर दूसरों की सहायता पर अपनी शिक्षा और गुजर चला रहे थे, तब उन्हें भी वैसी सुविधा मिल सकती थी पर उन्होंने

अनावश्यक अहसान और ऋण-भार अपने ऊपर लादने की अपेक्षा यही उचित समझा कि प्रगति भले ही कम हो, देर में हो पर स्वाभिमान की हर कीमत पर रक्षा की जाय।

खेल उन्हें आरम्भ से ही प्रिय थे। विद्यार्थी काल में वे चेम्पियन रहे। दर्शन, मनोविज्ञान, इन्जीनियरिंग आदि विषयों की वे ऑनर्स परीक्षाएँ उत्तीर्ण करते रहे। साथ ही खेलों में पूरी दिलचस्पी से भाग लेते रहे। फलतः उनमें वे कुशल भी बन गए। १९१२ में इन्होंने प्रथम बार अमेरिका की ओर से स्टॉकहोम ओलम्पिक खेलों में भाग लिया। इसके बाद उनकी योग्यता और क्षमता को पहचान कर सम्मानित किया गया। वे क्रमशः उस विश्व संगठन के संचालक मण्डल का उत्तरदायित्व सम्भालते हुए प्रधान पद तक पहुँचे।

बुँडेज का मत है कि खेलों को विशुद्ध खेल ही रहने दिया जाय। उनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावनाओं की वृद्धि की जाय और शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य के विकास क्रम को प्रोत्साहित किया जाय। यह क्षेत्र इतने उद्देश्य तक ही सीमित रहे। इसमें उन दूषित तत्वों का प्रवेश न होने दिया जाय जो विपरीत प्रभाव डालते हैं। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर इन्होंने उस क्षेत्र में पेशेवर खिलाड़ियों का प्रवेश ओलम्पिक प्रतियोगिताओं में निषिद्ध ठहराया। साथ ही विजेताओं को अतिरिक्त सम्मान देकर अन्य खिलाड़ियों में उसी प्रकार की ललक उत्पन्न होने की सम्भावना को भी ध्यान में रखा। यदि विजेताओं को राजनैतिक या आर्थिक प्रोत्साहन उनके देशवासी देते हैं तो फिर अन्य विजेता या तो वैसी हर उपलब्धि के लिये अपने देशवासियों से झगड़ेंगे या फिर रुष्ट एवं दुखी होंगे। यह अवांछनीय प्रतिस्पर्धा उत्पन्न न होने देने से ही क्रीड़ा क्षेत्र का स्तर बढ़ता है। यह उनकी मान्यता है। अनेक विरोध, प्रतिरोधों के रहते हुए वे इस आदर्श को कड़ाई के साथ निवाहते चले आ रहे हैं—और विश्व के समस्त देशों के—लगभग ढाई करोड़ खिलाड़ियों को अपने इस निर्देश से निर्देशित, नियन्त्रित करते हैं। क्रीड़ा क्षेत्र में चक्रवर्ती शासन का एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं श्री एवरी बुँडेज।

उनके मूलमन्त्र का जब—जब जहाँ उल्लेखन हुआ कड़ाई से काम लेने में उन्होंने कोई शिथिलता नहीं बरती। १९५४ में अर्जेंटाइना सरकार ने अपने खिलाड़ियों में एक विशेष रियायत कर दी कि जो कार खरीदेंगे उन पर टैक्स माफ रहेगा। इस सुविधा का लाभ उठाकर वे लाइसेंसों को बेचकर पैसा बनाने लगे।

बुँडेज ने इसका विरोध किया। इस पर अर्जेंटाइना के शासक उबल पड़े। उन्होंने कहा—“हम अपने देश में कुछ भी कर सकते हैं।” उसके जवाब में बुँडेज ने भी यही लिखा—“उसी तरह ओलम्पिक संगठन पर हमारा अधिकार है। यदि निर्धारित आदर्शों की उपेक्षा की जायेगी तो अर्जेंटाइना के खिलाड़ियों को भविष्य में किसी प्रतियोगिता में भाग न लेने दिया जायेगा। यह कड़ाई काम

आई। अर्जेंटाइना सरकार को अपना निश्चय बदलना पड़ा। खिलाड़ियों को दी जाने वाली अतिरिक्त सुविधा वापस लेनी पड़ी।

खिलाड़ी केवल खिलाड़ी रहें व्यवसायी नहीं। यह सिद्धान्त उन्हें इसलिये निर्धारित करना पड़ा कि, कहीं रेस के घोड़ों की तरह मालदार आदमी उन्हें भी अपनी कठपुतली न बनालें और पुलिस, फौज में काम करने वाले विशिष्ट बलवानों को ही चैम्पीयन बनकर विश्वख्याति पर छा जाने का मौका मिले। यदि ऐसा हुआ तो सर्वसाधारण में खेलों के प्रति रुचि उत्पन्न करने वाला संस्थान अपना उद्देश्य ही खो बैठेगा तब वह मुट्ठी भर लोगों को अधिक सम्मान प्रदान करने का माध्यम रह जायेगा और एक प्रकार से उदीयमान खिलाड़ियों का रास्ता बन्द हो जायेगा।

इसी आधार पर उन्होंने अमेरिका के सबसे बड़े माइनर सेन्टी को जीवन भर के लिये ‘एक्वेचर’ की सूची से हटा दिया।

एक और ऐसी ही घटना कनाडा में घटी। कु० अन्ना स्काट ने बर्फ पर फिसलने (स्केटिंग) की विश्व प्रतियोगिता जीती। ओटावा के नागरिकों ने उसका शानदार स्वागत करने और उसे एक बहुमूल्य कनवर्टेबल ब्यूक कार उपहार में देने का निश्चय किया। यह पता बुँडेज को लगा, उन्होंने तुरन्त सन्देश भेजा कि यदि स्काट ने यह उपहार स्वीकार किया तो उसे व्यवसायी घोषित किया जायेगा और अयोग्य ठहराया जायेगा—खिलाड़ियों की सूची में उसका नाम न रहेगा। इस धमकी का कारगर प्रभाव पड़ा और उसी समारोह में स्काट ने यह उपहार अस्वीकृत कर दिया। इससे कनाडा में बहुत रोष उभरा। उनके पुतले तक जलाये गए—पर बुँडेज टस से मस नहीं हुए। वे खिलाड़ियों में इस प्रकार की अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा उत्पन्न करने, उन्हें परस्पर ईर्ष्यालु बनाने और एक ही वर्ग में अभागे, सौभाग्यशाली का विभेद उत्पन्न नहीं करना चाहते थे। अस्तु, इस प्रकार के कठोर कदम उठाने के अलावा उनके पास कोई दूसरा रास्ता भी नहीं था।

ऐसी ही एक घटना का सामना उन्हें हिटलर से घोर विरोध लेकर उन दिनों करना पड़ा जब हिटलर का सितारा आसमान को छू रहा था और उसके सामने मुँह खोलने की हिम्मत भी नहीं पड़ती थी।

अनुपयुक्तता के विरुद्ध लड़ने में उन्हें अगणित संघर्ष करने पड़े। इतना ही नहीं उन्होंने उस महान संगठन को सुविस्तृत, सुगठित और सुव्यवस्थित बनाने में पूरा-पूरा योगदान दिया। उन्होंने अपने हाथ में एक कार्य लिया और उसी में तन्मय हो गये। यदि आधे-अधूरे मन से यह कार्य किया होता तो उतनी सफलता कदापि न मिलती और दूसरे अगणित संगठन प्रयासों की तरह वह भी लँगड़ा, लूला-कुबड़ा रहकर किसी प्रकार अपनी गाड़ी खींचने तक सीमित रहता।

ब्रूडेज के पास उनकी अपनी थोड़ी सी आजीविका है। उनके पास एक बड़ा मकान है, उससे किराये की जो आमदनी होती है उसी से वे अपनी गुजर करते हैं। इतना ही नहीं ओलम्पिक संस्थान से वे किराया-भाड़ा और आफिस खर्च तक नहीं लेते। यों यह राशि ३०-४० हजार डालर तक जा पहुँचती है। वे चाहते तो वेतन न सही, इतना खर्च तो संस्था खुशी-खुशी ही देती रहती। अपने पास की आजीविका को बेटे-पोतों के लिये संग्रह करते रहना और सेवा-भावियों का कार्यक्रम रहता है, पर यह ओछापन ब्रूडेज जैसे महामानव नहीं कर सकते। उन्होंने किया भी नहीं है, यही उनकी महानता के अनेक आधार हैं जिन्होंने केवल उन्हें ही नहीं वरन् उनके द्वारा संचालित कार्य को भी उन्नति के उच्च शिखर तक पहुँचाया है।

कर्मयोगी हचिसन

अमरीकी सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक टामस अल्वा एडीसन अपनी प्रयोगशाला में किसी प्रयोग में व्यस्त थे। दृष्टि ऊपर उठाई तो सामने एक नवयुवक को खड़ा देखा। एक ही साथ कई प्रश्नों को सुनकर भी वह चकराया नहीं। कहाँ अध्ययन कर रहे हो? किस विषय में अधिक रुचि है? पढ़-लिखकर क्या बनने का स्वप्न देख रहे हो?

बचपन से मेरी इच्छा इलैक्ट्रिकल इंजीनियर बनने की है, इसलिये स्कूल की पढ़ाई समाप्त कर इंजीनियरिंग कालेज में अध्ययन कर रहा हूँ। इंजीनियरिंग की परीक्षा पास कर यदि आपकी प्रयोगशाला में प्रधान इंजीनियर का पद प्राप्त हो जाये तो आप जैसे वैज्ञानिक से बहुत कुछ सीखने को मिल जायेगा और अनुसंधान कार्यों में आपकी सहायता भी कर सकूँगा।

उस अपरिचित जिज्ञासु की बात सुनकर एडीसन बड़े खुश हुये। एक क्षण को अपने विचारों में निमग्न होते हुए वे बोले “तुम्हारे विचारों का मैं स्वागत करता हूँ। तुम्हारी महत्वाकांक्षा भगवान पूरी करें पर मैं अपनी प्रयोगशाला में उसी व्यक्ति की नियुक्ति करना चाहता हूँ जो विज्ञान के क्षेत्र में एक आविष्कार करके दिखा सके।”

यह छात्र माइल्स था जो बड़े होने पर विज्ञान जगत में डा० माइल्स रीश हचिसन के नाम से विख्यात हुआ। उस दिन तो वह युवक माइल्स अपने घर लौट आया पर उसके सामने का मार्ग अब बिल्कुल साफ था। उसे अपने लक्ष्य के निर्धारण में अब किसी प्रकार की कोई कठिनाई होने वाली न थी।

उसने अपने विद्यार्थी जीवन में कतिपय ऐसे व्यक्तियों को देखा जिन्हें कान से कम सुनाई पड़ता था। सोचने लगा यदि ऐसे व्यक्तियों के प्रति कुछ सेवायें दी जा सकें तो उनके जीवन को और उपयोगी बनाया जा सकेगा। उस समय तो इंजीनियरिंग का विद्यार्थी था। अतः चिकित्सा क्षेत्र में शोध करने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि ज्ञान की यह दोनों शाखायें बिल्कुल अलग हैं।

इंजीनियरिंग की परीक्षा उत्तीर्ण की और कान की बनावट का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये अलबामा मेडिकल कालेज में प्रवेश लिया। विषय का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर उस उत्साही नवयुवक ने मेडिकल कालेज से विदा ली और बहरों के लिये यन्त्र बनाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। कई महीनों के अथक परिश्रम के बाद उन्हें सफलता मिली और विद्युत की सहायता से ऐसा यन्त्र तैयार कर लिया गया। इसका नाम ‘अकाउस्टिफन’ रखा गया।

उन दिनों ग्रेट ब्रिटेन की महारानी अलेक्जेंड्रा को अपने कानों से कुछ कम सुनाई देने लगा था। उन्हें जब यन्त्र बनने की खबर मिली तो उन्होंने भी डाक्टर हचिसन से वह यंत्र मँगवाया। इतने से ही उन्हें सन्तोष न हुआ तो उन्होंने हचिसन को लन्दन बुलाकर सार्वजनिक अभिनन्दन किया।

अब डाक्टर हचिसन, एडीसन की प्रयोगशाला में पहुँचे। उन्होंने देखा जैसे उनकी प्रतीक्षा की जा रही है। उन्हें वहाँ काम करने का अवसर मिलने लगा। वह एडीसन की पूरी-पूरी सहायता करने लगे। दोनों वैज्ञानिक १८-१९ घण्टे कार्य में व्यस्त रहते थे। हचिसन का जीवन कर्ममय हो गया था। जब कभी अधिक काम होता वह प्रयोगशाला में ही विश्राम करते, वहीं खाते-पीते। यद्यपि उनका घर प्रयोगशाला के बिल्कुल निकट था फिर भी वे कभी दो-चार मिनट से अधिक को न जाते थे जिससे कि चलते हुए कार्य में किसी प्रकार की बाधा न पड़े।

आश्चर्य की बात यह है कि उन्होंने अपने जीवन में केवल तीन दिन का अवकाश ही लिया शेष सारा समय विज्ञान के लिए समर्पित किया। भला ऐसे श्रमनिष्ठ व्यक्ति जिस कार्य में हाथ डालेंगे वह पूरा क्यों न होगा?

एक अपराजेय देशभक्त—

खान अब्दुल गफ्फार खाँ

विवेकवान, वे ही व्यक्ति हैं जो समझ में आ जाने पर ठीक बात को एक बार में ग्रहण कर गाँठ बाँध लेते हैं और गलत बात को सदा-सर्वदा के लिये त्याग देते हैं। सरहदी गाँधी खान अब्दुल गफ्फार खाँ उन्हीं विवेकवान व्यक्तियों में से थे।

गरम खून वाली उस पठान जाति में जन्म लेकर भी, जिसके शब्दकोष में अहिंसा का बोधक कोई शब्द कभी नहीं रहा और जो सदा से शक्ति और शस्त्र में ही विश्वास रखने वाली रही है, खान अब्दुल गफ्फार खाँ ने जब से महात्मा गाँधी के सम्पर्क में आकर शान्ति और अहिंसा की महत्ता समझी उस दिन से सदा-सर्वदा के लिये एक शान्त सन्त की तरह अहिंसावादी बन गये और उस व्रत-भङ्ग की हजारों परिस्थितियाँ आने पर भी अपने सिद्धान्त पर अचल और अडिग बने रहे।

२.१३ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

खान अब्दुल गफ्फार खाँ का जन्म उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त के एक सम्पन्न पठान परिवार में जनवरी १८९० में हुआ। इनके पिता पेशावर के निकट उत्थानजई गाँव के जागीरदार थे और क्षेत्र में उनका बहुत प्रभाव था। सीमा प्रान्त का यह पठान-परिवार प्रारम्भ में साम्राज्यवादियों का अनुयायी था किन्तु जब देश की स्वाधीनता का आन्दोलन छिड़ा और महात्मा गाँधी का नया राजनीतिक दर्शन प्रकाश में आया तो यह परिवार भी सत्य को स्वीकार किये बिना न रह सका। सम्पूर्ण परिवार ने अन्यायी साम्राज्यवादियों का साथ छोड़ दिया और स्वदेश-स्वाधीनता के झण्डे के नीचे आ गया और एक बार फिर जीवन भर स्वाधीनता संग्राम के सैनिक बनकर विदेशी ताकतों का उत्पीड़न सहन करते रहे। उन्होंने देशभक्ति की वेदी पर अपनी जागीर, स्वाधीनता, सुख-सुविधा तथा सारी सम्पत्ति बलिदान कर दी और फकीरी धारण कर जेल और जुल्म सहने का स्वाद लेते रहे।

इसी परिवार के पुत्र खान अब्दुल गफ्फार खाँ भी देश के लिये जिस विनम्रता, शान्तिप्रियता और अहिंसा का परिचय देते हुए शासकों का अपमान और अवहेलना सहना अपना कर्तव्य समझते रहे। वे कितने स्वाभिमानी और असहनशील थे इसका पता इस एक ही बात से चल जाता है।

उत्थानजई से मिडिल की परीक्षा पास करने के बाद खान अब्दुल गफ्फार खाँ ने मिलिट्री में जाने का निश्चय किया। उन्होंने अपना पूरा परिचय लिखकर प्रार्थना पत्र भेजा और वे तुरन्त बुला लिये गये। नाप-जोख और तौल में अनफिट होने का प्रश्न ही नहीं था। अन्तिम डाक्टरों की जाँच में भेज दिये गये। वहाँ वे अपनी बारी आने की प्रतीक्षा में धैर्यपूर्वक बैठे थे कि तब तक एक अंग्रेज अफसर ने एक हिन्दुस्तानी सिपाही से कुछ अपमान-जनक व्यवहार कर दिया। बस युवक गफ्फार खाँ का स्वाभिमान जाग उठा और वे उस अफसर से एक हिन्दुस्तानी होने के नाते टूट पड़ने को तैयार हो गये। किन्तु कुछ लोगों ने बीच में पड़कर मामला वहीं रोक दिया। खान अब्दुल गफ्फार खाँ का मन मिलिटरी की नौकरी से फिर गया और वे घर वापस चले आये। इसी स्वाभिमानी पठान युवक ने जब सत्य, शान्ति और अहिंसा की महत्ता हृदयगम्य कर ली तो उसके निर्वाह में महात्मा गाँधी की समकक्षता तक जा पहुँचा। संसार में सिद्धान्त-शूर और व्रतवन्त व्यक्ति ऐसे ही धीरे पुरुष कहलाते हैं।

मिलिटरी की नौकरी से इन्कार कर देने पर इनके पिता ने इन्जीनियरिंग पढ़ने के लिये विलायत भेजने का निश्चय किया। इस पर माता ने विरोध करते हुए कहा कि “मेरा एक लड़का तो विलायत जाकर हाथ से निकल गया, अब मैं इस एक लड़के को उस रास्ते कदापि न जाने दूँगी।” निदान इनका इंग्लैण्ड जाना स्थगित हो गया।

यद्यपि खान अब्दुल गफ्फार खाँ एक जागीरदार के बेटे थे, घर में किसी बात की कमी न थी। धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद और मान-सम्मान सब कुछ था। चाहते तो घर बैठे ऐशो-आराम की जिन्दगी बिता सकते थे। किन्तु उन्हें घर बैठकर खाना-पीना और मौज उड़ाना पसन्द न आया। वे कुछ ऐसा काम करना चाहते थे जिससे वे व्यस्त भी बने रहें और जनता का कुछ हित भी होता रहे। निदान वे पेशावर के एक मकतब में चले गये और वहाँ कुरान और हदीस आदि धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन करने लगे।

कुछ समय तक मकतब की सेवा करने के बाद वे फिर अलीगढ़ आकर उच्च शिक्षा के लिए विश्व-विद्यालय में भरती हो गये। अलीगढ़ विश्वविद्यालय उन दिनों मुसलमानों में साम्प्रदायिकता भरने का एक बड़ा केन्द्र बना हुआ था। जब विश्वविद्यालय के कट्टरपन्थी और साम्प्रदायिक विष से विकृत मुसलमान नवयुवकों ने अपने बीच एक सरहद पठान नौजवान को आया देखा तो बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने सोचा-‘इसको साम्प्रदायिक विष से भरकर सरहदी सूँवे में साम्प्रदायिकता फैलाने का यन्त्र बनाना चाहिए, अस्तु उन्होंने खान से वैसी बातें करनी और पाकिस्तान का स्वप्न दिखलाना शुरू कर दिया। किन्तु उस सच्चे मनुष्य पर देश-द्रोह का रंग न चढ़ सका। उसकी समझ में बिल्कुल न आया कि आखिर यह सब लोग हिन्दू-मुसलमानों के बीच दुश्मनी और देश के विभाजन में किस हित का स्वप्न देखते हैं। उसे उनके विचार देश-द्रोह से भी अधिक दूषित लगे और उन्होंने उन सबका साथ छोड़ दिया तथापि उसके मस्तिष्क में राजनीति के बीज पड़ चुके थे।

खान अब्दुल गफ्फार खाँ ने अलीगढ़ में रहते हुए मौलाना आजाद का अखबार ‘अलहिलाल’ पढ़ना शुरू किया। उन्हें इस अखबार की विचारधारा ठीक मालूम दी और वे उन्हीं विचारों में दीक्षित होते चले गये। अध्ययन, अनुभव, मनन और देश की आवश्यकता तथा विदेशियों की नीति देखकर खान अब्दुल गफ्फार खाँ के हृदय में राष्ट्रीयता की भावना जाग उठी और वे स्वदेश की स्वाधीनता के लिये कुछ करने के लिये उत्सुक होकर वापस चले आये।

राष्ट्रीयता का प्रकाश लेकर १९११ में घर आने पर उन्होंने राजनीति के नाम पर सोयी हुई पठान जाति को जगाना शुरू कर दिया। उन्हें इस बात पर बड़ी लज्जा आई कि साहस तथा वीरता की धनी पठान जाति स्वाधीनता के लिये कुछ न करती हुई, मोहनिद्रा में सोती हुई अंग्रेजों के जाल में फँसी हुई है।

सरहदी पठानों में जाग्रति लाने के लिये उन्होंने जो सबसे पहला काम किया वह था शिक्षा-प्रसार। खान अब्दुल गफ्फार खाँ ने न केवल स्थान-स्थान पर स्कूल ही स्थापित कराये बल्कि स्वयं भी पाठशालायें लगाते थे और उनमें अक्षर-ज्ञान देने के साथ-साथ राष्ट्रीय शिक्षा भी देते

थे । आठ साल के अविराम परिश्रम के बाद उन्होंने पठानों के बीच जाग्रति पैदा कर दी और उन्हें इस योग्य बना दिया कि वे स्वाधीनता, अपने अधिकार और देश व समाज के प्रति अपना कर्तव्य समझ सकें ।

१९१९ में जब गाँधी जी का आह्वान गुँजा और देश भर में स्वतन्त्रता का आन्दोलन चल पड़ा तब खान अब्दुल गफ्फार खाँ ने सरहदी पठानों को उठाया और लाखों जन-समूह के बीच विदेशी सरकार की कड़ी आलोचना की । उसी सभा में उन्होंने स्वतन्त्रता-संग्राम में पठानों को मर मिटने का निमन्त्रण दिया । उनका आमन्त्रण पाकर वे संगठित हो उठे और सरहद पर स्वतन्त्रता का सिंहनाद गुँजने लगा ।

अँग्रेजों के लिए यह एक नया अनुभव था । उन्हें स्वप्न में भी विश्वास न था कि उनकी नीति के जादू से बँधे सीमान्त प्रदेश के पठान भी भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में सम्मिलित हो सकते हैं । उन्होंने सरहदी विद्रोह का मुख्य कारण खान अब्दुल गफ्फार खाँ को समझा और उन्हें गिरफ्तार करा कर जेल में डलवा दिया । खान अब्दुल गफ्फार खाँ के व्यक्तित्व से सरकार इतनी डर गई कि उसने इस नरसिंह को बाँधने के लिए एक विशेष प्रकार की हथकड़ी-बेड़ियाँ बनवाई ।

खान अब्दुल गफ्फार खाँ ने जेल जीवन का समय यों ही पड़े-पड़े नहीं खो दिया । उन्होंने इसका पूरा-पूरा लाभ उठाया और उसका उपयोग गीता तथा बाइबिल के गहन अध्ययन में किया । इसके अतिरिक्त महात्मा गाँधी की आत्म-कथा और उनके राजनीतिक-दर्शन का भी गूढ़ अध्ययन किया । निष्पक्ष तथा निर्विघ्न अध्ययन से उन्हें इन सदग्रन्थों का सार-तत्त्व हृदयंगम हो गया और वे अब वास्तविक रूप से सत्य, शान्ति, अहिंसा और प्रेम के अनुयायी बन गये, तो फिर एक बार ग्रहण करने के बाद उसे जीवन भर नहीं छोड़ा ।

जेल से छूटने के बाद वे फिर देश और समाज की सेवा में लग गये । 'चारसद्दा आश्रम' और 'खुदाई खिदमतगार' नाम के दो आश्रम उन्होंने चलाये । यह आश्रम लगभग भारतीय आश्रम जैसे थे । इनमें सूत कातने का कार्य तो नियमित रूप से चलता ही था, साथ ही नित्य ही ईश्वर-प्रार्थना और राष्ट्रीय शिक्षा का आयोजन भी था । सत्य, अहिंसा और शान्ति का नियमित पाठ इस आश्रम में पढ़ाया जाता था । साधारण शिक्षा के अतिरिक्त 'चारसद्दा आश्रम' में ऐसी व्यावहारिक शिक्षा भी दी जाती थी जिसे पाकर शिक्षार्थी जीवन में स्वावलम्बी बनकर, सम्मानपूर्वक अपनी आजीविका कमा सकें । यह आश्रम पठानों का वास्तविक भारतीयकरण करने का एक सार्थक केन्द्र था ।

'खुदाई खिदमतगार' नाम का संगठन और कुछ नहीं था, देश तथा समाज के सेवकों का एक संगठन था । इसके 'स्वयंसेवक' खान अब्दुल गफ्फार खाँ के नेतृत्व में

देश के अहिंसात्मक आन्दोलनों में तो भाग लेते ही थे, आवश्यकता पड़ने पर पीड़ितों तथा दुःखी लोगों की सहायता भी करते थे ।

सरहद की इन दोनों संस्थाओं ने वहाँ पर विदेशी शासन के विरुद्ध एक प्रचण्ड वातावरण तैयार किया जिससे उस महत्वपूर्ण स्थान से अँग्रेजों के पैर उखड़ने लगे । अस्तु सरकारी कूटीतिज्ञों ने लीगी नेताओं को खान अब्दुल गफ्फार खाँ की सच्ची राष्ट्र-भक्ति से विरत करने की प्रेरणा दी । लीग के बड़े-बड़े नेताओं ने उनसे सम्पर्क स्थापित किया । उन्हें पाकिस्तान बनने के फायदे दिखलाये, इस्लाम और मुसलमानियत का वास्ता दिया और यहाँ तक कहा कि वे हिन्दुओं के संगठन काँग्रेस का साथ छोड़कर लीग में शामिल होकर पाकिस्तान बनवाने में सहायता करें तो उन्हें पाकिस्तान सरकार का सर्वोच्च पद जीवन भर के लिए उन्हें दे देंगे और यदि चाहेंगे तो उनका पृथक राज्य ही बनवा देंगे । किन्तु सिद्धान्त तथा सत्य के धनी खान अब्दुल गफ्फार खाँ उनकी चिकनी-चुपड़ी बातों में नहीं आये और सच्चे मन से भारत माता की सेवा में लगे रहे । इस आराधना के लिए उन्हें काफिर, गैर-मुस्लिम और इस्लाम का शत्रु भी कहा गया और तरह-तरह से अपमानित और लांछित किया गया, किन्तु वे अपने व्रत से जरा भी विचलित न हुए । सरकार ने उनकी सारी जमीन, सम्पत्ति तथा जीवन के साधन छीन लिये पर उन्हें न विचलित होना था और न वे विचलित हुए ।

१९२१ के असहयोग आन्दोलन से तो उनका जीवन जेल में ही कटने लगा । जेल में उन्हें तरह-तरह के त्रास और यातनायें दी गई । उनका स्वास्थ्य खराब हो गया । बहुत बार उन्हें अनशन करना पड़ा किन्तु जिस महान पथ पर वे अपना कदम बढ़ा चुके थे, उससे तिल भर पीछे हटना उन्होंने सीखा ही न था । राजनीतिक दुर्भाग्य से पाकिस्तान बन गया और खान अब्दुल गफ्फार खाँ की कर्म-भूमि सीमान्त प्रदेश पाकिस्तान में चला गया । पाकिस्तान बन जाने पर वहाँ की सरकार ने पुनः पदों का लालच देकर उन्हें व्रत-च्युत करना चाहा । किन्तु उन्होंने पाकिस्तान को मान्यता प्रदान न की और पख्तूनों की मातृभूमि सीमान्त प्रदेश को पाकिस्तान से स्वतन्त्र कराने के लिये संघर्ष करना शुरू कर दिया और जिसके लिये उन्हें जेल में जीवन बिताना पड़ा । यदि वे चाहते तो सिद्धान्त की कीमत पर पाकिस्तान के साथ होकर वहाँ की सरकार में मनमाना पद ले सकते थे अथवा भारत में स्थानांतरण कर जेल व जुल्म से तो बच ही सकते थे साथ ही जहाँ स्वतन्त्रता के बाद अवसरवादियों ने दोनों हाथ लाभ लूटे हैं वे भी उच्च से उच्च पद पा सकते थे । किन्तु जिसका जीवन ही सत्य के लिये संघर्ष करते रहने के लिये समर्पित हो चुका था, जो समाज तथा देश की सेवा के लिये जीवित रहा वह प्रलोभन को क्या महत्व देता ?

बंगला देश के निर्माता— शेख मुजीबुर्रहमान

विजय सदा न्याय की हुई है, अन्याय सदा हारता आया है। विश्व का इतिहास उठाकर देखें तो यही स्पष्ट होगा कि अनाचार कितना ही बड़ा हो जब तक उसका प्रतिकार नहीं किया जाता तभी तक वह बढ़ता है किन्तु जब उसका प्रतिकार करने के लिए कोई उठ खड़ा होता है तो उसे हार माननी ही पड़ती है। इस प्रतिकार के लिए कमर कस कर खड़ा होना किसी साहसी का ही काम होता है। ऐसे साहसियों की अमर गाथायें युगों तक गाई जाती हैं।

ऐसा ही एक साहस इन दिनों किया गया। इस साहस का श्रेय बङ्गबन्धु शेख मुजीबुर्रहमान को दिया जायगा, जिसके फलस्वरूप चौबीस वर्ष बाद बंगला देश को पाकिस्तान के क्रूर शासन से मुक्ति मिली।

७ दिसम्बर, १९७० का दिन न्याय के लिये लड़ने वाले साहसियों के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ने वाला दिन था। पाकिस्तान के अमानुषिक अत्याचारों को सहते-सहते बंगाल अधमरा हो गया था। ढाका के रेसकोर्स मैदान में एक विशाल जनसमूह के सम्मुख शेख मुजीबुर्रहमान ने अपने दल को वोट देने की अपील इन शब्दों में की “यह स्वातंत्रता संग्राम है, जिसके दौरान हम न सरकार को टैक्स देंगे, न उसके फौजियों के साथ सहयोग करेंगे।”

यह घोषणा करने वाले शेख मुजीबुर्रहमान को वहाँ की जनता स्नेह से बंगबन्धु के नाम से पुकारती थी। इनका जन्म १७ मार्च, १९२० में बंगाल के फरीदपुर जिले के टांगी पारा गाँव के एक मध्यम वर्गीय परिवार में हुआ था। ये बी० ए० करने से पूर्व ही स्वाधीनता संग्राम में भाग ले चुके थे। १९४१ में उन्होंने नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के साथ काम किया था। कलकत्ता की ‘ब्लैक हाल घटना’ व होलवेल स्मारक हटाने में उन्होंने सहयोग दिया था। वे सुभाष को अपना गुरु मानते थे।

भारत विभाजन के बाद पाकिस्तान सरकार ने पाकिस्तान की भाषा उर्दू घोषित की। पूर्वी बंगाल व बंगालियों के प्रति यह सौतेला व्यवहार था। बंग बन्धु ने इसके विरोध में जनता की आवाज बुलन्द की। विरोध करने वाले जेल में दूँस दिये गये। उसी दिन इनके मन में यह निश्चय हो गया कि यह पाकिस्तान चलने वाला नहीं है। ये पाकिस्तान के विरोधी हो गये। पूर्वी बंगाल के नागरिक उर्दू जानते नहीं थे। यह भाषा उन पर बलात् थोपी गई थी। इस विरोधी आंदोलन का नेतृत्व मुजीब ने किया। इन्हें भी बन्दी बनाकर ७ दिन तक जेल में रखा गया।

अब ये पूर्वी बंगाल की जनता में लोकप्रिय हो चुके थे, इन्हें अवामी लीग का संयुक्त सचिव चुन लिया गया।

१९५४ में वे प्रान्तीय चुनावों में विधानसभा के लिये चुने गये। एक वर्ष पश्चात् वे केन्द्रीय विधानसभा के लिये चुन लिये गये।

राजनीति शेख मुजीबुर्रहमान का क्षेत्र था किन्तु वे राजनीति, छलछिद्रों से परे थे। एक सच्चे मानव और सत्य के समर्थक होने के नाते उन्हें १९५६ में जो पाकिस्तान का विधान बना, स्वीकार नहीं हुआ। इनके अतिरिक्त अवामी लीग के सभी सदस्यों ने इसे ‘अधूरी स्वायत्तता’ की संज्ञा दी। पूर्वी तथा पश्चिमी पाकिस्तान के साथ जो इस संविधान में भेद-भाव बरता गया था उसका कड़ा विरोध किया। ४ अक्टूबर, १९५६ को उन्हें पाकिस्तान सुरक्षा अध्यादेश के अन्तर्गत बन्दी बना लिया तथा बिना न्यायिक जाँच के एक वर्ष तक बन्दी बनाकर रखा गया।

बंगबन्धु का पूरा जीवन संघर्ष की एक कहानी है। जनता की आवाज को पाकिस्तानी शासकों के कानों तक पहुँचाते रहने पर भी वह सुन नहीं रहे थे वरन् मुजीब को दबाने का प्रयास करते रहे। यह चाहते तो राजनीति में अच्छा पद पा सकते थे किन्तु इन्होंने जनसाधारण की श्रद्धा को बेचा नहीं। १९६५ में जब भारत-पाक युद्ध हुआ तब पूर्वी बंगाल के प्रदेश को प० पाकिस्तान ने बिल्कुल उपेक्षित रखा। तब बंग, बन्धु ने जनता की भावना को इन शब्दों में व्यक्त किया था— “हमारी सरकार काश्मीर में जनमत कराने के लिये लड़ रही है। सरकार को यहाँ जनमत संग्रह करना चाहिये तब उसे मालूम होगा कि ९५ प्रतिशत जनता मेरे साथ है।”

बंगाल की जनता की श्रद्धा को मुजीब ने जिस प्रकार अपने हृदय में समेटा है उसका उदाहरण गाँधी जी के बाद यह दूसरा है। १९६६ में इनकी पार्टी ने पूर्वी बंगाल को पूर्ण स्वायत्तता दिलाने का कार्यक्रम प्रस्तुत किया तथा उसके लिये जनमत संग्रह करने में जुट गये। इसका परिणाम पाकिस्तान के प्रथम चुनाव (जिसमें एक व्यक्ति ने एक वोट दिया) में शेख मुजीबुर्रहमान के छह सूत्री कार्यक्रम के आधार पर इनकी पार्टी ने अपूर्व सफलता पाई।

जनमत के द्वारा इस प्रकार शेख साहब का समर्थन करने पर पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल याह्या ख़ाँ बौखला उठे। इसका कारण यह पाकिस्तान में जनमत के आधार पर कोई सरकार नहीं बनी थी। इसी कारण सरकार सेना की कठपुतली मात्र रही थी। प्रत्येक सरकार चन्द महीनों तक ही जीवित रह सकी और कोई स्थानीय शासन न बन सका। सैनिक प्रशासकों को जनमत की इस सरकार से भय होना स्वाभाविक था।

जनरल याह्या ख़ाँ नहीं चाहते थे कि शासन सूत्र मुजीब के हाथ में चला जाये। इस कारण ३ मार्च को जो राष्ट्रीय एसेम्बली की बैठक होने वाली थी उसे स्थगित कर दिया। राष्ट्रपति के इस निर्णय पर ढाका, चटगाँव तथा पूर्वी बंगाल के सभी स्थानों पर जोरदार प्रदर्शन हुए।

पाकिस्तान सरकार ने इन प्रदर्शनों का बड़ी क्रूरता से दमन किया। शेख साहब ने याह्या ख़ाँ के इस कदम को 'काला षड्यंत्र बताया'। सारे पूर्वी बंगाल में इसका शांतिपूर्ण तरीके से विरोध किया गया।

पाकिस्तान शासकों ने जनता की इस आवाज को दबाने के लिये एक चाल चली। १० मार्च को पूर्वी बंगाल में जनरल टिक्का ख़ाँ को मार्शल ला प्रशासक नियुक्त किया। याह्या ख़ाँ स्वयं मुजीब से बात करने का ढोंग करने ढाका गये। बात-चीत चलती रही साथ ही साथ सुनियोजित ढंग से सैनिक स्थिति को सुदृढ़ कर लिया। यह स्थिति मजबूत होते ही बातचीत बन्द कर याह्या ख़ाँ पाकिस्तान लौट आये। २६ मार्च को जनता के इस सेवक को, जनता की आवाज को, पाकिस्तान के क्रूर शासकों ने बन्दी बना लिया और पश्चिमी पाकिस्तान ले आये। उसी रात पाकिस्तान के राष्ट्रपति ने शेख मुजीब को उस राष्ट्र का शत्रु घोषित कर दिया, जिसके नागरिकों ने उसे राष्ट्र का शासक नियुक्त किया था। इन्हें पाकिस्तान का शत्रु घोषित किया साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि इनको कठोर दण्ड दिया जायगा।

"उनके पास शस्त्र हैं, वे मुझे मार सकते हैं, परन्तु उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि वे बंगाल की साढ़े सात करोड़ जनता की भावनाओं को नहीं कुचल सकते।" पाकिस्तानी शासकों ने मुजीब के शरीर को बन्दी बना लिया तो क्या? मुजीब कोई एक शरीर तो था नहीं वह तो समय की आवाज थी। समय की आवाज किसी भी शरीर के माध्यम से गुँज सकती थी। मुजीब और बंगला देश के प्रति किया गया नृशंस व्यवहार रंग लाया। बंगला देश के कोने-कोने से मुजीब निकल पड़े। दमन चक्र तेजी से चलने लगा। एक ओर सच्चाई के शस्त्र लिये साधन विहीन बिना सैनिक शिक्षण पाई जनता की सेना, मुक्ति वाहिनी और दूसरी ओर अमेरिका से खरीदे गये युद्ध सामग्री से लदे-फदे प्रशिक्षित पाकिस्तानी सैनिक युद्ध के मैदान में कूद पड़े।

बड़े-बड़े देश जो शान्ति का दम भरते थे मौन साधे बैठे रहे। बंगाल की धरती पर पाकिस्तानी सैनिकों ने जो अमानुषिक अत्याचार किये उनका उदाहरण विश्व के इतिहास में नहीं मिलता। हत्या और बलात्कार के कीर्तिमान स्थापित करने में पाकिस्तान की सेना ने कोई कसर नहीं रखी। साढ़े दस महीने तक यह साढ़े सात करोड़ जनता जिन्दगी और मौत के अँधेरे में भटकती रही। इस महाभारत के सूत्रधार थे बंगबन्धु जिनके आह्वान पर नागरिकों ने अपना सब कुछ स्वतन्त्रता के यज्ञ में होम दिया।

यह कम साहस की बात नहीं है। एक तरफ पाकिस्तान की सुसज्जित सेना से निहत्थे नागरिकों को लड़ाने का साहस, न्याय के प्रति अटल निष्ठा। ईश्वर के नियमों पर इतना अटल विश्वास यदि इतना सब नहीं होता तो बंग बन्धु की कभी हिम्मत नहीं पड़ती कि वे इस युद्ध के लिये बिगुल बजा उठते।

शेख मुजीबुर्रहमान पर पाकिस्तान की फौजी अदालत में गुप्त मुकदमा चलाया गया। पाकिस्तान के शासकों का बस चलता तो इन्हें कभी का मरवा दिया होता पर वे जानते थे कि इस आदमी के पीछे सारा बंगला देश है। गिरफ्तारी पर ही इतनी प्रतिक्रिया हो रही है तो मृत्यु पर न जाने क्या होगा।

मुजीब ने जनता से केवल कहा ही नहीं कि स्वतंत्रता के लिये लड़ मरो वरन् इस संग्राम की पूरी तैयारी भी करली थी। यदि ऐसा नहीं होता तो मुजीब के बन्दी बनाने के उपरान्त वहाँ दस महीने तक जनता का मनोबल बना रहना कठिन था।

शेख मुजीब राष्ट्रों की सच्ची मैत्री के समर्थक थे। किसी भी राष्ट्र के द्वारा उठाये गलत कदम का वे प्रतिवाद करने से नहीं चूकते थे। ये जब चुनाव जीते ही थे और पाकिस्तान ने भारत का एक वायुयान जला दिया था तब बङ्गबन्धु ने पाकिस्तान द्वारा इसकी जाँच न कराये जाने पर प्रतिवाद किया था।

नौ महीने नर-संहार के बाद न्याय की विजय हुई। पाकिस्तान ने अचानक जब भारत के हवाई अड्डों पर आक्रमण किया तो भारत के लिये बंगला देश की समस्या अपनी समस्या हो गयी तथा भारत की सहायता से बंगला देश पाकिस्तान की दासता से मुक्त हो गया।

शेख साहब तब बंगला देश के प्रधान मंत्री बने। एक सच्चे क्रांतिकारी राष्ट्र-भक्त के साथ-साथ इनमें मानवीय गुणों का समावेश था। अगस्त, १९७५ में सेना के कुछ विद्रोही अधिकारियों ने मिलकर उनकी हत्या कर दी।

जिनकी रंग-रंग में क्रांति भरी थी-

डॉ० राम मनोहर लोहिया

बर्लिन में शिक्षा पा रहे पुत्र को भारतीय पिता का पत्र मिला। पत्र में भारत में हो रहे अत्याचारों का वर्णन था। महात्मा गाँधी ने १२ मार्च को नमक कानून तोड़ने को डाँडी प्रयाण आरम्भ किया तो स्थान-स्थान पर नमक बनाकर इस कानून तोड़ने का विरोध करने के लिए जनता उमड़ पड़ी। इन निहत्थे सत्याग्रहियों पर अँग्रेज सरकार के सिपाहियों ने अमानवीय अत्याचार किये। इन्हें लाठियों से पीटा गया और बूटों के तले रौंदा गया। कई लोग तो इस बेतरह पिटाई से बेहोश हो गये। स्वयं उसके पिता भी उन बेहोश होने वालों में से एक थे।

युवक भगतसिंह तथा उसके साथियों के फाँसी दिये जाने की खबर पाकर पहले ही क्षुब्ध हुआ बैठा था।

रही-सही कमी इस पत्र ने पूरी कर दी। उसके मन में इसका प्रतिकार करने की प्रवल कामना जाग पड़ी।

इन्हीं दिनों लीग ऑफ नेशनस की बैठक जिनेवा में होने वाली थी जिसमें भारत के प्रतिनिधि अँग्रेजों के पिट्ट

एक राजा भाग ले रहे थे जो अँग्रेजों द्वारा रटाय गई बातें ही कहने वाले थे । भारत की वास्तविक स्थिति को प्रकट नहीं होने देने के षड्यन्त्र को विफल करने के लिए यह युवक कटिबद्ध हो गया ।

विदेश में जहाँ कोई संगी-साथी नहीं, पराए लोग हों वहाँ इस प्रकार का कदम उठाना असम्भव था पर इसने हार न मानी । वह जिनेवा जा पहुँचा । उन राजा ने ज्यों ही अँग्रेजी शासन की बड़ाइयों की तोता रटन्त आरम्भ की तो इस युवक ने दर्शक कक्ष में जोर-जोर से सीटी बजानी आरम्भ कर दी । पहरेदार भागकर युवक के पास पहुँचे । इसे दर्शक-कक्ष से बाहर निकाल दिया ।

युवक इस प्रकार बाहर निकाले जाने पर निराश न हुआ, 'कान्फ्रेस के अध्यक्ष के नाम एक पत्र' शीर्षक से भारत की वास्तविक स्थिति का चित्रण अखबार में छापना चाहा । वह कई अखबारों के सम्पादकों के पास गया पर कोई इसे छापने को तैयार न हुआ । अन्त में एक पत्र 'लुत्रावे ह्य मेनाइट' ने छापना स्वीकार कर लिया । युवक ने दूसरे दिन सभा आरम्भ होने के पहले ही इस पत्र की प्रतियाँ लीं और सभा भवन के द्वार पर खड़ा हो गया । सभा में भाग लेने वाले प्रत्येक प्रतिनिधि को उसने यह पत्र भेंट किया ।

युवक ने अपना प्रतिवाद सफलतापूर्वक कर लिया । अन्य देश के प्रतिनिधियों ने इस पत्र को पढ़कर वास्तविक स्थिति जानी । अन्य देशों के सामने अँग्रेजों का स्वार्थ नंगा होकर सामने आ गया । यह युवक था-राम मनोहर लोहिया ।

ये पढ़ने के लिए इंग्लैण्ड गये पर उन्हें उसी देश की शिक्षा ग्रहण करने में कोई तुक दिखाई न दी जो हमारे देश को गुलाम बनाये था । वे जर्मनी चले गये । जर्मनी गये तो वहाँ एक विकट समस्या सामने आई । ये जब अपने प्राध्यापक प्रो० जोम्बार्ट के सामने उपस्थित होकर अँग्रेजी में अपना मन्तव्य बताने लगे तो उन्होंने कहा "मुझे अँग्रेजी नहीं आती । यहाँ की पढ़ाई केवल जर्मन भाषा में होती है ।" इन्होंने उत्तर दिया-"तीन महीने बाद आपसे मिलूँगा ।"

तीन महीने बाद ये प्रो० जोम्बार्ट से मिले तो जर्मन भाषा पूरी तरह सीख चुके थे । इस भारतीय की प्रतिभा देखकर जोम्बार्ट बहुत प्रसन्न हुए । लगन और परिश्रम के बल पर सभी कुछ सम्भव होता है, लोहिया ने इसका अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया था ।

२६ मार्च, १९१० को अकबरपुर (उत्तर प्रदेश) में इनका जन्म हुआ । इनके पिता हीरालाल लोहिया कट्टर देशभक्त थे । राम मनोहर को जन्म देकर माँ चन्दा बचपन में ही सदा की नींद सो गई । एकमात्र पुत्र को अपनी माँ के भरोसे छोड़कर हीरालाल जी ने अपना शेष जीवन देश को सौंप दिया । लोगों ने विवाह करने का आग्रह किया पर वे न तो शादी के इच्छुक थे न पुत्र के लिए धन जमा करने के लिए ही । उन्होंने सोच लिया था कि पुत्र को

शिक्षित करने तथा अपना खर्च चलाने के लिए तो वे चार घण्टे काम करेंगे तो भी काम चल जायगा ।

हीरालाल जी ने अपना कार्य क्षेत्र कलकत्ता बनाया । वे बड़ा बाजार काँग्रेस कमेटी के मन्त्री बनाये गये । राम मनोहर भी अपनी प्रारम्भिक शिक्षा पूरी करके कलकत्ता पहुँच गये । वहाँ कालेज चयन का प्रश्न उपस्थित हुआ । उस समय अभिभावक मिशनरी कालेज में अपने लड़कों को पढ़ाना चाहते थे । राम मनोहर ने विद्या सागर कालेज में प्रवेश लिया जिसे लोग व्यङ्ग्य से भेड़िया धसान कालेज कहते थे । यहाँ पर भी अपने परिश्रम के बल पर प्रथम श्रेणी में बी० ए० आनर्स परीक्षा पास करके उन्होंने मिशनरी कालेज में पढ़ने वाले भारतीयों को दिखा दिया कि भारतीय कालेज में पढ़ाई का स्तर नीचा नहीं होता ।

जर्मनी से डाक्टरेट करके लोहिया भारत लौट रहे थे तो इनके पास पुस्तकों का अपूर्व संग्रह था । इन्हें खाने से भी अधिक पुस्तकों की ज़रूरत रहती थी । भारत में इनकी जो पढ़ाई का खर्च पिताजी देते थे उसमें से तीन चौथाई अच्छी-अच्छी पुस्तकें खरीदने में चला जाता था । नाजी सरकार के आदेश से इनकी सब पुस्तकें तथा सामान जब्त करवा दिया गया ।

मद्रास बन्दरगाह पर उतरे तो ये खाली हाथ थे । एक भी पैसा जेब में नहीं था । धन भले ही न हो, अर्जित विभूतियाँ तो थीं । वे जहाज से उतर कर सीधे 'हिन्दू' पत्र के कार्यालय पहुँचे और सह-सम्पादक से बोले -"मैं जर्मनी से आ रहा हूँ । आपको दो लेख देना चाहता हूँ ।" सह-सम्पादक ने इस क्षीणकाय नाटे युवक को देखा तो उसे इनके कथन पर विश्वास न हुआ । उसने पूछा -"कहाँ है लेख दिखाइये ?" लोहिया बोले-कागज-कलम दीजिये अभी लिख देता हूँ । मेरे पास कलकत्ता जाने के लिये पैसे नहीं हैं इसलिये आपको कष्ट दे रहा हूँ ।" इस सहज सच्चाई से वह प्रभावित हुए बिना न रह सका । कागज कलम लेकर कुछ ही घण्टों में दो लेख लिखकर लोहिया ने उनके हाथ में थमा दिये । लेख देखकर वह आश्चर्यचकित रह गया । लोहिया को पारिश्रमिक दिया तथा वह जीवन भर के लिये उनके मित्र बन गये ।

भारत आकर लोहिया अपनी डिग्री के बलबूते पर अर्थोपार्जन में नहीं लगे । वे राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने लगे । देशप्रेम की अग्नि जो उनके हृदय कुण्ड में जल रही थी उसी में अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा की आहुति देकर वे राष्ट्र समर्पित जीवन जीने लगे ।

इनके पिता हीरालाल जी लोहिया ने इनकी भेंट गाँधी जी से कराई । वे इस युवक से प्रभावित हुए-लोहिया की गिनती गाँधी जी के अन्तरंग शिष्यों में की जाने लगी ।

लोहिया ने 'काँग्रेस सोशलिस्ट' पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया । इस पत्र में अपनी सशक्त लेखनी से अँग्रेजों के विरोध में लोहिया इस प्रकार के आक्षेप करते कि सरकार की नाक में दम होने लगा ।

केवल पत्रकार के रूप में ही नहीं लोहिया खुले सत्याग्रह में जोरदार भाषण देते थे। उनके हृदय में भारतीय प्रजा की पीड़ा थी। वह पीड़ा इतनी सघन थी कि उन की वाणी और लेखनी में इस प्रकार उभरती थी कि उसे जो भी सुनता देशप्रेम की वेदी पर बलिदान होने को प्रस्तुत हो जाता।

लोहिया ने आजन्म अविवाहित रहने का संकल्प लिया था, मित्रों तथा परिचितों के आग्रह पर वे कभी विवाह करने के लिये तैयार नहीं हुए। उनके सामने महान लक्ष्य था उसी के निमित्त वह पूरी शक्ति लगाना चाहते थे। विवाह करके इस ओर शक्ति बँटाना नहीं चाहते थे।

काँग्रेस में काम करते हुए लोहिया ने विदेशी सम्पर्क विभाग का काम सम्हाला। अब तक यह विभाग नहीं था। लोहिया ने इस विभाग को कुशलतापूर्वक संचालित करके विदेशों में भारतीय स्वतन्त्रता के पक्ष में जनमत तैयार किया।

उनके भाषणों को आपत्तिजनक घोषित करके उन्हें कई बार जेल में रखा गया। ७ जून, १९४० को उन्हें इसी अपराध में बन्दी बनाया गया, मुकदमे की पेशी पर हथकड़ी पहने उन्हें तीन मील लाया जाता था। हथकड़ी नहीं पहनने पर बल प्रयोग किया जाता। उन्हें दो वर्ष के कारावास का दण्ड दिया गया। यह सजा पूरी नहीं हुई कि द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण उन्हें बिना पूर्व सूचना के छोड़ दिया।

फिर आया १९४२ का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन। लोहिया की आत्मा वर्षों से जिसका इन्तजार कर रही थी इतिहास बदलने वाला वह समय आ पहुँचा। लोहिया गिरफ्तार होने के पक्ष में नहीं थे। उन्हें तो सही अर्थों में आन्दोलन चलाना था। बड़े-बड़े नेता लोगों के गिरफ्तार हो जाने पर जनता का मनोबल बनाये रखने के लिये भी तो कोई चाहिए। गिरफ्तार होने का क्रम बनाये रखने के लिये भी तो कोई चाहिए था। लोहिया ने वही भूमिका निभाई। पेम्फलेट तथा छोटी-छोटी पुस्तकों को चोरी छिपे छपाना तथा बाँटना इनका काम था। काँग्रेस रेडियो नाम का स्टेशन भी इन्हीं ने चलाया जो रेडियो प्रोग्रामों के बीच क्रान्तिकारी समाचार तथा उद्बोधन प्रसारित करता था। डेढ़ वर्ष तक इन्होंने अँग्रेजों की आँखों में धूल झाँककर देशभक्तों को करो या मरो की प्रेरणा दी। सरकार ने लोहिया को पकड़ने के लिये बड़े-बड़े इनाम रखे।

लोहिया का भारत में रहना कठिन हो गया तो ये नेपाल चले गये। भारत सरकार ने नेपाल सरकार को इन्हें बन्दी बनाने के लिये मजबूर किया। जय प्रकाश पहले ही वहाँ थे दोनों पकड़े गये। वहाँ से जेल तोड़कर दोनों भाग निकले। भारत आने पर फिर पकड़े गये।

लोहिया व जय प्रकाश को खतरनाक कैदी समझकर इन्हें लाहौर की जेल में रखा गया। वहाँ इतनी शारीरिक तथा मानसिक यन्त्रणायें दी गईं जिनका वर्णन कठिन है। सात-सात दिन तक सोने नहीं देना साधारण बात थी।

देश-प्रेम के इस दीवाने ने सब यन्त्रणायें सह लीं। चार वर्ष तक ये अत्याचारों को पीते रहे। जनता ने रिहाई के आन्दोलन किये पर सब व्यर्थ गया। इंग्लैण्ड में जब लेबर पार्टी की सरकार बनी तब इन्हें छोड़ा गया।

आजाद भारत में भी लोहिया हिन्दी के प्रबल समर्थक तथा किसानों और मजदूरों के हितों के रक्षक के रूप में अपना एक व्यक्तित्व बनाये रहे। प्रबुद्ध विरोधी नेता के रूप में उनकी कमी आज भी अनुभव की जाती है। १९६७ में इनका देहावसान हो गया।

लोहिया का जीवन एक ऐसे आदमी की कहानी है जो देशवासियों का अपना आदमी था। उन्हीं के दर्द में तड़पा, उन्हीं के दर्द को लेकर जिया और उसी को लेकर मरा। भावनाशील लोगों के हृदय में उनके कर्तृत्व से सदा पीड़ित मानव की सेवा करने की उमंगें उठा करंगी।

स्वदेश और समाज के उद्धारकर्ता—

डा० सनयातसेन

सन् १८९६ के अक्टूबर में लन्दन नगर में यह खबर बड़े जोरों से फैली कि एक शरणागत चीन निवासी का बलपूर्वक अपहरण कर लिया गया है और उसे चीनी-दूतावास में कैद कर रखा है। स्वाधीनता की प्रियभूमि इंग्लैण्ड में ऐसी अनहोनी घटना का होना सुनकर सर्वसाधारण में एक विचित्र हलचल पैदा हो गई और दो-तीन दिन तक समाचार पत्रों तथा जनता में उसी की चर्चा सुनाई देती रही। यह देखकर वहाँ की सरकार का आसन भी डोला और प्रधानमंत्री लार्ड सेलिसबरी ने चीन के राजदूत को सन्देश भेजा कि 'हमारे देश में इस प्रकार का अवैध कृत्य करके आपने बहुत बड़ी गलती की है, अब उस व्यक्ति को तुरन्त मुक्त कर दीजिए।' कहना न होगा कि इस आदेश का अविलम्ब पालन किया गया। फिर इंग्लैण्ड निवासी उस व्यक्ति को बिल्कुल भूल गये।

इस व्यक्ति का नाम सनयातसेन था। यद्यपि वह एक गरीब घर में उत्पन्न हुआ था, पर बड़े होने पर उसने चीन के 'महामहिम सम्राट' के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाने का साहस किया था। एक गुलामों के भी गुलाम के तुल्य व्यक्ति की ऐसी गुस्ताखी देखकर अपनी पचास करोड़ प्रजा द्वारा 'भगवान' माने जाने वाले सम्राट बहुत असन्तुष्ट हुये और उन्होंने आदेश दिया कि 'जो कोई उसे जीवित या मृतक पकड़ कर लायेगा उसे दस हजार (आज-कल के हिसाब से पाँच लाख) रुपया पुरस्कार दिया जायगा। इस धन के लालच से कितने ही लोग उसके प्राणों के ग्राहक हो रहे थे और उसके भय से वह क्रान्तिकारी युवक भी एक मुल्क से दूसरे मुल्क में छिपकर भ्रमण करता रहता था। जब वह अमरीका से लन्दन के लिए रवाना हुआ तो इसकी सूचना चीनी राजदूत ने तार द्वारा इंग्लैण्ड स्थित राजदूत को दे दी। लन्दन पहुँचकर सनयातसेन अपने एक अँग्रेज मित्र के यहाँ ठहर कर उस नगर में रहने वाले

चीनी लोगों में विद्रोह का प्रचार करने लगा। उसे यह मालूम न था कि स्वदेश से दस हजार मील के फासले पर यहाँ भी 'शत्रु' के दूत उसका पीछा कर रहे हैं।

इन दूतों ने भी चीन निवासी 'देश-भक्तों' का स्वाँग बनाया और सनयातसेन को सहायता देने का वायदा करके किसी एकान्त स्थान में ले गये। वहाँ चीनी राजदूत के गुर्गे पहले से ही छिपे थे और उन्होंने सनयातसेन को बेवस करके चीनी दूतावास में ले जाकर बन्द कर दिया। उनकी योजना थी कि कुछ दिन बाद मौका लगने पर उसे जहाज द्वारा चीन भेज देंगे पर भेद खुल गया और षड़यन्त्र रचने वालों की मन की मन में रह गई।

सनयातसेन का जन्म चीन के एक छोटे से गाँव में १८६६ में हुआ था। उस समय गरीबों की तो क्या बात चीन के अमीर लोग भी बहुत कम पढ़ते थे और उनको यह पता न था कि अपने देश के बाहर संसार में अन्य बड़े-बड़े प्रभावशाली और उन्नत देश भी हैं, जहाँ की जनता अपने आप ही मालिक है। यही कारण था कि चीन के निरंकुश सम्राट अपनी प्रजा को तरह-तरह से गुलाम बनाये हुए थे और वे हर्गिज नहीं चाहते थे कि चीन निवासियों में भूगोल, इतिहास आदि का ज्ञान फैले और वे यह जान सकें कि संसार के अन्य अनेक देशों के निवासी उनकी अपेक्षा कहीं अधिक सुखी और अधिकार सम्पन्न हैं। चीन में रहने वालों को तो केवल एक ही बात सुनाई और सिखाई जाती थी कि सम्राट भगवान का स्वरूप है, वही समस्त प्रजा का पिता है, उसी की सेवा करने से हमारा उद्धार हो सकता है। वह जो कुछ भी न्याय-अन्याय करे वही धर्मानुकूल और मान्य है। उसके विरुद्ध तनिक भी आवाज निकालना घोर पाप है।

पर ऐसे 'दैवी कैदखाने' में रहने पर भी किसी प्रकार सनयातसेन को आजादी की हवा लग गई और १३ वर्ष की आयु में ही वे अमरीका द्वारा शासित हवाई टापू में मजदूर के रूप में चले गये। वहाँ जाकर उनको अनुभव हुआ कि वे एक नई दुनिया में पहुँच गये हैं। पर उसका लाभ तब तक नहीं उठाया जा सकता जब तक वे अँग्रेजी सीखकर अन्य लोगों से बातचीत और विचार, विनिमय न कर सकें। इस उद्देश्य से उन्होंने एक 'चर्चस्कूल' में नाम लिखा लिया। इसके बाद तो उनका साहस बढ़ गया और एक स्थान से दूसरे स्थान को जाकर अपनी शिक्षा को पूरी करने का प्रयत्न करने लगे, कुछ ही वर्षों में उन्होंने डाक्टरी की सनद प्राप्त कर ली और वे इस योग्य हो गये कि स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करते हुए कहीं भी रह सकें।

शासन की भ्रष्टता और राज कर्मचारियों की घोर स्वार्थपरता को देखकर सनयातसेन के हृदय में विद्रोह का भाव कालेज में पढ़ते हुए ही उत्पन्न हो गया था और अपने कुछ साथियों को लेकर वे राज्य के विरुद्ध षड़यन्त्र रचने लगे थे। चीन में रहकर तो यह कार्य कर सकना सम्भव न था, क्योंकि सरकार के जासूस चारों तरफ फैले

हुए थे और उनके द्वारा किसी के सम्बन्ध में जरा भी सन्देहजनक खबर मिलने पर उसे बिना विलम्ब किसी जेलखाने की कालकोठरी में बन्द कर दिया जाता और तरह-तरह की यन्त्रणायें देकर उसका प्राणान्त किया जाता था। साथ ही चालाक शासकों ने प्राचीनकाल से ही चीन की जनता के दिल और दिमाग को ऐसे सुदृढ़ बन्धनों में बाँधा था कि शासकगण चाहे जैसा अन्याय, अत्याचार करें वह चूँ नहीं करती थी। उनकी ठीक वही हालत थी जैसी हम अपने देश में कुछ ही वर्ष पहले भारतीय रियासतों की प्रजा की देख चुके हैं। इनमें से अधिकांश राजा अयोग्य थे और अपने भोग-विलास के लिये प्रजा का खून चूसने में उनको जरा भी संकोच नहीं होता था। उनके शासन में किसी की भी सम्पत्ति और इज्जत सुरक्षित नहीं थी। चाहे जब किसी की लूट-मार कर सकते थे। फिर भी प्रजा उनको 'सर्वशक्तिमान भगवान' का अंश समझकर पूजती रहती थी।

सनयातसेन ने विदेशों में बसने वाले चीनी लोगों और अपने मित्रों के सहयोग से कई बार चीन में विद्रोह फैलाने की चेष्टा की, पर उसे नाम मात्र की सफलता ही मिल सकी। तब उसने विचार किया कि एक बार संसार के विभिन्न देशों का दौरा करके वहाँ के शासकों की सहायता प्राप्त की जाय और उन देशों में रहने वाले चीनियों को संगठित भी किया जाय तभी कोई बड़ा काम हो सकेगा। इसी संसार भ्रमण के अवसर पर इंग्लैण्ड में अपहरण होने की घटना हुई थी जिसका उल्लेख आरम्भ में किया जा चुका है।

सनयातसेन का प्रयत्न कुछ समय बाद किसी हद तक सफल हुआ। चीन में आधुनिकतावादियों के मुकाबले में एक प्रगति विरोधी दल की स्थापना हुई और उसने एक विद्रोह उत्पन्न करके अनेक विदेशी पादरियों तथा राजदूतों को मार दिया। इस पर आठ राष्ट्रों ने सम्मिलित रूप से चीन में अपनी सेनायें भेजीं। चीन तो भ्रष्टाचार और अन्ध विश्वास के प्रभाव से खोखला बना था, वह उन्नतशील पश्चिमी राष्ट्रों का मुकाबला क्या करता? दस बीस दिन में ही विद्रोही जिसका नाम 'क्वसर' था कुचल दिये गये और हजाने के रूप में चीन के कई समुद्र तट के स्थानों पर कब्जा कर लिया गया।

इस अवसर को सनयातसेन ने अपने आन्दोलन और प्रचार कार्य के लिए उपयुक्त समझा यद्यपि वह अब भी खुले तौर पर सरकारी सेना का मुकाबला नहीं कर सकते थे, पर अब चीन के शासन की पोल खुल जाने से वहाँ का प्रबुद्ध वर्ग चेतन्य होने लगा था और उसी का संगठन करके सनयातसेन समस्त देश में जाग्रति फैलाने तथा जनता में असन्तोष भड़काने की चेष्टा करने लगे। यद्यपि इस बार उनको पहले से अधिक सफलता मिली, पर चीन की बहुसंख्यक जनता को उठा सकना सहज न था। इसका एक कारण तो जैसा ऊपर बतलाया गया है, यही था कि शासकों ने प्रगति और जाग्रति के सब मार्ग बन्द कर रखे थे

और दूसरा कारण यह कहा जा सकता है कि स्वयं चीन की जनता आध्यात्मिकता का सच्चा अर्थ भूलकर स्वयं भी प्रगति विरोधी बन गई थी । इसका वर्णन करते हुए एक स्थान पर कहा गया है -

“बहुत समय से चीन को आध्यात्मिक अहंकार का लकवा मार गया था और उसी अहंकार की बेड़ियों उसे अब तक जकड़े हुई थीं । जिस समय योरोप के लोग निरे जंगली थे उस समय चीन वाले बड़े-बड़े मकान बनाना जानते थे, चाय बोते थे, बारूद बना लेते थे, मिट्टी के बर्तन, सरस, ताँत आदि अनेक पदार्थ बनाना जानते थे । उन्होंने छापने की कला का आविष्कार किया था, १२०० मील लम्बी किलेबन्दी की अभेद्य दीवार और ६०० मील लम्बी नहर भी बनाई थी ।

इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि उन्हें अपनी इस प्रकार की उन्नति पर यह ख्याल पैदा हो गया कि संसार की सारी जातियाँ जंगली हैं और केवल हमारी जाति ही सभ्य कहलाने योग्य है । यदि यह जाति नष्ट हो जाय तो संसार का समस्त ज्ञान-भण्डार भी लुप्त हो जायगा । इस झूठे अहंकार का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि चीन दिन पर दिन प्रगति के मैदान में पिछड़ने लगा, योरोपियन जातियाँ उससे बहुत आगे निकल गईं । पर उसका घमण्ड और श्रेष्ठता का गुमान ज्यों-का-त्यों बना रहा । ऐसे देश को एक दिन निश्चय ही नीचा देखना पड़ेगा और हुआ भी ऐसा ही ।

क्या इस प्रकार के आध्यात्मिक अहंकार का दोष हम भारतीयों की नसों में भी नहीं घुसा हुआ है ? और पिछले हजार बरसों में हमने विदेशियों की जो ठोकरें खाई हैं उसका एक बहुत बड़ा कारण क्या यह गलत 'अध्यात्मवाद' ही नहीं है ? कोई भी जानकार व्यक्ति इस तथ्य की सच्चाई से इनकार नहीं कर सकता । निस्सन्देह अध्यात्म मानव-जीवन का सर्वोच्च स्तर है, पर तभी तक जब तक उसे अहंकार और अन्ध-विश्वास से दूर रखा जाय । अध्यात्म कोई गुप्त या काल्पनिक चीज नहीं है, वरन् जीवन को सार्थक बनाने का एक सुनिश्चित और बुद्धिसंगत मार्ग है । किसी समय हमारे पूर्वज सच्चे अध्यात्म को जानते थे और पालन करते थे । तब भारतवर्ष जगद्गुरु की पदवी पर आसीन था । अब भी यदि हम अपनी भूल को सुधार कर सच्चे अध्यात्मवाद का प्रचार करने लग जायें, तो फिर हमारा देश सर्वोच्च शिखर पर पहुँच सकता है ।

फिर भी सनयातसेन ने अपना प्रयत्न जारी रखा । उनके मार्ग में अनेक बाधाएँ आती रहीं, पर अन्त में चीन का प्रबुद्ध वर्ग उठ खड़ा हुआ और सन् १९११ के दिसम्बर की २९ तारीख को ब्रिटिश समाचार ऐजेन्सी 'रायटर' के चीन स्थित सम्वाददाता ने समाचार भेजा कि “वही शरणागत व्यक्ति (सनयातसेन) जो अपने देश से भागकर हमारे यहाँ पहुँचा था और वहाँ भी जिसका पीछा दुश्मनों से न छूटा था, आज चीन के प्रजातन्त्र का सर्वप्रथम

राष्ट्रपति बनाया गया है और इस समय वही उस देश का कर्ताधर्ता और सूत्रधार है ।”

सनयातसेन ने बीस वर्ष तक जो देशसेवा की थी और जिसके लिए आधे पेट खाकर भी वे संसार के विभिन्न देशों की खाक छानते हुए घूमे थे । जनता द्वारा सर्वसम्मति से राष्ट्रपति चुने जाने पर भी वे इस पद पर अधिक समय तक नहीं रहे । एक वर्ष के भीतर ही जब उन्होंने देखा कि अभी चीन उत्तरी और दक्षिणी दो भागों में बँटा हुआ है, जिसके कारण एक सुदृढ़ राष्ट्र के रूप में उसका निर्माण नहीं हो सकता, तो उन्होंने राष्ट्रपति का पद स्वेच्छापूर्वक उत्तरी चीन के नेता युआन शिकाई को इस शर्त पर दे दिया कि वह पूर्ण रूप से राज्य-पक्ष को त्यागकर प्रजातन्त्र के लिए कार्य करें । इसके पश्चात् भी वे चीन की प्रगति के लिए निरन्तर श्रम करते रहे ।

सनयातसेन न तो किसी बड़े खानदान के वैभवशाली व्यक्ति थे और न अधिक विद्वान् । पर उन्होंने अपनी निःस्वार्थ सेवा-भावना से चीन जैसे विशाल देश का उद्धार कर दिया । अन्त में जब सफलता मिली तो उन्होंने स्वयं उसका लाभ उठाने के बजाय दूसरे लोगों को ही आगे बढ़ाकर अपना ध्येय केवल राष्ट्र-रक्षा ही रखा । इस दृष्टि से उनकी तुलना महात्मा गाँधी से की जा सकती है । हमारे वर्तमान 'नेता' नामधारी व्यक्ति, जो जनता तथा राष्ट्र के हित के बजाय सबसे पहिले अपनी प्रतिष्ठा तथा प्रधानता के लिये लड़ रहे हैं वे भी इस महान पुरुष के चरित्र से प्रेरणा लेकर देश के सच्चे सेवक बन सकते हैं ।

राष्ट्र के लिये सर्वतोभावेन समर्पित—

पोहलू राम

पंजाब जिला होशियारपुर गाँव आनन्द पुर । यहीं एक व्यक्ति जन्मा पोहलू राम । बचपन ऐसे ही बीत गया । युवावस्था आई तो उसने अपने को एक ऐसे चौराहे पर खड़ा पाया जहाँ से वह किसी भी दिशा में जा सकता था ।

महत्वाकांक्षा हर व्यक्ति में होती है उसे दिशा मिले तो संसारी आकर्षण, धन, भोग, यश, पद आदि प्राप्त करके अपनी सुख-सुविधा बढ़ाने एवं अहंकार की तृप्ति करने में लगता है पर यदि उसे इस बड़प्पन की तुलना में महानता का महत्व विदित हो जाय, विलासिता और अहंता की पूर्ति के स्थान पर महामानव बनने के लिये, उत्कृष्टता और आदर्शवादिता का अवलम्बन करने के लिये उत्साह उत्पन्न हो जाय तो स्वयं प्रकाशवान होने और अपनी ज्योति से असंख्यों को ज्योतिर्मय बनाने में समर्थ हो सकता है ।

पोहलू राम का सौभाग्य ही कहना चाहिए कि उसे उस उठती उम्र में ही महानता के पथ पर चलने की प्रेरणा मिल गई, जिसमें कुछ कर सकना सम्भव होता है । सचमुच यही उम्र ही कुछ कर गुजरने के उपयुक्त होती है बुढ़ापे में तो मनुष्य एक प्रकार से निरर्थक ही होता है

शरीर अशक्त हो जाता है और मन ऐसे जाल-जंजाल में जकड़ जाता है कि कुछ परमार्थ कार्य बन पड़ना सम्भव ही नहीं रहता ।

सन् १९०९ की बात है । बालक पोहलू राम गाँव के मिडिल स्कूल में पढ़ता था । अध्यापक देवीनन्द तिवारी अपने छात्रों को स्वयं देश की स्थिति, अँग्रेजों के अत्याचार, स्वराज्य की आवश्यकता, देशभक्ति के लिये कुर्बानी जैसे विषयों पर विस्तार से चर्चा किया करते थे । अन्य छात्रों पर तो उतना प्रभाव नहीं पड़ा, पर पोहलू राम के हृदय में वह बात गहराई तक जम गई, उसने निश्चय किया कि वह देश की दुर्दशा दूर करने के लिये ही अपना जीवन समर्पित करेगा ।

एक बार एक विद्वान साधु उधर आये । उनसे पोहलू राम का वार्तालाप होता रहता । उन्होंने भी कहा-ईश्वर भक्ति भी अच्छी है पर देशभक्ति उससे भी अच्छी है । बालक के विचारों में दृढ़ता आई और परिपक्वता भी । उसने घर वालों से स्पष्ट कह दिया कि वह अपना रास्ता आप बनायेगा । न उसे गृहस्थी बसानी है न कमाई करनी है । वह देश के लिये जियेगा और उसी के लिये मरेगा । घर वालों ने रोका तो वह घर छोड़कर निकल पड़ा । एक कम्बल, एक जोड़ी कपड़े, एक लोटा कुछ पैसा, इतना ही सामान पास । देशभक्ति के लिए कहाँ जाया जाय ? सूझा दिल्ली राजधानी है देशभक्ति का अवसर भी वहीं मिलेगा । भोला देहाती किशोर उसके व्यावहारिक रूप को जानता न था, पर उसकी उत्कंठा बहुत थी । सो पैदल ही लम्बी यात्रा पूरी करके भूखा प्यासा दिल्ली आ पहुँचा ।

यमुना किनारे एक साधु से उसकी भेंट हुई । कुछ खाने को मिला और आश्रय भी । देश भक्ति की लगन तो बहुत थी पर क्या करना चाहिए यह सूझ नहीं पड़ता था । उन्हीं दिनों लार्ड हार्डिंग दिल्ली आये । उनका जुलूस निकला उसमें दर्शक पोहलू राम भी था । क्रान्तिकारियों द्वारा बमफेंका गया । हार्डिंग मरे तो नहीं पर घायल हो गये । पंजाब नेशनल बैंक की छत पर बैठे हुये सभी लोग सन्देह में पकड़े गये, उनमें पोहलू राम भी था । पुलिस ने जाँच-पड़ताल के लिए सबको जेल भेज दिया । कई दिन उन्हें वहाँ रहना पड़ा । इन्हीं साथियों से उसे यह शिक्षा मिल गई कि उसे भविष्य में क्या करना है । उन दिनों क्रान्तिकारी आन्दोलन ही ज़ोरों पर था । काँग्रेस तब थी तो पर उसका कोई आन्दोलनात्मक कार्य नहीं था । पोहलू राम क्रान्तिकारी बन गया और देश की स्वतन्त्रता के लिये क्रान्तिकारी कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए पार्टी के आदेशानुसार काम करने में जुट गया ।

एक बार संकल्प किया सो जीवन भर निभा । चंचल चित्त मनुष्य हजार ओर मन डुलाते और हजार रास्ते पलटते हैं, पर जो स्थिर मति दृढ़ निश्चयी होते हैं वे ऊँच नीच समझने के बाद निश्चय करते हैं और करने के बाद उसे निवाहते हैं । पोहलू राम ने निश्चय कर लिया था कि उसका जीवन देश के लिये है, अनेक प्रकार ललचाया पर

उसने किसी तरफ आँख उठाकर नहीं देखा वरन् और कठिनाइयों से भरे रास्ते पर वह वीरव्रती की तरह निरन्तर अनवरत रूप से बढ़ता ही चला गया ।

पार्टी के निर्देशों के अनुसार उसे अनेक स्थानों की यात्रा करनी पड़ी और अनेक कार्यक्रम अपनाने पड़े । पर लक्ष्य एक रहा अपने नेताओं के मार्गदर्शन में वह कठपुतली की तरह नाचता रहा । जो करने के लिये कहा गया उसे उसने बिना शंका के किया । यथावत कर दिखाया ।

लिलुआ कलकत्ता में गोशाला के कर्मचारी की तरह, जापान में पत्र लेखक के रूप में, स्पेनिश कम्पनी में गेट कीपर बन कर न जाने उसे क्या-क्या पापड़ बेलने पड़े और अपना बाह्य रूप ऐसा बनाये रहना पड़ा जिससे पकड़ में न आकर पार्टी का काम ठीक तरह किया जाता रहे । आनन्द पुर में एक जमींदार के यहाँ और फिर मिलिट्री में सिपाही के यहाँ उसने नौकरी की । अपने लिये नहीं । पार्टी के निर्देशानुसार । गुजारे के लिए स्वावलम्बी उपाजन, सरकार की आँखों से बचने के लिए कोई धन्धा और शेष सारा समय क्रान्तिकारी गतिविधियों में । इस एक ही रीति-नीति में उनकी सारी जिन्दगी बीत गई । सत्रह वर्ष की आयु से लेकर सत्तर वर्ष की उम्र तक पूरे ६० साल यह भारत माता का पुजारी जब तक जिया केवल देश के लिये जिया । उसी के लिये सोचा और जो कुछ सम्भव था सो उसी के लिये किया ।

अनेक बार पुलिस की आँखों में धूल झाँक कर वे अपना काम ठीक तरह करते रहे । अनेक बार पकड़े भी गये और बन्दी गृह की यातनाएँ सहते रहे । उन्हें नौ बार गिरफ्तार किया गया कुल मिलाकर तीस वर्ष जेल रहना पड़ा । पर उनके लिए जेल जीवन और बाहर रहने में कोई अन्तर न था । जेल जीवन में जहाँ देश के लिये कुछ कर न पाने की व्यथा रहती थी वहाँ व्यस्तता में कुछ हल्का पन भी अनुभव होता था और एक प्रकार की निश्चिन्तता भी रहती थी । इसलिये उन्होंने न कभी जेल जीवन से उदासीनता प्रकट की और न बाहर आने की उत्सुकता । राष्ट्र के लिये समर्पित जीवन उनका अपना न था परिस्थितियाँ जहाँ भी ले जायें उसमें रहने में उन्हें कोई आपत्ति न थी ।

पचहत्तर वर्ष में उनका शरीर थक गया और स्वतन्त्रता प्राप्ति का लक्ष्य भी पूरा हो गया तो उन्होंने सरकार से प्राप्त छोटे से भूमि-खण्ड पर अपनी कुटिया बनाई और वहीं अन्न उत्पन्न करके स्वावलम्बी समाज के लिये उपयोगी गतिविधियाँ अपना कर जीवनयापन करने लगे । इसी भूमि खण्ड पर १९ फरवरी, १९६२ को उनका स्वर्गवास हो गया ।

सार्वजनिक जीवन में व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं की दौड़-धूप वाले, पद और यश-कामना के लिये पागल लोगों के बीच पोहलू राम अपना एक ज्वलन्त उदाहरण छोड़ गये हैं । दूसरों पर छा जाने को अपनी गरिमा

प्रतिष्ठापित करने की घुड़-दौड़ में कलुषित सार्वजनिक जीवन कैसे पवित्र और प्रखर रखा जा सकता है, इसका दर्शन यदि सीखना हो, राष्ट्र के लिये समर्पित जीवन का स्वरूप समझना हो तो पोहलूराम के चिन्तन और कर्तृत्व की पृष्ठ-भूमि का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करना चाहिये।

संग्राम के अमर अहिंसक सैनिक— फुलेना प्रसाद

अहिंसक योद्धा ने हिंसा से लड़ने के लिये अपना सीना खोल दिया। लाठियों के प्रहारों ने दोनों हाथ पहले ही तोड़ रख दिये थे। एक भाला भी लग चुका था। उस वीर को इसकी चिंता नहीं थी। सिपाही यदि अंग भंग की चिंता करने लगे तो वह विजय श्री कैसे वरण कर सकता है? गोलियाँ चलाने वाले भी इस साहसी को देखकर दौतों तले अँगुली दबाने लगे। गोलियाँ तड़क उठी धौंय, धौंय...। एक दो नहीं पूरी आठ गोलियाँ सीने को वेध चुकी थीं पर योद्धा उसी शान से मैदान में डटा था। नवीं गोली ने शरीर के चिथड़े उड़ा दिये। अहिंसा के संग्राम में यह अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करने वाले भारतीय सत्याग्रही थे फुलेना प्रसाद।

विश्व के इतिहास में हिंसा और अहिंसा के युद्ध का पहला उदाहरण महात्मा गाँधी ने प्रस्तुत किया। निहत्थे सत्याग्रहियों पर सशस्त्र पुलिस ने लाठियाँ बरसाई, बूटों से रौंदा यहाँ तक कि गोलियाँ बरसाई पर आजादी के दीवाने सच्चाई के सेनानी रुके नहीं, धके नहीं, परिणाम यह हुआ कि हिंसा हार गई अहिंसा जीत गई। अहिंसा के योद्धाओं में अमर शहीद फुलेना प्रसाद की गणना श्रेष्ठ सैनिकों में की गई। उनकी मृत्यु ने हजारों को प्रेरणा दी। यह शहादत किसी भी अहिंसक के लिये ईर्ष्या की वस्तु थी इस मृत्यु पर हजार जीवन न्योछावर किये जा सकते हैं।

महाराजगंज, छपरा (बिहार) के निवासी इस बालक को देखकर आनन्दित हो उठते थे। मुस्कराते फूल की तरह हँसता हुआ गोरा-चिट्ठा, हृष्ट-पुष्ट बड़ी-बड़ी आँखों वाला यह मनोहर बालक सबके आकर्षण का केन्द्र था। जो भी इसे देखता अपने आप को भूल जाता था। अपने जीवन के कुल तीस बसन्त देखकर यही बालक मातृ-भूमि की बलिवेदी पर बलिदान हो गया और गाँव वालों के हृदय में आदर्शों के प्रति एक दर्द जगा गया। ऐसे पद चिह्न छोड़ गया जिनका अनुसरण करके कोई भी मनुष्य जन्म की 'सुर-दुर्लभता' प्रतिपादित कर सकता है।

यों तो पेड़ से गिरते हुए फल को सभी देखते हैं, आकाश में दीखने वाला इन्द्रधनुष सबको मोहित करता है पर उन पर चिंतन-मनन करने वाले थिरले ही होते हैं जो न्यूटन और सी० वी० रमण-जैसे वैज्ञानिक बन जाते हैं। वैसे यह किसी की बपीती नहीं है पर अधिकांश लोग इस

प्रकार के चिंतन-मनन की उपेक्षा वर्तते हैं। बालक फुलेना प्रसाद इस प्रकार की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन नहीं देता था। वह प्रत्येक तथ्य पर विचार करता तथा अपना आत्म निरीक्षण करते हुए सद्गुणों की वृद्धि करता तथा दुर्गुणों को छोड़ता जाता।

आमों के पकने की ऋतु आई। पके आमों की गंध से बच्चों के मुँह से लार टपकने लगी। बच्चे ही क्या युवक भी इसमें पीछे न था। एक आम के नीचे ऐसे कई बच्चे और युवक इकट्ठे होकर आम गिराने के लिये लकड़ियाँ फेंक रहे थे। एक लकड़ी उछलकर आठ वर्ष के बालक फुलेना प्रसाद के सिर में जोर से लगी और खून बह निकला। जिसने लकड़ी फेंकी थी उसकी तो शामत ही आ गई। फुलेना प्रसाद सबका प्रिय था। घर वालों ने अपराधी के पिता से शिकायत की। उसके पिता उसे मारने लगे। फुलेना प्रसाद ने कहा—“चाचाजी मोहन भैया को मत मारिये। मेरी भी गलती थी जो मैं फेंकी गई लकड़ी की ओर चला गया।” इस पर उस अपराधी बालक के पिता ने स्नेह से उसे गोद में उठा लिया और पूछा—“बेटा। तुम्हें यह बात किसने बताई।” बालक ने कहा—“मेरे मन ने। आप मोहन भैया को मारते तो हम साथ खेलने में अचकचाते। मेरे तो लगी सो लगी उसे भी मार पड़ती।” यह बालक की विचार शक्ति का ही शुभ परिणाम था कि वह सबका प्रिय बन गया।

आज की तरह उन दिनों न तो गली-गली में पाठशालाएँ थीं, न गाँव-गाँव में हाई स्कूल थे, बालक फुलेना प्रसाद को बस्ता बगल में दबाकर पढ़ने के लिये पैदल छह मील जाना और छह मील आना पड़ता था। यह पूरी तपस्या थी कठोर परिश्रम करने पर जो शिक्षित कहलाने का सौभाग्य पाते हैं पीछे नहीं होता। फुलेना प्रसाद ने जिस परिश्रम तथा लगन से शिक्षा पाई उसी का परिणाम था कि वे जीवन में बहुत कुछ कर सके थे। समय और श्रम की महत्ता को समझ सके थे।

विद्यालय में कुछ छात्र उड़ण्ड थे। वे कुछ न कुछ शैतानी करते ही रहते थे। उनकी यह मण्डली चाहती थी कि फुलेना प्रसाद भी उसमें सम्मिलित हो जाय। वे जानते थे कि इस प्रकार की उड़ण्डता करने का परिणाम शुभ नहीं होता। वे उनसे बोलते नहीं थे। अपने काम से काम रखते। उनके व्यंग्यों की ओर ध्यान नहीं देते थे। इन्हें झेंपू कहा जाने लगा। उन्होंने चुप रहकर कुसंगति से अपनी रक्षा करली।

बचपन से ही वे देख रहे थे कि माता-पिता, परिवार के सदस्य तथा गाँव वाले उन्हें प्यार करते हैं, उनके लिये कष्ट उठाते हैं। माता-पिता ने तो बहुत कष्ट उठाया है। वे उस का प्रतिदान करने में नहीं चूकते थे। घर में कोई भी बीमार हो जाता तो वे उसकी सेवा में दिन-रात एक कर देते थे। हाईस्कूल की परीक्षा के दिन छोटा भाई बीमार हो गया तो वे सब कुछ भूलकर उसकी सेवा में जुट

गए। इस कारण फेल भी हो गए। दुःख तो हुआ पर सेवा का सुख भी कम न था। गाँव में किसी अपाहिज को बीमार को देखते तो खाना-पीना छोड़कर उसकी सेवा करते।

पिता जमींदार थे पर छोटी जमींदारी पर सोलह व्यक्तियों का बोझ कम न था। वे उन पर भार बनना नहीं चाहते थे। हाईस्कूल परीक्षा पास करके वे पटना चले गये तथा अपनी आजीविका चलाने के साथ-साथ वे बँगला गुजराती व संस्कृत का स्वाध्याय करके उसके अच्छे ज्ञाता बन गये। ज्ञानार्जन की भूख ने उनके दृष्टिकोण को विकसित किया। वे अब दक्षिण भारतीय भाषाएँ भी सीखना चाहते थे पर उससे भी महत्वपूर्ण काम उनके सामने था। वह काम था देश को राजनैतिक दासता से मुक्त कराना तथा भारतीयों की सामाजिक दशा सुधारना। अपने ज्ञान को, अपनी क्षमता को केवल अपने लिये प्रयुक्त करना नहीं चाहते थे। ज्यों-ज्यों ज्ञान की वृद्धि होती गई उनकी परमार्थपरायणता बढ़ती गई।

संस्कृत के अध्ययन से उन्होंने भारतीय जीवन दर्शन को समझा। सच्चा ज्ञान पाकर वे मनुष्य जीवन की महानता को समझे और उसे कार्य रूप में परिणित करने को तत्पर हो गये। आत्मा की अमरता तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को उन्होंने अपने जीवन में उतारने का शुभारम्भ कर दिया। वे उन लोगों में से नहीं थे जो किसी आदर्श की प्रशंसा तो करते हैं पर अपने जीवन में उतारने का साहस नहीं जुटा पाते।

सबसे चार बजे उठकर व्यायाम करना उनका नियम था। शरीर को स्वस्थ एवं समर्थ बनाने में उन्होंने कोई कसर नहीं रखी। उनका शरीर शौष्ठव देखते ही बनता था। वे शरीर को दीनदुर्बलों की रक्षा, रोगियों-अपाहिजों की सेवा तथा देश धर्म का हेतु मानते थे। धन रूपी बल की तरह वे शारीरिक तथा मानसिक बल को उससे कम नहीं अधिक ही मानते थे।

स्वस्थ, सुन्दर, सुशिक्षित तथा सज्जन युवक को अपनी लड़की देने के लिये कौन लालायित न होगा? बीस वर्ष की आयु में फुलेना प्रसाद का विवाह होने पर उनकी परमार्थ वृत्ति घटी नहीं। ससुराल वाले धनाढ्य थे। चार पाँच जोड़े कोट और सोने की चीजें इन्हें भेंट में मिलीं उसे उन्होंने जरूरतमंदों को दे दिया। अपने लिये तो वे प्रत्येक मौसम में कुर्ता ही उपयुक्त समझते थे उनके स्वस्थ शरीर पर मौसम का प्रभाव नहीं पड़ता था। पिता के घर से मिली वस्तुओं का इस प्रकार बाँटना इनकी पत्नी को अच्छा न लगा। उन्होंने प्रतिवाद किया। इस समय तो वे चुप रहे दूसरे दिन अपनी पत्नी को साथ में उन मजदूरों की बस्ती में ले गये। करुणा की मूर्ति श्रीमती तारारानी ने इन गरीबों की दशा देखी और अपने पतिदेव की विशाल हृदयता देखी तो नारी की स्वाभाविक ममता जाग पड़ी उन्होंने पतिदेव का सच्चा परिचय पाकर उनकी चरण

रज माथे पर लगाती और सच्चे अर्थों में सहधर्मिणी बन गई। उन्होंने सदा अपने पति के मिशन में सहायता की।

देशवासियों के दर्द से भावनाशील फुलेना प्रसाद का अन्तःकरण रो उठता था। अपने माता-पिता की एकमात्र संतान होने से श्रीमती तारा को पर्याप्त धन तथा उपहार मिले थे वे जरूरत-मंदों के लिये ही प्रयुक्त होने लगे। अपनी आय का अधिकांश भाग भी फुलेना प्रसाद परमार्थ में लगा देते थे।

ये देशसेवा करना चाहते थे। काम अधिक था समय और साधन कम थे। फुलेना प्रसाद ने विवाह के दो वर्ष के बाद ही संयम अपना लिया। वे बच्चे-बच्चियों के जंजाल में फँसकर अपने सेवा व्रत से च्युत नहीं होना चाहते थे। इस निश्चय में उनकी पत्नी की भी पूरी सहमति थी। उन्होंने व्यायाम का समय बढ़ा दिया। भोजन में सादा दलिया और दूध लेने लगे। इस सात्विक आहार ने उन्हें संयम पालन में सहायता की। शरीर निरंतर पुष्ट होता गया। इससे उनकी सेवा का क्रम और भी अधिक चलने लगा। वे कहते थे "सन्तान पालन और देशसेवा दोनों एक साथ नहीं हो सकती इस समय तो एक ही लक्ष्य है वह है देश सेवा।"

सर्दी हो या गर्मी चार बजे उठ जाना फिर नित्य कर्म से निवृत्त होकर मालिश करके व्यायाम करना उनका नियम था। उनका शरीर देखकर पेशेवर पहलवान भी ईर्ष्या करते थे। व्यायाम के पश्चात् भिगोए चने खाकर दूध पीते और फिर समाज सुधार और देश-सेवा के कामों में जुट जाते। इस काम से रात्रि के ग्यारह बजे निवृत्त हो पाते थे। रात्रि को जो सुखद गहरी नींद आती थी वह सारी थकान मिटा देती और चार बजे पहले ही वे उठ बैठते।

पराया दुःख देख सकना उनके बस की बात नहीं थी। किसी का मुँह लटका देखा कि फौरन पूछते-"क्या हुआ?" लोगों को भी दुःख दर्द में और कोई सहारा नहीं मिलता था। प्यासा जैसे कुयें के पास आता है वैसे ही वे इनके पास भाग कर आते थे। कुआँ जिस तरह अपना पानी अपने लिये नहीं रखता वैसे ही ये अपना तन, मन व धन दूसरों के दुःख दर्द दूर करने में लगा देते थे।

तीस वर्ष की अल्पायु में ही सत्याग्रही में सर्वश्रेष्ठ बलिदानी कहलाने के लिये ही मानो उन्होंने तैयारी कर रखी थी जिसने जन्म लिया है वह मरेगा ही पर ऐसी मृत्यु किसी-किसी को मिलती है।

इनकी पत्नी तारा देवी ने इनकी मृत्यु को स्वीकार नहीं किया। उस पारस के स्पर्श से वे स्वर्ण बन चुकी हैं। आज भी वे अपने पति के मिशन को पूरा कर रही हैं अमर शाहीद का यह जीवन पारस पत्थर से कहीं अधिक मूल्यवान है जिनके अंतःकरण से छू गया उसके महामानव बनने में संदेह नहीं है।

सच्चे देशभक्त-

श्री बदरुद्दीन तैयब जी

सज्जनता, शीतलता, सत्यता एवं कर्तव्य निष्ठा की जीती-जागती मूर्ति श्री बदरुद्दीन तैयब जी का जन्म ८ अक्टूबर, १८४४ ई० को बम्बई के बहुत सम्पन्न परिवार में हुआ।

श्री तैयब जी उन तीन व्यक्तियों में से एक थे, जिन्होंने 'भारतीय स्वतन्त्रता की वाहिका भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस' की नींव डाली थी।

श्री तैयब जी का परिवार एक साधन सम्पन्न धनी परिवार था और बम्बई में उनके परिवार का बहुत आदर था। किन्तु यह परिवार मुसलमान होते हुए न तो मौस खाता था और न किसी प्रकार की ऐशो-इशरत का पक्षपाती था। पूरे परिवार का और खास तौर से श्री बदरुद्दीन तैयब का जीवन तो बिल्कुल साधु-सन्तों जैसा सरल और सादा था। वे सादा जीवन उच्च विचार के सिद्धान्त की जीती-जागती तस्वीर थे।

तैयब जी की इस सन्तोषम सादगी देखकर उनके अनेक धनी मित्र उनसे कहा करते थे। "भाई तैयब जी आप को तो परमात्मा ने बेकार ही पैसा दिया, न तो आप शान-शौकत से रह सकते हैं और न धनियों जैसा रौब-रोआब ही आप में है। आप सामान्य से सामान्य व्यक्ति से भी उसी तरह बात करते हैं और मिलते-जुलते हैं जिस प्रकार धनी मित्रों से, यह तो अमीरी का अपमान है।"

श्री तैयब जी उनकी बात सुनते और हँस कर उत्तर देते - "भाई मैं तो इन्सान पहले हूँ और कुछ बाद में। मेरी अमीरी, गरीबों के लिये भय का कारण न बने, इसी में मैं इसकी सार्थकता मानता हूँ और कोशिश करता हूँ कि अपने पैसे का उपयोग अपनी सुख-सुविधा में न करके गरीब और आवश्यकताग्रस्त अपने देश-भाइयों की सहायता में सदुपयोग करूँ। मुझे समाज के इस पैसे का उपयोग अपने लिये करने का क्या अधिकार है। फिर जहाँ मुल्क गुलाम और देश में इधर से उधर गरीबी फैली हुई है वहाँ मैं किस प्रकार से ऐशो-इशरत की जिन्दगी बिता सकता हूँ। यह स्वार्थ मेरी आत्मा के विरुद्ध तो है ही, साथ ही सभ्यता तथा मानवता के विरुद्ध भी है। मैं ऐसा अपराध कदापि नहीं कर सकता। मुझे अपने देशवासी भाइयों की तरह ही सामान्य जिन्दगी जीना और उनकी जो भी सेवा हो सके उसे करते रहने में ही संतोष है। धन का अभिमान एक बुरी बात है। धनी को तो समाज में उसी प्रकार विनम्र होकर रहना चाहिए जैसे फलों से लदा वृक्ष नीचा रहता है।" उनके धनी मित्र उनकी बात सुनते और न केवल प्रभावित ही होते बल्कि प्रकाश भी ग्रहण करते।

श्री बदरुद्दीन तैयब जितने ही धनी व्यक्ति थे उतने ही विद्वान् तथा न्याय-निष्ठ भी थे। जिस प्रकार एक दुर्गुण

बढ़कर मनुष्य को बुराईयों की खान बना देता है उसी प्रकार एक सद्गुण पल्लवित होकर मनुष्य को गुणों का निधान ही नहीं उसे देवत्व के स्तर पर पहुँचा देता है।

तैयब जी ने देखा कि बम्बई हाईकोर्ट में अँग्रेज जज तथा अँग्रेज बैरिस्टर वकील आपस में संगठित होकर कानूनों को मनमाने ढंग से मोड़ते और मुकदमों में भारतीयों का न केवल शोषण ही करते बल्कि उनके साथ अन्याय भी करते हैं। यदि कोई भारतीय वकील वहाँ जाकर वकालत करने का प्रयत्न करता है तो वे उसे टिकने नहीं देते। अँग्रेज बैरिस्टरों तथा जजों के षड़यन्त्र के फलस्वरूप साधारण वकीलों की तो बात ही क्या सर फीरोजशाह मेहता और एच० वाडिया जैसे धुरन्धर बैरिस्टरों तक के पाँव न टिक सके और वे बम्बई हाई कोर्ट छोड़ कर चले गये। यह भारतीय योग्यता तथा मस्तिष्क के लिये अँग्रेज वकीलों की खुली चुनौती थी। स्वाभिमानी भारतीय श्री तैयब साहब को स्थिति असह्य हो गई और आवश्यकता न होने पर भी उन्होंने इंग्लैण्ड जाकर बैरिस्टरी पास करने और बम्बई हाईकोर्ट में वकालत करने का निश्चय कर लिया।

अपने निश्चय के अनुसार श्री तैयब जी इंग्लैण्ड गये और प्रथम श्रेणी में बैरिस्टरी पास करके आये और बम्बई हाईकोर्ट में वकालत करने लगे। अँग्रेज वकील तथा जजों ने यथासम्भव उनका असहयोग तथा बहिष्कार करने का प्रयत्न किया किन्तु अपने उद्देश्य के धनी तैयब जी सब कुछ सहन करते हुए डटे रहे और इस योग्यता से वकालत करते रहे कि आखिर अँग्रेजों के हौसले पस्त हो गये। उन्होंने दुष्प्रवृत्ति छोड़ी और भारतीयों के साथ सहयोग करने पर विवश हुए। श्री बदरुद्दीन तैयब ने अपने अध्यवसाय, परिश्रम तथा दृढ़ता के बल पर न केवल अँग्रेज जजों तथा वकीलों का सुधार ही कर दिया, बल्कि भारतीय वकीलों के लिये बम्बई हाईकोर्ट में स्थान बना दिया। एक लगनशील तथा उद्देश्यनिष्ठ परिश्रमी पुरुष क्या नहीं कर सकता? उनकी परिश्रमशीलता एक उदाहरण है, जो उन्होंने इंग्लैण्ड में बैरिस्टरी पढ़ते समय स्थापित की जो बड़ी ही प्रेरक तथा उत्साहवर्धक है।

१८६० में जिस समय श्री तैयब जी इंग्लैण्ड में बैरिस्ट्री पढ़ रहे थे उस समय छात्रों के बीच वहाँ एक बार लेटिन, फ्रेंच तथा अँग्रेजी भाषा में एक प्रतियोगिता आयोजित की गई जिसकी तैयारी के लिये अठारह माह की अवधि रखी गई। यह प्रतियोगिता उन्हीं छात्रों के बीच रखी गई थी जो लेटिन तथा फ्रेंच भाषाएँ नहीं जानते थे। जिस समय तैयब जी ने अपना नाम प्रतियोगिताओं में दिया उस समय अनेक यूरोपियन छात्रों ने उनकी खिल्ली उड़ाते हुए कहा कि तुम हिन्दुस्तानी हम यूरोपियन्स का क्या मुकाबला करोगे? तैयब जी ने इस कटु बात का हँसते हुए उत्तर दिया "विद्या परमात्मा की देन है इस पर किसी का एकाधिकार नहीं है। जो भी परिश्रमपूर्वक अध्ययन करता है उसको प्राप्त हो जाती है। अपनी भाषा पर अन्य लोगों को इतना

२.२५ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

अभिमान नहीं दिखाना चाहिए। घमण्ड करने वालों को बहुधा नीचा ही देखना पड़ता है। समय आने दीजिये पता चल जायगा कि मस्तिष्क केवल यूरोप के पास ही नहीं भारत के पास भी है।" सारे यूरोपियन्स उनकी इस सभ्यता तथा युक्तिपूर्ण वक्तव्य को सुनकर अपना सा मुँह लेकर रह गये।

श्री तैयब जी के लिये वह प्रतियोगिता देश की प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गई। उन्होंने सफलता-असफलता का दायित्व परमात्मा पर छोड़ दिया और आप एक तन-मन से लेटिन तथा फ्रेंच भाषाओं के अध्ययन में लग गये। अठारह माह की अवधि एवं अभिरुचिपूर्ण अध्ययन के बाद वे प्रतियोगिता में उतरे और सैकड़ों यूरोपियन छात्रों के बीच पक्षपात के शिकार होने पर भी सर्वप्रथम उतीर्ण हुए। भारती के लाल ने अपनी लगन तथा अध्यवसाय के बल पर देश की ऐसी लाज रखी कि अभिमानी छात्रों को शिक्षा मिल गई और तब से अपने मुकाबले में उन्होंने भारतीयों को हीनबुद्धि मानना छोड़ दिया।

तैयब जी अपनी इन सफलताओं तथा गुणों के कारण इतने लोकप्रिय बन गये कि १८७३ में जनता ने उन्हें बम्बई कार्पोरेशन का पहला अध्यक्ष बनाया और तभी वे मध्य में जनता की सेवा करते हुए १८८२ में बम्बई व्यवस्थापिका सभा के सदस्य चुने गये और अनेक वर्षों तक बाम्बे प्रेसीडेन्सी एसोसियेशन के अध्यक्ष रहे। अपनी इस व्यक्तिगत उन्नति में उन्हें सन्तोष न था। वे तो पूरे देश को उन्नत देखना चाहते थे। निदान उन्नति में बाधक दासता से देश का उद्धार करने के लिये उन्होंने उन्हीं दिनों इंडियन नेशनल काँग्रेस की नींव डाली और हिन्दू-मुस्लिम एकता का इतनी गहराई तथा सच्चाई से प्रचार व समर्थन किया कि सारा देश एक झण्डे के नीचे आ गया। काँग्रेस एक शक्तिशाली राजनैतिक संस्था बन गई।

इस हिन्दू-मुस्लिम एकता से भयभीत अंग्रेज सरकार ने लार्ड डफरिन नाम के एक कुटिल राजनीतिज्ञ को उनमें फूट डालने के लिये नियुक्त किया। लार्ड डफरिन ने श्री तैयब जी को बुलाकर कहा कि "हिन्दुओं से आप मुसलमानों का क्या सम्बन्ध। आप उनसे अलग एक मुस्लिम संस्था बना लीजिए और उसके नेता बन जाइये। मैं आपकी उस संस्था को भारत की एकमात्र संस्था की मान्यता दे दूँगा।" श्री तैयब जी ने उस राजनीतिज्ञ की बात शान्तिपूर्वक सुनी और हँसकर उत्तर दिया - "श्रीमान् जी आप हर मुसलमान को मीर जाफर समझने की भूल न करें। अब मुसलमान सजग हो गया है और एकता का महत्व समझने लगा है। साथ ही मैं आपके इस कथन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि अब हिन्दुस्तानियों को अंग्रेजों से और भी सावधान हो जाना चाहिए क्योंकि अब वह भाई-भाई को लड़ाकर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। साथ ही इसका अर्थ यह भी है कि भारत की इस एकता की शक्ति से सरकार बहुत डर गई है और वह दिन दूर नहीं दिखाई देता जब हमारी राष्ट्रीय एकता

अंग्रेजों को भारत से विदा होने के लिये विवश कर देगी।"

डफरिन तो उनकी यह बात सुनकर चुप हो गया किन्तु समय ने अपने विशाल पट पर उस महान् देशभक्त की बात अंकित कर ली जो कि समय आने पर पूर्ण रूप से प्रमाणित हुई। इस प्रकार जीवन भर सत्य, न्याय तथा स्वतन्त्रता के लिये तिल-तिल बलिदान देकर वह भारत का सपूत १९ अगस्त, १९०६ को इस असार संसार से हैसी-खुशी विदा हो गया।

निर्भीक जनसेवक—

श्री हीरालाल शास्त्री

राजस्थान के प्रथम मुख्यमंत्री और भारतवर्ष की देशी रियासतों के जन-आन्दोलन के नेता पंडित हीरालाल शास्त्री की महत्ता केवल नेता के रूप में नहीं, अपितु अखिल भारतीय महत्त्व की महिला शिक्षण-संस्था वनस्थली विद्यापीठ के रूप में विशेष उल्लेखनीय है।

शास्त्री जी निरन्तर कार्यरत रहने में विश्वास करते हैं। वे मानते हैं कि हमें कल की फिक्र नहीं करनी चाहिए। कल आता ही नहीं है और जब आएगा तब उसे आज बनकर ही आना होगा। ४३ वर्षों तक जो व्यक्तित्व न केवल राजस्थान अपितु देश की अन्य रियासतों के जन-जीवन पर छाया रहा वह व्यक्तित्व ओहदे के लिए ओहदा, भाषण, के लिए भाषण, लेखन के लिए लेखन और बात करने के लिए बात करना नहीं जानता। लेकिन आवश्यकता पड़ने पर समय की माँग पूरी करने में शास्त्री जी कभी पीछे नहीं रहते।

सन् १८९८ में जोवनेर के एक किसान परिवार में जन्म लेकर और प्रतिभाशाली छात्र-जीवन बिताकर बहुत छोटी अवस्था में शास्त्री जी जब तत्कालीन जयपुर राज्य की सरकार के मुख्यमंत्री बन गए, तब वह एक चमत्कार हो गया था परन्तु इससे भी बड़ा विस्मय तब हुआ जब उन्होंने उस जमाने की हवा के रुख के विपरीत वह पद एकाएक छोड़ दिया। छोड़ा इसलिए कि उनकी अन्तरात्मा पिछड़े हुए दलित ग्रामवासियों की सेवा के लिए व्याकुल हो रही थी।

एक बहुत ही छोटे और पिछड़े हुए गाँव वनस्थली में उन्होंने ग्रामोत्थान का अपना कार्यक्रम 'जीवन-कुटीर' की स्थापना से आरम्भ किया और वहाँ बैठकर दर्जनों रचनात्मक कार्यकर्ता तैयार किए। यह कार्यकर्ता मण्डली ही आगे चलकर जयपुर राज्य प्रजामण्डल की अग्रसेना बनी।

शास्त्री जी ने अभी हाल में प्रकाशित अपनी जीवनी प्रत्यक्ष जीवन 'शास्त्र' में लिखा है कि - "मेरी सत्ता से कभी जान-पहचान नहीं हुई, कुछ न कुछ कर गुजरने की इच्छा ही मेरे लिये सत्ता है।"

शास्त्री जी मानते हैं कि - "आज देश में चारित्र्य और नेतृत्व का संकट है। ऐसे समय में बुराई को तटस्थ होकर देखते रहना उसमें शामिल होने के बराबर है।"

शास्त्री जी अपनी बात के प्रति आग्रही थे । वे स्पष्टवादी और बिना किसी लाग-लपेट के बात करते जो उन्हें ठीक लगता, वही कहते और वही करते । अपनी गलती स्वीकार कर लेने में भी उन्हें कोई झिझक नहीं होती ।

स्वतंत्रता के बाद जयपुर में १९४८ में हुआ प्रथम विराट काँग्रेस अधिवेशन उनकी संगठन और कर्तृत्व शक्ति का प्रतीक था । कुछ कर गुजरने की तमन्ना वाला व्यक्ति ही वैसे विशाल आयोजन की जिम्मेदारी ले सकता था ।

उनके मुख्य-मन्त्रित्व काल में देशी रियासतों के संघ राष्ट्रों पर केन्द्रीय सरकार का काफी नियन्त्रण रहता था पर बात चाहे पण्डित नेहरू की ओर से आए, चाहे सरदार पटेल की ओर से, यदि वह शास्त्री जी को उचित न प्रतीत हुई, तो उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि वैसे करना ठीक नहीं है और वह सम्भव भी नहीं हो सकता फिर भी अपनी सच्चाई और निष्ठा के कारण वे पण्डित नेहरू और सरदार पटेल दोनों के ही अन्त तक निकट और विश्वासपात्र बने रहे ।

हवा के रुख के विपरीत भी सही बात सोचने और कहने वाले इने-गिने लोगों में शास्त्री जी की गिनती है । १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में जब कतिपय रियासतों में राजाओं को अल्टीमेटम दे दिया गया, तब उन्होंने 'जयपुर राज्य प्रजा मण्डल' के अध्यक्ष की हैसियत से जयपुर के महाराजा को अल्टीमेटम देना ठीक नहीं समझा । वे मानते थे कि असली लड़ाई तो अंग्रेजों से है और उसी आन्दोलन को सफल बनाने में हमें अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिए । उन्होंने राज्य-सरकार से एक असाधारण समझौता कर लिया, जिसके कारण राज्य में वैधानिक सुधार और बहुत से जनहित के काम सम्पन्न हो सके । साथ ही जयपुर सरकार युद्ध के लिए फौज में भर्ती न करने को तैयार हुई, अंग्रेजों के खिलाफ धन-जन की मदद में दखल न देने को तैयार हो गयी और जयपुर में युद्ध विरोधी प्रचार खुले आम होने देने से सहमत हो गयी । जेल से आने पर गाँधी जी ने शास्त्री जी की कार्यवाही का अनुमोदन किया और उसे बहुत ठीक बताया ।

शास्त्री जी ने 'जीवन कुटीर' के काल में ही एक क्रान्तिकारी भारत का स्वप्न देखा था । उन्होंने उसकी कल्पना अपने एक गीत में की कि- "महलों की टपरियाँ, टपरियों के महल, पहाड़ से मैदान और रेगिस्तान से हरा भरा देश बन रहा है । राजा घर बैठ जायेंगे और आज के निर्बल दिखाई देने वाले लोग शासक बन जायेंगे । वह सपना कुछ अंशों में साकार तो हुआ पर शास्त्री जी कहते कि "सच्चे जन-राज्य के लिए एक वास्तविक क्रान्ति होना अभी बाकी है ।"

क्रान्तिकारी जीवन के मार्गदर्शक- सोहनसिंह

अण्डमान की जेल में काले पानी की सजा प्राप्त एक कैदी आया । उसने वीर सावरकर के साहसिक कार्यों की ख्याति बहुत पहले से सुन रखी थी । वह भी इसी जेल में थे । नया कैदी उन्हें खोजता-खोजता उस स्थान तक जा पहुँचा जहाँ सावरकर तेल का कोल्हू चला रहे थे । एक हवलदार बगल में कोड़ा लिये खड़ा था-बीच-बीच में उन्हें दो-चार गालियाँ और तेज और तेज चलने का आदेश झाड़ रहा था ।

ऐसी कठोर यातना देखने का पहला अवसर था । इस नवागन्तुक कैदी की आँखों से आँसू बरसने लगे-आत्मा हाहाकार कर उठी-परमात्मा क्या यही तुम्हारा न्याय है ?

नये कैदी को अपनी यातना पर रोते देख सावरकर मुस्करा दिये एक क्षण रुककर बोले-बावले ! लगता है तू कच्चा क्रान्तिकारी है, मेरी मुसीबत से घबड़ा गया तो अपनी झटक कैसे झेलेगा । दोस्त क्रान्ति शूरवीरों का बाना है उसके लिये साहस और हिम्मत चाहिए, धैर्य चाहिये केवल मात्र त्याग-बलिदान का भाववेश ही पर्याप्त नहीं-लम्बे समय तक संघर्ष और कष्ट-सहिष्णुता का अभ्यास चाहिए ।

कैदी ने आँसू पोंछ डाले, थोड़ा सा मुस्कराया-मानो उसने क्रान्तिकारी का संदेश अक्षर-ब-अक्षर आत्मसात कर लिया और अपनी दुर्बलता को सदैव-सदैव के लिये मन से निकाल दिया । वीर सावरकर की शिक्षायें उसके लिये जीवन-मंत्र बन गयीं और उन्हीं को आदर्श मानकर वह जीवन भर कठिनाइयों से संघर्ष करता रहा ।

क्रान्तिकारी चाहे वह राजनैतिक हो या सामाजिक उसका जीवन किस प्रकार होना चाहिए इस आदर्श का व्यावहारिक मार्ग-दर्शन देने वाला यह कैदी और कोई नहीं गदर पार्टी के संस्थापक सरदार सोहनसिंह थे । सोहनसिंह का जन्म पंजाब के अमृतसर जिले के ग्राम भकना में १८७० में हुआ था । एक निष्काम कर्मयोगी की भाँति वह २६ वर्ष तक लगातार अण्डमान तथा लाहौर आदि की जेलों में यातनायें सहते रहे । इसके बावजूद भी वे अपने उद्देश्य से कभी विचलित न होकर यह सिद्ध कर गये कि महान् उद्देश्यों की पूर्ति के लिये संघर्ष करने वालों की निष्ठा इतनी प्रगाढ़ होनी चाहिए कि एक जन्म में ही नहीं लक्ष्य-सिद्धि के लिये कई जन्मों तक अनवरत जूझते रहने की बाकायदा हिम्मत रख सके ।

सरदार सोहनसिंह का यथार्थ जीवन ३९ वर्ष से प्रारम्भ होता है । वे अपने इतने लम्बे जीवन काल पर पश्चाताप करते हुए कहा करते -यदि मैंने समय के महत्व को पहले समझा होता तो ४० वर्ष में तो न जाने कितनी उपलब्धियाँ अर्जित करली होती "जब समझ आई तभी से सही" कहावत के अनुसार वे एक क्षण का बिलम्ब किये

२.२७ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

बिना काम में जुट गये। १९०९ में जब वह अमरीका में एक आरा मिल में काम करते थे, एक अमेरिकन ने उन्हें बुरी तरह से डाँटा। उस समय उन्हें ज्ञात हुआ कि पैसे की कीमत दुनिया में नगण्य है सबसे पहली वस्तु है व्यक्ति का आत्माभिमान और उसकी रक्षा के लिये सबसे पहली वस्तु है राष्ट्रीय स्वाधीनता। दासता चाहे वह राजनैतिक हो या बौद्धिक व्यक्ति को आत्महीनता की स्थिति में धकेलती है ऐसा व्यक्ति जीवन में कभी उन्नति नहीं कर सकता है। उन्नति के लिये चिन्तन-उन्मुक्त होना चाहिए। चिन्तन उन्मुक्त तभी हो सकता है जब अपनी बौद्धिक क्षमताओं को योजनाबद्ध काम करने के लिये वातावरण बाधक न हो पर पराधीनता में तो न अपना शरीर साथी न मन, सभी दूसरों की इच्छा पर आधारित। इस स्थिति में उन्हें तात्कालिक परिस्थितियों के अनुसार देश की राजनैतिक स्वाधीनता ही अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य दिखाई दी। इसी उद्देश्य से उन्होंने सर्वप्रथम गदर-पार्टी की स्थापना अमेरिका में की और वहाँ के भारतीयों को संगठित किया।

संगठन में बड़ी शक्ति होती है एक आदमी अधिक से अधिक २०० पौण्ड वजन का हो सकता है पर यदि सौ-सौ पौण्ड वजन के पाँच आदमी भी मिल जाते हैं तो वजन ५०० पौण्ड हो जाता है। दो हमेशा एक से दो गुने होते हैं। अनेक भारतीय मिले तो अनेक तरह के साधनों का एकत्रीकरण हुआ। बात की बात में काफी धन और शस्त्र इकट्ठे हो गये। निश्चय किया गया कि इन शस्त्रास्त्रों को लेकर भारत चला जाये वहाँ ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति खड़ी कर दी जाये।

इस निश्चय को क्रियान्वित किया गया किन्तु दुर्भाग्य से जहाज कामा गाटा मारू जिस पर अस्त्र-शस्त्र लादकर कलकत्ता लाये गये थे, खुफिया भेद के कारण कलकत्ते में पकड़ लिया गया और उसका शस्त्रास्त्र तथा स्वाधीनता सैनिक बन्दी बना लिये गये। श्री सोहनसिंह को भी कैदकर मुल्तान भेज दिया गया। उन्हें लाहौर-बड़यन्त्र का दोषी ठहराकर गोरी हुकूमत ने फाँसी की सजा सुना दी पीछे अपील पर यह सजा आजीवन कारावास में बदल दी गई। सोहनसिंह इसी सजा को भुगतने अण्डमान भेजे गये जहाँ वीर सावरकर ने उन्हें कच्चे से पक्का क्रान्तिकारी बना दिया। उन्होंने समझाया—क्रान्तिकारी उसे कहते हैं जो पहले अच्छी प्रकार यह निश्चित कर लेता है कि देश जाति, धर्म या संस्कृति के हित में अमुक योजना आवश्यक है उसे अपना धर्म समझ कर पूरा किया जाना मेरा कर्तव्य है, एक बार यह निश्चय हो गया फिर समय की कमी, साधनों का अभाव, बाल बच्चों का मोह, सुखों की ललक और मानापमान की चिंता जैसी बातों की ओर उसका ध्यान नहीं जाना चाहिए। फिर तो लक्ष्य-सिद्धि ही उसका जीवन और मरण होना चाहिये।

सोहनसिंह ने इस बात को मन में पक्का कर लिया। थोड़े ही दिन पीछे स्वयं भी तेल निकालने वाले कोल्हू में जोत दिये गये। उनकी इस उमंग ने उनका सारा कष्ट मिटा दिया। आधे-अधूरे मन वाला व्यक्ति होता तो इतनी सी बाधा ही उसे रास्ते से डिगाने को पर्याप्त हो जाती पर सोहनसिंह जिस गुरु का शिष्य था वह स्वयं बाधाएँ जान बूझकर आमन्त्रित करता और तूफान में खेलने के लिये मचलता। फिर सोहनसिंह भला अपने मार्गदर्शक को लजाकर पाप का भागी क्यों बनता?

तेरह वर्षों की एक लम्बी जिन्दगी इस तरह चक्की पीसते कटी। सोहनसिंह के स्थान पर कोई दुर्बलमना व्यक्ति होता—कोई सन्तान के लिये रोने वाला, कर्ज की चिन्ता में डूबा हुआ, बेकारी के लिए दूसरों का मुँह ताकता हुआ, पारिवारिक सुख-शान्ति के लिये देवताओं की आशा लगाता हुआ, स्वास्थ्य ठीक करने के लिए अपने जीवन क्रम को न सम्भाल कर स्याने-दीवानों की बखाल साफ करता हुआ व्यक्ति होता तो १३ वर्ष के कठोर जेल जीवन में मकोय के पत्तों की तरह सूखा हुआ बाहर निकलता पर सोहनसिंह ऐसे दुर्बल मनोबल वाला इंसान नहीं था। १३ वर्ष बाद उन्हें अण्डमान से लाहौर बदला गया कष्ट कुछ कम हुआ। वे जानते थे कि ब्रिटिश हुकूमत की किसी भी इच्छा को न स्वीकार करने का अर्थ उससे भी कठिन यातना हो सकता है पर परिस्थितियों से भयभीत होना उन्होंने सीखा नहीं था, एक दिन उन्होंने जेल में कैदियों के साथ हो रहे अत्याचार के विरुद्ध अनशन कर दिया। आखिर सरकार झुकी, अत्याचार कम हुए उसी के साथ ही सरकार ने उन्हें शर्तें रिहा करने का भी प्रस्ताव किया पर उन्होंने साफ कह दिया—मेरा मन भारतीय है, मुझमें जातीय स्वाभिमान है मैं किसी की शर्तें मानने की अपेक्षा सच्चाई के लिए मर जाना श्रेयष्कर समझता हूँ। आखिर यहाँ भी सरकार झुकी और उन्हें जेल से बिना शर्त मुक्त कर दिया गया।

जेल से बाहर आये—कुछ कमजोर मन वाले मित्रों ने समझाया अच्छा हुआ तू छूट गया सोहनसिंह चल घर बार सम्भाल आराम से रह? उनकी ओर एक तीक्ष्ण, कृद्ध दृष्टि डालते हुए सरदार ने कहा—“देश और समाज नाइन्साफी की आग में जल रहे हों, समस्याएँ खायें जा रही हों, विषमता की आग फैली हुई हो ऐसे समय केवल अपनी सुरक्षा सोचने वाले मूर्ख होते हैं। मैं मूर्ख नहीं हूँ मुझे सुख नहीं चाहिए। मैं तो चाहता हूँ देश, जाति धर्म और संस्कृति को बाहरी या भीतरी शत्रुओं से जब भी भय पैदा हो, मैं बार-बार जन्म लूँ और दुष्प्रवृत्तियों के विरुद्ध बार-बार संघर्ष करता रहूँ।” वे घर में नहीं बैठे फिर कांग्रेस आन्दोलन में कूदे और दो बार जेल गये।

जेल से छूटने पर उन्होंने देखा कि स्वतन्त्रता की आग पूरी तेजी से फैल गई है पर गाँव के अनपढ़ किसान अभी तक भी पिछड़े पड़े हैं, तब उन्होंने अपना ध्यान उस ओर लगाया। ठीक भी था विचारशील लोगों को परम्पराओं

और सामयिक बहाव से भिन्न दिशा में सोचना ही चाहिए। उन्होंने ऑल इण्डिया किसान सभा में काम शुरू किया और ग्रामीण किसान-मजदूरों में नवचेतना भरने लगे। इस कारण १९३९ में उन्हें फिर बन्दी बना लिया गया। इस तरह लगातार ६५ वर्ष तक वे मृत्यु से संघर्ष करते रहे। उनका शरीर जर्जर पड़ गया किन्तु मन सोने की तरह तपा हुआ खरा निकल आया ?

९८ वर्ष की आयु में उनका निधन हुआ उस समय भी उनके चेहरे का तेज बता रहा था-“बुढ़ा मरकर दुबारा इसी मिट्टी में जन्म लेगा और देश के उत्थान में फिर से भागीदार बनना चाहता है। कौन जाने आज उनकी आत्मा फिर से जन्म लेकर इस देश के उत्थान की वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति से संलग्न हो क्योंकि गीता में भगवान कृष्ण ने स्वयं कहा है -“अर्जुन अन्तिम समय जो जैसी इच्छा लेकर मरता है, मैं उसकी पूर्ति अगले जन्म में निश्चय ही करता हूँ ?”

आशावादी-डंकन

कैलीफोर्निया के प्रसिद्ध डाक्टर डंकन पक्षाघात के शिकार हुए। हाथ, पाँव बेतरह जकड़ गये उनका हिलना डुलना कठिन हो गया, गनीमत इतनी ही रही कि गरदन से ऊपर के अंग आँख, कान, मुँह आदि ठीक काम करते रहे।

डंकन ने अपनी आत्मा-कथा में लिखा है-जब मैं अस्पताल में भर्ती हुआ तो पहले-पहल अपनी दयनीय दशा पर अत्यधिक दुःखी हुआ। पत्नी के पास इतने पैसे भी न थे कि वह ठीक से इलाज का खर्च भी वहन कर सके। बच्चों की सहायता के लिए मैं कुछ भी नहीं कर सकता था, इस स्थिति में कई दिन बहुत परेशानी रही।

पीछे विचार किया कि इस स्थिति में रहते हुए भी जो कुछ अपने लिए तथा अपने बच्चों के लिए किया जा सकता है वह तो करना ही चाहिए। बहुत सोचने के बाद उन्हें सूझा कि वे जो कुछ इन परिस्थितियों में कर सकते हैं वह यह है कि इस आकस्मिक विपत्ति के समय परिवार पर जो भय, आशंका का दबाव पड़ा है उसे दूर करें। वे जब पत्नी और बच्चे उनसे मिलने आते तो सारा साहस समेटकर हँसने-मुसकाने, आशा-हिम्मत बढ़ाने वाली बातें करने में लगते। इसका प्रभाव यह हुआ कि बच्चे यह अनुभव करने लगे वे किसी अप्रत्याशित संकट में फँसे हुए नहीं हैं। छोटी-सी बीमारी कुछ समय के लिए ही पापा को लग गई है और वे जल्दी ही उन लोगों के बीच पहले की तरह होंगे। मन का बोझ हल्का हुआ तो वे चाव से पढ़ने-लिखने लगे और अच्छी श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। पत्नी का जी हलका हुआ और उसने भी बीमारी की चिन्ता छोड़कर अस्त-व्यस्त आर्थिक स्थिति एवं गृह व्यवस्था को सम्हालना आरम्भ कर दिया। फल यह हुआ कि डंकन के

अस्पताल में भर्ती होते समय परिवार की अपनी स्थिति डाँवाडोल दीखती थी वह संभल गई और लगभग वैसा ही ठरा चलने लगा जैसा कि डाक्टर साहब की स्वस्थ स्थिति में चलता रहा था।

आशा और उत्साह भरी अभिव्यक्तियों का साथियों पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका चमत्कार उन्होंने अपने परिवार पर देखा। अतः निश्चय किया कि अस्पताल के दूसरे साथी रोगियों को भी इसी प्रकार लाभान्वित करें। उसी वार्ड में लकवा के दूसरे ऐसे रोगी भी रहते थे। जो उनकी अपेक्षा कुछ अच्छी स्थिति में थे। डंकन ने उनका जी हल्का करने का उपाय सोचा। फालतू समय में ताश शतरंज आदि खेलने के लिए उन्हें इकट्ठा करते। दूसरे बीमार जहाँ हाथ की सहायता से ताश शतरंज खेलते वहाँ डंकन को वह कार्य मुँह और दाँतों की सहायता से करना पड़ता। उँगलियाँ तो नहीं मुड़ती थीं पर कुहनी हिल सकती थी वे मुँह-दाँत और कुहनियों की सहायता से कई तरह के खेल खेलते और वार्ड के अन्य रोगियों का अच्छा मनोरंजन करते, साथ ही उन्हें यह भी साहस बँधाते कि जब बीमारी से इतना अधिक जकड़ा एक रोगी इतना मस्त रह सकता है तो अपेक्षाकृत कम रोग की स्थिति में उन्हें ज्यादा प्रसन्न, ज्यादा आशावादी और ज्यादा उत्साही होना चाहिए।

डंकन को फोटोग्राफी की जानकारी थी। उनके पास कैमरा भी था। वार्ड के रोगियों, कर्मचारियों तथा उनके घर वालों को उन्होंने बताया कि यदि वे चाहें तो उनसे बिना पारिश्रमिक दिये अच्छे फोटो खिंचवा सकते हैं। लोग अपनी रीलें ले आते और फोटो खिंचवाते, हाथ ठीक काम नहीं करते थे, पैरों से खड़े भी नहीं हो सकते थे पर उनमें पलंग पर बैठ सकने जितना सुधार हो गया था, सो वे बैठकर कैमरे का फोकस मिलाते और ठोड़ी की सहायता से शटर दबाते। पूरे मनोयोग के साथ खींचे गये यह फोटो इतने साफ निकलते कि लोगों का उत्साह बढ़ता ही गया और अवकाश के समय वह वार्ड एक प्रकार से फोटोग्राफी का केबिन ही बना रहने लगा।

अपनी आत्मकथा में डंकन ने लिखा है पक्षाघात का आक्रमण इतना गहरा था कि चारपाई पर हिलना-डुलना और करवट लेना भी कठिन था, ऐसी स्थिति में भविष्य के निराशाजनक चित्र देखने वाला व्यक्ति घुल-घुल कर मर ही सकता था। बीमारी अपने आप में जितनी भयंकर होती है, उससे कहीं अधिक विपत्ति उस मनोवृत्ति के कारण आती है जो रोगी के मन पर निराशा, घबराहट, आशंका जन्म कष्ट का अनवरत चिन्तन करते रहने के कारण उत्पन्न होती है। बीमारी दवा से अच्छी हो सकती है पर यदि रोगी अपनी मनःस्थिति दुर्बल बनाले तो फिर उसका अच्छा हो सकना कठिन है।

उन्हें लगभग एक वर्ष अस्पताल में रहना पड़ा। छुट्टी मिली तो सिर्फ इतना ही सुधार हो सका कि घर में थोड़ा चल-फिर सकें, कुहनियों और कंधों के जोड़ तो मुड़ने लगे

थे पर 'डॉ.गालियाँ और कलाइयाँ इतना साथ न दे सकीं जिससे कुछ हाथों से किया जा सकने वाला काम कर सकें। डाक्टरों ने इससे आगे का सुधार बहुत धीरे-धीरे हो सकने की ही आशा व्यक्त की और उसी स्थिति में अस्पताल से निवृत्त कर दिया।

डंकन ने सोचा जिस आशा, धैर्य और उत्साह के बल पर वे स्वयं जीवित रह सके, भारी पीड़ा को सहन कर सके, परिवार को सामान्य ढर्रे पर चल सकने की प्रेरणा दे सके, साथी रोगियों का मनोरंजन कर सके और साथ ही अपना मनोबल बनाये रह सके उसी आशावादिता का आश्रय लेकर वे इस अवांछित विषम परिस्थितियों में रहकर भी कामचलाऊ 'जीवनयापन कभी नहीं कर सकते।

उन्होंने अपने घर पर ही फोटोग्राफी का धन्धा खड़ा किया। पत्नी उनका सहयोग करती। मन पूरी तरह लगने पर फोटो बहुत बढ़िया आते। ठोड़ी से शटर दबाकर फोटो खींचने वाला फोटोग्राफर धीरे-धीरे मशहूर होता चला गया और उस कौतुक को देखने के लिये फोटो खिंचाने वालों की भारी भीड़ आने लगी। आखिर उन्होंने एक बड़ा स्टुडियो बनाया और अपने करतब से इतने लोगों को चमत्कृत किया कि स्वस्थ स्थिति में चलने वाले डाक्टरी धन्धे की अपेक्षा कई गुनी आमदनी होने लगी।

अस्पताल में भर्ती होने से लेकर फोटोग्राफी में भारी सफलता पाने वाले पाँच वर्ष के समय में डंकन ने अपना मनोबल स्थिर रखकर बढ़ाया और उसके आधार पर मृत्यु एवं अपंगता पर विजय पाई। इतना ही नहीं उन्होंने इस अवधि में अपने सम्पर्क में आने वाले विपत्तिग्रस्त लोगों को अपना उदाहरण देकर साहस बढ़ाया। निराशा के अन्धकार में आशा की बिजली कौंधाते रहना उनका स्वभाव ही बन गया था। अस्तु, आये दिन उनके पास कितने ही दुःखी, उद्धिग्न व्यक्ति अपनी कष्ट कथा सुनाने उन्हें आते और बदले में आशा और उत्साह भरी प्रेरणा योजना साथ लेकर जाते। इस क्रम के कारण वे असंख्य बौद्धिक जीवन हलके बनाने में सफल हो सके।

अपने निज का संकट टालने से लेकर अगणित व्यथा-वेदना ग्रस्तों को आशा की किरणें दिखाने तक के क्रिया-कलाप का विशद वर्णन उन्होंने अपने बच्चों की सहायता से लिखाया और पत्रिकाओं में छपाया। उससे उन्हें जहाँ आजीविका मिली वहाँ यश भी बहुत फैला। आशावादी डंकन के नाम से वे सारे अमेरिका में विख्यात हुए।

अस्पतालों में रोगियों का मनोबल बढ़ाने के लिये उनके भाषणों की आवश्यकता अनुभव की गई। उन्होंने अस्पतालों में अपंग अवांछित और वृद्धों के बीच अनेकों भाषण दिये। आशावादी विचारों के चमत्कार समझाये साथ ही वह मार्गदर्शन भी किया कि संकटग्रस्त स्थिति में पड़े हुए लोग किस विचारधारा और किस कार्य-पद्धति को अपनाकर किस प्रकार अधिक सुन्दर और समुन्नत जीवन जी सकते हैं।

डंकन कहा करते थे पक्षाघात ने उनके हाथ-पाँव जकड़ दिये। उन्हें शारीरिक सुविधाओं से वंचित कर दिया पर विधेयात्मक चिन्तन का द्वार भी उस विपत्ति ने ही खोला। पहले शरीर स्वस्थ और साहस सोया पड़ा था, पर अब शरीर अपंग होते हुए भी आशावादी चिन्तन निखरा है। दोनों परिस्थितियों की जब तुलना करता हूँ तो प्रतीत होता है हर दृष्टि से आशावाद की उपलब्धि मेरे लिये अधिक सुखद और श्रेयस्कर सिद्ध हो रही है।

देशभक्तों के निर्माता—

वारीन्द्र कुमार घोष

ब्रिटिश सरकार की सेवा में निरत भारतीय डाक्टर की यह हार्दिक इच्छा थी कि उनके पुत्र पूरे अँग्रेज साहब बनें। रहन-सहन, वेश-भूषा तथा शिक्षा-दीक्षा में वे किसी प्रकार अँग्रेज अफसरों से कम न हों। इस विचार से उन्होंने अपनी पत्नी को जब दूसरा पुत्र पेट में ही था, इंग्लैण्ड भिजवा दिया ताकि बालक को इंग्लैण्ड की नागरिकता प्राप्त हो।

फूल कहीं भी खिले पर उसकी सुगन्ध नहीं बदली जा सकती। गुलाब को भारत में लगाएँगे तो भी गुलाब जैसी सुगन्ध फैलाएगा और इंग्लैण्ड में भी वह गेंदा नहीं बन जायेगा रहेगा गुलाब ही। बालक इंग्लैण्ड में उत्पन्न हुआ। उसे वहाँ की नागरिकता प्राप्त हुई। अँग्रेजी बोलता, अँग्रेजों जैसी वेशभूषा धारण करता पर उसकी आत्मा भारतीय थी। अपने देश और संस्कृति के प्रति उसके हृदय में अपार श्रद्धा उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं पड़ी।

ये पिता थे कृष्णचन घोष। अपने दोनों पुत्रों को ये साहब बनाना चाहते थे पर उनमें से एक भी साहब नहीं बना। बड़े पुत्र अरविन्द को इंग्लैण्ड ही रखा गया, वहीं पढ़ाया गया। वही आगे चलकर भारतीय संस्कृति का महान दृष्टा बना जिन्हें योगीराज अरविन्द के रूप में विश्व जानता है। जिसे ब्रिटिश नागरिकता मिली, वारीन्द्र घोष एक महान देशभक्त बना। बंगाल में क्रांति का सूत्रपात करने का श्रेय उन्हें दिया जा सकता है। पिता की अव्यावहारिक तथा समय के प्रतिकूल इच्छा का समर्थन दोनों पुत्रों की आत्मा नहीं कर सकी।

वारीन्द्र कुमार घोष अपनी शिक्षा समाप्त करके इंग्लैण्ड से लौट आये। उन्हें अपने देशवासियों की सेवा करने की बचपन से ही चाह उत्पन्न हो चुकी थी। ब्रिटिश शासन के वेतनभोगी अफसर बनकर यह काम नहीं किया जा सकता था। वे भारत को इस शासन से मुक्त कराना चाहते थे। इंग्लैण्ड में उन्होंने एक स्वतन्त्र राष्ट्र के नागरिक को सम्मानित जीवन जीते हुये देखा। भारतीयों के साथ जिस प्रकार का हीन भाव इन अँग्रेजों के मन में था उसे भी देखा था। उन्होंने संकल्प लिया कि मैं अपना जीवन इसी लक्ष्य को अर्पित कर दूँगा। भारतीय जनता को जगाकर देश को स्वाधीन करने का उद्योग करूँगा।

वारीन्द्र अब अधिक समय तक वहाँ रुकने में असमर्थ थे। उनके लिये एक-एक पल भारी हो रहा था। पिता उन्हें आई० सी० एस० परीक्षा में बैठने के लिए जोर दे रहे थे। एक ओर तो पिता की आज्ञा और दूसरी ओर मातृभूमि का प्रश्न। वह किसे चुने किसे न चुने? पर वे निश्चय कर चुके थे कि जिस धरती का अन्न खाकर, जल पीकर तथा जिसकी पावन गोद में उनकी कितनी ही पीढ़ियाँ स्वर्गोपम सुख भोग चुकी हैं मुझे उसी की सेवा करनी है। आत्मा की आवाज को पिता तथा रिश्तेदारों का आग्रह दबा न सका वे बंगाल लौट आये।

भारत में आकर जब उन्होंने अपने देशवासियों की दशा देखी और उसकी तुलना इंग्लैण्ड के नागरिकों से की तो उन्हें जमीन-आसमान का अंतर स्पष्ट दिखाई दिया। गरीबी व अशिक्षा के कारण ये दीन-हीन जीवन जी रहे थे। विदेशी तो शासन करते थे उन्हें जनता के उत्थान से क्या सरोकार था। युवक वारीन्द्र का हृदय करुणा से भर आया। ऐसी स्थिति में भला कोई भावनाशील युवक कैसे चुप बैठ सकता है।

उन्होंने राजनैतिक दासता से मुक्ति पाने के लिये एक दल संगठित करने की योजना पढ़े, लिखे युवकों के सामने रखी। किसी ने उत्साह प्रदर्शित नहीं किया। उनकी बातें सुनकर लोगों ने उनका उपहास किया। "आप इंग्लैण्ड से क्यों लौट आए? आप तो अच्छे अफसर बन सकते थे।" वारीन्द्र को यह जानकर बड़ा दुःख हुआ कि बंगाल के लोगों में स्वतन्त्रता के प्रति मोह तो है पर वह अपने व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर देश के लिये कुछ करने का साहस नहीं जुटा पा रहे हैं।

वारीन्द्र घोष उन अधीर लोगों में से नहीं थे। जो भावावेश में आकर किसी काम को उठा तो लेते हैं पर जब कठिनाइयाँ आती हैं तथा लोगों का सहयोग नहीं मिलता तो उसे छोड़ देते हैं। वे जानते थे कि बीज डालने के दूसरे तीसरे ही दिन यदि फसल पकने की आशा की जाय तो व्यर्थ ही जायगी। उसके लिये तो बड़े धैर्य की आवश्यकता है। उसकी देखभाल करना, पानी-खाद देना तथा खरपतवार उखाड़ते रहना पड़ता है तब कहीं महीनों में फसल तैयार होती है। राजनैतिक स्वतन्त्रता तो बहुत बड़ी चीज है इसके लिये तो बड़ा समय चाहिए, श्रम चाहिए, बलिदान चाहिए। वे उस समय की प्रतीक्षा करने लगे जब जनता के व्यक्तिगत स्वार्थों पर सरकारी चोट पड़े, और वह उसके प्रतिरोध में उठ खड़ी हो। वे अपना काम सफलता-असफलता की ओर ध्यान न देकर करते रहे।

लार्ड कर्जन ने बंगाल को दो भागों में विभक्त करने की सोची और इसे कार्यान्वित किया जाने लगा तो बंगाली जनता के हितों तथा भावना पर सीधी चोट पड़ी। एक चतुर किसान की तरह वारीन्द्र जिस समय की प्रतीक्षा कर रहे थे वह समय आ पहुँचा। खेत तैयार था बस बीज बोने की देर थी। क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी। संगठन का क्रम भी चल पड़ा। जनता ने लार्ड कर्जन के

बंग भंग का व्यापक विरोध किया। बंगाल के टुकड़े फिर भी होकर रहे। यह क्रान्तिकारियों के लिये अच्छा अवसर था। इस समय ही लोगों को प्रेरित किया जा सकता था।

आंदोलन चलाने के लिये जनमत को तैयार करना आवश्यक होता है। इसके लिये सभायें तथा व्यक्तिगत रूप से घर-घर जाकर जन जागरण करना न तो स्थायी होता है न सुगम। घर-घर जाकर जनजागरण का काम पत्र, पत्रिकाएँ ही कर सकती हैं। संगठन बन गया तो प्रचार कार्य के लिए 'युगान्तर' नामक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया गया। इस पत्र के सम्पादक बने स्वामी विवेकानन्द के भाई भूपेन्द्रनाथ दत्त। यह पत्र जनजागरण के लिए बड़ा उपयुक्त सिद्ध हुआ। १९०८ तक तो इसकी बिक्री २०००० हो गई। इस पत्र के माध्यम से क्रान्तिकारियों का एक अच्छा-खासा संगठन बन गया।

दल की शाखा-प्रशाखाएँ बंगाल में ही नहीं बंगाल से बाहर तक फैल गईं। वारीन्द्र घोष इस दल के सफल संचालक थे। जो नव युवक केवल बंगाल को एक करने के उद्देश्य से इस संगठन में आये थे अब उनका लक्ष्य पूर्ण स्वराज्य हो गया। उनका पूर्ण स्वराज्य महज एक कल्पना नहीं थी। वारीन्द्र घोष के तेज दिमाग ने इसकी पूरी रूप रेखा तैयार की थी। अपनी सम्पत्ति का बहुत बड़ा भाग उन्होंने दल के एक सदस्य हेमचन्द्र दास को विदेश भेजने में लगाया। हेमचन्द्र दास ने अपनी सारी सम्पत्ति बेचकर अपना सर्वस्व राष्ट्रहित पर न्योछावर किया। इसके पीछे वारीन्द्र की ही प्रेरणा थी। वे १९०६ में पेरिस गये। वहाँ से रूस गये तथा बम बनाना सीखकर आये। थोड़े से अंग्रेज चालीस करोड़ भारतीयों पर उनके ही सहयोग से राज्य कर रहे थे। इस दल ने जनता को सरकार से असहयोग करने की प्रेरणा दी। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, डाक, तार, रेल, तथा प्रशासन में असहयोग करने के साथ-साथ खादी तथा स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग आरम्भ हुआ। गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन जैसा ही व्यापक असहयोग इन दिनों बंगाल में चला।

उन दिनों बंगाल में एक और क्रान्तिकारी दल का आरम्भ हुआ उसका नाम था 'अनुशीलन समिति' वारीन्द्र ने उनसे सम्बन्ध स्थापित किया पर वे जल्दबाज थे। उन्हें पूरी तैयारी के बाद सोच समझकर कदम उठाये जाने जितना धैर्य नहीं था। वारीन्द्र जानते थे कि यह जल्दबाजी हानिकारक सिद्ध हो सकती है। उन्होंने अनुशीलन समिति के सदस्यों को समझाया पर वे माने नहीं। इसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ।

१९०७ में क्रान्तिकारियों ने बंगाल के गवर्नर पर बम फेंकने की योजना बनाई। पहली बार बम फटने से रह गया। दूसरी बार बम फटा पर गवर्नर बच गया। इस प्रकार की असफलता ने वारीन्द्र को मजबूर कर दिया कि वे अपने दल को भी इसमें भाग लेने दें ताकि भविष्य में क्रान्ति का काम और तेजी से चले।

खुदीराम बोस तथा प्रफुल्ल चन्द्र चाकी नामक दो नवयुवकों को दल ने न्यायाधीश किंग्सफोर्ड को समाप्त करने का भार सौंपा। किंग्सफोर्ड का स्थानान्तरण मुजफ्फरपुर हो जाने के कारण ये युवक मुजफ्फरपुर गए। वहाँ किंग्सफोर्ड को तलाश करना कठिन था। इन्होंने उसका पता लगा लिया तथा उसके आफिस के मार्ग में छिपकर बैठ गये। उसकी कार आई। खुदीराम के बम ने कार को एक ही बार में उड़ा दिया और दोनों भाग निकले।

उन दिनों वारीन्द्र घोष के बड़े भाई अरविन्द घोष भी इनके साथ ही थे। यह वारीन्द्र के कुशल संगठन का ही परिणाम था कि इतना सशक्त दल बंगाल में बन सका तथा अन्याय के प्रतिकार के लिये कितने ही युवक तत्पर हो गये थे। सबसे अधिक ताकत इंजन को लगानी पड़ती है, डिब्बे तो पीछे अपने आप खिंचे आते हैं। इस संगठन के इंजन थे वारीन्द्र। वे इस पुष्पोद्यान के माली थे जिसमें खुदीराम जैसे बलिदानी फूल खिले जिनकी सौरभ ने कितने ही युवकों को देशप्रेम की बलिवेदी पर चढ़ने के लिए तैयार किया।

किंग्सफोर्ड फिर भी बच गया था। उस दिन वह कार में नहीं था। उसके स्थान पर केनेडी परिवार की दो महिलाएँ मर गईं। १९०८ के मई माह में खुदीराम बोस गिरफ्तार कर लिये गये। उन्हें फाँसी की सजा दी गई। वे गीता हाथ में लेकर फाँसी के फंदे पर हँसते-हँसते झूल गये। उनका अन्तिम संस्कार हुआ तो हजारों दर्शक उपस्थित थे। इनकी राख को लोगों ने लूट लिया। ये बलिदान व्यर्थ नहीं गये। लोगों को इन बलिदानियों के भाग्य से ईर्ष्या होने लगी वे भी देश के लिये सर्वस्व न्योछावर करने के लिए तैयार हो गये।

खुदीराम के पकड़े जाने पर पुलिस बहुत सतर्क हो गई। उसके गुप्तचर बंगाल भर में फैल गये। जज पर बम फेंकना कोई साधारण बात नहीं थी। अँग्रेजों को लगने लगा था कि अब बंगाल हमारे हाथ से गया। बंगाल में यदि वे असफल हो गये तो फिर सब जगह असफलता ही उनके हाथ लगेगी। अँग्रेज वारीन्द्र कुमार घोष के नाम से चिढ़ चुके थे। धड़ा-धड़ गिरफ्तारियाँ होने लगीं। वारीन्द्र घोष, अरविन्द घोष, उपेन्द्र नाथ बनर्जी, उल्लासकर दत्त, हेमचन्द्र दास, कन्हाई लाल दत्त, इन्द्र भूषण राय आदि दल के बड़े-बड़े नेता गिरफ्तार कर लिये गये। उन पर मुकदमा चलाया गया। अरविन्द घोष की पैरवी देशबन्धु चित्तरंजन दास ने की।

वारीन्द्र ने देखा कि पुलिस का दमन-चक्र चालू है और वह निर्दोष लोगों को परेशान कर रही है। दमन को रोकने के लिए उन्होंने अपने बयान में कहा-“हमारा उद्देश्य हत्या करना नहीं किन्तु जन जागरण के लिए हम इसे अनिवार्य समझते हैं तथा आततायी को दण्ड देने का हमारा यह कोई अनुचित तरीका नहीं। जिनके हाथ में सत्ता है वे फाँसी देते हैं वैसे ही यह दण्ड हमने दिया।

हमारा लक्ष्य आजादी पाना है † अब जब आरम्भ हो चुका है तो इसका अन्त आजादी ही होगी।”

वारीन्द्र घोष को अपने अन्य साथियों सहित आजन्म काले पानी की सजा दी गई। वहाँ इनके साथ बड़ा अमानवीय व्यवहार किया गया। जिस व्यक्ति ने अपना सारा जीवन देश को समर्पित कर दिया हो उसे इस प्रकार के कष्ट-कंटकों को सहने की तैयारी करके ही इस कर्म क्षेत्र में उतरना होता है। इन देश-भक्तों के कष्टों की करुण कथाओं ने देश के नागरिकों को बहुत झकझोरा। ये कष्ट-कंटक अँग्रेजी शासन को भारत से समाप्त करने में बहुत उपयोगी सिद्ध हुये।

अरविन्द घोष इस मुकदमे में बरी हो गये। उसके पश्चात् वे फिर अध्यात्म क्षेत्र में चले गए। वारीन्द्र घोष का यह समर्पित जीवन सार्थक हुआ। बंगाल के लाखों लोगों को इनके बलिदानों से प्रेरणा मिली। इस प्रकार के त्यागी, उद्योगी तथा भावनाशील व्यक्ति ही मानवता को कुछ दे सकते हैं। इनका चरित्र जब तक इतिहास के पृष्ठों पर रहेगा, देश पर सर्वस्व न्योछावर करने वालों की कमी नहीं रहेगी।

महान बलिदानी—

भाई मतिदास

मुगल शासन काल में एक हिन्दू को बादशाह का आदेश मिला-“यदि जीवन चाहते हो तो स्वधर्म त्याग कर मुसलमान धर्म स्वीकार कर लो और हमारी शहजादी से विवाह करके सम्पन्न सम्मानित जीवन जीओ अन्यथा मृत्यु दण्ड पाने के लिये प्रस्तुत हो जाओ।” एक ओर सम्पूर्ण विलासिता का जीवन और दूसरी ओर मृत्यु, अब किसे वरण करे? उस व्यक्ति ने मृत्यु को स्वीकार किया अपने धर्म को नहीं छोड़ा। इस साहसी का नाम था भाई मतिदास।

किसी देश-जाति को जीतकर उस पर अधिकार तो किया जा सकता है पर वह स्थायी नहीं रह सकता। जब तक उस देश के नागरिकों की धार्मिक तथा सांस्कृतिक चेतना को नष्ट न कर दिया जाय। भारत वर्ष की समृद्धि कथाएँ सुनकर धन की लोभी जातियों ने भारत पर आक्रमण किये तथा चन्द-देशद्रोहियों के बलबूते पर शासन भी किया पर उनका सदा यही प्रयास रहा कि इनकी धार्मिक चेतना समाप्त कर दी जाय। यही मुगलों ने किया। मुगल बादशाह को भाई मतिदास का व्यक्तित्व ऐसा ही लगा जिसे देखकर उसे भय हुआ कि यह सब हिन्दुओं को जगा देगा तो हमारा शासन खतरे में पड़ जायगा।

भाई मतिदास स्वाभिमानि तथा दृढ़-चरित्र के व्यक्ति थे। वे भारतीय धर्म व संस्कृति के ज्ञाता तथा उसकी महानता से परिचित थे, वे चाहते थे कि हिन्दुओं को अपना वास्तविक स्वरूप बताकर उन्हें संगठित कर विधर्मी शासन से मुक्त करें। इसकी भनक जब बादशाह

के कानों में पड़ी तो उन्हें धर्म-पथ से विचलित करने के लिए यह आदेश प्रसारित किया।

भाई मतिदास भला इस प्रकार के अन्याय के सामने सिर क्यों झुकाते मृत्यु से अज्ञानी ही भय खाता है। जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध में जो हमारे धर्म की मान्यताएँ हैं यदि उन्हें कोई जीवन में उतार ले तो उसे किसी का भय नहीं रह सकता। वे जानते थे कि अच्छा राजपद और राजा की पुत्री से विवाह करके जो विलासिता पूर्ण जीवन जीयेंगे वह तो मृत्यु से भी बढ़कर होगा। इससे धार्मिक चेतना की जो चिंगारी उन्होंने जलाई है वह बुझ जायगी पर यदि वे मृत्यु का वरण कर लेंगे तो यही चिंगारी बड़वानल उत्पन्न कर देगी। मुगल शासक भी जान जायेंगे कि मृत्यु भी किसी को धर्म-पथ से विचलित नहीं कर सकती।

यह आदेश देने वाला क्रूर मुगल सम्राट औरंगजेब था जिसके हाथ ऐसे अनेकों निरपराध धर्म प्रेमियों के रक्त से सन चुके थे। इसी के परिणामस्वरूप मुगल शासन का अन्त हुआ।

दिल्ली के चौदनी-चौक में आज जहाँ फब्बारा है ठीक उसी स्थान पर बतिदास को प्राण-दण्ड दिया गया। शरीर पर आरा चल रहा है और वे मुस्करा रहे हैं। मुगल सेनापति अफजल खाँ उनका यह साहस व दृढ़ता देखकर चकित हो गया। वह बलिदानी इस शान से मरा कि आज भी भारतवासियों का मस्तक गर्व से ऊपर उठ जाता है। ऐसा ही बलिदान प्रस्तुत करने की ललक स्वयं के हृदय में भी उठती है।

जब भी धार्मिक चेतना जागी है राष्ट्रीय-गौरव के कीर्तिमान स्थापित हुए हैं। विदेशी हमारी इस चेतना को अपनी शिक्षा के मंद-विष से इतना मृत-प्राय बना गए हैं कि इसे पुनः जाग्रत करने के लिए कितने ही मतिदासों की बलि हमें देनी है। उनकी तैयारी हमें करनी ही चाहिए।

प्रसिद्ध क्रान्तिकारी—

कन्हाईलाल दत्त

गोरे जेलर ने देखा कि जिस युवक को कल फाँसी दी जाने वाली है आज भी उसके चेहरे पर वही मनोहारी मुस्कान फूट रही है, उसी आत्मीयता के साथ वह उसका अभिवादन कर रहा है। जिस दिन से यह कैदी इस जेल में आया है उसकी विचारणाओं में महान परिवर्तन आने लगा। जब इस सुदर्शन युवक को फाँसी की सजा सुनाई गई तो उसके हर्ष का पारावार न रहा। लम्बे बालों तथा चौड़े चेहरे वाले इस युवक से जेलर ने उस दिन पूछा था—“तुम इतने प्रसन्न क्यों हो?” उसने आशा की थी कि वह राष्ट्र पर अपने बलिदान के सौभाग्य पर प्रसन्न होगा पर उस युवक ने इस आशा के विपरीत उत्तर दिया—“मैं अगले जन्म की तैयारी में व्यस्त हूँ और यही मेरी प्रसन्नता का कारण है।”

जिज्ञासा जगा दी। वह इससे भारतीय संस्कृति का लगा ज्ञान पाने लगा, वह समझने लगा कि आत्मा जन्म-मरण से परे है, युवक अगले जन्म की तैयारी में लगा है। इन दोनों में परस्पर घनिष्ठता बढ़ती गयी।

मृत्यु के एक दिन पहले भी उसकी पूर्ववत् मुस्कान देखकर जेलर ने पूछा—“आज तो हैंस रहे हो कल तुम्हारे यही मुस्कराते होठ मृत्यु की कालिमा से काले पड़ जायेंगे।” युवक ने कहा कुछ नहीं उसी तरह मुस्कराता रहा। जेलर का हृदय इस जिंदादिल युवक के बिछोह की कल्पना से भर आया। यह युवक थे स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर बलिदान होने वाले प्रसिद्ध क्रान्तिकारी कन्हाई लाल दत्त। जिन्हें अलीपुर-कांड के सिलसिले में फाँसी दी गई थी। जेल की कोठरी में भी इनका वजन १५ पौण्ड बढ़ गया था। फाँसी के बाद जेलर ने इनका चेहरा देखा। उस पर वही अमर मुस्कान बिखरी हुई थी। मृत्यु की कालिमा का कोई चिह्न इस वीर के शरीर पर नहीं था, होता भी कैसे उनके लिए तो मृत्यु, आत्मा के वस्त्र परिवर्तन की प्रक्रिया थी।

कन्हाई लाल दत्त का जन्म कलकत्ता के निकट चन्द्र नगर में १८८७ में हुआ था। जन्माष्टमी के दिन जन्म लेने के कारण इनके माता-पिता ने इनका नाम कन्हाई लाल रख दिया। परिवार की स्थिति सामान्य थी। पिता इनके पढ़ाई का खर्च नहीं जुटा पाते थे। पिता की इस विवशता को कन्हाई स्वयं जानते थे। उन्होंने पिता का भार नहीं बढ़ाया। अपने पाँवों पर खड़े होकर इन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी० ए० किया। दयुशन तथा छोटी-मोटी नौकरियाँ करके उन्होंने अपनी शिक्षा पूरी की। सच है जहाँ चाह है वहाँ राह तो निकल ही आती है।

पढ़ाई पूरी करके ये स्वतन्त्र व्यवसाय करने की सोच रहे थे। व्यवसाय के लिए धन चाहिए था जो इनके पास नहीं था। अँग्रेजों की नौकरी ये करना नहीं चाहते थे। अन्तःकरण से आवाज आयी “कन्हाई तू अपने पेट की चिन्ता कर रहा है और भारत के करोड़ों नागरिक दासता की चक्की में पिसे जा रहे हैं। तेरी यह जवानी किस दिन काम आयेगी? इसे सफल बना देश के लिए कुछ कर।” इस आवाज को सुनकर उन्होंने स्वतन्त्रता लाने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया।

क्रान्तिकारियों से इनकी भेंट हुई। १९ वर्ष की अल्पायु में ही इन्होंने चन्द्रनगर में देशभक्तों की एक शाखा स्थापित की। बम बनाने की कला सीखने के लिए आप मानिकतल्ला बाग के बम कारखाने में आने-जाने लगे। पुलिस तथा जासूसों को इस कारखाने का पता नहीं था। किसी देशद्रोही ने अपने थोड़े से लाभ के लिए इस कारखाने की सूचना सरकार को देने की नीचता की। भेद खुल गया। इस स्थान पर छापा मारा गया जिसमें ३४ व्यक्ति गिरफ्तार हुए। कन्हाई लाल भी उनमें से एक थे।

जेल की चहारदीवारी में बन्द होने पर भी न तो ये लोग निष्क्रिय बैठे रहे और न इनकी गिरफ्तारी पर क्रान्ति

का काम रुका। इनका स्थान अन्य लोगों ने ले लिया। इस केस के सरकारी वकील की फरवरी, १९०८ में क्रान्तिकारियों ने हत्या कर दी। दिन दहाड़े अदालत में डी. एस. पी. को खत्म कर दिया। हत्या करना क्रान्तिकारियों का उद्देश्य नहीं था। इस माध्यम से वे विदेशी शासकों को बता देना चाहते थे कि यह आग इन गिरफ्तारियों से बुझने वाली नहीं है और भी जोर से भड़केगी जिसमें यह साम्राज्य जलकर स्वाहा हो जायगा।

इस क्रान्ति दल का एक कमजोर आदमी जो मृत्यु के भय से काँप गया तथा प्रलोभन में पड़कर सरकारी गवाह बन गया। यह व्यक्ति था नरेन गोसाँई। विदेशी शासक अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए कुछ भी करते रहें पर एक भारतीय का इस प्रकार का विश्वासघात असह्य था। इस एक की गद्दारी ने अन्य देशभक्तों की मान मर्यादा तथा सदुद्देश्य को भी आँच पहुँचाई। कन्हाई लाल तथा सत्येन्द्र ने इस देशद्रोही को सजा देने की ठान ली।

इनके उद्देश्य को जानकर अन्य बुजुर्ग क्रान्तिकारियों ने इन युवकों का उत्साह बढ़ाने की बजाय इन्हें हतोत्साह किया। किन्तु ये दोनों अपने निश्चय पर अटल थे। अन्य लोगों का असहमत होना निराधार भी नहीं था। जेल में रहते हुए पिस्तौल पा लेना तथा नरेन के पास पहुँचना निन्नांत असम्भव था। किन्तु दृढ़ इच्छा-शक्ति तथा बौद्धिक कौशल के बल पर इन दोनों ने इस असम्भव को सम्भव बना दिया।

इनके पास रिवाल्वर कैसे पहुँचे। यह अभी तक रहस्य के पर्दों में छिपा है। किन्तु यह सत्य है कि इन्होंने किसी प्रकार दो रिवाल्वर प्राप्त कर लिए। बहुत सम्भव है खाने के लिए जो मछली तथा कटहल आदि आते थे उनमें छिपाकर यह इस तक पहुँचाई गई हों। रिवाल्वर मिल जाने पर आधी सफलता तो हाथ लग गई।

नरेन सरकारी गवाह हो जाने के कारण इन लोगों से दूर एक अस्पताल में रखा गया था। उस तक पहुँचना भी टेढ़ी खीर था। सत्येन्द्र ने खाँसी का मरीज बनकर अस्पताल की शरण ली तथा कन्हाई ने पेट दर्द का बहाना बनाकर। पहले सत्येन्द्र पहुँचा, उसके कई दिनों बाद कन्हाई लाल। कन्हाई ने अस्पताल पहुँचते ही जोर-जोर से कराहना-चिल्लाना आरम्भ किया। यह सत्येन्द्र को अपने आगमन की सूचना देने का संकेत था।

दोनों ने बीमारी का अभिनय इस खूबी से किया कि किसी ने इन पर सन्देह नहीं किया। सत्येन्द्र ने अपने आपको जीवन से निराश प्रकट किया तथा मुखबिर बनने की इच्छा प्रकट की। नरेन से मिलने की इच्छा प्रकट करने पर नरेन तथा एक जेल का अफसर इससे मिलने का लोभ संवरण न कर पाये। दोनों इनसे मिलने पहुँचे। नरेन को देखते ही सत्येन्द्र ने रिवाल्वर से फायर किया पर गोली नरेन के पाँव में लगी। नरेन भाग खड़ा हुआ। अन्य मरीजों ने देखा कि दिन-रात खाट तोड़ने वाला पेट का मरीज शेर की तरह उछला व लपक कर नरेन के पीछे

भाग। यह देखते ही कन्हाई लाल ने सारी गोलियाँ इसी देशद्रोही पर समाप्त कर दीं। वह धराशायी हो गया।

यह समाचार बिजली की तरह सारे कलकत्ता में फैल गया। कन्हाई लाल के इस साहस पर नवयुवकों में उत्साह की एक लहर दौड़ पड़ी। वे भी कमर कसकर आन्दोलन में भाग लेने को उठ खड़े हुए। जो अपने व्यक्तिगत स्वार्थ में ही लिपटे पड़े थे। इस काण्ड ने उन्हें झकझोर कर खड़ा कर दिया। भारतीय जनता में उत्साह का संचार हो गया। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी जैसे नेताओं ने यह समाचार सुनते ही मिठाई बाँटी।

अँग्रेजी हुकूमत की यह बहुत बड़ी हार थी। उसकी जेल में रहने वाले क्रान्तिकारी ऐसा काम कर जाएँ। उनके पिट्टू को जेल अधिकारी के सामने गोलियों से छलनी कर दें। वह भी किसी छोटे-मोटे स्थान पर नहीं कलकत्ता जैसे बड़े नगर में जहाँ अँग्रेजी साम्राज्य की नींव पड़ी थी। सत्ता के मुँह पर इससे बड़ा तमाचा और क्या हो सकता था?

धरती तो आज भी वही है। देशवासी भी बदले नहीं। पर आज कुर्बानी, वह देश-भक्ति, वह आदर्श एक सपना बनकर रह गया है। हर आदमी ने पेट इतना बड़ा कर लिया है-अपना स्वार्थ ही सब कुछ मान लिया है। उसी संकुचित दृष्टिकोण को अपनाकर नीति-अनीति का भेद किये बिना अपना घर भरने की हीन वृत्ति से ग्रस्त होकर राष्ट्र के हित की बात सोच नहीं पाते। वह दिन दूर नहीं जब इस धरा पर फिर कन्हाई लाल उत्पन्न होंगे तथा स्वार्थ के पुतले नरेन को सबक सिखाकर ही छोड़ेंगे।

कन्हाई लाल के इस दुस्साहस पर विदेशी साम्राज्यवादी बौखला उठे। मुकदमे की रस्म अदायगी पूरी हुई। फौसी से अधिक और क्या दे सकती थी यह हुकूमत दोनों को फौसी की सजा सुनाई गयी। १० नवम्बर १९०८ के दिन इन दोनों को फौसी दे दी गयी।

फौसी के बाद शहीद का शव लेने के लिए उनके भाई तथा परिवार के अन्य व्यक्ति जेल पहुँचे। शोक से सभी की छाती फटी जा रही थी। बड़े भाई की रुलाई नहीं रुक पा रही थी। गोरे जेलर ने उनकी पीठ थपथपाते हुए कहा- "आप रोते क्यों हैं जिस देश में ऐसे वीर पैदा होते हैं। वह देश धन्य है। मरेंगे तो सभी अमर होकर कौन आया है पर आपके भाई जैसे भाग्यवान कितने होते हैं?" उन्होंने विस्मय से देखा गोरा अधिकारी स्वयं रो रहा था। जैसे उसका अपना भाई दिवंगत हो गया हो। काँपते हाथों से शव के मुख पर से कम्बल हटाया तो देखा कन्हाई इन रोने वालों पर हँस रहे थे। एक अमर मुस्कान उनके होठों से फूट रही थी।

कौन कहता है कि यह शहीद गुलाम रहा था। जिसने एक पल भी विदेशी हुकूमत को नहीं माना। अपने क्षुद्र स्वार्थों का गुलाम वह बना नहीं। जेल की दीवार उसके संकल्प को बाँध नहीं पायी। फौसी की सजा उसका चैन

नहीं छीन पायी। मृत्यु के विकराल हाथ उसकी मुस्कान नहीं छीन पाये। जिसे अंग्रेजी हुकूमत ने एक हत्यारा कहा पर देशवासियों ने उसे शहीद का गौरव प्रदान किया। शान से उसकी शवयात्रा निकाली गई। हजारों की संख्या में लोग एकत्रित हुए। पंचभूत शरीर की राख को लोगों ने लूट लिया अपने मस्तक पर लगाने के लिये।

यह सम्मान, यह विजय श्री तथा यह श्रद्धा किसी-किसी को ही मिलती है। जो आदर्शों के पथ पर चलते हैं वे ही यह सब पा सकते हैं। इस पर कुबेर का कोष व विश्व का साम्राज्य भी न्योछावर किया जा सकता है। कन्हैया लाल दत्त ने अपनी अन्तःप्रेरणा अनसुनी नहीं की, उठ खड़े हुए तो सफल हो गई उनकी जवानी। आज देश में कितने ही युवक बेकार फिरते हैं। क्या वे अपनी इस जवानी को समझ पाये? यदि समझ पाये होते तो आज देश की यह दशा नहीं होती। अनाचार और अनैतिकता इस प्रकार बढ़ी-चढ़ी न होती।

कन्हैया लाल दत्त अपनी भरी जवानी में अपने कर्तव्य पथ पर चलते हुए शहीद हो गये। उनकी मुस्कान सदा यह कहती-बताती रही-“अन्याय चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो उसका प्रतिकार करने का साहस न करना अपने मानवीय कर्तव्यों की उपेक्षा करना है। अन्याय का अन्धकार चाहे कितना ही सघन क्यों न हो एक आदर्शवादी व्यक्ति उसे मिटाने के लिए दीपक की तरह जले तो प्रकाश होकर ही रहेगा।” हमें आजादी मुफ्त में नहीं मिली। अनेक देशभक्तों के रक्त से इस स्वतन्त्रता का निर्माण हुआ। स्वतन्त्र भारत की उन्होंने ऐसी कल्पना तो नहीं की थी जैसी आज हम देख रहे हैं। इन देशभक्तों के प्रति हमारे हृदय में तनिक भी श्रद्धा है-उसका जीवन वृत्त पढ़ कर हमारे हृदय में तनिक भी हलचल होती है-आँखों में दो अश्रु छलक आते हैं तो अन्तःकरण की आवाज-आत्मा की पुकार को सुनकर श्रेय-पथ पर चलना होगा। सर्वनाश विभीषिकाओं से जूझने तथा नवसृजन के लिए हमें अपना जीवन नियोजित करना ही होगा।

एक सच्चे भारतीय-

श्री कान्त अनन्त राव आपटे

चाचा! पास वाली बहिन जी ने यह चिट्ठी रोते-रोते दी है। मैं इसे डाक में डाल आऊँ? सात वर्षीय बालक ने चाचा श्री कान्त अनन्त राव आपटे से पूछा। उनको रोते हुए चिट्ठी देने की बात समझ में नहीं आयी, उन्होंने चिट्ठी देखी तो माथा ठनका। पता उनके पड़ोसी का था पत्र लिखने वाली लड़की अपने पिता को मौखिक नहीं कह सकी तथा पत्र में लिखी तो अवश्य यह कोई गूढ़ बात होनी चाहिए। रोते हुए पत्र देने का अर्थ शुभ नहीं हो सकता। उन्होंने लिफाफा फाड़कर पत्र पढ़ा।

“पूज्य पिताजी! कल जब यह पत्र आपको मिलेगा तब तक मैं किसी दूसरी दुनिया में जा चुकी होऊँगी। मैंने जो भूल की है उसकी सजा मृत्यु-दण्ड ही हो सकती है। आपने मुझे पढ़ने के लिए कॉलेज में भर्ती कराया ताकि मैं अपना जीवन सँवार सकूँ पर मैंने उसे बिगाड़ लिया। मैंने एक लड़के की चिकनी-चुपड़ी बातों में आकर अपना सर्वस्व उसे सौंप दिया। वह मेरी इस मूर्खता का लाभ उठाकर थोड़े ही दिनों में बदल गया। अब मैं आपको मुँह दिखाने योग्य नहीं रही और दिखाऊँगी भी नहीं.....।

आपटे इससे आगे पढ़ नहीं पाये। उनका हृदय भर आया। स्वार्थ और लोलुपता के इस दानव ने कितनी ही सुकुमार कलियों के भोलेपन का लाभ उठाकर उन्हें कुचल-मसलकर आत्महत्या तथा सामाजिक प्रताड़ना का शिकार बनाया है। वासना के पीतल पर प्यार के सोने का मुलम्मा चढ़ाकर जो नर-पशु नारी की उदारता का अनुचित लाभ उठाते हैं उन्हें सबक देने के लिये इस विवेकशील तरुण की चेतना जाग उठी। दोष दोनों का और दण्ड एक को मिले यह न्याय उन्हें स्वीकार न था।

आपटे के चाचा उससे बड़ा स्नेह करते थे। उसने अपने चाचा को यह पत्र दिखाया। चाचा ने इस सम्बन्ध में अपना एक ही सुझाव बताया वह यह था कि कोई युवक इस कन्या से विवाह करने के लिए राजी हो जाय तो उसके प्राण बचाए जा सकते हैं।

इस प्रकार का उदार युवक मिलना कठिन था। कोई तैयार भी हो जाता तो समाज के तथाकथित ठेकेदार उसका जीना हराम कर देंगे। यह मुसीबतें एक साथ मोल लेने वाली बात थी। ऐसा कोई युवक खोजा जाता तब तक तो उस लड़की का प्राणान्त ही हो जाता। आपटे ने आजीवन अविवाहित रहने का व्रत ले रखा था। आपटे के अतःकरण से आवाज आयी। किसी के प्राणों की रक्षा के लिये व्रत तोड़ना पड़े तो कोई हानि नहीं। आपटे ने उस कन्या को स्वीकार कर लिया। चाचा के प्रयत्नों से दोनों विवाह-सूत्र में बँध गये।

आपटे के पिता पूना के निवासी थे किन्तु पोस्टल सुपरिण्टेंडेण्ट होने के कारण उन्हें अलग-अलग स्थानों पर अपना जीवन व्यतीत करना पड़ा। जब वे अहमदनगर में थे तब श्रीकान्त का जन्म हुआ। एक स्थान पर नहीं रह पाने के कारण श्री कान्त आपटे की पढ़ाई नियमित नहीं हो सकी। ये बड़ी कठिनाई से मैट्रिक तक पढ़ सके।

स्कूल की पढ़ाई नियमित न होते हुए भी आपटे ने अपने ज्ञान-भण्डार को भरने में कमी नहीं रखी। वे भारतीय धर्म शास्त्रों का अध्ययन करते, उनमें लिखी हुई बातों से जब प्रचलित रीति-रिवाज तथा मान्यताओं की तुलना करते तो उन्हें जमीन-आसमान का अन्तर दृष्टिगोचर होता था। इस स्वाध्याय का यह परिणाम हुआ कि उनके अन्तःकरण में विवेक जाग्रत होने लगा। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण समाजवादी तथा मानवतावादी होने लगा।

सारे देश में क्रान्तिकारी आन्दोलन की धूम मची हुई थी। आपटे के मन में देश-प्रेम का सागर हिलोरें ले रहा था। वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थ में ही बँधे नहीं रह सके। सामाजिक प्रगति के लिये राजनैतिक स्वतन्त्रता एक अनिवार्य आधार होता है। आपटे ने अपने आपको राष्ट्र की सेवा में समर्पित कर दिया। पत्नी के साथ उन्होंने जो विशाल सहृदयता दिखाई थी प्रतिदान में उसने अपने आपको इनके उद्देश्य के लिए समर्पित कर दिया।

आपटे ने एक क्रान्तिकारी दल का संगठन किया। अपने जैसे देशभक्त युवकों को एकत्रित करके उन्होंने पर्याप्त शक्ति संगठित करली थी। भारत के अन्य क्रान्तिकारी दलों से सम्पर्क स्थापित करके इन्होंने अँग्रेजों को आतंकित करना आरम्भ कर दिया। थाने लूट लेना साधारण बात थी। कोई अँग्रेज भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार करता तो उसका बदला यह दल लिये बिना नहीं रहता था। आपटे की पत्नी अपने घर के मोर्चे को सम्भालती थी। उसने इन्हें पूरी तौर पर देश सेवा के लिए छोड़ दिया था। आपटे की योजनायें तथा कार्यपद्धति इतनी सूझ-बूझ की होती थीं कि अँग्रेज सरकार इनका पता नहीं लगा पाती थी। आपटे उनके लिए सिर दर्द बन चुके थे। वह किसी भी मूल्य पर इन्हें पकड़ना चाहती थी और उनकी सब चालें नाकामयाब कर देते थे।

पुलिस ने आपटे के घर को आ घेरा। पति की रक्षा करने के लिए पत्नी दरवाजे पर चट्टान बनकर अड़ गयी। अँग्रेज अफसर ने उसे हटाने को कहा पर वह हटी नहीं। क्रुद्ध होकर उसने लाठी चलाने को कहा। लाठी के प्रहार से उस वीर नारी की कलाई टूट गयी पर वह चौखट से हटी नहीं। हारकर पुलिस को गोली चलानी पड़ी। एक दिन आपटे ने उसकी रक्षा की थी आज उस का प्रतिदान उसने अपने प्राण देकर चुका दिया था। इतनी देर में आपटे सिपाहियों की आँखों में धूल झाँक कर भाग चुके थे।

आपटे को अपनी पत्नी के दिवंगत होने की सूचना मिली तो वे नारी की इस महानता पर नतमस्तक हो गये। वे नहीं चाहते थे कि विवाह करें पर यदि वे विवाह नहीं करते तो उन्हें यह रूप देखने को कहाँ से मिलता कि हम अपने अधाँग को इस प्रकार पद-दलित किये हुए हैं, वह हमारे प्रगति का सोपान सिद्ध हो सकता है, यह हमारी मूर्खता ही तो है।

राष्ट्र और समाज के लिये सारा जीवन अर्पित करने के उद्देश्य से उन्होंने आजीवन अविवाहित रहने का व्रत लिया था। वह व्रत पत्नी की मृत्यु के उपरान्त ज्यों का त्यों चलने लगा। उस देवी ने उन्हें गृहस्थी के झंझट में नहीं पटक़ा था। बाल-बच्चा कोई था नहीं। अब उनके सामने एक ही लक्ष्य था लोक-सेवा।

गाँधी के विचारों की आँधी जब चली तो उसमें अच्छे-अच्छे प्रतिभावान, सम्पदावान उड़ गये। इस विचार धारा से परिचित होकर आपटे को लगा कि जिस पथ की उन्हें प्रतीक्षा थी वह उन्हें मिल गया है। अब उनके मन में कोई विकल्प नहीं रहा, उन्होंने स्वयं को इस आन्दोलन का एक अंग बना लिया।

आपटे जी ने धन कमाने को तो जीवन का एकमात्र उद्देश्य समझा नहीं था। विवाह हो जाने पर भी वे इस ओर से उदासीन ही थे। उस देवी ने कभी उनसे इस सम्बन्ध में आग्रह नहीं किया, क्रान्तिकारी जीवन में कमाई करना सम्भव भी नहीं था। बाद में अकेले व्यक्ति की थोड़ी सी आवश्यकताएँ पूरी हों इतना ही वे कमाते बाकी समय का उपयोग समाजसेवा, देशसेवा में करते थे। इनके पास गाँधी जी को देने के लिए न धन था, न सम्पदा थी न और कुछ था। इन्होंने जीवन ही गाँधी के आदर्शों को समर्पित कर दिया जो धन-सम्पदा से कई गुना बहुमूल्य था।

गाँधी जी के नेतृत्व में अँग्रेजों से संग्राम हुआ। अँग्रेज हारे भारतवासियों की विजय हुई। गाँधी जी ने राजनैतिक स्वाधीनता को ही अपना लक्ष्य नहीं माना था। वे रामराज्य लाना चाहते थे। स्वराज्य मिलते ही इस संग्राम के सैनिकों ने अपने देशप्रेम का मूल्य उगाहना आरम्भ कर दिया, जिसके हाथ जो कुर्सी लगी उसी पर जमकर बैठने लगे। उसी की चिन्ता रहने लगी। थोड़ी सी सफलता को ही सब कुछ मानकर उसी में लीन हो गये। उद्देश्यों को भूल गये। आपटे जी ने अपने उस देश-प्रेम को बेचा नहीं उन्होंने बचे कामों में अपने को लगाया।

आपटे जी जानते थे कि भारत गाँवों का देश है। गाँवों की समृद्धि पर ही सारे देश की समृद्धि है। उन्होंने अपना कर्म क्षेत्र गाँवों को ही बनाया। सच्चा लोक-सेवक वह है जो समाज की जड़ को सींचे। भारत के प्रगति प्रासाद की नींव गाँवों से भरी जायेगी तभी वह टिक सकेगी। दिल्ली का शासन-सूत्र ही सब कुछ नहीं कर सकता। उसकी अपनी महत्ता तो है पर गाँवों को प्रगतिशील बनाना भी कम महत्वपूर्ण नहीं वरन् प्राथमिक काम है।

अपने गाँव के डेढ़ बीघा अनुपजाऊ जमीन को आपटे जी ने अपनी प्रयोगशाला बनाया। वे कहते कि भारतीय किसान के पास जमीन बहुत कम है। उस कम जमीन पर खेती करके भी सुखी और प्रसन्न रहा जा सकता है। वे उस हल्की कंकड़-पत्थरों वाली जमीन पर अधिकतम फसल उगाते थे। उसी की उपज से अपना निर्वाह करते हैं।

आपटे जी के तपोमय जीवन के प्रति लोगों के हृदय में बड़ी श्रद्धा थी। वे उनके कहने पर धन, खेत सब देने को तत्पर रहते थे, आग्रह करते, पर वे नहीं लेते। आरम्भ में उन्होंने अपनी इस अनुपजाऊ भूमि पर काम करना आरम्भ किया तो लोगों ने उन्हें पागल व सनकी समझा। जब उस खेत में अन्य अच्छे उपजाऊ खेतों की अपेक्षा दुगुनी-तिगुनी फसल होने लगी तो वे ही इनके प्रशंसक बन गये।

आपटे जी बिनोवा जी से बहुत प्रभावित थे। उनकी विनोबा के रचनात्मक कार्यों में बड़ी रुचि थी। सादगी, सज्जनता, अपरिग्रह तथा ऋषि-परम्परा का जीवन जीने वाले आपटे जी ने उस क्षेत्र में एक क्रान्ति उपस्थित कर दी उन्होंने बीस-बीस फुट जमीन में भी गेहूँ बोकर उसमें पर्याप्त अन्न उत्पन्न किया। वे १९५१ से इस प्रकार के खेती सम्बन्धी प्रयोग कर रहे थे।

आटे जी के तरीके को अपनाकर कम से कम भूमि वाला किसान, कम से कम साधन होते हुए भी अपना तथा अपने परिवार का पोषण कर सकता है तथा लोकसेवा के लिये समय निकाल सकता है। इस भूमि के टुकड़े पर चार पाँच घण्टा परिश्रम करके वे अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर लेते थे। शेष समय वे समाज निर्माण, लोक शिक्षण तथा सेवा में लगाते थे। उपदेश देने के लिए उनका यह जीवन क्रम ही काफी है वे तो बस सेवा करना सीखे हैं।

आटे जी खेती नहीं करते पूजा करते थे। धरती माता की पूजा सेवा करके उससे एक शिशु की तरह अन्न का उपहार पाते। फावड़ा, कुदाली, हँसिया, खुरपी, तगारी आदि उनके लिये माला, धूप, दीप नैवेद्य था। यह श्रम देवता की पूजा ही उनके जीवन का आधार था। आटे जी ने इस आदर्श कृषि परम्परा से उस क्षेत्र के कृषकों में नव जीवन ही संचार नहीं किया उन्हें सच्चे अर्थ में भारतीय बनाया था।

आपा-धापी, प्रदर्शन और उपदेश, दान, त्याग पर जो राजमार्ग इस तपस्वी लोक-सेवक ने चुना वह कोई सच्चा लोकसेवी ही अपनाता है। उनकी अपनी कोई संतान नहीं पर उनके स्नेह की छाया में कितने ही स्नेह के भूखे शिशुओं को सुखद छाया नसीब हुई है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के भारतीय आदर्श को उन्होंने जीवन में साकार किया था।

आज भौतिकता की अन्धी-दौड़ में सभी बेतहाशा भाग रहे हैं पर इस दौड़ में सभी बेतरह थक भी रहे हैं। आटे जी जैसे उदारमना व्यक्ति ही समाज को इस अधानुकरण की विभीषिका से बचा सकते हैं। इनके इस जीवन से प्रेरित होकर भावनाशील युवक इस पथ पर निकल पड़ें तो देखते-देखते विश्व का कायाकल्प हो जाय

सफलता संकल्पवानों को मिलती है—

निराला

चौदह वर्ष की अल्पायु में उसका विवाह हो गया। पत्नी अच्छी हिन्दी जानती थी। पत्नी के मुँह से हिन्दी भाषा सुनकर उन्होंने भी हिन्दी भाषा का विद्वान बनने का संकल्प लिया। कुछ लज्जावश और कुछ भविष्य के प्रति आश्वस्त रहकर अपनी आकांक्षा उसे बता न सके फिर पत्नी पितृगृह चली गई। युवक की कामना मन की मन में रह गई। विवाह के चार वर्ष बाद ही उसका देहान्त हो गया।

अहिन्दी भाषी प्रदेश में अब हिन्दी सीखे तो किससे सीखे। मन में सीखने की अदम्य चाह ने रास्ता सुझा दिया। सरस्वती पत्रिका के अंक पढ़-पढ़ कर अपने अध्यवसाय के बल पर अच्छी हिन्दी सीखनी आरम्भ कर दी। सरस्वती पत्रिका ने अपनी इस विशेषता के कारण हिन्दी भाषा के उत्थान में बड़ा योग दिया था। इसका श्रेय उसके तात्कालिक सम्पादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को

था। जिन्होंने इसे ईश्वरोपासना की तरह सम्पादित किया था।

अब तो वह आगे बढ़े एवं हिन्दी में कविता करने लगे। कविताएँ तो लिखीं पर उन्हें प्रकाशित करने के लिये तो पत्र-सम्पादकों के सहारे रहना पड़ता है। उनकी सभी कविताएँ लौटकर आने लगीं।

युवक जानता था कि सफलता पाने के लिये परीक्षण तथा संघर्ष अनिवार्य है। उन्होंने आरम्भ से ही अध्यवसाय के बलबूते पर हिन्दी भाषा सीखी थी। साहित्यकार बनने के लिये तो और भी अधिक परिश्रम करना चाहिए। वह हारे नहीं। अपनी सशक्त रचनाएँ अस्वीकृत होकर लौटतीं तो उन्हें कोई खेद नहीं होता था न।

प्रकाशन तो दूर उनका उपहास किया जाता था। उसके छन्दों के नये-नये नामकरण संस्कार किये जाते थे। इन सब उपहासों को वह पी गया। वह जानता था कि सच्चाई को आज नहीं तो कल स्वीकार किया ही जायगा।

उन्होंने प्रकाशकों से संघर्ष किया, स्वयं पत्रिकाओं का सम्पादन किया। वहाँ भी यही बात सामने आई पहले तो सम्पादकगण उनकी कविताएँ प्रकाशित नहीं होने देते थे अब पत्र के मालिकों ने विरोध किया।

संघर्ष चलता ही रहा। पास में सम्पदा नहीं, न कोई डिग्री जिसके सहारे धन कमाया जा सके। उन्होंने छोटे से छोटा काम किया। दवाइयों के पेम्फलेट लिखे, विज्ञापन बनाये सभी कुछ किया।

अंत में विजय हुई एक कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ फिर दूसरा व तीसरा। लोगों ने पढ़ा, सराहा और वह साहित्याकाश में चमक उठे। यह व्यक्ति थे हिन्दी के प्रसिद्ध कवि सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, उन्होंने हिन्दी कविता को एक नई दिशा दी।

जड़-जगत में आदर्शवादिता का खोजी—

जानसन

पढ़ाई के मकान में आग लगी। मुहल्ले वाले भी उसे बुझाने में जुटे। छोटे देहात में आग बुझाने के बड़े साधन न होने से आग पर काबू जल्दी न पाया जा सका। फिर भी प्रयत्न यही रहा कि आग को बुझाने और घर का सामान निकालने के लिये जितना अधिक प्रयत्न सम्भव हो सके किया जाय।

यह सब चलता रहा। सामान भी बहुत कुछ बाहर निकल आया पर एक कोठरी में सोती हुई उस लड़की का किसी को ध्यान ही नहीं रहा। जब आग की लपटों में बहुत झुलसी तब वह जगी और चीखी पर अब चारों ओर से वह कोठरी आग की लपटों से बुरी तरह घिर गई थी। उसमें से निकल सकना न लड़की के लिए सम्भव था और न किसी की यह हिम्मत पड़ती थी कि अपने को जोखिम में डालकर उसे निकाले। सभी विवशता अनुभव कर रहे थे और मुँह नीचे को लटकाये खड़े थे।

२.३७ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

थी तो विवशता ही पर एक लड़के के अन्तःकरण से असाधारण जोश आया। दूसरों के प्राण बचाने के लिए अपने प्राण जोखिम में डालने का साहस न जाने उसमें कहाँ से आ गया। लड़के ने एक गीला कम्बल शरीर पर लपेटा, जूते कड़े किये, तीर की तरह आग से घिरी उस कोठरी में घुस गया जिसमें लड़की चीख रही थी। अपनी भुजाओं में उसे लपेटा और दौड़ता हुआ वापस आ गया।

लड़की झुलसी तो थी पर उतनी नहीं जितना वह किसान युवक। लड़की को साधारण देहाती उपचार करने से ही राहत मिल गई, पर बेतरह जले हुए युवक को बोस्टन (अमेरिका) के अस्पताल में दाखिल किया गया। उसका नाम था-‘जानसन’।

लड़के की उच्च-भावना और साहसिकता की कथा सुनकर अस्पताल के सभी कर्मचारी प्रभावित हुए। वे जो उपचार कर सकते थे, करते ही रहे, पर स्थिति कुछ सुधरने में नहीं आ रही थी। मृत्यु और जीवन-संघर्ष चल रहा था।

प्रकृति के निष्ठुर नियम कहते थे, हमें अपनी धुरी पर घूमना है, भावना और उपयोगिता से हमें कुछ लेना-देना नहीं। जो आग को छूयेगा वह जलेगा। घाव जितने गहरे होंगे-शरीर जितना अशक्त होगा, उतना कष्ट सहना होगा। हमारे यहाँ धर्मात्मा, अधर्मी के बीच कोई भेदभाव नहीं। हमारी अपनी आचार-संहिता है और उसी पर चलेंगे। जानसन धर्मात्मा है इससे उसके नियम-कायदे नहीं बदल सकते।

चेतना के सदैव नियम कह रहे थे हमारा अपना क्षेत्र है मनुष्य का अन्तःकरण। जहाँ उत्कृष्टता होगी वहाँ आत्मबल बढ़ेगा और उस आत्मबल से प्रकृति के नियमों को बदल सकना अधिक सम्भव न हो तो भी धैर्य, शान्ति और हिम्मत के साथ कष्टों को सहने का बल तो मिल ही सकता है।

अस्पताल की रोग-शय्या पर लगता था जड़ और चेतन क्रिया-प्रक्रिया का संघर्ष आरम्भ हो गया और दोनों ही एक दूसरे को चुनौती देने लगीं।

जख्म इतने अधिक और इतने बड़े थे कि उनमें न रुकने वाले स्राव बहने लगे। दिन रात रक्त-मिश्रित पानी रिसता और हर रोज कई-कई चादरें बदलनी पड़तीं। डाक्टर चिकित्सा में संलग्न तो थे पर उनकी चिकित्सा कुछ अधिक कारगर नहीं हो रही थी। वे इस लड़के की साहसिकता से बहुत प्रभावित थे और उसे बचाने का हर प्रयत्न कर रहे थे पर कुछ रास्ता नहीं निकल रहा था। अपनी असफलता पर उन्हें उदासी ही घेरती चली जा रही थी।

मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए जानसन ने वस्तुस्थिति को समझा, पर वह घबराया नहीं और भी अधिक संतुलित तथा गम्भीर हो गया। उसकी जिजीविषा जाग्रत हुई और निश्चय किया कि वह मरेगा नहीं-अभी जीवित रहेगा। उसने डाक्टरों से कहा-आप उदास न हों। नये साहस से प्रयत्न करें-मेरी जीवनेच्छा अब आपको नये सिरे से

अधिक सहायता करेगी। न केवल दूसरे का प्राण बचाने में वरन् जीवन को मृत्यु के मुख में से निकाल सकने में भी क्या सत्साहस काम कर सकता है? यह जानने के लिये डाक्टर उत्सुक ही नहीं आतुर भी हो गये। उन्होंने घायल लड़के से कहा-तुम चाहो तो चिकित्सा विधि में अपनी सलाह भी सम्मिलित कर सकते हो। हम लोग यथा सम्भव अपने उपचार में वैसा ही हेर-फेर करने की सोचेंगे।

अब चिकित्सकों की मण्डली में यह मरीज भी शामिल था। अब उससे भी परामर्श लिया जाने लगा।

जानसन ने सोचा मानसिक समस्याओं का समाधान यदि अपने भीतर से निकल सकता है तो शारीरिक समस्याओं का समाधान क्यों न होगा। घावों से बहते हुए स्राव के स्वच्छ भाग को यदि पुनः शरीर में प्रवेश कराया जाय तो उससे गलित विकृतियों को हटाया जाना सम्भव हो सकता है। यह सूझ उसे अध्यात्मवादी सिद्धान्तों के आधार पर सूझी। अपने सद्विचारों और सदभावों को यदि कुविचारों से अलग छूट लिया जाय और उन्हें अधिक उत्साह के साथ अन्तःकरण में प्रवेश कराया जाय तो दुष्प्रवृत्तियों से-बुरी आदतों से सहज ही छुटकारा पाया जा सकता है। यही तथ्य शरीर पर सफल क्यों न होगा। उसने जितना सोचा उतना ही विचार परिपक्व होता गया।

दूसरे दिन डाक्टर आये तो एक नया प्रयोग करने के लिए कहा। उसके घावों में से बहते हुए स्राव में से शुद्ध जलाश निकालकर उसे शरीर में पुनः प्रविष्ट कराया जाय। डाक्टर पहले तो इस नये प्रयोग के लिए तैयार न हुये पर जब उसने यह लिखित अनुरोध प्रस्तुत किया कि इस नये प्रयोग में उसकी जान भी जाय तो कुछ हर्ज नहीं, क्योंकि शरीर अब ऐसा हो गया है जिसको एक प्रकार से बचने की आशा ही नहीं रह गई है। डाक्टरों ने उसका अनुरोध स्वीकार कर लिया। स्राव को इकट्ठा करके उसका शुद्ध अंश ‘सीरम’ निकाला गया और उसे सुई से उसके शरीर में पुनः प्रविष्ट किया गया। परिणाम बहुत ही उत्साहवर्धक निकला। घावों से बहने वाला स्राव बन्द हो गया। डाक्टर इस नये प्रयोग की सफलता से आश्चर्य चकित थे।

स्राव तो बन्द हो गया पर घावों के समीपवर्ती भाग इतने विकृत हो गये थे उनका भरना, नई चमड़ी उत्पन्न होना असम्भव लगता था। जानसन ने इस समस्या का हल भी अध्यात्म सिद्धान्त के आधार पर सोचा। अपनी विकृतियों का समाधान अपने ही पास हो सकता है। शुद्ध चमड़ी को अशुद्ध चमड़ी के स्थान पर लगा दिया जाय, तो इससे शुद्ध स्थान की कोई हानि न होगी किन्तु अशुद्ध की अशुद्धि मिट जावेगी, यही होता भी है। श्रेष्ठ पुरुष अपने ज्ञान, तप और श्रम आदि का एक बड़ा भाग पतित और पिछड़े हुए लोगों के लिए दे देते हैं। इससे उनकी कुछ हानि नहीं होती। उनका पुण्य-परमार्थ खर्च हुए आत्मबल और तप की पूर्ति कर देता है। साथ ही पतित का उद्धार भी हो जाता है। इसी आधार पर यह शुद्ध स्थान की

त्वचा अशुद्ध स्थान पर लगा दी जाय तो उस शुद्ध स्थान पर नई त्वचा आयेगी और सामने ही गलित घावों का भर जाना भी सम्भव हो सकेगा। इस तथ्य पर विचार करता रहा। जितना सोचा उतना ही यह आधार सही प्रतीत होता गया। चेतन जगत के भावनात्मक सिद्धान्त शरीर पर, भले ही वह जड़ हों लागू क्यों न हो सकेंगे।

दूसरे दिन डाक्टरों से उसने अनुरोध किया उसके शुद्ध स्थान की चमड़ी उखाड़कर गलित घावों में जोड़ दी जाय। डाक्टर इस नये प्रयोग के लिए भी मुश्किल से ही तैयार हुए पर उन्हें आशा यह जरूर थी कि पिछले प्रयोग की तरह शायद यह नया प्रयोग भी सफल हो जायगा। जब रोगी उस प्रयोग के लिये अपना शरीर स्वयं प्रस्तुत कर रहा है तो उसमें कुछ आपत्ति भी नहीं थी।

यह प्रयोग भी किया गया। शुद्ध स्थान की त्वचा उखाड़कर घावों पर लगाई गई। आश्चर्य इस बार भी हुआ। ८० प्रतिशत घाव पुर गये। साथ ही उखाड़े हुए स्थान की क्षति-पूर्ति भी स्वयंमेव हो गई। २० प्रतिशत जो घाव रह गये थे उनका उसी तरह का आपरेशन फिर हुआ और ये रहे बचे घाव भी भर गये।

तीन वर्ष बाद अस्पताल से छुट्टी मिली। इस बीच इसका 'सीरम' का औषधि रूप प्रयोग और त्वचा का स्थानान्तरण वाला प्रयोग होता रहा। डाक्टरों के लिए इसमें दुहरी दिलचस्पी थी। इस परमार्थपरायण युवक की साहसिकता से प्रभावित लोग उसकी जीवन रक्षा करके सामाजिक कृतज्ञता का परिचय देने के लिये उत्साहित थे, दूसरा उसका शरीर चिकित्सा-विज्ञान की भावी सम्भावनाओं से जन-समाज को भारी लाभ देने वाला था। इस दुहरी दिलचस्पी से डाक्टरों ने वह सब साधन जुटाये जो साधारणतया अस्पतालों में उपलब्ध नहीं थे। युवक की साहसिकता और सूझ-बूझ की चर्चा जहाँ भी हुई, वहाँ प्रभाव उत्पन्न हुआ। लोगों ने जानसन की जान बचाने के लिये बहुत कुछ किया। लगभग ११ हजार डालर अस्पताल की सुविधा के अतिरिक्त खर्च आया सो कुछ ही उदार व्यक्तियों ने जिनमें वे डाक्टर भी शामिल थे, मिलजुल कर पूर्ति कर दी।

अस्पताल से छुट्टी पाकर जब वह निकला तो दो शिकायतें शेष थीं एक तो पड़े-पड़े उसके सारे जोड़ जकड़ गये थे और मुड़ने में दर्द करते थे। दूसरे चेहरे के घाव भर जाने पर उसकी शक्ति कुरूप हो गई थी इसके लिए भी उसने आध्यात्मिक सिद्धान्तों का ही प्रयोग किया। सतत संघर्ष से जड़ता का निराकरण चेतना क्षेत्र में तो सफल होता ही रहा है, शरीर पर भी सफल हुआ। उसने मालिश के कई प्रयोग किये, जोड़ों को रगड़ा और वहाँ उतेजना उत्पन्न की। व्यायाम की कई ऐसी विधियाँ खोज निकालीं जो जकड़े हुए जोड़ों को फिर गतिशील बना सकें।

कुरूप अंगों को काट-छाँट करके उन्हें सुडौल बनाने की बात भी उसे सूझी। कुरूपता और सौन्दर्य दोनों ही

अपने में विद्यमान हैं। हेर-फेर की प्रक्रिया ही साधना, तपस्या कहलाती है। यदि उसका प्रभाव जीवन के अन्धकार को प्रकाश में बदल सकता है तो कुरूपता सौन्दर्य में क्यों नहीं बदल सकती। नाक, जबड़ा ठोड़ी यह तीन अंग विशेषतया कुरूप हो गये थे। उसने डाक्टरों से अनुरोध करके एक और प्रयोग कराया। किस अंग को किस तरह काट-छाँटकर कहाँ का पैबन्द कहाँ लगाकर कुरूपता दूर हो सकती है, यह उसने बताया। डाक्टरों ने उसमें थोड़ा सुधार किया और वह प्रयोग भी कर डाला जानसन की कल्पना सही निकली इस प्रयोग ने उसकी कुरूपता दूर करदी और वह अस्पताल में भर्ती होने से पूर्व जैसा ही सुडौल सुन्दर लगने लगा।

(१) शरीर से निकलने वाले स्राव का शुद्ध अंश 'सीरम'-औषधि रूप में प्रयुक्त होना (२) त्वचा का दूसरे स्थान पर प्रत्यारोपण (३) जकड़े जोड़ों में मुलायमी उत्पन्न करने वाली मालिश (४) प्लास्टिक सर्जरी। इन चारों ही आधिष्कारों ने जानसन के शरीर पर प्रयोग होने के बाद दिशा प्राप्त की और उस सन्दर्भ में काफी आगे चलकर इनकी बड़ी प्रगति सम्भव हो सकी, जिसने असंख्यों को नवजीवन प्रदान किया।

जानसन का परमार्थ एक लड़की को आग से बिकालने की प्रक्रिया के साथ आरम्भ हुआ। उसने चार प्रयोग स्वास्थ्य जगत के लिये प्रस्तुत किए। पीछे उसने कृषि और बागवानी क्षेत्र में भी यही किया। पौधों और वृक्षों के जाति-भेद का संमिश्रण करके उसमें अधिक समुन्नत किस्म की फसलें उगाई इस सूझ के बारे में भी वह यही कहता था पारस्परिक-सहयोग और प्रत्यावर्तन मानव समाज के लिए ही हितकर नहीं-पेड़-पौधों के लिये भी वह लाभदायक है। इस कृषक युवक की सूझ-बूझ की जब भी सराहना हुई तब उसने यही कहा-मैंने आध्यात्मिक सिद्धान्तों को भौतिक जगत में प्रयोग करने की बात भर सोची। दुनिया ने देखा कि यह तथ्य गलत नहीं सही है कि प्रकृति का कण-कण उच्च आदर्शों का ही समर्थन करता है।

न्याय के लिए संघर्ष

जगदीश चन्द्र बसु बी० ए० की उपाधि लेकर भारत लौटे। वह समय स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व का था। भारतीयों के साथ भेदभाव बरता जाता था। वह प्रेसिडेंसी कॉलेज में भौतिक विज्ञान के अध्यापक हो गये। कॉलेज के संचालक तथा अनेक अध्यापक अंग्रेज थे। भारतीय अध्यापकों को केवल दो तिहाई वेतन ही मिलता था।

समान योग्यता प्राप्त और एक समान विद्यालय की सेवा करने वाले अध्यापकों में वेतन की यह असमानता रंग भेद के कारण ही थी। उस विद्यालय में तीन अध्यापक कम वेतन पर काम करते थे पर विरोध कौन करे? विरोध करने का परिणाम सभी जानते थे नौकरी से अलग कर देना। अंग्रेज संचालक तो यह मानता था कि भारतीय

अध्यापकों को भले ही समान शिक्षा और योग्यता प्राप्त हो पर वह विज्ञान विषयों को उतनी अच्छी तरह नहीं पढ़ा सकते थे जितनी अच्छी तरह अँग्रेज ।

अँग्रेजों का यह अन्याय बसु सहन न कर सके । उन्होंने वेतन तथा समान सुविधाओं की माँग की और अन्याय का विरोध करने लगे । बसु भारतीय थे, अपने देश और जाति का उन्हें अभिमान था । वह सोचते, यह सब प्रकार के अन्याय इसलिए सहन करने पड़ते हैं कि हमारा देश स्वतन्त्र नहीं है । सात समुद्र पार देश के व्यक्तियों का शासन है ।

बसु के इस विरोध से कॉलेज का संचालक रुष्ट हो गया । उसने बसु की नौकरी स्थाई भी नहीं की, इसलिए और भी कम वेतन मिलता था । इस कम वेतन को लेने के लिए बसु तैयार नहीं थे । महीने की प्रथम तारीख आती, वेतन के लिए उन्हें बुलाया जाता और वह मना कर देते पर अध्यापन कार्य में किसी प्रकार की कमी नहीं की । पूर्ण मनोयोग के साथ वे अपनी सेवायें देते रहे और साथ ही समान अधिकारों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष जारी रखा ।

दो माह, चार माह, अब पूरे तीन वर्ष हो गये । इतना पैसा उनके पास कहाँ था जो वेतन के अभाव में अपने परिवार का खर्चा चला लेते । वह कठिनाइयों में झुके नहीं वरन् उनका सामना करने का प्रयास करते थे ।

आर्थिक स्थिति खराब होने लगी । अभी तक वह कलकत्ता में रहते थे पर अब वहाँ मकान छोड़कर चन्द्रनगर में रहने लगे । यहाँ कम किराये का एक मकान मिल गया । वहाँ से नित्य कलकत्ता आना होता था रास्ते में एक नदी पड़ती थी, उनके पास इतने पैसे नहीं होते थे कि रोज-रोज नाव का किराया दें । वह अपने हाथ से नाव खेकर इस पार ले आते और उनकी पत्नी नाव को फिर वापस उस किनारे पर ले जाती । उनकी पत्नी ने आर्थिक कठिनाइयों के समय पूरा-पूरा सहयोग दिया ।

तीन वर्ष के इस संघर्ष के बाद कॉलेज के अधिकारियों को झुकना पड़ा और सिद्धान्तः मान लिया कि कॉलेज के सभी अध्यापकों को चाहे अँग्रेज हो या भारतीय समान रूप से वेतन तथा अन्य सुविधाएँ प्रदान की जायेंगी । बसु को गत तीन वर्षों का पूरा वेतन देकर उनकी सेवाओं को स्थायी घोषित किया गया ।

यह जगदीशचन्द्र बसु भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक थे जिन्होंने वनस्पति विज्ञान में अनुसन्धान कार्य करके सम्पूर्ण विश्व में अपनी धाक जमायी थी ।

पचास का काम अकेले करने वाले—

विनोद कानूनगो

सन् १९४२ में एक युवक स्वतंत्रता आन्दोलन में पकड़कर जेल में ठूस दिया गया । जेल की चहारदीवारी में रहना कुछ दिन तो युवक को बड़ा अखरा । इस प्रकार

अमूल्य समय को व्यर्थ गँवा देना उसे बड़ा बुरा लग रहा था । उसने अपने जीवन में एक महत्वपूर्ण काम करने का बचपन में निश्चय किया था । वह निश्चय था उड़िया भाषा का एक विशाल शब्द-कोष तैयार करना ।

उसने विचार किया कि क्यों न शुभ काम को शीघ्र ही आरम्भ कर दिया जाय । जीवन काल तो थोड़ा सा होता है । किसी महत्वपूर्ण कार्य को करने के लिये जितनी शीघ्रता की जाय उतना ही उत्तम है । उसने अपने शब्द कोष का निर्माण करने का निश्चय कर लिया ।

राजनैतिक कैदी होते हुए भी युवक को राजनैतिक कैदी की सभी सुविधायें उपलब्ध नहीं थीं । उसने अपने साथियों को अपना विचार बताया । वे इस युवक की हैसी उड़ाने लगे । भला जेल में भी इस प्रकार का काम किया जा सकता है ? जिसमें विश्व की महत्वपूर्ण जानकारी दी जा रही हो, उसके सूत्र यहाँ एकत्रित कैसे किये जा सकते हैं ?

उसने देखा कि ये लोग तो मेरे इस कार्य में सहयोग नहीं दे सकेंगे । उसके अन्तःकरण से आवाज आई कि पगले सहयोगियों की पर्वाह करने वाले भला कोई महत्वपूर्ण कार्य कैसे कर पायेंगे ? महात्मा ईसा ने जब अपना कार्य आरम्भ किया था तो उन्हें सहयोग मिलना तो दूर उनका विरोध किया गया । विरोध ही नहीं उन्हें मृत्यु दण्ड दिया गया था । तुझे भी यदि कुछ करना है तो सहयोग की आशा त्याग दे ।

युवक ने देखा कि सहयोग-स्वेच्छा से कोई देगा नहीं सहयोग मुझे पाना है उसके लिए राह खोजनी पड़ेगी । उसे राह मिल भी गयी । उसने अपने साथ वाले राजनैतिक बन्दियों को अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दी सभी ने मिलकर राजनैतिक बन्दियों को दी जाने वाली सुविधाओं के लिये अनशन किया । युवक इस अनशन में सबसे आगे रहा । उनके सत्याग्रह के आगे जेल के अधिकारियों को झुकना पड़ा ।

यह युवक बड़ा आत्मविश्वासी था । उसका नाम था विनोद कानूनगो । उसने जेल से छूटने की प्रतीक्षा नहीं की । अपनी तैयारी यहीं आरम्भ कर दी । अब उनके लिए यह जेल, जेल न रही थी एक अध्ययनशाला व चिंतन शाला बन गई । वह यहाँ अध्ययन करता, चिंतन करता, मनन करता और अपने भावी कार्यक्रम की रूपरेखा बनाता । यहीं जेल में उसने पूरी योजना बना ली । विश्व के कितने खण्ड होंगे, कैसा आकार होगा, कितनी सामग्री प्रस्तुत की जायेगी । अब उसका शरीर भले ही सींखचों में बन्द था पर मन तो सारे विश्व का भ्रमण करके एक महान कृति में सजाने की तैयारी करता रहा । जो भी उपयुक्त सामग्री मिलती उसे भी एकत्रित करता रहा ।

जेल से छूट कर १९१४ में इन्होंने इस विश्वकोष का सम्पादन आरम्भ किया 'ज्ञानमण्डल' नामक इस शब्दकोष में १७०० पृष्ठ होंगे तथा १५००० चीजों के बारे में जानकारी इसमें दी जायेगी । प्रत्येक खण्ड का मूल्य १००

रुपये होगा और उसके कुल ७५ खण्ड होंगे जिनका मूल्य ७५०० रुपये होगा ।

जिनके पास किसी विश्वविद्यालय की कोई डिग्री नहीं । जिसके पास साहित्य जगत की कोई प्रसिद्ध नहीं । वह व्यक्ति इस प्रकार का कोई काम करना आरम्भ करता है तो उसका उपहास किया जाता है । उसे पागल तक कहा जाने लगता है इस प्रकार की स्थिति का सामना विनोद कानूनगो को भी करना पड़ा । उनके मित्रों ने सलाह दी कि इस प्रकार के असम्भव कार्य को नहीं उठाना चाहिए । इसके लिए बड़ी-बड़ी संस्थायें भी साहस नहीं जुटा पातीं जिसमें कितने विद्वान कार्यकर्ता होते हैं, उनकी विद्वता की धाक सर्वत्र मानी जाती है । उसी काम को एक अकेला व्यक्ति कैसे कर पायेगा ।

इस प्रकार के उपहासों को इन्होंने अपने लिये हितकर माना । उन्होंने अपने काम को और भी सावधानी से करना आरम्भ कर दिया । ज्यों-ज्यों इस कोष का सम्पादन करते गये, त्यों-त्यों उनके ज्ञान की वृद्धि होने लगी । इस सम्पादन कार्य के साथ-साथ स्वयं का लेखन कार्य भी आरम्भ कर दिया ।

उड़िया भाषा में इन दिनों साहित्यकारों का अभाव सा था । इनकी रचनाओं ने इस कमी को भी दूर किया । इस प्रकार के साहित्य-सृजन से उड़िया पाठक इनके नाम से परिचित होने लगे । इनके मित्रों को भी कुछ विश्वास हो चला कि इन्होंने जो काम हाथ में लिया है वह पूरा किया जाना इनके लिये असम्भव नहीं है इनका उपहास करने वालों को भी अब अपने पर लज्जा अनुभव होने लगी ।

इतना बड़ा काम और एक अकेले व्यक्ति के द्वारा किया जाय, यह विश्व भर में पहला प्रयास है । जिस कोष का सम्पादन असंख्य कार्यकर्ताओं वाली संस्था भी बड़ी कठिनाई से कर पाती है, उसे अकेले श्री कानूनगो कर रहे हैं । इनके काम करने का तरीका ही ऐसा है कि जो कम समय तथा कम श्रम में हो सकने वाला है । एक बड़े कमरे में १०,००० फाइलों को बड़े करीने से सजाकर इन्होंने सारे विश्व की जानकारीयाँ जमा कर रखी है । इनका अधिकांश समय इसी कक्ष में व्यतीत होता है ।

यह कार्य पर्याप्त श्रम तथा समय देने से ही पूरा हो सकता है । इनके लिये विनोद कानूनगो ने अपने समय का इस प्रकार से सदुपयोग किया है कि वे अपने दैनिक कार्यक्रमों के साथ-साथ अपना यह कोष सम्पादन का काम भी करते रहते हैं । जब विश्राम का समय होता है तो विश्राम करते-करते अध्ययन भी चालू रहता है । भोजन के समय भी उनका चिंतन कार्य चलता ही रहता है । एक एक क्षण को उन्होंने इसी मिशन में खर्च किया है ।

अब तक इस विशाल कोष के जो खण्ड प्रकाशित हुए हैं वे अपने ढंग के अनोखे सिद्ध हुए हैं । जिनकी प्रशंसा भी कम नहीं हुई है । जो इनकी सफलता के प्रति आश्चर्य न थे, वे अब आश्चर्य हो चुके थे ।

इनकी मान्यता है कि स्वतन्त्रता के साथ शान और स्वावलम्बन की शर्तें अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई हैं । ये तीनों एक दूसरे के पूरक हैं, स्वतन्त्रता पाने के लिये जो संग्राम था वह पूरा हो गया पर अब उससे लाभ उठाने के लिये और भी अधिक श्रम करना चाहिए । अब हम देशवासियों पर अधिक जिम्मेदारियाँ आ गई हैं । इन जिम्मेदारियों का निर्वाह वे इस समय ५९ वर्ष की आयु में भी कर रहे हैं । वे न थकते हैं न रुकते हैं । उनका अधिकतम समय इसी प्रयोजन में जाता है ।

केवल श्रम व समय ही नहीं अपने इस कार्य को सफल करने में उन्होंने अपना धन भी लगाया है । वे कहते हैं कि धन का सदुपयोग करने में ही उसकी सार्थकता है । धन मनुष्य का दास है स्वामी नहीं । जब हम उसे अपने लिये ही खर्च करने का दृष्टिकोण अपना लेते हैं तो वह हमारा स्वामी बन बैठता है । उन्होंने इस कार्य में अपने दो लाख रुपये लगाये जबकि सरकार ने इन्हें २५००० रुपये ही दिये हैं ।

अब हमारे देश को ऐसे ही उदार व ज्ञान देवता के आराधकों की आवश्यकता है अधिकचरे साहित्य लेखकों तथा जन-साधारण के लिये इनका चरित्र सदैव अनुकरण की प्रेरणा देता रहेगा ।

दो हजार कुशितयाँ लड़ने वाला—

किंग कांग

दरासोव (रूमानिया) में सन् १९०९ में एक बालक का जन्म हुआ । नाम रखा गया ऐमालय चजाया । आयु के अनुपात में बालक का शारीरिक विकास बहुत कम हो रहा था । वह दुबला-पतला और दबू प्रकृति का था अपने साथियों से रोज पिट कर घर आता था । उसे यह पिटना असह्य था पर विवश था क्या करता ।

एक दिन इसमें बहुत बुरी तरह मार पड़ी । वह रोता-रोता घर आ रहा था कि उससे एक मोटे ताजे व्यक्ति ने पूछा, “बच्चे क्यों रोते हो ?” उसने उत्तर दिया — “मैं दुबला हूँ सब लड़के मुझे मारते हैं ।” उस व्यक्ति ने स्नेह से उसकी पीट थपथपाई और समझाया कि तुम शरीर और बल का व्यायाम के माध्यम से विकास करो । उसी दिन से बालक ने नियमित व्यायाम आरम्भ किया । वह इस नियमित व्यायाम से विश्वविख्यात पहलवान बना और किंग कांग के नाम से अभूतपूर्व ख्याति अर्जित की ।

किंग कांग का शरीर पहलवानों के लिये भी आश्चर्य की वस्तु था । उसकी ऊँचाई छह फुट तीन इंच और वजन १९० किलोग्राम था । आकार में यह पूरा एक पहाड़ था । अपने जीवन में इसने दो हजार प्रथम श्रेणी की कुशितयाँ लड़ी थीं ।

किंग कांग को अपने इस शारीरिक विकास के लिए बड़ी साधना करनी पड़ी । साधारण दुबले-पतले सींकिया पहलवान से विकसित होकर इतना विशाल शरीर

बनाने के लिये आजीवन अविवाहित रहने के संकल्प को उसने निभाया। इसके निर्वाह के कारण उसे मार भी खानी पड़ी। १९३८ में 'विश्व विजेता' होकर जब यह जर्मनी गया तो वहाँ भी एक सुन्दरी ने इसके सामने विवाह का प्रस्ताव रखा जिसे उसने अस्वीकार कर दिया। महिला ने अपने इस निरादर का बदला किंग कांग पर शराब को बोटल फेंक कर लिया। इस चोट का निशान उसे सदा अपने संकल्प का ध्यान दिलाता रहा।

व्यायाम मनुष्य के लिये भोजन की तरह ही अनिवार्य है। किंग कांग की खुराक बहुत थी। इतनी अधिक कि लोग दौतों तले उँगली दबाते थे। इतना भोजन पचाना तभी सम्भव था कि वह रोज व्यायाम भी करता। भोजन और व्यायाम ये दोनों उसके लिये अनिवार्य थे।

उठती उम्र में एक दिन यह अपने मित्रों के साथ लन्दन में सिनेमा देखने गया। वहाँ एक दैत्य जिसका नाम किंग कांग था उसे देखकर उसके मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि क्या ऐसा शरीर केवल कहानियों की ही सामग्री है अथवा ऐसा बनाया भी जा सकता है उसी दिन से उसने अपना नाम ऐमायल चजाया से बदलकर किंग-कांग रखा लिया कि वह ऐसा बनने का प्रयास करता रहे।

किंग कांग अपने आपको विश्व नागरिक मानता था। एक ही देश का होकर रहना उसे अपनी विशालता के अनुपात में बड़ा छोटा लगता था। अपने इसी दृष्टिकोण के कारण वह 'विश्व विजेता' के रूप में विख्यात हो सका था।

उसे हर प्रकार की कुश्ती लड़ने का शौक था। वह हमीद पहलवान के चेलेंज पर लाहौर आया तथा उससे कुश्ती लड़ा। भारतीय दौवों से लड़ने का उसका यह प्रथम अवसर था। दोनों बराबर रहे। दूसरी बार वह गामा के भाई इमाम बख्खा से लड़ा जिसमें इमामबख्खा का घुटना टूट गया और सदा के लिये पहलवानी करना छूट गया। दारासिंह से कई बार वह हारा व कई बार उसने दारा सिंह को हराया।

कुश्ती में खिलाड़ी की भावना से लड़ने वालों में किंग कांग को सदा याद किया जाता रहेगा। विश्व विजेता होते हुए भी उसने भारतीय ढंग से कुश्ती लड़ना अस्वीकार नहीं किया उसे अपनी शारीरिक शक्ति पर गर्व नहीं था, न अपने विश्व विजेता सम्मान को बनाये रखने की चिन्ता ही थी।

उसने अपने जीवन में एक लक्ष्य को चुना था और वह था कुश्ती लड़ना। उसकी इच्छा थी कि वह अखाड़े में ही प्राण त्यागे। इस इच्छा के पीछे वह एक ही बात कहता था कि जिस काम को करो उसी में लीन हो जाओ यही सफलता का राज है।

उसकी यह इच्छा पूरी नहीं हो सकी। मलेशिया की एक कार दुर्घटना में वह बुरी तरह घायल हो गया था। ५७ वर्ष की आयु में दो महीने तक अस्पताल में इलाज करवाने के बाद इसका देहान्त हो गया।

किंग कांग ने अपने कार्य कलापों से यह सिद्ध कर दिया था कि मनुष्य चाहे तो अपनी शक्ति का मनचाहा

विकास कर सकता है। यह दूसरी बात है कि उसने उपाजित क्षमता का उपयोग केवल कुश्ती लड़ने में ही किया। सभी मनुष्यों को वैसा शौक भी नहीं होता। शरीर को स्वस्थ व सबल बनाने के क्षेत्र में तो उसका लोहा मानना ही पड़ेगा।

कमजोर और पिछड़ा मनुष्य आज जीवन के हर क्षेत्र में दुबले-पतले ऐमायल चजाया की तरह मार खा रहा है। अपनी आन्तरिक शक्तियों को जगा कर उसे किंग कांग बनना है। भावनाशील व्यक्ति पीड़ित और दिग्भ्रमित मनुष्य के लिये करना तो बहुत कुछ चाहते हैं पर उन्हें अपनी क्षमताओं पर विश्वास नहीं आता है। किंग कांग की तरह इन शक्तियों को विकसित किया जाय तो ऐसे ही आश्चर्य जनक परिणाम जन-कल्याण की दिशा में भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

किंगकांग ने अपनी इस शक्ति का सदुपयोग दुर्बलों को अपनी तरह बलवान बनाने में किया उसने कई व्यायाम शालायें संचालित कीं। मरने के पूर्व भी वह सिंगापुर की व्यायामशाला का संचालन कर रहा था।

एक ही उद्देश्य पर अपने समस्त कार्यकलाप केन्द्रित कर दिये जायें तो उसका परिणाम आश्चर्यजनक होता है। किंग कांग की तरह अपने लक्ष्य पर ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित करके पूरी निष्ठा व परिश्रम से जुट जाय तो असम्भव को भी सम्भव बनाया जा सकता है। किंग कांग की यह उपलब्धि संकल्पवानों को सदा प्रेरणा देती रहेगी और वे उसे पूर्ण करने में सफल होते रहेंगे।

असमय बुझी दोषग्रस्त प्रतिभा—

पैरासेलसस

सोलहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक काल योरोप के इतिहास में क्रान्ति युग माना जाता है। गणित, ज्योतिष, विज्ञान, रसायन, चिकित्सा तथा दर्शन आदि के क्षेत्रों में नई खोजें हो रही थीं, अनेक विद्रोहियों ने अपने पूर्व में प्रचलित मान्यताओं का खुलकर विरोध किया था। चिकित्सा शास्त्र के क्षेत्र में विसेलियस पारे तथा पैरासेलसस आदि ऐसे विद्वान हुये थे जिन्होंने अपने युग की चिकित्सा प्रणाली के अनेक सिद्धान्तों को मिथ्या सिद्ध कर दिया था।

यूरोप के औषधीय वैज्ञानिकों के अनुसार धातुओं और रासायनिक तत्वों का प्रयोग स्वास्थ्य की दृष्टि से बड़े ही भयंकर परिणाम उत्पन्न करने वाला था। क्योंकि उनकी दृष्टि में यह वस्तुएँ विष थीं। पैरासेलसस उस युग के उन महत्वपूर्ण विद्वानों में से एक थे जिन्होंने, सर्वप्रथम यूरोप के औषधीय ज्ञानकोष में रासायनिक तत्वों और धातुओं का समावेश किया था। पैरासेलसस का जन्म स्विटजरलैण्ड में १४९३ में हुआ था। इनका अधिकांश समय अपनी मातृभूमि से पिरामिडों की छाया तक बीसियों देशों की यात्रा में व्यतीत हुआ। यात्रा के मध्य चिकित्सा शास्त्र के

कितने ही आचार्यों, चिकित्सकों और फकीरों से भेंट करके विषय से सम्बन्धित नये अनुभव एकत्रित किए थे।

पैरासेलसस का विश्वास था कि प्रकृति की विचित्रताओं का रहस्य जानना कोई आसान कार्य नहीं है। जिज्ञासु को इन विचित्रताओं के मध्य ही भटकना होगा और अपनी मान्यताओं के अनुसार उनका सारा जीवन भटकने में ही गया तब कहीं शोध कार्य में सफलता प्राप्त कर सके। पैरासेलसस द्वारा संचित ज्ञान शृंखलाबद्ध न होकर एक विशाल संग्रहालय की तरह था जिसमें विभिन्न कालों की वस्तुएँ संग्रहीत रहती हैं।

पैरासेलसस के संग्रह में रहस्यवादी दर्शन से लेकर अरबी हकीमों के नुस्खे तक संग्रहीत थे, इसलिये इस अद्भुत वैज्ञानिक पर दार्शनिक और चिकित्सक दोनों ही क्षेत्र के व्यक्तियों का जोर है। रहस्यवादी दार्शनिक इन्हें अपना जनक मानते हैं जबकि आधुनिक वैज्ञानिक औषधीय रसायन का जन्मदाता कहकर अपना दावा प्रस्तुत करते हैं।

सन् १५२५ में पैरासेलसस की ख्याति चिकित्सक के रूप में सारे यूरोपीय राज्यों में फैल चुकी थी। इसलिये बेसल विश्वविद्यालय में औषधि-विज्ञान विभाग में प्राध्यापक पद पर इनकी नियुक्ति हो गई थी। विश्व-विद्यालय के उस कक्ष में, जिसमें पैरासेलसस अपने विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे, गेलन की औषधि-विज्ञान सम्बन्धी रचनाओं में आग लगा दी। बाद में उन्होंने अपने विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुए कहा-“पुरानी मान्यताओं और संस्कारों को जब तक तुम अग्नि को समर्पित नहीं कर देते तब तक तुम नयी मान्यताओं को कैसे सीख सकते हो। अमुक व्यक्ति ने यह कहा है, इसलिये तुम उसे मानने के लिये तैयार क्यों हो जाते हो, सत्य स्वयं अनुभव करना चाहिए और जिसमें उसे स्वीकार करने का साहस है वही अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल हो सकता है।”

पैरासेलसस के इस व्यवहार से विश्वविद्यालय के सारे उच्च अधिकारी उसके विरोधी हो गये। पैरासेलसस को अपने मार्ग पर विश्वास था अतः कोई विरोधी उनका कुछ न बिगाड़ सका। प्रत्येक नये कार्य में परम्परावादी बाधा डालते ही हैं। पैरासेलसस रोग-हीन जीवन को ही सबसे महत्वपूर्ण स्थान देते थे। उनकी मान्यता के अनुसार चिकित्सक का लक्ष्य सत्य की प्राप्ति होना चाहिए। ज्ञान को पुस्तकों की सीमाओं में बाँधना उन्हें कहाँ पसन्द था इसीलिये तो वे कहा करते थे कि ज्ञान पुस्तकों के बाहर बिखरा हुआ है। वास्तव में यह कथन उनके जीवन में सही रूप में दिखाई देता है उन्होंने अपना सारा जीवन पुस्तकों को पढ़कर ज्ञान संचित करने में नहीं लगाया वरन् पुस्तकों के बाहर जो ज्ञान बिखरा पड़ा है, उसे वे सँजोते रहे।

पैरासेलसस आजन्म पुरातन परम्पराओं का विरोध करते रहे। कोई बात पहले से चलती आ रही है इसलिये

वह सही ही होगी यह कोई आवश्यक तो नहीं। उन दिनों विश्वविद्यालय में शिक्षा का माध्यम लैटिन भाषा थी, पर पैरासेलसस ने जर्मन भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया। यद्यपि यह कार्य विश्वविद्यालय की परम्परा के विपरीत था और संपूर्ण यूरोप में उच्च ज्ञान के लिये लैटिन को ही मान्यता प्राप्त थी पर पैरासेलसस का यह तर्क था कि जर्मन जन सामान्य की भाषा है अतः क्यों न इसे मान्यता दी जाये। एक ओर विद्यार्थियों में उनकी लोकप्रियता बढ़ी तो दूसरी ओर विश्वविद्यालय के अधिकारी तथा लैटिन प्रेमी उनके विरोधी हो गये।

पैरासेलसस ही वह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने उपदंश (सिफलिस) जैसे भयंकर रोग से छुटकारा दिलाने के लिये भरसक प्रयत्न किया और सफलता भी मिली। उपदंश की अवस्थाओं का वर्णन करते हुए इस रोग को वंशानुगत बताया। इस रोग की चिकित्सा के लिये उन्होंने पारद का प्रयोग किया था। पैरासेलसस ने ही सर्वप्रथम कैलोमेल और ऐण्टीमनी का प्रयोग चिकित्सा के लिये किया था। पूर्वी देश शताब्दियों से औषधि निर्माण में रसायनों का प्रयोग करते आ रहे हैं। इस वैज्ञानिक ने यह अद्भुत ज्ञान पूर्वी देशों से ही प्राप्त किया था।

यदि व्यक्ति में अच्छी लगन हो तो वह अपनी विरोधी मान्यताओं को भी समूल नष्ट कर सकता है। पैरासेलसस का स्वभाव अहंकारी था। उनका अहंकार इस सीमा तक बढ़ गया था कि उन्होंने एक बार बेसल विश्वविद्यालय में अपने भाषण में कहा था कि दुनिया के तमाम विश्व-विद्यालयों का अनुभव मेरी दाढ़ी के बालों से भी कम है। व्यक्ति के सद्गुण यदि उसे उत्थान की ओर ले जाते हैं तो उसके अन्दर स्थान जमाये अवगुण भीतर ही भीतर उसकी जड़ खोखली करते रहते हैं। सद्गुण यदि अच्छाई का प्रसार करते रहते हैं तो अवगुण वातावरण को विषैला बनाने में कब चूकते हैं?

इस अहंवृत्ति के कारण पैरासेलसस से बेसल के नागरिक भी विरोध प्रकट करने लगे थे। बेसल के न्यायाधीश का अपमान करने के बाद दण्ड से बचने के लिये नगर छोड़ कर भागना पड़ा, अहंकार की प्रवृत्ति ज्ञान की प्रगति में बाधक होती है जब वह अपने को सबसे अधिक विद्वान समझने लगता है तो विद्वान में नम्रता का और विनय का जो गुण है वह लुप्त हो जाता है और उसका ज्ञान एक सीमाबद्ध होकर रह जाता है।

इसके अतिरिक्त पैरासेलसस को शराब पीने की भी बड़ी बुरी लत लगी थी। पहले तो आदमी शराब को पीता है पर बाद में शराब ही आदमी को पीकर उसका अन्त कर देती है। सुरापान के दोष के कारण अनेक लांछनायें सहनी पड़ीं और १५४१ में एक मदिरालय में अधिक पी जाने के कारण ८४ वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो गया। यदि इन दोषों से उनका जीवन बचा रहता तो शायद और वे भी नई-नई खोजें करके मानवता का भला करते।

मातृभूमि के बलिदानी—

सोहनलाल पाठक

फाँसी के फन्दे पर लटकाने से पहले जेल अधिकारी ने कैदी से पूछा “आप की अन्तिम इच्छा क्या है ?”

कैदी मुस्कराया उसने कहा ‘मैं चाहता हूँ कि मुझे शीघ्र फाँसी दी जाय ताकि मेरा यह जन्म समाप्त हो और दूसरा जन्म लेकर भारत को स्वतन्त्र कराने के प्रयत्न में दूसरी बार फाँसी के फन्दे को पुनः चूम सकूँ ।

यह कैदी कोई साधारण कैदी न था । किसी चोरी, डकैती या कत्ल करने के अपराध में जेल के सीखियों में बन्द न किया गया था । वरन् यह देशभक्त था और देश को स्वतन्त्रता दिलाने का प्रयत्न ही इसका अपराध था । नाम था सोहनलाल पाठक ।

माँडले की जेल । १० फरवरी, १९१६ की एक सुबह । अमर शहीद सोहनलाल पाठक को फाँसी के तख्ते पर चढ़ाया गया । जल्लाद उस निरपराधी की जीवन लीला समाप्त होते देख आँसू बहा रहे थे और पाठक अपने देश पर न्योछावर होने में प्रसन्नता तथा गर्व का अनुभव कर रहे थे । भला जिस देश में ऐसे बहादुर हों उस देश की स्वतन्त्रता को रोक भी कौन सकता था ?

सोहनलाल पाठक का जन्म सन् १८८३ में हुआ था । परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण स्कूली शिक्षा से शीघ्र ही सम्बन्ध तोड़ना पड़ा और लाहौर के डी० ए० वी० स्कूल में केवल २१ रु० मासिक पर शिक्षक का कार्य करना पड़ा ।

इस समय राजनीतिक क्षेत्र में ऐसी घटनाएँ हो रही थीं जिनकी उपेक्षा करना पाठक जैसे देशभक्त के लिये सम्भव न था । बंगाल का विभाजन, लाला लाजपत राय और अजीतसिंह जैसे नेताओं की गिरफ्तारी, खुदीराम बोस का बलिदान और मदनलाल ढोंगरा द्वारा कर्जन पर गोली चलाना जैसी घटना उनके कानों में पड़तीं और अंग्रेजों द्वारा भारतीयों पर किये गये अत्याचार देखने और सुनने को मिलते तो उनका खून खौलने लगता था ।

१९०८ में लाला हरदयाल इंग्लैण्ड से लौटकर लाहौर आये तो युवक पाठक का उनसे सम्पर्क बढ़ने लगा । इसी समय उन्हें एक पुत्र का पिता बनने का अवसर मिला । परिवार के लिये यह प्रसन्नता की ही बात थी पर दूसरे ही क्षण यह समाचार भी सुनने को मिला कि पुत्र को जन्म देकर माँ सदैव के लिए संसार से विदा हो गई और एक सप्ताह बाद वह पुत्र भी भगवान को प्यारा हो गया ।

पाठक की उस समय उम्र ही क्या थी । घर वाले तथा मित्रों ने दूसरे विवाह के लिए बहुत जोर दिया पर उन्होंने साफ-साफ कह दिया “ईश्वर मुझसे कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यों की आशा करता है इसीलिए तो उसने उत्तरदायित्वों से मुक्त किया है ।”

उनका लक्ष्य था दूसरे देशों से सहायता प्राप्त करके भारत में क्रांति करवाना और अंग्रेजों को देश छोड़ने के लिये विवश करना, उस समय तक कांग्रेस और गाँधी जी पूर्ण प्रकाश में भी न आ पाये थे, उनकी गतिविधियाँ देश हित में तेज न हो पाई थीं । उस समय पाठक अपने ६ साथियों को लेकर अमेरिका पहुँचे ।

भारतीयों के सहयोग से अमरीका में गदर-पार्टी की स्थापना की गई और एक ‘गदर’ नामक पत्र निकाला जिसका उद्देश्य भारतीय स्वतन्त्रता के लिये वातावरण का निर्माण करना था ।

१९१४ में विश्वयुद्ध छिड़ गया । अंग्रेजों ने दो लाख सैनिकों को भारत से बाहर युद्ध के लिए भेजा । इस अवसर का क्रांतिकारी लाभ उठाना चाहते थे । सोहनलाल पाठक, बर्मा में क्रांति कराने का प्रयास कर रहे थे उन्होंने वहाँ के दो हजार सैनिकों को अपने पक्ष में कर लिया । चार दिन तक सिंगापुर में क्रांति की ज्वाला धधकती रही और वहाँ का शासन-सूत्र देशभक्तों के हाथ में रहा ।

एक दिन पाठक सैन्य-छावनी में कुछ सैनिकों को मार्गदर्शन दे रहे थे कि तीन हिन्दुस्तानी सैनिकों ने उनको घेर लिया । वह हिन्दुस्तानी सैनिक उनके भाई थे । वह अपने देशवासियों से बदला नहीं लेना चाहते थे । वैसे उस समय उनके पास तीन स्वचालित पिस्तौल तथा २८७ गोलियाँ थीं । जरासी देर में वह तीनों सैनिकों को मौत के घाट उतार सकते थे या बर्मा के सैनिकों को ही संकेत करते तो वहाँ उनका काम तमाम कर देते, पर एक दूसरे भारतीय के प्राणों का ग्राहक बने वह उन्हें स्वीकार नहीं थे ।

वह बन्दी बनाकर माँडले के जेल में भेज दिये गये और एक दिन देश को स्वतन्त्रता दिलाने के प्रयासों में फाँसी के तख्ते पर झूल गये ।

मातृभूमि के लिये सर्वस्व न्योछावर करने वाले तथा हँसते-हँसते मौत को गले लगाने वाला यह वीर आत्मा की अनित्यता पर विश्वास करता था । इसी विश्वास के कारण वे उस काल में अंग्रेजी शासन से लड़े जिस समय कि उनके राज्य में सूर्य तक अस्त नहीं होता था । सत्य में कितनी शक्ति होती है, मनुष्य के विचारों व भावनाओं में कितनी शक्ति होती है इसका ज्वलंत उदाहरण पाठक जी का जीवन है, जो हमें सिखाता है कि अन्याय को सहन करना, जो कुछ हो रहा है उसे अनुचित व अस्वाभाविक मानते हुए भी ऐसे चुपचाप बैठना मानव-धर्म नहीं ।

सतहत्तर साल के नौजवान—

दाताराम

सन् १९३८ का एक महत्वपूर्ण दिन-दाताराम को एक पुस्तक मिली ‘गीता-प्रवचन’ । कोई-कोई पुस्तक ऐसी महत्त्व की होती है कि पाठकों को सोचने की एक नई दिशा प्रदान करती है । उसका दृष्टिकोण बदल जाता

है और ऐसा लगाता है मानो किसी ने जादू कर दिया है।

वैसे दाताराम का परिवार धार्मिक विचारों का था। बचपन में ही उन्होंने अपने पिता तथा दादा के संसर्ग से रामायण, महाभारत, भागवत तथा गुरुग्रन्थ साहेब आदि का अध्ययन कर लिया था, पर अब तक का सारा स्वाध्याय तोता रटन्त सरीखा था। 'गीता-प्रवचन' को पढ़ने के बाद उन्हें अपने जीवन में परिवर्तन मालूम पड़ने लगा।

दाताराम का जन्म सरगोधा के छोटा ग्राम में जो आज पाकिस्तान में है, नवम्बर, १८९४ में एक व्यापारी परिवार में हुआ था। साधारण-सी शिक्षा प्राप्त कर वह २५ वर्ष की आयु में व्यापार का कार्य करने लगे। १९४६ में तो वह सरगोधा छोड़कर कलकत्ता में बस गये और हैसियर बाजार तथा गनी बाजार में दलाली का कार्य करने लगे।

व्यक्ति जब आत्म-निरीक्षण करता है, अपने दोषों को मार भगाने का प्रयास करता है, तो साधारण सा मनुष्य असाधारण महत्त्व के कार्य सम्पन्न करने लगता है।

व्यापार में उन्हें दो तीन बार घाटा हुआ और लगभग ४२ व्यक्तियों के कर्ज से वह लद गये। कानून उस कर्ज की रकम चुकाने से वह बरी थे। पर उनकी आत्मा ने पुकार कर कहा कि जिस व्यक्ति का ऋण लिया है उसका चुकाना चाहिए। १९५० तक २० हजार रुपये की तगादी रकम अपने ऋण-दाताओं को वापस कर दी।

दाताराम दलाली का तो कार्य कर ही रहे थे बचे हुये समय में सर्वोदय साहित्य का प्रचार करने लगे। विनोबा भावे से जब उनकी भेंट हुई तो विनोबा ने दाताराम को दो कार्य करने का परामर्श दिया। एक तो यह कि बिना पैसे लिये किसी को पुस्तक न दो, साथ ही यह भी देख लो कि उस पुस्तक को खरीद कर वह पढ़ता भी है अथवा उसकी पुस्तक पर धूल जमती रहती है। दूसरी बात यह कि रोज डायरी लिखो और समय-समय पर हमारे पास भेजते रहो।

विनोबा जी की इन दोनों बातों को दाताराम ने गौंठ में बाँध लिया। दाताराम की आय बढ़ती जा रही थी और एक दिन वह आयकर देने जितनी हो गई। उन्होंने सरकारी कानून को तोड़ना उचित नहीं समझा। क्योंकि उनकी दृष्टि में यह कर की चोरी थी। वह आयकर अधिकारी के पास पहुँचे उनकी बात को सुनकर वह अधिकारी चौंका, उसे लगा कि कोई पागल आ गया है। क्योंकि सारे व्यापारी आयकर के पचड़े में नहीं पड़ना चाहते। झूठे हिसाब-किताब दिखाकर और अधिकारियों को खिला-पिला कर आयकर से बचने का प्रयास करते थे, जब कि यह व्यक्ति अपनी ओर से कर जमा करने आया है। अधीनस्थ कर्मचारी तो दाताराम को देखकर मजाक करने लगे।

कमिश्नर ने कहा जैसा यह बताते हैं वैसा हिसाब नोट कर लिया जाय, उसी हिसाब से इनसे आयकर ले लिया जाये। हिसाब करने पर १४०० रुपये आयकर के निकले और वह खुशी-खुशी देकर घर चले आये।

विनोबा भावे ने सम्पत्ति-दान का आन्दोलन शुरू किया तो उसमें सहयोग देने में दाताराम पीछे न रहे। उन्होंने उस आन्दोलन का महत्त्व समझा और नियमित रूप से अपनी आय का छठा हिस्सा देने लगे। दाताराम की सारी सम्पत्ति पाकिस्तान में छूट गई थी। भारत सरकार के द्वारा उन्हें काफी जमीन सहारनपुर के पास मिली। उसका उपयोग उन्होंने अपने लिये नहीं किया वरन् विनोबा जी १८५२ में जब मथुरा आये तो उन्हें भूदान में दे दी।

दाताराम अनुभव करने लगे कि सर्वोदय और भूदान आन्दोलन समाज में धन के वितरण की समान व्यवस्था करने वाले हैं। वर्ग संघर्ष का इस समाज में कोई प्रश्न ही नहीं उठेगा। क्योंकि यह शोषण-मुक्ति आन्दोलन है फिर, उनकी दृष्टि अपने व्यवसाय की ओर गई। उन्हें अपना व्यवसाय शोषण-युक्त लगा। फिर क्या था उन्होंने १९५८ में अपना दलाली का धन्धा बिलकुल छोड़ दिया।

अब उनके पास केवल एक कार्य रह गया सर्वोदय-साहित्य का प्रचार। घड़ी के काँटे की तरह बिलकुल नियमित रूप से पुस्तकों का झोला लेकर प्रचार-प्रसार के लिये निकलने लगे। सरदी, गरमी या बरसात ने उनका मार्ग नहीं रोका। कलकत्ता के ईडेन गार्डन, विक्टोरिया मैमोरियल या मानुमेन्ट के पास एक सीधा-सादा खद्दरधारी व्यक्ति सर्वोदय की पुस्तकें फैलाये बैठा मिलता था।

दिन हो या रात, सुबह हो या शाम उनका एक ही कार्यक्रम था, एक ही लगन थी। सर्वोदय का साहित्य घर-घर पहुँचे। गाँधी जी के सन्देश को लोगों तक पहुँचाना ही अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया था।

१९६५ में उनका स्वास्थ्य गिर गया। विनोबा भावे ने एक माह के लिये उन्हें बुलाकर अपने पास रखना चाहा पर वह इसलिए उनके पास नहीं गये कि वहाँ प्रचार करने का अवसर नहीं मिलेगा। विनोबा एक दम कुछ समय के लिये पूर्ण विश्राम करने की सलाह देंगे।

दाताराम के उत्साह में कभी-कभी नहीं आई, वह सदैव सर्वोदय के प्रचार-प्रसार में लगे रहते थे। बिना काम के उन्हें चैन नहीं पड़ता। बरसते पानी में झोला लेकर निकल पड़ते हैं और दस बीस रुपये का साहित्य बेचकर ही घर लौटते हैं। बिना काम किये भोजन करने में उन्हें आनन्द नहीं आता।

जब तक शरीर काम देता रहेगा तब तक सदैव कार्य करते रहने का उन्होंने संकल्प कर लिया था।

पैसा कमाना उनके जीवन का उद्देश्य नहीं था। पैसा वह बहुत कमा चुके थे और अब पैसे की इच्छा ही नहीं रही। सद्-साहित्य को घर-घर पहुँचाने का कार्य वह अपने आनन्द के लिये करते थे। एक बार विनोबा जी ने अपने प्रवचन में कहा था कि सुख बाँटने से सुख बढ़ता

है । अतः दाताराम घर-घर जाकर सुख बाँटते थे वह जानते थे कि इससे सुख में वृद्धि ही होगी कमी नहीं ।

फिर न मिलेगा अवसर ऐसा

समय की हवा के साथ देश-प्रेम की दबी हुई चिन्तारि दावानल बनकर सारे भारत में फैल चुकी थी । कानपुर तो इस क्रान्ति का केन्द्र था । रूप के हाट में बैठी एक वेश्या के अन्तःकरण से आवाज आयी-“पगली अजीजन तू चुपचाप क्या बैठी है ? इस हाट पर बैठकर रोज-रोज मरने की अपेक्षा तो एक ही दिन मरना अच्छा है । उठ ! बहती गंगा में हाथ धोले । छोड़ यह अस्मत् का व्यापार, देश की आन पर मर मिट ।” अजीजन ने अपने अन्दर बैठे देवता की आवाज को सुना और उठ खड़ी हुई ।

उसने स्त्रियों का एक दल संगठित किया । यह दल पुरुष वेश में हाथों में तलवार लिये कानपुर के राजमार्ग पर निकल पड़ा । नारियों के इस साहस को देखकर पुरुष वर्ग में एक नवीन जोश उत्पन्न हो गया । कल की वेश्या आज नारी-शक्ति का प्रतीक बन गई । सबके हृदय में उसके प्रति श्रद्धा का सागर लहराने लगा ।

इस महिला-सैनिक दल ने घर-घर क्रान्ति का सन्देश पहुँचाया । घायल सैनिकों को सेवा-सुश्रूषा की । उन्हें युद्ध के मैदान से उठाकर सुरक्षित स्थान पर लाने का काम बड़ी तत्परता से चलने लगा । यह दल जिधर निकल जाता उधर उत्साह को एक लहर उमड़ पड़ती । सिपाहियों को लड़ाई को उत्साहित करने के लिये इनके मधुर शब्द ही पर्याप्त थे पर ये अपने साथ फल तथा मिठाइयाँ ले जातीं तथा उन्हें बाँटतीं ।

तबले की ताल पर थिरकने वाली अजीजन अब बिजली बनकर युद्ध क्षेत्र में चमक रही है । उसके नेतृत्व में वीरांगनाओं का दल गोला-बारूद सैनिकों के पास पहुँचाता उन्हें विश्राम देता तथा समय पड़ने पर स्वयं भी युद्ध में भाग लेता है ।

जनरल नील कानपुर में हुई हार को सुनकर बौखला उठा था । नाना साहब ने अँग्रेज परिवारों की रक्षा का पूरा प्रयास किया था पर नील अपनी सेना के साथ गाँव के गाँव जलाकर खाक करता हुआ आ रहा था । यह सुनकर अजीजन का बदला लेने का संकल्प और भी दृढ़ हो गया ।

युद्ध क्षेत्र में अजीजन पूरी वीरता के साथ लड़ी दुर्भाग्य से अँग्रेजों ने उसे बन्दी बना लिया । सेनापति हेवलाक कोस के सामने अजीजन को लाया गया तो उसे विश्वास नहीं हुआ कि यह स्त्री भी युद्ध में भाग ले सकती है । उसने अजीजन से कहा-“तुम यदि अपने अपराधों के लिये क्षमा माँग लो तो तुम मृत्यु-दण्ड से बच सकती हो ।”

अजीजन के होठों पर मुस्कान फैल गई । उसने अपने आप से कहा “कैसा पागल है यह अँग्रेज सेनापति ? वह

अजीजन मर गई जो मौत से डरती थी और पेट भरने के लिये घृणित व्यवसाय करती थी, पर आज मैंने जीना सीख लिया है । मृत्यु का भय क्या ? मृत्यु तो एक दिन आयेगी ही ।” सेनापति हेवलाक इसकी निर्भीकता देखता ही रह गया । अजीजन बोली-“मैं आततायी से क्षमा नहीं माँगती । तुमने निरपराध लोगों की हत्या की है ।” हेवलाक ने पूछा-“क्या अँग्रेज परिवारों के साथ ऐसा अन्याय नहीं हुआ है ?” “तुम्हारा सेनापति नील इस प्रकार भारतीयों की हत्या नहीं करवाता तो कानपुर में उसका बदला न लिया जाता ।” हेवलाक क्रोधित होकर चीखा “आखिर तुम चाहती क्या हो ?” “अँग्रेजी कुशासन का अन्त ।” अजीजन का उत्तर था ।

सेनापति का इशारा पाते ही बन्दूकें गरज उठीं अजीजन का शरीर चिथड़े-चिथड़े हो गया पर उसके शब्द वायुमण्डल में गूँजते रहे ।

आत्मा की आवाज को सुनकर उठ खड़ी होने वाली अजीजन अमर हो गई । मनुष्य के पतन-उत्थान की कहानी अजीजन अपनी जबानी कह गई, जिसे दुहरा कर कोई भी अमर हो सकता है ।

टैंक-युद्ध के अनुभवी विजेता- जनरल चौधरी

अनेक, कच्छ जैसे समझौतों को तोड़कर और बार-बार अक्रमण करके पाकिस्तान ने समझ लिया कि भारत स्वाधीनता के लिये बहुत अधिक बलिदान देने के बाद खोखला हो चुका है, अब उसमें ऐसा कोई दमखम नहीं रह गया है कि वह संग्राम के लिये रण-भूमि में उतर सके । कोई बड़ा आक्रमण करो और इन समझौतावादियों से कश्मीर अथवा भारत-भूमि का कोई बड़ा भाग हड़प लो !

निदान युद्ध की इच्छा से अपनी टैंक-सेना आगे बढ़ा दी । यह अमरीकी पैटन-टैंक अभेद्य तथा अजेय समझे जाते थे, अमेरिका ने पाकिस्तान को इन्हीं टैंकों से लैस कर रक्खा था । पाकिस्तान को पूरा विश्वास था कि या तो भारत इन भीमकाय टैंकों को देखकर उनकी शर्तों पर समझौता कर लेगा अथवा उनके यह अमरीकी टैंक इलाके पर इलाके रौंदते हुए भारत पर अधिकार कर लेंगे ।

किन्तु हुआ यह कि भारत के टैंक दस्तों ने उनके अभेद्य पैटर्न-टैंकों के धुरे उड़ाने शुरू कर दिये और बात की बात में तोड़-फोड़ कर ढेर लगा दिये । भारत की यह दक्षता देखकर पाकिस्तान ही नहीं, अमेरिका तथा ब्रिटिश तक दाँतों तले उँगली दबा कर रह गये और इस बात की जाँच-पड़ताल करने लगे कि आखिर इस अहिंसावादी भारत के पास ऐसे कौन से अस्त्र-शस्त्र हैं, जिससे उन्होंने हमारे अपराजेय टैंकों की मिट्टी पलीत कर दी, जिनके

बल पर उन्होंने द्वितीय महायुद्ध के दौरान टैंक-युद्ध विशेषज्ञ- जर्मन सेनापति जनरल रोमेल को परास्त किया था ।

उन्होंने भारतीय बमों के टुकड़े इकट्ठे किये और इस बात की खोज-बीन शुरू कर दी कि यह टैंक तोड़ने वाले बम किन-किन उपादानों से बनाये गये हैं । किन्तु उन्होंने यह सोचने का कष्ट नहीं किया कि टैंक-युद्ध के महारथी जनरल जयन्त नाथ चौधरी स्वयं ही इस युद्ध की कमान सँभाले हुए हैं ।

भारतीय सेनाध्यक्ष-‘जनरल जयन्त नाथ चौधरी’ एक वीर, अनुभवी और तपे हुए सेनानी हैं । विश्व के माने हुए छह टैंक युद्ध महारथियों में उनका विशेष स्थान है । द्वितीय महायुद्ध में जर्मन सेनापति रोमेल को हराने का जो श्रेय मित्र-राष्ट्र सेनाध्यक्ष अकिनलेक को मिला था, वह वास्तव में हमारे जनरल चौधरी और चौथी भारतीय डिवीजन के जवानों की उपलब्धि थी ।

लीबिया के मरुस्थल में जिस समय रोमेल ने अपने टैंक-आक्रमण से अमेरिकी तथा अँग्रेजी फौजों को दिन में तारे दिखला दिये थे और ऐसी स्थिति में ला दिया था कि उन्हें लीबिया का मोर्चा छोड़ कर भागना पड़े, उसी समय जनरल चौधरी ने अपनी चौथी भारतीय डिवीजन अड़ाकर मित्र-सेनाध्यक्ष आकिनलेक की लाज रखली ! किन्तु उस विजय का श्रेय जनरल चौधरी को इसलिये न मिल सका था कि उस समय वे मित्र-सेनाध्यक्ष आकिनलेक की आधीन लड़ रहे थे ।

सन् १९४१ के नवम्बर मास में मित्र-सेनाध्यक्ष जनरल आकिनलेक ने लीबिया के सिदी उमर मरुस्थली में जर्मनी सेनापति की अध्यक्षता में पन्द्रहवीं और इक्कीसवीं पेंजर डिवीजनों के विरुद्ध मोर्चा खोला । यह टैंकों का युद्ध था । इसी युद्ध में चौथी भारतीय डिवीजन के साथ जनरल चौधरी ने आकिनलेक के नेतृत्व में भाग लिया था ।

उसी समय दूरदर्शी जनरल चौधरी ने लीबिया के मरुस्थल की हड्डी गला देने वाली सर्दी और आत्मा हिला देने वाली रेगिस्तानी आँधियों के बीच जान हथेली पर रखकर टैंक युद्ध की बारीकियों का अध्ययन किया था और अपने में वे क्षमतायें उत्पन्न की थीं, जो भारत के विरुद्ध पाकिस्तान के युद्ध में काम आईं । उन्होंने जनरल अकिनलेक के एक निर्देश का पालन करते हुए अपनी सूझ-बूझ से अनेक अन्य दाँव-पेचों को खोज निकाला । एक प्रतिरक्षा कार्यवाही के क्रम में दूसरे आक्रमण की रूप-रेखा समझ लेने में तत्पर-जनरल चौधरी के साहस और प्रत्युत्पन्न बुद्धि ने उन्हें टैंक-युद्ध में इतना दक्ष बना दिया कि आज संसार में उनकी इस विशेषता का नक्कारा बज रहा है ।

लीबिया का उद्धत-युद्ध एक निर्णायक युद्ध था और यदि उसमें मित्र सेनाओं की हार हो जाती तो हिटलरशाही के नीचे दबे योरोप का और ही रूप होता और सम्भव था कि आज न तो ब्रिटिश अपनी कूटनीति चलाने योग्य रहता

और न अमेरिका अपने पाकिस्तान जैसे पिट्टुओं को करोड़ों रुपये के अस्त्र-शस्त्र देकर शान्ति-प्रिय भारतीयों के विरुद्ध खड़ा कर सकता ।

जनरल रोमेल ने लीबिया पर पूर्ण अधिकार करके उसे मित्र से अलग करने के लिये दस गज चौड़ी, काँटेदार तारों की एक बाड़ लगवादी थी और इस विश्वास के साथ निश्चिन्तता की सौर तान ली थी कि लीबिया की प्राण-लेवा ठण्डी हवाओं में कौन ऐसा माई का लाल है, जो इन लौह-कंटकों को पार करके इसकी ओर रुख करेगा ।

युद्ध का वातावरण और निश्चितता से जर्मन सेनापति रोमेल धोखा खा गया ! उसके विजय-विलास ने लीबिया की कष्टकर परिस्थितियों को अधिक आँका और यह भूल गया कि जब तक शत्रु का शव तक सड़कर मिट्टी न हो जाये, तब तक उससे पूर्ण सतर्क रहते हुए सन्नद्ध रहने की आवश्यकता है ।

१० नवम्बर, १९४१ की प्रलयंकारी रात को जबकि लीबिया का रेगिस्तानी तापमान गौरीशंकर के तापमान को मात दे रहा था और उसकी हिम-हवायें मौत के तीरों की तरह शरीर चीर रही थीं, मित्र-सेना के शिल्पी अपने को मोटे-मोटे लवादानों में छिपाये और बड़े-बड़े औजार लिये मित्र और लीबिया की विभाजन बाड़ पर आ पहुँचे और लगे काटने उन कटीले लौह तारों को, जिनमें जर्मन जनरल रोमेल की विश्वासपूर्ण-बुद्धिमत्ता विजय के नशे में लिपटी सो रही थी !

हाथ ऐंठ रहे थे, प्राण ठिठुर रहे थे और औजार असह्य शीत की तरह ठण्डे हो रहे थे, पर साहसी इन्जीनियर आत्मा की शक्ति लगाकर अपना काम कर रहे थे ! उन्हें अपने जीवन से अधिक अपने उस शत्रु का जीवन अखर रहा था, जो उस बाड़ के आगे लीबिया में चैन से सो रहा था ! उन्हें दुश्मन के वे जुलूम अधिकाधिक क्रियाशील बना रहे थे, जो अकारण ही उन पर ढाये गये थे । उन्हें आततायी का अहंकार गर्म कर रहा था और राष्ट्र-रक्षा की भावनाएँ शरीर में बिजली भर रही थीं ।

तीन बार की असफलता के बाद धुन के धनी इन्जीनियरों ने वह कटीली बाड़ बीस जगह से काट गिराई मित्र सेनाओं के टैंक-दस्तों, बख्तरबन्द गाड़ियों और मोर्टारों का दल तोपों के साथ लीबिया में घुस गया ।

इस अभियान में चौथी भारतीय डिवीजन के जवान और उनके नायक-जनरल चौधरी सबसे आगे थे । वे इस रेगिस्तानी युद्ध से पहले शीतकाल में सहारा मरुस्थल की सर्दी को अपनी दृढ़व्रती प्रवृत्ति से परास्त कर चुके थे और बर्फीली आँधियों को सहन करने के अभ्याससिद्ध कर चुके थे । इन भारतीय वीर-व्रतियों ने लीबिया की सर्दी को तनिक भी महत्व न दिया और ठण्डे देशों के सारे जवानों पर अपनी सहन-शक्ति का सिक्का जमा दिया ।

कई दिन लगातार रेतीली यात्रा पार करके मित्र-सेनाओं ने लीबिया में सिदी उमर के मैदान पर मोर्चा जमा

दिया और जर्मन सेनापति रोमेल के आक्रमण की प्रतीक्षा करने लगी ।

दूर समुद्र तट पर अपने शिविर में पड़े रोमन को आक्रमण की सूचना मिली और वह अपनी टैंक डिवीजन लेकर पूर्व की ओर से बढ़ चला । तोपें दागता, गोले बरसाता और आग उगलता हुआ रोमेल निश्चित मृत्यु की तरह बढ़ा आ रहा था । ब्रिटिश सेनाएँ अपनी रक्षा का उपक्रम कर रही थीं ।

देखते ही देखते रोमेल ने मैदान पकड़ लिया और डेढ़ हजार गज की दूरी से अपनी पचास मिली-मीटर वाली तोपों से बार करना शुरू कर दिया । टैंक टूटने लगे और जवान मर-मर कर गिरने लगे और अमरीकी लड़ाकों की हिम्मत पस्त कर दी गई ।

दूसरे दिन के युद्ध में भी रोमेल विजयी हुआ और ऐसा लगने लगा कि अपने साज-सामान के साथ सारी मित्र-सेना लीबिया के रेगिस्तान में दफन हो जायेगी । किन्तु भारत के वीर जवानों और जनरल चौधरी ने हिम्मत न हारी । वे एक संगठित अनुशासन में होकर बढ़े और तीसरे दिन के घमासान युद्ध में रोमेल के छक्के छुड़ा दिये । रोमेल भाग गया और मैदान मित्र-सेनाओं के हाथ रहा ।

लीबिया की पराजय को विजय में बदल देने वाले इन्हीं जनरल जयन्त ने पाकिस्तान के विरुद्ध युद्ध की कमान सम्भाली और तब जिस कौशल से जर्मन के अभेद्य टैंकों की मिट्टी बनाई थी, उसी कौशल से भारत भूमि पर चढ़कर आये अमेरिका के पैटर्न-टैंकों को टुकड़े-टुकड़े करके फेंक दिया ।

भारत की स्वतन्त्रता के शत्रुओं को इस युद्ध से शिक्षा लेनी चाहिए और इन अहिंसावादियों को ठीक-ठीक समझकर अपनी भ्रांतिपूर्ण धारणा में संशोधन करके भारत को इस बात का अवसर देना चाहिए कि वह अपनी मौलिक प्रवृत्तियों का लाभ संसार को दे सके, उसकी सेवा कर सके और विश्व में एक स्थायी सुख-शान्ति की परिस्थिति ला सके । अन्यथा जिस प्रकार वह आज तक रण-लिप्सुओं का मुँह तोड़ता रहा है, आगे भी तोड़ता रहेगा ।

श्रम, सम्पदा व सद्भावना का धनी—

हेनरी फोर्ड

अमेरिका के ग्रीन फ्रील्ड नामक गाँव की पाठशाला में पढ़ने वाले आठ वर्षीय बालक हेनरी की मशीनों में बड़ी रुचि थी । कोई भी मशीनरी देखी नहीं कि उसकी जानकारी पाने के लिए उसके मन में तीव्र आकांक्षा जाग्रत हो जाती । पिता एक साधारण किसान थे । उनके पास इसकी इस रुचि को तृप्त करने का कोई साधन नहीं था । अपने घर में रखी हुई टाइमपीस घड़ी उसके लिये बड़ा आकर्षण का केन्द्र थी । उसके भीतर जो संसार भरा

पड़ा था । उसे जानने के लिये वह बेचैन रहा करता था ।

माता-पिता दिन भर खेत में परिश्रम करके रात्रि को घोड़े बेचकर सोते । यह समय उसे अपनी आकांक्षा पूरी करने के लिए उपयुक्त लगा । उसने एक रात उस टाइमपीस को खोलकर उसके सारे पुर्जे फिर ज्यों के त्यों फिट कर दिये । उस दिन उसकी प्रसन्नता देखते ही बनती थी ।

हेनरी का जन्म ३० जुलाई, १८६३ को ग्रीन फील्ड ग्राम के फोर्ड परिवार में हुआ था । बचपन में ही वह बड़ा जिज्ञासु था । मशीनों के बारे में उसकी विशेष जिज्ञासा थी । अपने घर की टाइमपीस खोलकर फिट कर देने के बाद उसने घर के कबाड़खाने में पड़ी एक पुरानी घड़ी को खोला तथा दिन भर उसी को ठीक करने में जुटा रहा । जिस घड़ी को कारीगर ठीक नहीं कर पाये थे उसे इस आठ वर्ष के बालक ने ठीक कर दिया था । उसके कुछ पुर्जे उसने अपने हाथ से बनाये । इस सफलता के पीछे एक ही कारण था वह था हेनरी का मनोयोग ।

हेनरी को अब अपनी ज्ञान वृद्धि के लिये और मशीनें चाहिए वे कहाँ से मिलें ? हेनरी को उसके लिये एक तरकीब सूझी । वह जिस घर में जाता वहाँ की घड़ी देखने लग जाता और फिर असावधानी प्रकट करता हुआ गिरा देता । घर वाले उसे डाँटते तो वह कहता “लाइये मैं अपने पिता के हाथ इसे ठीक करवा लूँगा ।” अपने घर आकर वह स्वयं उसे ठीक कर देता । बारह वर्ष की आयु में हेनरी अच्छा घड़ी साज बन गया ।

गाँव की पाठशाला की पढ़ाई पूरी करने पर हेनरी के पिता ने खेती करने को कहा । हेनरी को खेती करने में रुचि नहीं थी वह इन्जीनियर बनना चाहता था । वह डेट्राइट चला गया । वहाँ ओद्योगिक प्रशिक्षण स्कूल में भर्ती हो गया जहाँ मशीनों सम्बन्धी पढ़ाई होती थी । पिता की इच्छा के विपरीत हेनरी इस स्कूल में भर्ती हुआ तो उन्होंने खर्च देना बन्द कर दिया । घड़ी साजी का ज्ञान यहाँ उसके लिये बड़ा हितकर सिद्ध हुआ । वह डेट्राइट की एक घड़ी सुधारक की दुकान पर पहुँचा । उसके मालिक से बोला “मैं घड़ियाँ सुधारना जानता हूँ, क्या आप मुझे काम देंगे ।” बारह वर्ष के इस देहाती बालक को देखकर उस दुकानदार को विश्वास नहीं हुआ । वह कुछ विनोदी स्वभाव का था । उसने सोचा कि यह घड़ियाँ तो क्या सुधारेंगा पर मनोरंजन की सामग्री अवश्य बन-जायेगा । उसने इसे ऐसी घड़ी लाकर दी जिसे कोई सुधारक सुधार नहीं पाया था । हेनरी अपने काम में जुट गया । यह उसी प्रकार की घड़ी थी जो उसके घर में कबाड़खाने की शोभा बढ़ा रही थी । हेनरी ने उसे ठीक कर दिया । दुकानदार की आँखें आश्चर्य से फैल गई । उसने हेनरी को अपने यहाँ रख तो लिया पर ग्राहक भड़क न जाये इस कारण हेनरी के लिए पर्दे के पीछे बैठने की व्यवस्था करनी पड़ी ।

इस दुकान में काम करने से दुकानदार को बहुत लाभ हुआ। वह बहुत कम समय में घड़ियाँ ठीक कर देता व पारिश्रमिक दुकानदार जो देता वही ले लेता। हेनरी ने इसे व्यवसाय के रूप में नहीं अपनाया था वह इसे साधना की तरह पूरे मनोयोग से करता था। उसे तो यंत्रों की जानकारी करने अपनी ज्ञान वृद्धि से मतलब था। उसकी इस साधना का ही परिणाम था कि वह विश्व का धन कुबेर बना और उसके साथ के कारीगर अपने व्यावसायिक दृष्टिकोण के कारण घड़ी सुधारक से आगे न बढ़ पाये।

अपनी पढ़ाई से बचे समय में वह घड़ियों की इस दुकान पर काम करके अपना खर्च जुटा लेता। पूरे मनोयोग से पढ़ने का परिणाम यह हुआ कि वह जब इस स्कूल से निकला तो केवल यंत्रों का ज्ञाता ही नहीं था वरन् यंत्रों के आवश्यक सुधार तथा निर्माण के सम्बन्ध में भी उसका मस्तिष्क बहुत काम करने लगा था। अपनी प्रतिभा के कारण उसे काम ढूँढ़ने में दौड़-धूप नहीं करनी पड़ी। उसे 'एडीसन एल्यूमिनेटिंग कम्पनी' में इन्जीनियर के पद पर नौकरी मिल गई।

प्रगति के इच्छुक पुरुषार्थी कभी अपनी स्थिति से संतुष्ट नहीं होते वे तो निरन्तर आगे बढ़ना चाहते हैं। वे नदी की तरह निरन्तर गतिमान रहना चाहते हैं। स्थिर तालाब की तरह सड़ना नहीं चाहते। जिन व्यक्तियों ने महान उपलब्धियाँ प्राप्त कीं वे प्रथम श्रेणी के व्यक्ति थे दूसरी के नहीं। हेनरी इन्जीनियर बनकर ही संतुष्ट नहीं हो गया। उसने कारखाने का काम करने के पश्चात् बचे हुए समय में नवीन यंत्र बनाने का विचार किया। उसके पिता कृषक थे। ग्रीन फील्ड के साथी निवासी किसान थे। हेनरी फोर्ड ने उनके लिये एक ऐसी गाड़ी का निर्माण करने की योजना बनाई जो खेतों पर सामान ले जाने में प्रयुक्त हो सके।

हेनरी फोर्ड इस दिशा में पहला व्यक्ति नहीं था,। उसके पहले भी मोटर गाड़ी का निर्माण हो चुका था। वह मोटर गाड़ी इतनी लागत में पड़ती थी कि साधारण व्यक्ति उसे खरीदने का साहस नहीं कर सकता था। अब तक यंत्रचालित मोटर कार अमीर लोगों के लिये ही थी। हेनरी फोर्ड चाहता था कि इसमें यांत्रिक सुधार करके कम से कम लागत की मोटर कार बनाई जाय जिससे सामान्य व्यक्ति लाभ उठा सके।

हेनरी इस काम में जुट गया उसने अपने घर के अन्दर ही मोटर कार बनानी आरम्भ कर दी। १८९२ में यह बनकर तैयार हुई तो निकालने की समस्या सामने आयी। घर की दीवार फोड़कर उसके लिए रास्ता बनाया गया। मोटर कार ५-६ मील प्रति घण्टा की रफ्तार से चलती थी। देखने में बड़ी भद्दी थी और शोर करके आसमान सिर पर उठा लेती थी। इस प्रयास को लोगों ने पागलपन समझा। हेनरी का मजाक उड़ाया। हेनरी जानता था कि वह सफल हुआ है।

इस निर्माण के पीछे हेनरी फोर्ड का उद्देश्य यह था कि उसे जनसाधारण खरीद सके और अधिक संख्या में बनाई जा सके। पहली मोटर कार में उसने कम से कम लागत लगाई थी। १८९८ में दूसरी मोटर कार तैयार हुई जो देखने में तो भद्दी थी पर कीमत तथा चलने के दृष्टिकोण से अति उत्तम थी। उसने इस का प्रचार करने के लिए मोटर कार रेस में भाग लिया और रेस जीती।

१९०३ में डेट्राइट में 'फोर्ड मोटर कम्पनी' की स्थापना हुई। हेनरी फोर्ड ने १८९८ वाले मॉडल में थोड़ा सुधार करके मोटरकारों का निर्माण आरम्भ कर दिया। उनकी मोटरकारें सस्ती होने से चल निकलीं। उनमें दिन पर दिन सुधार होने लगा। फोर्ड एक इन्जीनियर ही नहीं कुशल व्यापारी तथा उद्योगपति के रूप में प्रसिद्ध होने लगा। अधिक संख्या में मोटर बनाने के कारण लागत कम पड़ने लगी और मोटर कारें सस्ती पड़ने लगीं।

कारखाने की प्रणाली में सुधार करने के लिये हेनरी के उर्वर मस्तिष्क में कोई न कोई योजना आती रहती थी। उसने 'कन्वेयर बैल्ट' का आविष्कार करके कारीगरों के समय की बड़ी बचत कर दी। मोटर कार में भी प्रत्येक मॉडल में वह पर्याप्त सुधार करके निकालता जिससे लोगों का विश्वास बढ़ने लगा।

आरम्भिक दिनों में जब उसने अपनी थोड़ी सी पूँजी से डेट्राइट में फोर्ड मोटर कम्पनी की स्थापना करके उत्पादन आरम्भ किया था तो उसे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। पहले तो उसका एक भागीदार उसे छोड़कर चला गया। वह अधिक लाभ लेने के लिए मोटरगाड़ी का मूल्य अधिक रखना चाहता था। हेनरी इस पर राजी न हुआ। सीमित साधनों से कारखाना चलने लगा तो जी. बी. सेल्डन ने इसके विरुद्ध नमूना चोरी का दावा दायर कर दिया। पहली बार वह हार गया किन्तु वह निराश होने वाला नहीं था। उसने आगे अपील की और जीता।

इन कठिनाइयों को पार करता हुआ हेनरी फोर्ड आगे बढ़ता गया। अपने उत्पादन में निरन्तर सुधार करता रहा। इसके कारखाने में बनी मोटर कारें धड़ाधड़ बिकने लगीं। एक दिन जिस हेनरी फोर्ड की मोटर कार को 'खटारा' कहकर लोगों ने उसका मजाक उड़ाया वही अपनी लगन, अपने परिश्रम, सूझ-बूझ तथा धैर्य से विश्व के श्रेष्ठतम पूँजीपतियों में गिना जाने लगा। उसके कारखाने में विश्व भर में सबसे अधिक मोटर गाड़ियाँ बनती हैं, जो प्रति वर्ष लाखों की संख्या में बनाई व बेची जाती हैं।

विश्वयुद्ध के समय हेनरी फोर्ड ने मित्र राष्ट्रों की मदद की। अपने कारखाने अमेरिका सरकार के लिए खोल दिये। उसमें जल जहाजों का निर्माण होने लगा। युद्ध के समय कितनी ही मोटर गाड़ियाँ हेनरी फोर्ड ने अमेरिका सरकार को दे दीं। हेनरी केवल धन कुबेर ही नहीं एक देशभक्त का हृदय भी रखता था। विनाश के बादल मँडराये तो वह अपनी सम्पदा को लोकहित में प्रयुक्त करने को आतुर हो उठा।

‘शिकागो ट्रिब्यून’ नामक पत्र ने हेनरी फोर्ड को राजद्रोही ठहराया। हेनरी फोर्ड अन्तर्राष्ट्रीय शांति का पक्षपाती था। वह नहीं चाहता था कि कोई राष्ट्र अपने पास शस्त्रों का विशाल भण्डार रखे इसके लिये उसने एक आन्दोलन चलाया था। आपत्कालीन स्थिति में अमेरिका को जी-जान से सहायता करने वाले हेनरी फोर्ड का विवेक कहता था कि शस्त्रों की होड़ मानव के लिये हितकर नहीं है। हेनरी में एक सच्चे मानव के गुण थे तभी वह सरकार की नीति के विरुद्ध आन्दोलन चला सका था। उसने ‘शिकागो ट्रिब्यून’ पर दावा दायर किया और तीन वर्ष तक मुकदमा लड़कर जीता।

हेनरी फोर्ड के कारखाने में १८००० आदमी काम करते हैं। उनमें नवयुवक, इष्ट-पुष्ट कर्मचारी बहुत कम हैं। अधिकांश अन्धे, काने, लूले, लैंगड़े, अपंग कर्मचारियों को उन्होंने अपने कारखाने में काम दिया। ईश्वर के मंदिर की तरह उनके प्रति श्रमालय का द्वार हर व्यक्ति के लिए खुला है। वे यह नहीं देखते कि यह व्यक्ति मेरे यहाँ काम कर सकेगा या नहीं वरन् यह देखते हैं कि उसे कौन सा काम देकर उसे रोजगार दिया जाय। समाज में जो कैदी स्थान नहीं पा सकते, उनको भी वे अपने यहाँ काम देते थे। उन्हें ईश्वर ने धन दिया था। उस धन को उन्होंने अधिक से अधिक लोगों को रोजगार देने में लगाया। ऐसे लोग जिन्हें कहीं काम नहीं मिलता था वे इनके यहाँ काम पाते थे। अपने कर्मचारियों को वे अधिक वेतन तथा सुविधाएँ देते थे। दान देने में भी हेनरी फोर्ड कभी पीछे नहीं रहे।

एक घाटे में चलने वाली जहाज कम्पनी इन्होंने खरीद ली। मजदूर हड़ताल कर रहे थे। खरीदने के दूसरे ही दिन इन्होंने घोषणा कर दी कि मजदूरों को उनकी माँग के बराबर वेतन दिया जायेगा। मजदूर काम पर लौट आए। थोड़े ही समय में घाटा भी पूरा हो गया। हेनरी फोर्ड ने इस प्रयोग से दिखा दिया कि उदारता का परिणाम शुभ ही होता है। मजदूरों को अधिक वेतन देकर भी लाभ कमाया जा सकता है।

हेनरी फोर्ड की इच्छा थी कि वे एक साधारण आदमी की तरह मरें। उनकी यह इच्छा पूरी हुई जिस दिन हेनरी फोर्ड की मृत्यु हुई उस दिन घन-घोर वर्षा हुई। उनके बेटे भी उनके पास नहीं पहुँच सके। बिजली, टेलीफोन आदि के तार टूट चुके थे। फर्नीचर जलाकर उनके कमरे में उजाला किया गया। अन्तिम समय में उनके पास उनकी पत्नी व एक नौकर ही था।

हेनरी फोर्ड ने अपने अध्यवसाय से अपार धन अर्जित किया, उसका उपयोग जन-कल्याण में किया तथा कभी उस पर गर्व नहीं किया। उन्होंने जीवन जीकर बताया कि धन साधन है साध्य नहीं। काश ! सभी पूँजीपति हेनरी फोर्ड के जीवन से कुछ प्रेरणा लेते।

महाराष्ट्र मण्डल के चाणक्य- नाना फड़नवीस

महाराष्ट्र-मण्डल के राजन्य वर्ग का सोलह वर्षीय कुमार बालाजी जनार्दन भानु मराठी सेनाओं के प्रधान सेनापति सदाशिवराव भाऊ का मंत्री बनकर अहमदशाह अब्दाली के साथ होने वाले पानीपत के युद्ध में पहुँचा। इस यात्रा के पीछे उसका उद्देश्य मात्र युद्ध कला का अनुभव प्राप्त करना ही नहीं था वरन् उत्तरी भारत के तीर्थ स्थलों का दर्शन करना भी था। इसीलिये उसके साथ उसकी माता और पत्नी भी थी।

पानीपत का युद्ध तो विजेता अहमद शाह के लिये भी लाभकारी नहीं रहा था। पराजित पक्ष मराठों के लिये तो लाभकर होने का प्रश्न ही नहीं उठता। दोनों ओर से अपार जन-धन की हानि हुई। मराठी सेना के प्रधान सेनापति सदाशिवराव भाऊ खेत रहे। बालाजी जनार्दन भानु को भागना पड़ा। पानीपत से मराठी सेना के पाँव उखड़े तो दिल्ली और मथुरा में डेरा डाले पड़ी मराठी सेनाएँ भी भाग खड़ी हुई। कुमार बालाजी जनार्दन भानु की माता व पत्नी इसी भाग दौड़ में खो गयीं।

पानीपत के युद्ध का अनुभव इस कुमार के लिये बड़ा भयंकर रहा। माता व पत्नी को खोकर वह एक साथ ही अनाथ और विधुर हो गया था। युद्ध ने मन में वैराग्य उपजा दिया था। मन में यही विचार उठता था कि वह घरबार त्याग कर संन्यासी हो जाय। कई दिनों तक उसके चित्त में यही विचार उमड़ता रहा। एक दिन चित्त कुछ अधिक उद्भिन्न हुआ तो वह समर्थगुरु ‘रामदास’ का दास बोध लेकर बैठ गया। इसके पठन, मनन चिंतन से उसे बोध हो गया कि संसार से भागना सम्भव नहीं है। मैं यदि निष्काम भाव से करणीय कर्म करता रहूँ तो मुझे संसार त्यागने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। यह बोध होते ही अपने लिये विशाल कर्म क्षेत्र दिखाई दिया-विघटित होते हिन्दू महाराष्ट्र को बचाने और पुनर्गठित करने का। यही किशोर आगे चलकर नाना फड़नवीस नामक इतिहास पुरुष के नाम से विख्यात हुआ। इस एक अकेले व्यक्ति ने अपने जीते जी महाराष्ट्र की कीर्ति को धूमिल नहीं होने दिया, जिसे समर्थगुरु रामदास और शिवाजी आदि महापुरुषों ने अपने महान कर्तव्य के बल पर संगठित किया था।

नाना फड़नवीस का जन्म १७४४ में पूना के फड़नवीस परिवार में हुआ था। मराठा मण्डल के फड़नवीसी कार्यालय के मुख्याधिकारी के पद पर कार्य करने के कारण इनके पूर्वजों के साथ फड़नवीस की उपाधि लगने लगी थी। पानीपत के युद्धोपरान्त नाना फड़नवीस समर्थ गुरु रामदास तथा वीरवर शिवाजी की तरह निष्काम भाव से महाराष्ट्र मण्डल के पुनर्गठन के कार्य में लग गये।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि एक अकेले निष्काम कर्मयोगी नाना फड़नवीस के पुण्य प्रताप से महाराष्ट्र मण्डल की नौका जिसमें अनेकानेक महत्वाकांक्षी पैंदे में छेद करने वाले सामंत बैठे थे फिर भी वह तब तक नहीं डूब सकी जब तक वे जीवित रहे।

पानीपत की हार का धक्का पेशवा नाना साहब (बालाजी) सहन न कर सके। शोक और निराशा ने उनके प्राण हर लिये। उनके पश्चात् उनका सोलह वर्षीय पुत्र माधवराव पेशवा बने। नाना फड़नवीस उसके मंत्री नियुक्त हुए। नाना फड़नवीस के मार्गदर्शन में माधवराव ने महाराष्ट्र मण्डल को पुनः शक्तिशाली बनाया। थोड़े ही दिनों में पेशवा के इस कर्तृत्व ने वह आशा जगायी कि लोग पानीपत की हार को भूलने लगे। किन्तु माधवराव पेशवा अल्पायु सिद्ध हुए। वे दस वर्ष बाद ही चल बसे। माधवराव के बाद उनके कनिष्ठ भ्राता नारायण राव को पेशवा बनाया गया पर वह अपने भाई की तरह योग्य सिद्ध नहीं हुए। पेशवा नाना साहब का छोटा भाई राधोवा पेशवा बनने के सपने कई वर्षों से देख रहा था, पर नाना फड़नवीस और अष्ट प्रधान मण्डल के सदस्य उसके नीच स्वभाव से परिचित थे अतः वे उसे पेशवा नहीं बनाना चाहते थे। छत्रपति शिवाजी अपने समय से ही यह परम्परा बना गए थे कि अष्ट प्रधान मण्डल की सम्मति के बिना छत्रपति की नियुक्ति भी नहीं होगी।

महत्वाकांक्षी राधोवा ने गुप्त रूप से पेशवा नारायण राव की हत्या करवा दी। ऐसा कुकर्म महाराष्ट्र मण्डल में अब तक नहीं हुआ था, फिर भी नाना फड़नवीस ने अष्ट प्रधान मण्डल की सहायता से राधोवा जैसे हत्यारे को पेशवा नहीं बनने दिया। नारायण राव के अल्पवयस्क पुत्र सवाई माधवराव को पेशवा बनाया गया। नाना फड़नवीस उसके संरक्षक बने।

परिस्थितियाँ विकटतर होती जा रही थीं। स्वार्थी लोग महाराष्ट्र को रसातल में ले जाने को उद्यत थे। इन सबके बीच नैतिक और निस्वार्थी नाना फड़नवीस राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य पालन के दुर्वह दायित्व को जिस तत्परता से निभाते रहे वह अपूर्व धैर्य और साहस का ही कार्य था। वे सच्चे योगी थे, सच्चे संन्यासी थे, चाहे वे राजकार्य में रत रहे हों।

उन दिनों महाराष्ट्र मण्डल में नाना फड़नवीस जैसा धुरंधर राजनीतिज्ञ और महादाजी सिंधिया जैसा प्रबल पराक्रमी योद्धा दूसरा नहीं था। वे दोनों एक दृष्टि के होते तो महाराष्ट्र सम्राज्य इतना शीघ्र अकाल कवलित न होता पर महादाजी सिंधिया, नाना फड़नवीस की तरह निस्वार्थी नहीं था। उसकी महत्वाकांक्षाएँ बढ़ी-चढ़ी थीं। नाना फड़नवीस जब तक जीवित रहे उन्होंने महादाजी को महाराष्ट्र मण्डल से पृथक् नहीं होने दिया। उनकी मृत्यु होते ही वह महत्वाकांक्षी पर अदूरदर्शी व्यक्ति विदेशी अंग्रेजों की चाल में आ गया।

माधवराव द्वितीय के समय में नाना फड़नवीस अष्ट प्रधान मण्डल में महामात्य पद पर पहुँचे। यों पद से उन्हें कुछ लेना देना था नहीं। एक प्रकार से वे तो विरक्त थे पर राष्ट्र की सेवा को अपना धर्म मानते हुए महाराष्ट्र के विगत-गौरव को स्थायित्व प्रदान करने का हर सम्भव प्रयास कर रहे थे। महामात्य पद पर प्रतिष्ठित होना इस दृष्टि से अतीव उपयोगी था।

नाना फड़नवीस दूरदर्शी व्यक्ति थे। समझते थे वे कि हिन्दू साम्राज्य के वास्तविक शत्रु कौन हैं। महादाजी सिंधिया और राधोवा तो अभी तक यह भी नहीं जान पाए थे कि उनके वास्तविक शत्रु कौन हैं वास्तविक शत्रु तो थे अंग्रेज और फ्रांसिसी व्यापारी जबकि राधोवा और महादाजी निर्बल मुगल सम्राट और राष्ट्रवादी हैदर अली व टीपू सुल्तान को ही अपने शत्रु समझते थे।

नाना फड़नवीस अपने समय के चाणक्य माने जाते हैं। उन्होंने अपना गुप्तचर विभाग कितना तत्पर बना रखा था इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध इतिहासकार मेजर वसु ने लिखा है-“नाना फड़नवीस के गुप्तचर विभाग का प्रबन्ध इतना उत्तम तथा पूर्ण था कि देश के किसी भी भाग में कोई भी महत्वपूर्ण घटना होती तो उस घटना के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न साधनों द्वारा दर्जन की संख्या में वृत्तान्त लेख ठीक समय उनके पास पहुँच जाते थे। इन भिन्न-भिन्न स्थानों से आये हुए वृत्तान्त लेखों को पढ़कर वे अपने कमरे में बैठे-बैठे ही देश भर की घटनाओं की असलियत जान जाते थे।

महादाजी सिंधिया को वे कहा करते थे-“यदि हमने मराठा साम्राज्य में अंग्रेजों को पाँव रखने दिया तो देश पराधीन हो जायगा।” अंग्रेज उनकी राजनीति से भयभीत रहा करते थे। उन्हें महाराष्ट्र मण्डल में एक ही व्यक्ति ऐसा दिखाई देता था जो उनके इरादों की तह तक पहुँचा था - वह व्यक्ति थे नाना फड़नवीस। अंग्रेज यह जानते थे कि नाना फड़नवीस जैसा चतुर और निस्वार्थी व्यक्ति पेशवा का महामात्य रहेगा, तब तक उनकी दाल नहीं गलेगी। इसलिये वे नाना फड़नवीस को महाराष्ट्र मण्डल से हटाकर उनके स्थान पर अदूरदर्शी व्यक्ति को नियुक्त करने का हर सम्भव प्रयास करते रहते थे। किन्तु अष्ट प्रधान मण्डल और महाराष्ट्र की जनता का नाना फड़नवीस में अगाध विश्वास होने के कारण वे अपने नापाक इरादों में सफल नहीं हो सके।

पूना के रेजीडेण्ट चार्ल्स मलेट ने लिखा था-“जब तक पूना दरबार में नाना फड़नवीस की प्रधानता है तब तक ब्रिटिश जाति को मराठा साम्राज्य में स्थिर स्थान प्राप्त करने की आशा नहीं करनी चाहिए।”

नाना फड़नवीस और वारेन हेस्टिंग्स के मध्य जो कूटनीतिक दाँव पेंच चले उसमें हेस्टिंग्स को मुँह की खानी पड़ी। स्वार्थी राधोवा अंग्रेजों की शरण में जा पहुँचा था। वह पेशवा बनने का महत्वाकांक्षी था, उसने महादाजी सिंधिया को भी लोभ दिखाकर पूना दरबार में फूट डालने का प्रयास किया पर नाना के आगे उनकी एक न चली।

नाना ने न केवल पूना दरबार को फूट से बचाया वरन् निजाम व भौंसले को भी अँग्रेजों के विरुद्ध करके अँग्रेजों को चकित कर दिया। नाना फड़नवीस ने अपने आचरण द्वारा यह अनुकरणीय उदाहरण रखा है कि राष्ट्र की सेवा पूरी निष्ठा और ईमानदारी के साथ ही नहीं निष्काम भाव से की जानी चाहिए। राजनीतिक दौंवपेंचों का प्रयोग राष्ट्र विरोधियों के विरुद्ध ही किया जाय न कि अपने देशवासियों के साथ अपने स्वार्थ साधन के लिये।

अँग्रेजों ने १७५५ में सूरत में जो संधि की थी उसका उन्हें कोई लाभ नहीं मिला। वे उसे पेशवा बनाने में असमर्थ रहे। हारकर उन्होंने १७७७ में पूना दरबार से पुरन्दर स्थान पर संधि की। इस संधि के पीछे उनका मतलब नाना फड़नवीस को महामात्य पद से हटाना था पर वे इसमें भी असफल ही रहे। कुटिल अँग्रेज पुरन्दर की संधि तोड़ने के प्रयास में थे। वे महाराष्ट्र मण्डल पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहे थे। नाना भी चुप नहीं बैठे थे वे उसका मुँह तोड़ उत्तर देने के लिये सन्नद्ध थे। १७७९ में हुए इस युद्ध में अँग्रेज बुरी तरह हारे। उन्हें पूना दरबार से अपमानजनक संधि करनी पड़ी।

अँग्रेजों के लिये इन संधियों का कोई महत्व नहीं था। वे कभी भी उन्हें तोड़ सकते थे। नाना फड़नवीस उनकी कुटिलता से परिचित थे। अतः उन्होंने एक बार उन्हें मूल से नष्ट कर देने के लिये उद्यत हो गये। उन्होंने निजाम, हैदर अली, अर्काट के नबाव तथा मुगल सम्राट शाह आलम को इसके लिये तैयार किया। गवर्नर हेस्टिंग्स को जब इस बात का पता चला तो उसे ब्रिटिश भारत राज्य का समूल नाश होता दिखाई पड़ने लगा। महादाजी सिन्धिया को उसने लोभ दिखाकर साक्षी के लिये मध्यस्थ बना लिया। महत्वाकांक्षी सिन्धिया वीर होते हुए भी दूरदर्शी राजनीतिज्ञ नहीं था अतः वह लोभ में आ गया। गवर्नर हेस्टिंग्स और पूना दरबार के मध्य संधि हुई।

नाना फड़नवीस के उद्योग से मृत्योन्मुख महाराष्ट्र मण्डल एक बार पुनः भारत की मुख्य शक्ति बन गया। मुगल सम्राट शाह आलम के मराठे संरक्षक बने। अँग्रेजों को दो-दो बार अपमानजनक संधि करनी पड़ी।

नाना फड़नवीस की मृत्यु १६ फरवरी, १८०० में हुई। नाना की मृत्यु के साथ ही एक प्रकार से मराठों का सूर्य अस्त हो गया। उनके पश्चात् ऐसा कोई योग्य और निस्वार्थी व्यक्ति उन्हें सम्भालने वाला नहीं रहा। अँग्रेजों का दौंव लग गया। उन्होंने स्वकेन्द्रित मराठा सरदारों को एक-एक करके निर्मूल कर दिया। नाना साहब ने चालीस वर्ष तक राष्ट्र की जो सेवा की वह आज भी आदर्श है। उन्होंने सवाई साधव राव बालक पेशवा के आत्मघात के पश्चात् राधोबा के पुत्र बाजीराव को पेशवा स्वीकार किया क्योंकि पेशवा वंश में और कोई उत्तराधिकारी बचा ही न था। बाजीराव उनका जानी दुश्मन था फिर भी नाना की राष्ट्रनिष्ठा देखो उसने उसके पेशवा रहते हुए भी

महाराष्ट्र को डूबने नहीं दिया। ऐसे निष्काम देशसेवियों व निस्वार्थ राजनीतिज्ञों की आज भी देश की आवश्यकता है।

आत्मविश्वासी के लिये कुछ भी असम्भव नहीं

एक बार नाना साहब हाथी पर सवार होकर घूमने जा रहे थे। वे मनु को नहीं ले गये। बालिका रुठ गई। उसके पिताजी ने समझाया—“हम गरीब हैं, हमारे भाग्य में हाथी कहाँ?” इस पर मनु ने तमक कर कहा “एक क्या ऐसे सैकड़ों हाथी हैं मेरे भाग्य में।” आत्मविश्वासपूर्ण कही यह बात सच निकली। वह बड़ी होने पर झाँसी के राजा गंगाधरराव की पत्नी बनी और सैकड़ों हाथियों की स्वामिनी भी।

मनु नामक उक्त बालिका ही झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई थीं, जिन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि आत्मविश्वास की भावना दृढ़ हो तो मनुष्य एक साधारण स्थिति से ऊपर उठकर उच्च स्थिति तक पहुँच जाता है।

महाराष्ट्र के पुनर्प्रतिष्ठापक— पेशवा बाजीराव

वयस्क और योग्य पुत्रों के हाथ में शासन सूत्र थमाकर बुन्देल-केसरी वीर महाराज छत्रसाल ईश्वराधना और लोकसेवा में निरत रह वानप्रस्थ का सा जीवनयापन कर रहे थे। तभी ८६ वर्ष की आयु में स्वदेश की स्वतंत्रता के लिये महान उद्योग करने वाले बूढ़े शेर को पुनः राष्ट्ररक्षा की ओर उद्यत होना पड़ा।

मुहम्मद शाह बंगश ने उनके कनिष्ठ पुत्र जगतराज पर तीसरी बार आक्रमण कर उसकी राजधानी जैतपुर पर अधिकार कर लिया। बंगश पहले दो बार जगतराज से हार चुका था पर तीसरी बार उसकी विजय हुई। वृद्ध छत्रसाल के शरीर में अब वह बल नहीं रहा था, न पर्याप्त सैन्य ही उनके पास था अतः उन्हें पुनः एक बार उस ओर आशाभरी नजर से देखना पड़ा जिधर उन्होंने युवावस्था में देखा था। छत्रपति शिवाजी की सहायता और मार्गदर्शन से ही वे एक सामान्य जागीरदार से बुन्देलखण्ड के गौरव बन सके थे और मुसलमान शासकों से अपनी मातृभूमि को स्वतंत्र करा सके थे।

महाराष्ट्र में छत्रपति शिवाजी के पौत्र शाहूजी उनके आसन पर आसीन थे। उनके सुयोग्य मन्त्री पेशवा बाजीराव ने शिवाजी की मृत्यु के बाद विघटित हो गये हिन्दू महाराष्ट्र को पुनः संगठित कर एक महान शक्ति के रूप में विकसित किया था। महाराज छत्रसाल को बाजीराव ही वे व्यक्ति दिखे जो उनके जीवन भर की साधना को डूबने से बचा सकते थे। उन्होंने अपने एक

विश्वस्त दूत के हाथ इस आशय का संदेश भेजा-

जो गति भई गजेन्द्र की सो गति पहुँची आय ।

बाजी जात बुन्देल की राखी बाजी राय ॥

बाजीराव को संदेश मिला था कि वे एक विशाल सेना लेकर उनकी सहायता के लिये आ पहुँचे । भारत के इतिहास में यह अपने ढंग की महत्वपूर्ण घटना है । यदि इससे तत्कालीन हिन्दू राजा थोड़ी सीख लेते तो उनका पराभव सम्भव नहीं होता । महाराष्ट्र और बुन्देलखण्ड की सम्मिलित शक्ति के आगे बंगश को पराजित होकर भागना ही नहीं पड़ा वरन् हजाना और भविष्य में आक्रमण नहीं करने के लिये वचनबद्ध भी होना पड़ा ।

महाराज छत्रसाल के आह्वान पर यों उनकी सहायता को प्रस्तुत हो जाने वाले पेशवा बाजीराव ने एक बार पुनः उस स्वप्न को साकार करने के लिये प्राणपण से चेष्टा की जिसे समर्थगुरु रामदास और शिवाजी ने देखा था । उनका लक्ष्य पुनः भारत को एक सूत्र में बाँधना था । उनका अपना सारा जीवन इसी प्रयास में पूरा हुआ इसमें वे अन्ततः सफल भी हुए ।

इतिहास पुरुष बाजीराव का जन्म १६९९ में सावित्र नदी के तट पर बसे हुए महाराष्ट्र के ग्राम श्रीवर्द्धन पट्ट में हुआ था । व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान पर बसा होने के कारण मुसलमान शासकों की लोलुप दृष्टि के घेरे में रहा करता था । इनके पिता बाला जी विश्वनाथ यहीं रह कर व्यापार कार्य किया करते थे । बालाजी को जब बाजीराव छोटे ही थे तभी निकटवर्ती जंजीरा क्षेत्र के मुस्लिम शासक कासिम के अत्याचारों के कारण ग्राम छोड़ना पड़ा । बालाजी व्यापार के सिलसिले में अपने पास कुछ सैनिक भी रखते थे, मालगुजारी वसूलने का काम भी उनके हाथ में था । कासिम के आक्रमण के समय उन्होंने तट प्रदेश के अधिपति कान्होजी आंग्रे का साथ दिया था । इस कारण कासिम ने उन पर घोर अत्याचार करने आरम्भ किये । बालाजी के ज्येष्ठ भ्राता जनार्दन को हाथ-पाँव बाँध एक संदूक में बन्द कर क्रूरमना कासिम ने सागर में जीवित समाधि दे दी ।

ऐसी विकट परिस्थितियों को किशोर बाजीराव ने अपनी आँखों से देखा था और देखा था विधर्मी शासकों के उस नृशंस अत्याचार को, जिसे देख कर उनके किशोर मन में इस अत्याचार से अपने देशवासी भाइयों को मुक्त करने का संकल्प भरने लगा ।

बालाजी का श्रीवर्द्धन पट्ट में रहना सुरक्षित नहीं था अतः वे सपरिवार वहाँ से चल दिये । कैसे वे छत्रपति शाहू के मन्त्रिमण्डल में पहुँचे, कैसे उन्होंने छत्रपति वंश को पुनः शक्तिमान बनाया यह एक लम्बी कहानी है । जातीय-गौरव और राष्ट्रीय-स्वाभिमान से भरे पूरे पिता के दाहिने हाथ बनकर रहने वाले बाजीराव ने उनसे बहुत कुछ सीखा । बालाजी यदि कायर होते तो वे कासिम के विरुद्ध आंग्रे का समर्थन कभी न करते पर इससे उन्हें कोई हानि नहीं हुई । वे पहले से अधिक यशस्वी बन सके और

अधिक महत्वपूर्ण कार्य कर सके । बालाजी महाराष्ट्र मण्डल के पेशवा बनाए गये ।

पिता के पेशवा बनने के समय व उनके प्रमुख सहायकों में रहे । युद्धों में भी वे उनके साथ जाते और राज्य संचालन में भी वे उनका हाथ बँटाते । उन्हीं के साथ वे दिल्ली भी गये और तत्कालीन मुगल सम्राट फर्रुखशियर से संधि-वार्ता करने में भी उनका महत्वपूर्ण स्थान रहा ।

बालाजी की कुशल राजनीति और वीरतापूर्ण देश भक्ति के प्रताप से मराठों का प्रताप सारे देश में फैल गया । वे भारत के सभी राजाओं से सन्देशमुखी कर चौध वसूल किया करते थे । एक बार पुनः धर्म समन्वित राज्य की स्थापना सम्भव हो सकी । धर्म समन्वित इसलिये कहा जाना उचित है क्योंकि उनके राज्य में वैसे अन्याय नहीं होते थे जैसे मुगलों व अन्य मुस्लिम शासकों के काल में होते थे ।

बालाजी की मृत्यु के उपरान्त उनके द्वारा निभाये जा रहे इस दुर्वह दायित्व का भार बाजीराव के कन्धों पर आ गया । बाजीराव अपने पिता की तरह ही वीर और कुशल राजनीतिज्ञ थे । उनकी माता ने उन्हें बचपन में वीर शिवाजी, भगवान राम, भगवान कृष्ण आदि महापुरुषों की प्रेरक कहानियाँ सुना-सुना कर उनमें देश, धर्म और संस्कृति के प्रति अनुराग और जीवन के प्रति स्वस्थ और परमार्थिक दृष्टिकोण उत्पन्न किया था, इससे उनमें जो चारित्रिक और व्यक्तिगत विशेषताएँ उत्पन्न हुई थीं उनके सहारे ने इस दुर्वह दायित्व को पूरा करने में समर्थ थे ।

यों उस युग के किसी भी राजपुरुष के जीवन में घटनाएँ तो वही युद्ध संधि, वीरता, न्याय और राज प्रबन्ध विषयक घटित होती थीं वे उनके जीवन में भी घटित हुई । उनके महत्व को उनके उच्च दृष्टिकोण के परिपेक्ष्य में न आँका जाय तो उनके महत्व को पूरी तरह आँकना सम्भव नहीं होगा ।

छत्रपति शिवाजी के प्रबल उद्योगों द्वारा स्थापित हिन्दू महाराष्ट्र समय के साथ शक्तिशाली तो होता गया और उसका चरम विकास बाजीराव और उनके पुत्र नाना साहब बालाजी के समय में देखने को मिला पर बाद में इस महाराष्ट्र के जितने भी कर्णधार हुए उनमें जातीय और राष्ट्रीय निष्ठा का झुस और व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा का परिवर्द्धन होने लगा था । ऐसी स्थिति में महाराष्ट्र के सामन्तगणों की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं को राष्ट्रीय हित से ऊपर उठकर उन्हें विशृंखलित होने से बचाने का काम जिन व्यक्तियों ने किया उन्हीं में बाजीराव पेशवा का नाम मुख्य माना जाता है ।

पूना नगर के पुनर्निर्माण का श्रेय भी बाजीराव पेशवा को ही है । पूना नगर की रमणीयता, समृद्धि और बसावट के विषय में अंग्रेज प्रेक्षक मि० गार्डन का वर्णन मनोमुग्ध कारी है । यह पेशवा बाजीराव की कलाप्रियता और निर्माण कौशल का उदाहरण है ।

निजाम पर अनेकों बार विजय और उससे चौथ वसूलने का अधिकार पाना, मालवा जीतकर वहाँ सुशासन की स्थापना करना, छत्रसाल के गौरव और बुन्देल खण्ड के हिन्दुराज्य की रक्षा करना, पुर्तगालियों के राज्य विस्तार को रोकना आदि ऐसे महत्वपूर्ण कार्य हैं जो उनकी वीरता और नीति कुशलता के कारण ही सम्भव हुए हैं।

उनके जीवन में कई बार ऐसे प्रसंग आये जब मृत्यु उनके सामने विकराल रूप धारण करके खड़ी हुई। शत्रु-पक्ष के विश्वासघात के कारण वे बन्दी बना लिये गये। ऐसे विकट क्षणों में भी उन्होंने धैर्य और साहस को बिसारा नहीं। फल यह हुआ कि बाजी उनके हाथ रही।

महाराज शाहू और राजाराम आदि तो नाममात्र के छत्रपति रहे थे। राज्य का मेरुदण्ड तो पेशवा ही थे। पेशवा बाजीराव के पराक्रमी व्यक्तित्व ने सिंधिया और होल्कर को अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं का दास नहीं होने दिया। उनके जीवन के घटनाक्रम इस बात की पुष्टि करते हैं कि उन्हें विधर्मी शासकों से जितना संघर्ष नहीं करना पड़ा उतना अपने ही स्वजातीय बन्धुओं से महाराष्ट्र के एकत्व के लिये करना पड़ा।

पेशवा बाजीराव के जीवन के साथ ऐसे भी कुछ प्रसंग जुड़े हुए हैं जिनसे उनका उदात्त दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। महाराज छत्रसाल की सहायता करने के कारण उन्होंने पेशवा बाजीराव को महाराष्ट्र मण्डल के लिये न केवल अपने राज्य का तीसरा भाग, जिनमें झाँसी, बाँदा व जालौन सम्मिलित थे मिले वरन् साथ ही काफी धन भी मिला। यही नहीं उन्होंने अपनी यवनी पत्नी की कोख से उत्पन्न एक पुत्री का विवाह भी बाजीराव के साथ किया। यद्यपि बाजीराव नहीं चाहते थे फिर भी महाराज छत्रसाल की बात रखने के लिये उन्हें यह विवाह सम्बन्ध स्वीकारना ही पड़ा।

उनकी इस यवनी पत्नी को लेकर अपने कुटुम्बीजनों का बड़ा विरोध सहना पड़ा पर उन्होंने उसे अपने अधिकार से वंचित नहीं होने दिया। उसे वही सम्मान और स्नेह वे देते रहे जिसकी वह अधिकारिणी थी।

वे उसकी कोख से उत्पन्न पुत्र शमशेर बहादुर के उसी प्रकार उपनयन व मुण्डनादि संस्कार करवाना चाहते थे ताकि वह सांस्कृतिक मर्यादाओं में बँधकर उच्च उदात्त जीवन जीने की प्रेरणा ले पर तत्कालीन रूढ़िवादी समाज का एक भी ब्राह्मण इसके लिये तैयार नहीं हुआ। हिन्दू समाज की यह संकीर्णता ही उसके संकोचन का कारण बनी हुई है, आज भी।

उनका सारा जीवन युद्ध, संधि-करण और राजनीति में ही व्यतीत हुआ। पर उनकी राजनीति धर्मनीति के पीछे चलने वाली थी। अपने गुरु ब्रह्मेन्द्र स्वामी, जो तपस्वी संन्यासी थे से प्रायः वे राज्य विषयक परामर्श लिया करते थे। कभी कोई विशेष उलझन होती तब भी वे उन्हीं से मार्गदर्शन पाया करते थे।

२२ अप्रैल, १७४० में पेशवा बाजीराव का देहावसान हुआ। उनकी मृत्यु पर महाराष्ट्र पति को वैसा ही शोक हुआ जैसा महामात्य चाणक्य की मृत्यु पर सम्राट बिन्दुसार को हुआ था। इतिहास पुरुष बाजीराव का जीवन भर का उद्योग काल की परिधि में बाँधा नहीं जा सका वे आज भी उतने ही अनुकरणीय हैं।

जिनका शरीर नहीं चरित्र सुन्दर था— महाराजा रणजीत सिंह

पंजाब के एक शहर में महाराजा रणजीत सिंह की सवारी निकल रही थी। रास्ते में हाथी पर बैठे हुए महाराजा के सिर पर एक पत्थर आ कर लगा और अगले ही क्षण आस-पास के सैनिकों ने एक बालक को पकड़ा। जो इस शोभायात्रा से बेखबर होकर सड़क के किनारे लगे बेर के पेड़ से फल गिराने के लिए पत्थर फेंक रहा था।

सैनिकों ने राज दरबार में उस बालक को उपस्थित किया। वह बहुत डर रहा था और महाराज के सिर पर पट्टी बँधी हुई थी। सैनिकों ने शोभायात्रा के समय घटित घटना का विवरण कहा। महाराजा ने फैसला दिया "जब पेड़ भी पत्थर फेंकने पर फल देता है तो मैं ही इसे दण्ड क्यों दूँ। इसने मुझे लक्ष्य कर तो पत्थर फेंका नहीं था, भूल से वह लग गया। इसमें बालक का कोई दोष नहीं है उसे खुशकर वापस भेज दो।"

महाराजा रणजीत सिंह के इस फैसले पर सबको आश्चर्य हुआ और सुखद हर्ष भी। उनकी क्षमाशीलता के ऐसे कई किस्से सुने जाते हैं। वे उतने ही क्षमाशील थे जितने कि वीर। क्षमा ही तो वीरता का भूषण कहा गया है। अपने प्रति भूल से या जानबूझ कर भी अपराध करने वालों को क्षमा कर देना।

महाराजा रणजीत सिंह शरीर से बिल्कुल भी आकर्षक नहीं थे। उनका कद छोटा था। चेहरा चेचक के दागों से भरा हुआ और आँख भी नहीं थी। इतने कुरूप व्यक्ति की प्रतिष्ठा भी भारत के इतिहास में अति सुन्दर वीर के रूप में हुई है। वस्तुतः सौन्दर्य का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है, वह तो व्यक्तित्व और चरित्र का ही अंग है। नाटे कद के व्यक्ति में ऊँचा और लम्बा हृदय, नियति ने एक आँख छीन ली परन्तु सूझ-बूझ और नीर-क्षीर विवेकी बुद्धि के रूप में संसार का अद्वितीय नेत्र उनके पास था। उनका चेहरा चेचक के दाग से बड़ा भद्दा लगता था परन्तु उस पर देदीप्यमान दिव्य-गुणों की आभा अच्छे-अच्छे चेहरों को मात दे देती थी और इस नैसर्गिक सौन्दर्य को प्राप्त किया था उन्होंने अपने समझदार पिता से। पालन-पोषण में उनके पिता ने इस ओर विशेष ध्यान दिया था। वह भी जन्म से ही कुरूप होने के कारण।

१७८० में पंजाब की एक रियासत के अधिपति महाराजा महसिंह के यहाँ उनका जन्म हुआ। जन्म के

समय उनका शरीर बड़ा बैडोल और कुरूप था। लोगों की आम धारणा थी कि एक राजकुमार को सुन्दर होना चाहिए। इसलिए राजपरिवार के अन्य सदस्यों और सर्वसाधारण को स्वाभाविक ही क्षोभ तथा चिन्ता हुई। जिसे उन्होंने महाराज महासिंह के सामने व्यक्त किया। महासिंह को दुःख तो था। परन्तु इतना नहीं। उनकी तो मान्यता थी कि कोई भी व्यक्ति चेहरे-मोहरे से सुन्दर नहीं कहा जाना चाहिए बल्कि सुन्दरता का मापदण्ड तो उसका पराक्रम, शौर्य और साहस समझना चाहिए। सहानुभूति जताने और राजकुमार के कुरूप होने की अपनी व्यथा कहने के लिए दरवार के कुछ लोग उनके पास पहुँचे तो उन्होंने ललकार कर कहा-"मुझे इस बात का जरा भी दुःख नहीं है कि मेरा बेटा सुन्दर नहीं है। पुरुष का पुरुषार्थी और पराक्रमी होना ही उसका सुन्दर होना है और मैं अपने बेटे को निश्चय ही ऐसा बनाऊँगा।"

राजकुमार के कुछ बड़ा होने पर महाराज महासिंह सचमुच ही अपने पुत्र को सौंदर्यशाली बनाने में जुट गये। वे रणजीतसिंह को छोड़े पर बिठाकर घुमाने ले जाते, घुड़सवारी करवाते, निशाना सिखाते और बन्दूक चलाना सिखाते। रणजीत सिंह को उन्होंने ऐसे वातावरण में रखा जो वीरता और साहस की प्रेरणा देता था। रात को सोते समय भी महासिंह अपने लाड़ले को राम-लक्ष्मण की शौर्य कथाएँ सुनाया करते थे।

ऐसा करने का उनका एक दूसरा उद्देश्य भी था। पंजाब उस समय कई छोटी-बड़ी रियासतों में बँटा हुआ था। कुल मिलाकर बारह राज्य थे। जो आपस में लड़मर कर ही अपनी शक्ति नष्ट करते रहते थे। सिक्ख जाति सदा से बहादुर और देश-भक्ति की परम्पराओं का पालन करती रही है। गुरु गोविन्द सिंह ने पूरे सिक्ख समाज का जो सैनिकीकरण किया उससे बड़े-बड़े साम्राज्य तक भय खाते थे परन्तु बाद में इस सशक्त संगठन को भी फूट और वैमनस्य के संक्रामक रोग ने ग्रसित कर लिया। जिसके परिणामस्वरूप पूरा पंजाब छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया और उन सबकी शक्ति क्षीण होने लगी।

महाराजा महासिंह बुद्धिमान और विचारशील भी थे। उन दिनों अंग्रेज और मुगल सेनाओं की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ जिस प्रकार सिक्ख जनता और भारतीय जन-जीवन को संतुष्ट किया करती थीं उसे देखकर उनका मन बड़ा व्यथित होता। भारतीय समाज में घुस आये इन विकारों को दूर करने की ठान कर महासिंह ने सर्वप्रथम पंजाब में एक संगठित राज्य का स्वप्न देखा। उसे साकार करने के लिए प्रयत्न भी किया। अपने पुत्र रणजीत सिंह को वीर योद्धा के रूप में तैयार करने की साधना उन्हीं प्रयत्नों की एक कड़ी थी।

रणजीत सिंह को युद्ध-विद्या में निष्णात करने के साथ उन्होंने अपने पुत्र के चरित्रगठन की ओर भी ध्यान दिया क्योंकि जन स्तर पर प्राप्त की गई सफलताएँ ऐसा व्यक्ति

ही तो स्थाई रख सकता है। अन्यथा इस ओर कोई ध्यान न देने वाला उन सफलताओं के साथ अहंकारी और अभिमानी ही बनता है। व्यक्तिगत रूप से पुत्र को सच्चा सौन्दर्य प्रदान करने के लिए तथा उसे सामाजिक हितों के लिए उपयोगी बनाने हेतु महाराजा महासिंह ने अनथक प्रयत्न किया।

सन् १७९२ में उनका देहान्त हो गया। उस समय रणजीत सिंह की आयु बारह वर्ष की ही थी। भारत राष्ट्र का भावी उद्धारक असमय में ही अनाथ हो गया। परन्तु माता ने सूझ-बूझ से काम लिया और रणजीत को अपने संरक्षण में लेकर इसी उम्र में राजगद्दी सौंप दी। राजकाज देखने के लिए उन्होंने अपने एक विश्वासपात्र दरबारी लखपत राय को दीवान नियुक्त कर दिया रणजीत सिंह का राज्याभिषेक हुए अधिक समय नहीं हुआ था कि राज परिवार के सभी सदस्य उन्हें अपने हाथों का खिलौना बनाने के लिए तरह-तरह की योजनाएँ रचने लगे। उन्होंने तथा उनकी माता ने बड़ी सावधानी बरती और उन षडयंत्रों को विफल किया।

कुछ वर्षों बाद शाहजमाँ नाम का एक महत्वाकांक्षी युवक अफगानिस्तान की राजगद्दी पर बैठा। उसने सुना कि पंजाब जैसे धनधान्य सम्पन्न प्रांत के सीमांत क्षेत्र का राजा एक किशोर-युवक है तो उसके मुँह में पानी भर आया और रणजीत सिंह के राज्य को जीतने के लिए लाहौर पर आक्रमण कर दिया। इस आसन्न संकट काल में राजमहल के षडयन्त्र भी खुलकर बाहर आये। सत्रह अठारह वर्ष के अवयस्क रणजीत सिंह के सम्मुख विकट समस्या उठ खड़ी हुई। जिसका समाधान अपने बस का नहीं लगा।

परन्तु रणजीत सिंह ने धैर्य से काम लिया। इस संकट काल में उनकी बचपन की शिक्षा काम आई। माता के परामर्श और स्वयं की सूझ-बूझ से उन्होंने स्वयं को स्वतंत्र राजा घोषित कर दिया और सारे अधिकार अपने हाथ में ले लिये। शाहजमाँ के पास काफी बड़ी सेना थी और रणजीत सिंह के पास गिनेचुने किन्तु राजभक्त सिपाही। सेना का नेतृत्व उन्होंने स्वयं सम्हाला और शाहजमाँ का डटकर मुकाबला किया। आततायी सत्ता लोलुपता को विशुद्ध राष्ट्रभक्ति के हाथों पराजित होना पड़ा। शाहजमाँ लाहौर छोड़कर भागा और महाराज रणजीत सिंह ने शत्रु के प्रति उदारता का व्यवहार किया। उन्होंने युद्ध के दौरान नदी में डूब गई शाहजमाँ की तोपें हथियार और छीना गया गोला बारूद वापस कर दिया। अफगान-सरदार को इस विचित्र-व्यवहार पर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसका हृदय भी परास्त हो गया परन्तु पंजाब विजय की लालसा अभी मिटी नहीं थी। अगली बार पूरी तैयारी के साथ आने की खिसियानी धमकी देकर वह अफगानिस्तान लौट गया।

इस युद्ध के कारण महाराजा रणजीत सिंह का आत्म विश्वास बढ़ गया। उन्होंने लाहौर को अपनी राजधानी बनाया। माँ ने पिता की उस चिरपालित इच्छा के सम्बन्ध

में बताया जिसके अनुसार वे पंजाब को एक राष्ट्र के रूप में उदय होते देखना चाहते थे। उनके मन में भी राष्ट्र-शक्ति के संगठन की प्रेरणायें उठा करती थीं। अपने विश्वासपात्र सैनिकों को लेकर उन्होंने आस-पास के छोटे-छोटे राज्यों का विलीनीकरण और संघराज्य की स्थापना का अभियान छेड़ा।

इस विजय यात्रा में उन्हें अकल्पित सफलता मिली। इन छोटे-छोटे राज्यों ने जल्दी ही हथियार डाल दिये और महाराजा रणजीत सिंह की अधीनता स्वीकार कर ली। एक विशाल-राज्य की सुरक्षा के लिए एक सशक्त और आधुनिक शस्त्रास्त्रों से लैस सेना भी चाहिए। एक ओर से अंग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति का भय था तो दूसरी ओर अफगानिस्तान के महत्वाकांक्षी राजा शाहजर्मा का। इन दोनों सम्भावित शत्रुओं से रक्षा का प्रबन्ध करने के लिए उन्होंने अपनी सेनाओं का विस्तार करना आरम्भ किया। पंजाब की उर्वरा भूमि तो सोना उगलती ही थी। इसीलिए व्यय की कोई खास चिन्ता नहीं थी।

उस समय जब वे अपनी सेनाओं का गठन कर रहे थे अंग्रेजी सरकार ने एक बड़े साम्राज्य को हस्तगत करने के प्रयत्न किये परन्तु वे सब विफल हुए। अंग्रेजों को मुँह की खानी पड़ी। अब वे महाराजा रणजीत सिंह से भय खाने लगे। उन्हें अपना मित्र बनाने के लिए प्रस्ताव रखा परिणामस्वरूप १८०९ में अमृतसर में दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों में संधिवाता हुई और अंग्रेजों तथा सिक्खों में समझौता हुआ।

हृदय से तो महाराजा रणजीत सिंह नहीं चाहते थे कि एक विदेशी शासन को अपना मित्र बनायें, परन्तु सैन्य-शक्ति क्रमजोर होने के कारण समझौता करना ही उचित समझा। अमृतसर की संधि के अनुसार महाराजा रणजीत सिंह से यह वचन लिया कि वे पूर्व दिशा की ओर अपना राज्य न बढ़ावें। इसके बदले में अंग्रेज जनरल एलार्ड और कोर्ट की सहायता से उन्होंने अपनी सेनाओं के आधुनिकीकरण का प्रस्ताव रखा। यह काम पूरा होने के बाद वे अपने वायदे के अनुसार पूर्व में तो नहीं बढ़े परन्तु पश्चिम और उत्तर दिशा में कई क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया।

सन् १८०९ में अफगानिस्तान का बादशाह शाहजर्मा उनके पास आया। वह इस बार खाली हाथ तथा अकेला था। कारण कि उसे गद्दी से उतार दिया गया था। महाराजा रणजीतसिंह की दयालुता और उदारता के गुणों के बारे में सुनकर वह उनके पास आया था। रणजीत सिंह ने उसकी सहायता की जिसके बदले में निर्वासित शाह ने कोहेनूर हीरा भेंट में दिया। इधर उनका एक राष्ट्र-अभियान जारी रहा। धीरे-धीरे उन्होंने अटक, कंगाड़ा, मुलतान, कश्मीर और पेशावर को भी अपने राज्य में मिला लिया।

इतने बड़े साम्राज्य के अधिष्ठाता और कुशल शासक होते हुए भी महाराजा रणजीत सिंह एकदम अनपढ़ थे।

फिर भी उन्होंने पढ़े-लिखे और उच्च शिक्षितों से अधिक काम किया और सफल हुए। इस सफलता का श्रेय उनके उच्च विचार, महान जीवन और उत्कृष्ट चरित्र को ही दिया जाना चाहिए। वे एक साथ वीर योद्धा, कुशल राजनीतिज्ञ और उदार धर्मप्राण महामानव थे। युद्ध क्षेत्र में उन्होंने सदैव आगे रहकर अपनी सेनाओं का पथ प्रदर्शन तथा उत्साहवर्द्धन किया। पिता से सुनी हुई कहानियों द्वारा उन्होंने राजनीति के मर्म को बहुत गहराई से समझा था।

निष्ठावान सिक्ख होते हुए भी धर्म और सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से उन्होंने कभी पक्षपात नहीं किया। साथ ही उनमें प्रतिभाओं को समझने और पहचानने की भी अच्छी क्षमता थी। सिक्ख, हिन्दू और मुसलमान सभी सम्प्रदाय के व्यक्तियों का वे उचित सम्मान करते और हर जाति के प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति को आगे बढ़ने का मौका देते थे। उनके राजदरबार में मुसलमानों को भी वही स्थान था जो उनके सहधर्मी हिन्दूओं का। लोक-सेवा के लिए रात-रात जागने वाला यह महामानव २७ जून, १८३९ को सदा के लिये सो गया। उन्होंने आजीवन संघर्ष करते हुए राष्ट्रीयता और एकता की भावना को मूर्तिमान किया वह आज के हर स्वाधीन भारतीय के लिए अनुकरणीय है।

मनका : मनका फेर

एक बार महाराजा रणजीत सिंह एमन बुर्ज में बैठे हुए माला फेर रहे थे। उनके समीप ही फकीर अजीजुद्दीन भी तसबीह लिये बैठे थे। महाराजा रणजीतसिंह हिन्दू धर्म की परम्परा के अनुसार मनके अन्दर की ओर फेर रहे थे और फकीर साहब मुस्लिम मान्यता के अनुसार बाहर की ओर।

महाराजा को न जाने क्या हुआ कि उन्होंने अजीजुद्दीन से पूछा - शाह साहब। मनके अन्दर की ओर फेरना चाहिए या बाहर की ओर ?

शाह साहब बड़ी मुश्किल में फैसे। यदि अन्दर की ओर कहते हैं तो बात धर्म के विरुद्ध होती है और यदि बाहर की ओर कहते हैं तो महाराज के क्रोधित होने का भय था।

लेकिन शाह साहब भी कम न थे। साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे। ऐसे गुर उन्हें खूब आते थे। सो बात बनाते हुए बोले "माला फेरने के दो उद्देश्य होते हैं। एक तो अपने दुर्गुणों को बाहर निकालना तथा दूसरा अच्छाइयों को ग्रहण करना। महाराज को सदैव अच्छी बात, अच्छी योजनायें तथा अच्छे काम करने का विचार रहता है। अतः आप मनके अन्दर की ओर फेरते हैं और मैं मन की मलिनताओं को बाहर निकालने की बात सोचा करता हूँ। अतः मैं मनके बाहर की ओर फेरता हूँ।" समन्वय तथा दूसरों में अच्छाई देखने की इस उक्ति ने सभी को पुलकित कर दिया।

संस्कृति की आन पर शहीद—

हरीसिंह नलवा

संध्या का समय था। शिशिर का ठिठुरा देने वाला जाड़ा गिर रहा था। निविड़ वन में रावी के तट पर चार-पाँच साधू बैठे धूनि ताप रहे थे। साथ ही साथ वे बातें भी करते जा रहे थे निजी जीवन से सम्बन्धित, राज्य समाज की स्थिति परिस्थितियों पर इतने में ही पास बह रही नदी के जल में कुछ आहट सुनायी दी। सरिता भी मानो ठण्ड में ठिठुरती हुई निःशब्द बही जा रही थी। यह आहट पानी बहने से अलग ढंग की थी—सो चारों की दृष्टि उधर को अनायास ही घूम गयी। उनकी बातें करना भी बंद हो गया। भयानक ठण्ड में मनुष्य तो अपने घर में दुबका बैठेगा वह क्यों नदी में तैरकर मृत्यु को आमंत्रण देगा। परन्तु वे किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सके। नदी के पानी से जैसे कोई निकला हो और तट पर आ गया हो—ऐसा लग रहा था परन्तु कुछ दिखाई नहीं देता था। कुछ क्षण तक मौन किन्तु हृदय की धड़कनें रोककर वे प्रतीक्षा करते रहे। पता नहीं क्या बात है। प्रतीक्षा के बाद उन्होंने देखा एक मानवीकाया जो दिखने में किशोर की लग रही थी नदी तट से उसी ओर आ रही है।

शायद कोई दुर्घटना हो गयी होगी जिसमें भाग्य का धनी वह किशोर बच गया है। बन सके तो इसकी मदद करनी चाहिए। किशोर आग जलते देख वहाँ आ गया और अपने कपड़े निचोड़ कर बदन सुखाने लगा। साधुओं में से एक ने पूछा—“क्या बात है बेटा?”

“लाहौर जा रहा था बाबा, महाराजा साहब से मिलने के लिये।” क्या “हरीसिंह नलवा” नाम है तुम्हारा?

कोई विपदा आ पड़ी है क्या—उसी साधु ने पूछा जो महाराज से फरियाद करनी है और वह नलवा का मुँह ताकते लगा।

“विपदा। यह विपदा नहीं है क्या कि देश और धर्म विदेशी-विधर्मी जातियों के हाथों लुट रहा है।”

“सो तो बेटा महाराज अपने ढंग से कोशिश कर ही रहे हैं। तुम क्या फरियाद करोगे उनसे इस विषय में महाराज इस बात को खूब अच्छी तरह जानते हैं।”

“मैं फरियाद नहीं करूँगा बाबा” निश्चयात्मक दृढ़ स्वरों में नलवा बोला “इस काम में उनका हाथ बँटाऊँगा।”

“अच्छा” चारों के मुँह से एक आश्चर्य भरा शब्द निकल गया। फिर उनमें से एक बोला “तो तुम अपनी इच्छा पूरी ही समझो।”

“कैसे” नलवा ने प्रश्न किया।

“कल बसंत पञ्चमी है। महाराजा रणजीतसिंह लाहौर में एक अच्छा दरबार लगाते हैं और उस दरबार

में दूर-दूर से आये लोग अपने करतब दिखाते हैं। तुम भी अच्छे नौजवान हो ही। कोई ऐसा कमाल कर दिखाना जो महाराज तुम्हें अपनी सेना में भर्ती कर लें। अन्यथा इस उमर में तो किसी को भी सैनिक बनाकर नहीं रखते।”

तन पर के गीले कपड़े सुखाकर उत्साही और देश भक्ति की भावनाओं से भरे हुए नलवा रात भर में लाहौर जा पहुँचे। लाहौर की स्थिति ही उस समय बसंती रंग से रंगी हुई थी। पीले फूल, पीला अन्न, पीले परिधान और सब कुछ पीला ही पीला। महाराजा रणजीतसिंह का दरबार लगा तो शहर की जनता उमड़ आयी उस मैदान के आस-पास जहाँ शरीर सामर्थ्य की प्रदर्शन प्रतिस्पर्धा होनी थी। हरिसिंह नलवा घुड़सवारी, शस्त्र सञ्चालन, मल्लयुद्ध और तीरंदाजी में सबसे आगे निकल गया। किसी भी खिलाड़ी ने एक साथ इतने कीर्तिमान नहीं बनाये थे। महाराजा रणजीतसिंह ने नलवा को छाती से लगाकर चूम लिया और उन्हें सेना में उच्च पद प्रदान किया। हरिसिंह अपने जीवन की साध पूरी होती अनुभव कर रहे थे। परिवार का परिवेश, माता-पिता के संस्कार और घर का वातावरण उनके जीवन में यह साध पैदा करने का उचित ही कारण था। उनके पिता गुरुदयाल सिंह अमृतसर के निवासी थे। वे सुक्रयकिया रियासत के सेनापति थे। गुरुदयालसिंह की वीरता से प्रसन्न होकर तत्कालीन महाराजा ने उन्हें लाहौर के निकट एक अच्छी जागीर इनाम में दी।

गुरुदयाल के परिवार में ही १७९१ ई० में हरिसिंह का जन्म हुआ। उनका पालन-पोषण क्षात्र परम्परा और देशभक्ति से भरे वातावरण में हुआ। शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध भी घर पर ही हुआ परन्तु उस समय जबकि वे मात्र सात वर्ष के थे देवयोग से गुरुदयालसिंह का देहान्त हो गया। घर में हरिसिंह को संरक्षण देने वाली रह गयीं अकेली माता धर्मकौर। जागीर का प्रबन्ध और घर-परिवार की देखभाल उनके बस से बाहर की बात थी सो वे अपने पुत्र को लेकर भाई के पास चली गयीं। गाँव की खुली हवा में पेड़ों के तले और खेत की मेंडों पर हरिसिंह वय के अगले चरण चढ़ने लगे।

उनके मामा जी वीरता और बहादुरी में क्षेत्र भर में अन्ते थे। जिन गुणों का आधिक्य हो वे ही गुण अपने आश्रितों में भी बढ़ाने की प्रबल इच्छा होती है। मामा ने उन्हें तीर, तलवार, घुड़सवारी और नेजाबाजी सिखायी। माँ-पिता और पितामह की वीरता भरी कहानियाँ सुनायी करती थीं माँ और मामा ने मिलकर पुत्र, भानजे में वीरता शौर्य के प्रेरणाकुर बोये। जो अनुकूल स्थिति पाकर दिनों दिन बढ़ते गये। उस समय विदेशी-विधर्मी, आततायी शासकों के अत्याचारों की कहानियाँ घर-घर सुनी जाती

थीं । यह एक तथ्यपूर्ण बात है कि बलवान और शक्तिशाली व्यक्ति यदि संस्कारवान भी होगा तो अनीति और अन्याय की घटनायें सुनकर उसका खून खौल ही उठेगा ।

एक बार की बात है हरिसिंह नलवा अपने कुछ साथियों के साथ जंगल में घूम रहे थे । घूमते-घूमते उन्होंने पास वाले खण्डहर में किसी का करुण क्रंदन सुना । नारी कण्ठ की चीत्कार थी-सुनकर नलवा अपने साथियों सहित उसी दिशा में चल पड़े । जाकर देखा कोई युवती जिसके बाल अस्त-व्यस्त हैं रो रही हैं । नलवा ने पूछा तो वह बोली-तुम क्या करोगे मेरा दुख जानकर । उसे दूर करने का उपाय करने की सामर्थ्य हो तुममें तो ही पूछो । अन्यथा व्यर्थ हैसी करने से ही क्या फायदा, भैया ।

नलवा ने कहा-अब तो तुमने मुझे भैया कह दिया है बहिन । तुम्हें कहना ही पड़ेगा । मैं अपनी माँ की साँगंध खाकर कहता हूँ कि तुम्हारा दुःख दूर करने के लिए जब तक साँस में साँस बाकी है संघर्ष करूँगा ।

उस युवती ने कहा-अब मेरे साथ जो हुआ उसे मिटाने का तो कोई उपाय नहीं है भाई पर हाँ कुछ कर सको तो इतना जरूर करना कि विदेशियों द्वारा बहिनों को सताया और अपमानित न होना पड़े । यह काम सरल नहीं है ।

युवती ने अपनी व्यथा हरिसिंह नलवा के अन्तःकरण में उड़ेल दी और नलवा ने इस सम्बन्ध में अपनी मुँह बोली बहिन से ही परामर्श किया । निश्चयात्मक स्थिति में आकर नलवा उसी शाम चल दिया महाराज रणजीत सिंह की सेना में भर्ती होने के लिए । ताकि धर्म और संस्कृति पर आक्रमण करने वाले असुरों को परास्त किया जा सके कुचला जा सके ।

पंजाब में सिक्खों की शक्ति बढ़ती जा रही थी । महाराजा रणजीतसिंह के नेतृत्व में धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए कृत संकल्प सिक्ख संगठित होते जा रहे थे । यह संगठन प्रतिदिन भारतीय धर्म और संस्कृति के लिए सुदृढ़ रक्षा पंक्ति बनता जा रहा था, वहीं मुस्लिम और विदेशी शक्तियों के लिए आतंक और खतरे का कारण भी बन रहा था । इसलिए मुलतान के नवाब मुजफ्फर खाँ ने इस रक्षा-पंक्ति को तोड़ने और सैनिक संगठन को छिन्न-भिन्न करने के लिए कसूर के नवाब कुतबुद्दीन से साँठ-गाँठ की तथा १८०७ में पंजाब पर आक्रमण कर दिया । सिक्ख सेनाओं ने भी डटकर मुकाबला किया । हरिसिंह नलवा ने उस युद्ध में महत्वपूर्ण भाग लिया । युद्ध क्षेत्र का कोई अनुभव न होने के कारण महाराज रणजीतसिंह ने पहले तो उन्हें इस भयंकर युद्ध में भाग न लेने के लिए कहा । परन्तु नलवा ने अपनी वाक्चातुरी से शीघ्र ही महाराज को मना लिया । इस युद्ध में कसूरी नबाव ने सिक्ख सेनाओं के विरोधी मोर्चे का मुकाबला

किया था । हरिसिंह नलवा ने मुगल सेनापति कुतबुद्दीन को गिरफ्तार कर महाराजा रणजीतसिंह के सामने पेश किया । सेनापति के गिरफ्तार हो जाने से पठानों का मनोबल टूट गया और विजयश्री सिक्खों के पक्ष में रही ।

परन्तु अभी एक और मोर्चा बाकी था, मुलतान का । अपने साथी की दुर्गति के समाचार पहले ही मुजफ्फर खाँ तक पहुँच चुके थे । सिक्खों के पास साधन और शस्त्र भले ही पठानों की अपेक्षा कम हों परन्तु उनका आत्म विश्वास और मनोबल पठानों की कुटिल कामनायें अपूरित कर देने के लिए पर्याप्त है । मुजफ्फर यह भली-भाँति समझ गया । इसलिए वह कूटनीति और छल-युद्ध से अपना बचाव करता रहा । छह बार सिक्ख सेनाओं को लौट जाना पड़ा । सातवीं बार जब सिक्खों ने मुलतान पर घेरा डाला तो उनकी सेना में हैजा फैल गया । तुरन्त इस पार या उस पार का निश्चय कर नलवा अपने सहयोगियों सहित किले में घुस गये और अन्ततः विजयी होकर लौटे ।

महाराज रणजीत सिंह ने हरिसिंह नलवा को एक बड़ी जागीर इनाम में दी । परन्तु नलवा की साधना स्थली तो युद्ध भूमि ही थी । १८१९ में नलवा काश्मीर के सूबेदार गवर्नर बने । इससे पूर्व वहाँ मुहम्मद जब्बार खाँ का राज्य था । जब्बार खाँ के शासन में हिन्दू जनता का जीवन हर घड़ी असुरक्षित और विपदा में रहता था । वह हिन्दुओं को पकड़-पकड़ कर झीलों और तलाबों में डुबो दिया करता था-केवल मनोरञ्जन के लिए ही उनकी बहू बेटियों को जब जी आये उठा मँगवाता और अपनी पशुता का शिकार बनाता । कुछ समझदार लोगों को जब यह पता चला कि हरिसिंह नलवा महाराज रणजीतसिंह के नेतृत्व में एक सशक्त संघराज्य स्थापित कर रहे हैं तो उन्होंने अपने प्रतिनिधि भेजे नलवा के पास । कश्मीरी हिन्दुओं की व्यथा सुनी न गयी नलवा से और वे महाराज की अनुमति से ३० हजार सिक्ख-सेनानियों को लेकर कश्मीर विजय के लिए चल दिये । सिक्ख सेनाओं की उस समय इतनी धाक जमी हुई थी कि जब्बार खाँ सुनते ही भाग खड़ा हुआ ।

काश्मीर विजय के बाद जब नलवा को वहाँ का सूबेदार बनाया गया तो हिन्दू-मुसलमान दोनों ही वर्गों की जो भेदभाव रहित सेवा और व्यवस्था उन्होंने की उसे कश्मीरवासी बाद में भी याद करते रहे । १८२१ ई० में जब महाराज रणजीतसिंह ने उन्हें आगामी अभियान के लिए कश्मीर से बुलाया तो विदा करते समय वहाँ के लोग विलख-विलख कर रोने लगे । हरिसिंह नलवा ने आततायी राजाओं के राज्य तहस-नहस किये । उनके नेतृत्व में सिक्ख पेशावर तक पहुँचे ।

अंतिम समय नलवा बीमार पड़े थे तभी योजना बनी कि अगला किला पेशावर जीता जाय । सबसे उपयुक्त अवसर यही जान पड़ा । वैद्यों और हकीमों ने किसी से मिलना-जुलना तक बंद कर रखा था । परन्तु नलवा की

चिन्ता का कारण जितना अपना रोग नहीं था इतना था देश और धर्म को लग गया वह घुन। युद्ध कला के सफल पैंतरे चलाकर नलवा अपने सहयोगियों के साथ किले में घुस गये। विजयश्री निकट ही थी शत्रु की एक गोली आयी और नलवा का सीना छेद गयी। सिख सैनिकों को यह पता चला तो वे उन्हें सम्हालने के लिए दौड़े। नलवा के सीने में गोली लगी थी फिर भी वे घोड़े पर तन कर बैठ गये और अपने को बचाते हुए निकलने लगे। कुछ लोग उनके पीछे चलने लगे तो उन्होंने कड़क कर कहा-किला देखो।

उस समय भी जबकि उनकी देह निष्प्राण हो चुकी थी नलवा घोड़े पर तनकर बैठे हुए थे। वहीं युद्ध विराम हो गया और सिक्खों ने अपने वीर भाई को अन्तिम विदा दी। यह ३० अप्रैल, १८३७ की बात है।

नर-केहरी हो तो नलवा जैसा

दस वर्ष का बालक एक दिन अपने गाँव में जयमल पत्ता की वीरगाथा का गीत सुन रहा था। गाने में इतना दर्द था कि सुकुमार बालक के अंतस्तल को पीड़ा से भर गया।

वह गीत में इतना खो गया कि उसे समय स्थान तक का भान न रहा। वह अकबर के अन्याय का प्रतिकार लेने के लिये हुँकार कर उठा-“कहाँ है अकबर! मेरी कृपा देना अभी उसको मातृभूमि को पददलित करने का मजा चखाता हूँ।”

गाँव वालों ने बालक पकड़ कर झिंझोड़ा “क्या कहते हो? क्या सपना देख रहे हो?” तब उसे ज्ञात हुआ कि मैं गाना सुनकर उत्तेजित हो गया था। बालक के हृदय में जो पीड़ा उस गीत को सुनकर जागी थी वह फिर सोयी नहीं। दस वर्ष का बालक क्या करता उसकी बाल-बुद्धि में शत्रु के पंजों से अपने देश को छुड़ाने का कोई कारगर मार्ग दिखाई नहीं देता था। उसी पीड़ा ने उसे तपाकर कुन्दन बना दिया।

अब बालक ने अपने आपको शक्ति सम्पन्न बनाना आरम्भ किया बिना शक्ति के अत्याचार का प्रतिकार करने की सोचना शेखचिल्ली का सपना ही था। बालक ने अपनी सामर्थ्य का विकास किया। शरीर को बलिष्ठ बनाया तलवार चलाने, घुड़सवारी करने तथा युद्ध कला में उसने पूरी निपुणता प्राप्त करली। सच है जब तक प्रयास नहीं किया जाता कुछ भी सम्भव नहीं होता पर जब प्रयास पूरे मनोयोग और सङ्कल्प के साथ किया जाता है तो सफलता की राह खुल जाती है। यही बालक आगे जाकर हरीसिंह नलवा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जिसके नाम से विदेशी आक्रमणकारी काँपते थे।

युवावस्था जीवन का बसंत है। इसका सदुपयोग करने पर व्यक्ति बहुत कुछ कर जाता है। इस काल में पर्वतों का स्थान बदलने व नदी की राह मोड़ने जैसे

असम्भव कार्य सम्भव बनाये जा सकते हैं। हरिसिंह ने इसका सदुपयोग किया। तेरह वर्ष की आयु में ही यह घर परिवार का सुख छोड़कर महाराजा रणजीत सिंह की सेना में भर्ती हो गया।

हरिसिंह ने अपनी योग्यता के बलबूते महाराजा का विश्वास पा लिया। एक बार यह महाराजा के शिकार खेलने के कार्यक्रम में उनके साथ गया था। असावधान हरिसिंह पर शेर ने हमला कर दिया। हरिसिंह के पास शस्त्र निकालने का समय भी न था। हरिसिंह स्वयं भी शेर से कम साहसी न था। वह विचलित नहीं हुआ। उसने सिंह के जबड़े पकड़कर इतने जोर से दबाये कि वह तिलमिला उठा और पंजों से इसे चीरने को उद्यत हुआ पर हरिसिंह ने जबड़े नहीं छोड़े, इतने जोर से दबाए कि वह टंडा हो गया।

ऐसे समय यदि साहस से काम न लिया जाता तो मृत्यु तो होती ही साथ ही कायरता का कलंक भी लगता। उपहार में इसे सेनापति का पद मिला और संकटों से जूझने की अपार शक्ति भी मिली। इसी दिन इसको रणजीतसिंह ने नलवा (सिंह) की उपाधि दी।

बचपन में रक्त में जो उबाल आया था, मातृभूमि को पद दलित और माँ-बहिनों के शील हरण का बदला चुकाने की सामर्थ्य अब उस बालक ने पाली थी। उसने सारा जीवन इन आतताइयों से संघर्ष करने में बिताया। ऐसा प्रचण्ड व्यक्तित्व उनके सामने उभारा कि वे इसके नाम से काँपने लगे।

१८०७ में कसूर के किले पर नलवा के सेनापतित्व में आक्रमण किया गया। दस दिन तक तोपों की गोलाबारी से दुर्ग का बाल भी बाँका न हुआ। हरिसिंह ने देखा कि यों काम नहीं बनेगा। वह स्वयं मौत की पर्वाह न करके बरसते गोलों में दुर्ग की दीवार पर कुल्हाड़ी लेकर टूट पड़ा। पीछे सैनिक भी वैसा ही करने लगे। देखते-देखते बड़ा सा छेद हो गया। उसमें बारूद भरकर आग लगा दी। दीवार टूट गई। सिक्ख सेना को शानदार विजय मिली।

कसूर के बाद मुलतान पर चढ़ाई की गई। इसमें नलवा बुरी तरह घायल होकर भी लड़ता रहा और विजयश्री वरण की। मुलतान का नवाब बड़ा ही धोखेबाज था। हार जाने पर हर्जाना देकर छूट जाता और फिर स्वतन्त्र हो जाता। इस प्रकार उसे सात बार इस सिंह ने हराया।

नलवा ने गिन-गिनकर प्रतिशोध लिया। एक सुसंगठित स्वदेशी राज्य स्थापित करके आक्रमणकारियों को सदा के लिये भयभीत करने का काम इसने बड़ी कुशलता से किया।

शक्ति का सदुपयोग करके बीरवर ने सदा के लिये अपना नाम अमर किया उसकी तलवार, बिजली की तरह चलती थी। इसके चलने से विनाश करने वालों को शिक्षा मिलती थी, नागरिक सुख की नौद सोते थे। मातृ-शक्ति का अपमान करने का साहस कोई नर-पशु नहीं कर पाता था।

कश्मीर के सूबेदार के रूप में नलवा ने वहाँ के नागरिकों को इतना स्वस्थ व सुन्दर शासन दिया कि जब यह वहाँ से चला तो लोग रोने लगे । वहाँ अधिकांश नागरिक मुसलमान थे । किसी को उसने धर्म परिवर्तन के लिये नहीं कहा । किसी की मजाल नहीं थी कि किसी माँ-बहन की ओर बुरी नजर से देखले । एक सच्चे क्षत्रिय के रूप में हरिसिंह नलवा ने बलवानों के सामने आदर्श प्रस्तुत किया ।

मिचनी के नवाब ने कामांध होकर रास्ते में जाती हुई एक डोली को लुट लिया और उसमें बैठी नवविवाहिता को अपनी वासना की भेंट चढ़ाने ही वाला था कि इसकी सूचना हरिसिंह को मिली । उसने नबाव पर आक्रमण करके उसे पकड़ लिया और तोप से उड़ा दिया ।

नलवा चाहता था कि व्यक्ति अपनी शक्ति और सामर्थ्य पर अंकुश रखे । उसे सन्मार्गगामी बनाए । पतन की राह पर न चलने दे । यदि कोई इस प्रकार के मार्ग पर चल पड़ा है तो प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि अपनी शक्ति-सामर्थ्य बढ़ाकर उसे दण्ड दे ताकि भविष्य में कोई इस प्रकार का दुस्साहस न करे, समाज में अन्ध व्यवस्था न फैलाए ।

साहसी बुंचे

डॉ० एफ. बुंचे का नाम संसार के सभी विचारशील लोगों की आँखों के सामने उस समय आया जब उन्होंने अरबों और इसराइलियों के बीच चलने वाले युद्ध में मध्यस्थ का कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न किया और लड़ाई की आग बुझाकर आशङ्काओं को सान्त्वना में बदल दिया ।

अमेरिकी प्रशासन में वे प्रथम नीग्रो थे जिन्होंने औपनिवेशिक मामलों में विशेषज्ञ का महत्वपूर्ण पद सम्भाला । सैनिक सूचना कार्यालय के बड़े पदाधिकारी रहे और विदेश-विभाग के सलाहकार नियुक्त हुए । सन् १९४९ में उनको अमेरिकी सरकार ने सहायक विदेश सचिव का पद लेने के लिए आमंत्रित किया पर वे निजी कारणों से उस समय उसे स्वीकार न कर सके ।

जिस प्रकार भारत में हरिजनों के प्रति ऊँच-नीच का भेद-भाव बरता जाता था वैसे ही अमेरिका में आमतौर से नीग्रो नस्ल के लोगों को गोरे लोग हेय दृष्टि से देखते हैं और उन्हें अपनी समानता के स्तर तक नहीं आने देते । कानून ने सुविधायें उन्हें दी हैं, पर व्यवहार में तो अभी भी उन पर बहुत थोड़ा अमल हो पाता है । कालेज में नीग्रो छात्रों के प्रवेश के प्रश्न को लेकर वहाँ अभी भी सत्याग्रह और प्रदर्शन करने पड़ते हैं । फिर जिस जमाने में डॉ० बुंचे को काम करना पड़ा वह भेदभाव की दृष्टि से और भी बुरा समय था । उनकी प्रगति के मार्ग हर प्रकार अवरुद्ध थे । फिर भी अपनी प्रतिभा-लगन और अध्यवसाय के बल पर कोई व्यक्ति विपरीत परिस्थितियों में भी किस प्रकार प्रगति कर सकता है उसका उदाहरण उन्होंने उपस्थित कर ही दिया ।

डॉ० बुंचे १९०४ में एक अत्यन्त निर्धन परिवार में जन्मे । उनके पिता नाई का काम करके मुश्किल से रोटी कमाते थे । पितामह को तो गुलाम का जीवन बिताना पड़ा । अमेरिका में उस समय मनुष्यों को भी पशुओं की तरह खरीदा-बेचा जाता था और वैसे ही उनसे काम लिया जाता था । इन शोषकों के शिकार जो लाखों नीग्रो बने थे उन्हीं में से एक बुंचे के पितामह भी थे । ऐसे घर में जन्मा लड़का नाई के अतिरिक्त और कोई ऊँचा काम कर भी कैसे सकता था ।

दुर्भाग्य ने बुंचे को गुलाम और नाई का काम करने वाले पिछड़े वर्ग में अभावग्रस्त जन्म तो दिया ही, पर आगे भी अपनी खिलवाड़ बन्द न की । तेरह वर्ष की आयु होने से पहले माँ-बाप दोनों ही गुजर गये । बेचारा अनाथ बालक सर्वथा असहाय रह गया । पेट की ज्वाला को शान्त करना और जीवित रहना उसके लिए उन दिनों अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न थे । जीवन-मरण से युद्ध की घड़ी सामने आ पहुँचने पर भी बालक हारा नहीं, उसने अपना साहस समेटा और गली कूँचों में अखबार बेच कर किसी प्रकार रोटी भर के लिये पैसे कमाता रहा । कुछ और बढ़ा हुआ तो छोटी-मोटी वैसी ही नौकरी करने लगा जैसी कि इस स्थिति के बच्चों को मिला करती है ।

बुंचे का दुर्भाग्य प्रचण्ड प्रकोप करके पीछे पड़ा था । अनेक कठिनाइयों का सामना उन्हें रोज ही करना पड़ता था । जो सोचते और करते उसमें आये दिन बाधाएँ उत्पन्न हो जातीं । फिर भी साहस का धनी यह नीग्रो युवक निराश न हुआ । आशा का संबल पकड़े घोर परिश्रम के सहारे उसने अपनी जीवन यात्रा जारी रखी । बचपन में विद्याध्ययन जारी रखना उसका नित्य नियम था । ज्ञान की साधना को उसने अपना लक्ष्य माना और अध्ययन को प्राण प्रिय विषय मानकर उसके साधन जैसे भी जुट सकें जुटाता ही रहा ।

समय बहुत लगा पर एक दिन वह आ ही पहुँचा जब बुंचे ग्रेजुएट बने और इसके पश्चात् उन्होंने हार्वार्ड विश्वविद्यालय से राजनीति में पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त करली । इतनी ऊँची शिक्षा प्राप्त करने वाले संसार के प्रथम नीग्रो थे डॉ० एफ. बुंचे ।

जातीय हीनता और काली चमड़ी के कारण पग-पग पर मिलने वाले उपहास और तिरस्कार की रती भर भी परवाह न करते हुए उन्होंने अपना कार्य क्रम जारी रखा । समाज सेवा के लिये एक निस्पृह परमार्थी का जीवन बिताते रहे । अपने वर्ग और देश के लिये ही नहीं समस्त संसार के लिए उन्होंने सराहनीय सेवा कार्य किये उनकी चर्चा का न तो इन पंक्तियों में स्थान है और न उपयोग । महत्व कार्यों का नहीं उन गुणों का है जिनके कारण मनुष्य आगे बढ़ता है । बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को परास्त करता हुआ अपने लिए प्रगति और आशा का मार्ग प्रशस्त करता है ।

परिस्थितियों का महत्व है या गुणों का ? इस प्रश्न का सही उत्तर देने के लिए डॉ० बुंचे का जीवन एक

चमचमाता उदाहरण है। उन्होंने असंख्य पिछड़े और अविकसित लोगों के सामने एक प्रेरणा के रूप में अपना जीवन रखा और मूक-वाणी से वह प्रतिपादित किया कि दुर्भाव का अस्तित्व आशा और अध्यवसाय की तुलना में नगण्य के बराबर है। साहस और सद्गुणों को अपनाकर कोई भी व्यक्ति विघ्न-बाधाओं को कुचलते हुए कितना भाग्य निर्माण कर सकता है? इसका एक जीवित प्रमाण डॉ० बुंचे के जीवन को पढ़-समझकर सहज ही ज्ञात किया जा सकता है।

सन् १९५० में उन्हें शान्ति प्रयत्नों के लिए विश्व-विख्यात नोबेल पुरस्कार मिला और उन्हें राष्ट्र-संघ के अण्डर सेक्रेटरी पद में सम्मिलित किया गया। बुंचे का जीवन-आदर्श सज्जनता, श्रमशीलता और आशा के रूप में निरन्तर बना रहा। एक क्षण के लिये उन्होंने इन विभूतियों को अपने से पृथक् न होने दिया।

न्यायशील नौशेरवाँ

पारसियों के इतिहास में नौशेरवाँ एक बहुत प्रसिद्ध और न्यायशील बादशाह हुआ है। उसके पिता 'कोबाद' के समय में फारस में 'मजदक' नाम के एक ठोंगी धर्म प्रचारक ने एक नया सम्प्रदाय अपने नाम से चलाया था। इसका सिद्धान्त था कि सब चीजें भगवान की हैं इससे किसी की चीज के ले लेने में कोई दोष नहीं है। मजदक बड़ा धूर्त था और उसने चालाकी से बादशाह को धोखे में डालकर अपना अनुयायी बना लिया। इसके फल स्वरूप राज्य में स्वार्थी और चालाक व्यक्तियों का जोर बढ़ गया और शासन व्यवस्था में बहुत सी खराबियाँ पैदा हो गईं।

जब बादशाह 'कोबाद' की मृत्यु हुई तो सब सरदारों ने नौशेरवाँ से राजगद्दी पर बैठने को कहा। पर नौशेरवाँ शासन की अवस्था से असंतुष्ट था इसलिये उसने कहा- 'मैं बादशाह बनना नहीं चाहता। इस समय राज्य में जैसी अँधेरगद्दी मची हुई है और लोग मनमाने काम कर रहे हैं, मैं उसे सहन नहीं कर सकता। इसके सुधार के लिये मुझे सख्ती करनी पड़ेगी और तब आप लोग बुरा मानेंगे। इसलिये यही अच्छा है कि आप किसी और को बादशाह बना लें।'।

सरदार-आपका कहना सच है कि राज्य की हालत खराब हो रही है और उसे सुधारने का उपाय न किया जायगा तो वह कुछ समय में नष्ट ही हो जायगा। इसलिये आप शासन भार ग्रहण करके खराबियों को दूर करने की व्यवस्था कीजिये। हम सब आपकी आज्ञा का पालन करेंगे।

जब नौशेरवाँ बादशाह बन गया तो सबसे पहले उसने मजदक के अनुयायियों पर पाबन्दी लगाने का निश्चय किया। पर मजदक तब तक राजगुरु की पदवी पर बैठा था और उसे इस बात का अहंकार था कि मेरे सामने कोई सर नहीं उठा सकता। एक दिन एक व्यक्ति रोता हुआ

दरबार में आया और नौशेरवाँ से शिकायत की कि "कि एक चले ने मेरी स्त्री को छीन लिया है और माँगने पर उलटी धमकी देता है। दुहाई है, मेरा न्याय किया जाय।"

मजदक भी उस समय दरबार में उपस्थित था। नौशेरवाँ ने क्रोधपूर्वक कहा-"मजदक! अब ऐसा अन्धेरे अधिक समय तक नहीं चल सकता। इसी समय अपने चले से इसकी स्त्री को वापस कराओ और अपने धर्म का प्रचार बन्द करो।"

मजदक का अभिमान अभी दूर नहीं हुआ था। नौशेरवाँ की न्याययुक्त बात उसकी समझ में न आई और वह यह कहकर दरबार से चला गया कि "बादशाह को बाद के पुत्र को मुझे हुक्म देने का कोई अधिकार नहीं है।" जब नौशेरवाँ ने देखा कि ये लोग सीधी तरह से न मानेंगे और सख्ती न की जायगी तो राज्य में विद्रोह खड़ा कर देंगे, तो उसने मजदक और उसके सब चेलों को तुरन्त पकड़ लेने की आज्ञा दी। उन सबको जेल में बन्द कर दिया गया और उन्होंने जिन लोगों की सम्पत्ति छीनी थी वह सब वापस करादी गई। मजदक को नौशेरवाँ ने प्राण दण्ड की आज्ञा दी, जिससे फिर कोई उसके शासन में अन्याय करने का साहस न करे।

न्यायशील होने के साथ ही नौशेरवाँ दयालु भी बहुत था। इसके विषय में उसकी एक घटना प्रसिद्ध है कि उसने एक बहुत अच्छा ग्रंथ लिखा एक विद्वान ने, जो उससे मिलने को आया था, वह ग्रंथ देखा और उसमें कुछ अशुद्धियाँ बतलाई। नौशेरवाँ ने उसके बतलाये अनुसार उन अशुद्धियों को काटकर ठीक कर दिया। पर जब वह विद्वान चला गया तो उसने उसके बतलाये शब्दों को मिटा कर फिर पहले के शब्द ही लिख दिये। यह देखकर उसके एक मित्र को जो पास में बैठा सब हाल देख रहा था, बड़ा आश्चर्य हुआ और जब उससे न रहा गया तो वह बादशाह से पूछ बैठा कि "यह आपने क्या किया? अगर आप अपने शब्दों को ही ठीक समझते थे तो फिर विद्वान के सामने उनको काटने की क्या आवश्यकता थी?"

नौशेरवाँ-मैं अच्छी तरह जानता था कि मैंने जो शब्द लिखे थे वे शुद्ध हैं। पर यदि उस समय विद्वान की बात न मानता तो उसके मन में दुःख होता। इसी कारण उस समय उसकी बात को स्वीकार कर लिया।

एक बार रोम के बादशाह का राजदूत नौशेरवाँ को राजधानी में आया। वह महल की एक खिड़की के पास खड़ा होकर उसके नीचे लगे सुन्दर उपवन को देख रहा था। उसने देखा कि महल के चारों ओर बड़ा सुन्दर बाग लगा है, पर एक कोने में एक गन्दी सी झोंपड़ी बनी है। उसने पास ही खड़े हुये एक पारसी सरदार से इसका कारण पूछा तो मालूम हुआ कि जिस समय नौशेरवाँ इस महल को बनवाने लगा तो सब जमीन तो ठीक हो गई पर एक कोने में एक गरीब बुढ़िया की झोंपड़ी आ गई। जब राज्य कर्मचारियों के कहने से बुढ़िया ने झोंपड़ी खाली न

की तो स्वयं नौशेरवाँ ने जाकर उससे कहा कि बगीचे के बनने के लिये इस स्थान की आवश्यकता है, तू इसकी जितनी कीमत चाहे लेकर इसे बेच दे। पर जब वह बुढ़िया बेचने को राजी न हुई तो उससे कहा गया कि इस झोंपड़ी बजाय यहाँ एक सुन्दर मकान बना दिया जाय। पर इस पर भी बुढ़िया ने कहा कि यह झोंपड़ी मेरे परिवार वालों के स्मृति चिह्न की तरह है, मैं किसी प्रकार इसका नष्ट किया जाना सहन नहीं कर सकती। तब नौशेरवाँ ने यह कहकर कि चाहे मेरा महल अधूरा रह जाय, मैं जबर्दस्ती किसी की चीज पर कब्जा न करूँगा। इस झोंपड़ी को ज्यों का त्यों रहने दिया।

रोम के राजदूत पर इस घटना का बड़ा प्रभाव पड़ा और वह कहने लगा कि तब तो इस झोंपड़ी के रहने से महल को सुन्दरता घटने के बजाय और बढ़ गई। महल तो कुछ वर्षों में पुराना और अन्त में खण्डहर हो ही जायगा, पर यह बुढ़िया की झोंपड़ी की कथा तो सदैव लोगों को सत्य और न्याय पर चलने की प्रेरणा देती रहेगी।

यद्यपि अन्याय मूलक और अपहरणकारी होने के कारण नौशेरवाँ ने मजदक के सम्प्रदाय का उन्मूलन कर दिया था, पर वैसे वह सब धर्मों का आदर करता था। वह स्वयं पारसी धर्म को मानने वाला था और उसने उसका दूर-दूर तक प्रचार भी किया था, पर अपने राज्य में उसने ईसाई, यहूदी, हिन्दू सब मजहब वालों को स्वतंत्रता दे रखी थी। उसकी एक स्त्री ईसाई थी और वह महल में रहती हुई ईसाई धर्म का ही पालन करती थी। नौशेरवाँ ने बहुत सी संस्कृत की पुस्तकों का अनुवाद ईरान की भाषा में कराया था। एक बार रोम के बादशाह ने अपने देश के सात विद्वानों को किसी बात पर नाराज होकर देश निकाले का दण्ड दे दिया। वे आश्रय पाने के लिये नौशेरवाँ के पास आये। उसने उनको आश्रय ही नहीं दिया, वरन् यह देखकर कि उनके साथ अन्याय किया गया है, उसने रोम के बादशाह पर दबाव डाल कर उक्त दण्डाज्ञा को रद्द करा दिया।

एक बार फारस में गीदड़ों की संख्या अधिक हो गई और उससे लोगों को तकलीफ होने लगी। नौशेरवाँ ने प्रधान गुरु को बुलाकर इसका कारण पूछा। उसने कहा कि "जब किसी देश में अन्याय होने लगता है तो गीदड़ बढ़ जाते हैं। तुम पता लगाओ कि तुम्हारे राज्य में कहीं अन्याय तो नहीं हो रहा है।" नौशेरवाँ ने उसी समय इसकी जाँच करने के लिये सुयोग्य न्यायाधीशों की एक कमेटी नियुक्त की। उससे मालूम हुआ कि कितने ही प्रान्तीय शासक प्रजा पर अन्याय करते हैं। नौशेरवाँ ने उन सबको दण्ड देकर सर्वत्र न्याय की स्थापना की।

नौशेरवाँ को, जो भी मिले उसी से कुछ न कुछ सीखने का स्वभाव हो गया था। अपने इस गुण के कारण ही उन्होंने अपने जीवन के स्वल्प काल में महत्त्वपूर्ण अनुभव अर्जित कर लिये थे।

राजा नौशेरवाँ एक दिन वेष बदलकर कहीं जा रहे थे। मार्ग में उन्हें एक वृद्ध किसान मिला। किसान के बाल पक गये थे पर शरीर में जवानों जैसी चेतना विद्यमान थी। उसका रहस्य जानने की इच्छा से नौशेरवाँ ने पूछा- महानुभाव ! आपकी आयु कितनी होगी ?

वृद्ध ने मुस्कान भरी दृष्टि नौशेरवाँ पर डाली और हँसते हुये उत्तर दिया- "कुल ४ वर्ष।" नौशेरवाँ ने सोचा बूढ़ा दिल्लगी कर रहा है पर सच-सच पूछने पर भी जब उसने ४ वर्ष ही आयु बताई तो उन्हें कुछ क्रोध आ गया। एक बार तो मन में आया कि उसे बता दूँ- "मैं साधारण व्यक्ति नहीं नौशेरवाँ हूँ।" पर उन्होंने अपने विवेक को सम्भाला और विचार किया कि उत्तेजित हो उठने वाले व्यक्ति सच्चे जिज्ञासु नहीं हो सकते, किसी के ज्ञान का लाभ नहीं ले सकते, इसलिये उठे हुए क्रोध का उफान वहीं शान्त हो गया।

अब नौशेरवाँ ने नये सिरे से पूछा- पितामह ! आपके बाल पक गये, शरीर में झुर्रियाँ पड़ गई लाठी लेकर चलते हैं मेरा अनुमान है आप ८० से कम के न होंगे फिर आप अपने को ४ वर्ष का कैसे बताते हैं ?

वृद्ध ने इस बार गम्भीर होकर कहा- आप ठीक कहते हैं मेरी आयु ८० वर्ष की है किन्तु मैंने ७६ वर्ष धन कमाने ब्याह शादी और बच्चे पैदा करने में बिताये, ऐसा जीवन तो कोई पशु भी जी सकता है, इसलिये उसे मैं मनुष्य की अपनी जिन्दगी नहीं किसी पशु की जिन्दगी मानता हूँ।

इधर ४ वर्ष से समझ आई। अब मेरा मन ईश्वर उपासना, जप, तप, सेवा, सदाचार दया, करुणा, उदारता में लगा रहा है। इसलिये मैं अपने को ४ वर्ष का ही मानता हूँ। नौशेरवाँ वृद्ध का उत्तर सुनकर अति सन्तुष्ट हुये और प्रसन्नतापूर्वक अपने राजमहल लौटकर सादगी सेवा और सज्जनता का जीवन जीने लगे।

‘स्वतंत्रता या मृत्यु’ के मंत्र दृष्टा- पैट्रिक हेनरी

"जहाँ तक मेरा सवाल है मुझे आजादी चाहिए या फिर मौत" ये शब्द हैं अमेरिकन स्वतंत्रता संग्राम के क्रान्ति-दृष्टा पैट्रिक हेनरी के जिन्होंने अमेरिकी स्टेट्स को इंग्लैण्ड के औपनिवेशिक साम्राज्य से मुक्ति पाने के लिए उठ खड़े होने का आह्वान किया था।

आज जिस देश को दुनिया का समृद्धतम देश माना जाता है वह कभी ब्रिटेन के आधीन एक उपनिवेश था। ब्रिटिश क्राउन के अधीन होने के कारण वहाँ की स्टेट्स अपने आंतरिक मामलों में ही स्वतंत्र थी बाहरी मामलों में उन्हें ग्रेट ब्रिटेन का ही मुँह जोहना पड़ता था। यह पराधीनता पैट्रिक हेनरी जैसे कुछ व्यक्तियों को असह्य थी। इन गिने-चुने लोगों ने वहाँ की जनता में ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के लिये तैयार किया।

पैट्रिक हेनरी का जन्म १७३६ में वर्जीनिया प्रदेश में हुआ था जहाँ की मिट्टी और जलवायु तम्बाकू की खेती के लिये बहुत उपयुक्त है। आज उस प्रदेश में उगायी जाने वाली तम्बाकू की खेती कई अन्य देशों में भी होती है। उसे वर्जीनियन तम्बाकू कहा जाता है। इसमें धरती का क्या दोष यह तो मनुष्य की बुद्धि का फेर है कि वह उससे ऐसी नशीली वस्तुएँ उपजाता है नहीं तो वर्जीनिया ने हेनरी पैट्रिक जैसे देशभक्त को भी तो उपजाया था।

उनके माता-पिता सम्पन्न कृषक थे। खेती से खूब आय होती थी पर श्रम भी कम नहीं करना पड़ता था। उन्हें तम्बाकू से बड़ी नफरत होती थी और उनके पिता तम्बाकू ही बोया करते थे क्योंकि वह अधिक आय देती थी। अतः उन्होंने खेती करने की बजाय पढ़-लिख कर बौद्धिक व्यवसाय करने का निश्चय किया।

उन्होंने उच्च शिक्षा ग्रहण करने के बाद अपनी स्टेट्स के न्यायालयों में वकालत करनी आरम्भ की। वे थोड़े ही दिनों में एक श्रेष्ठ वकील के रूप में प्रसिद्धि पा गये। वे ओजस्वी वक्ता भी थे। उन्होंने अपने को अपने धन्ये तक ही सीमित नहीं रखा वरन् जनजीवन की उस घुटन को भी महसूस किया जो ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के कारण उत्पन्न हुई थी। वकालत करने के पीछे भी उनका लक्ष्य अंधाधुन्ध पैसे कमाने का न होकर लोगों को न्याय दिलाना ही था। वे लोगों के मुकदमों की पैरवी करते-करते सारे अमेरिका के न्याय के लिये पैरवी करने के लिये प्रस्तुत हो गये।

उत्तरी अमेरिका में बसे तेरह उपनिवेशों के निवासी लम्बे समय से ब्रिटेन के आधिपत्य से मुक्त होना चाहते थे हेनरी पैट्रिक जिस उपनिवेश-वर्जीनिया में रहते थे। वहाँ की जनता भी पराधीनता से मुक्ति पाने के लिये छटपटा रही थी। लेकिन सबसे बड़ी दिक्कत यह थी कि कोई भी उपनिवेश इतना शक्तिशाली नहीं था कि वह इस पराधीनता के जुए को उतार फेंके।

पैट्रिक हेनरी ने अपने ओजस्वी भाषणों के द्वारा जनमानस में बसी हुई इस छटपटाहट को कर्मक्षेत्र में उतर पड़ने के लिये ललकारा। वर्जीनिया उपनिवेश में क्रान्ति का शंखनाद करने का श्रेय उन्हीं को जाता है। जनता को अन्याय के विरुद्ध उठ खड़े होने के लिये तैयार करने में प्राणपण से जुटे तो परिणाम भी अच्छे सामने आये। शक्ति सम्पन्न ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आवाजें उठनी आरम्भ हुई। उनका यह वाक्य मुझे आजादी चाहिए या मौत यह वर्जीनिया के प्रत्येक व्यक्ति की आवाज बन गया।

अन्याय और पराधीनता के विरुद्ध आक्रोश तो हर व्यक्ति के मन में होता है, उससे मुक्ति पाने के लिये छटपटाहट भी प्रत्येक हृदय में होती है पर सबको किसी एक सार्वजनिक हित के लिये सूत्रबद्ध करके, एक माला के रूप में पिरोने, उनका नेतृत्व करने का साहस विरले ही जुटा पाते हैं उन्हीं विरलों में से पैट्रिक हेनरी भी एक थे।

उन्होंने अपने व्यवसाय की ओर से ध्यान हटाकर अपनी समूची शक्ति इसी स्वतंत्रता आन्दोलन के लिये नियोजित की।

जन-क्रान्ति का जैसा उद्योग वर्जीनिया में पैट्रिक हेनरी कर रहे थे वैसा ही अन्य अमेरिकी उपनिवेशों के जन नायक कर रहे थे। एक अकेला उपनिवेश ब्रिटिश-शक्ति से लोहा लेने और अपने को उसकी पराधीनता से मुक्त करने में असमर्थ था सो इन जननायकों ने तेरहों उपनिवेशों को संघबद्ध होकर स्वतंत्रता संग्राम छेड़ने का निश्चय किया। १७७४ में सभी उपनिवेशों के जन नेताओं ने एक महाद्वीपीय सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन में उन्होंने एकजुट होकर इस पराधीनता के कलंक को धो डालने का दृढ़ निश्चय किया। सम्मेलन में वर्जीनिया का प्रतिनिधित्व पैट्रिक हेनरी ने किया।

४ जुलाई, १७७६ के दिन तेरहों उपनिवेशों ने मिल कर संयुक्त राज्य अमेरिका की स्थापना और उसकी स्वतंत्र प्रभुसत्ता की घोषणा की। यह दिन हेनरी जैसे देशभक्तों के सद्प्रयासों से ही देखने को मिला था। यद्यपि अमेरिका को स्वतंत्रता इस घोषणा के छह वर्ष बाद मिली पर सही अर्थों में देखा जाये तो उसका बीजारोपण वर्षों पूर्व हो चुका था।

इस घोषणा के साथ ही इन तेरह उपनिवेशों ने तेरह राज्यों का रूप धारण कर लिया। ये सभी राज्य एक होकर जार्ज वाशिंगटन के नेतृत्व में ब्रिटिश साम्राज्य से जुझ पड़े। छ वर्ष तक युद्ध चला और अन्त में अमेरिका की जनता की विजय हुई। अमेरिका स्वतंत्र देश बना। सभी राज्यों के प्रतिनिधियों की एक सभा फिलडेल्फिया में हुई, जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान बनाया गया।

स्वतंत्रता के संग्राम में पैट्रिक हेनरी ने वर्जीनिया राज्य का नेतृत्व किया पर जब स्वाधीनता मिली तो उन्होंने उस वर्जीनिया का गवर्नर अपने निकटतम सहयोगी को बनाया और वे स्वयं संसद सदस्य ही बने रहे। बाद में उन्हें वर्जीनिया का गवर्नर भी बनाया गया, पर यह सब जनता के प्रबल आग्रह पर ही हुआ। वे वर्षों तक वहाँ के गवर्नर रहे।

अपने समय में उन्होंने वर्जीनिया की जनता की बहुमुखी प्रगति के लिये पर्याप्त प्रयास किये। अपने राज्य के संविधान में उन्होंने कई महत्वपूर्ण सुधार किये। उस समय वर्जीनिया में जो आर्थिक, सामाजिक व शैक्षणिक प्रगति हुई उसे आज भी याद किया जाता है और याद किया जाता है उनके उस व्यक्तित्व को।

गवर्नर बन जाने पर भी वे सामान्य व्यक्ति से उसी प्रेम और आत्मीयता से मिलते थे जो आज के नेताओं में बहुत कम देखने को मिलती है। उन्हें सरकार की तरफ से जो गवर्नर निवास मिलने का प्रावधान था, वे उसमें कभी नहीं रहे वरन् अपने एक सामान्य से मकान में ही रहे। उनका रहन-सहन भी बहुत साधारण था। उन्हें जो वेतन मिलता था। उस वेतन का अधिकांश भाग वे ऐसे संस्थानों को दान दे दिया करते थे, जो लोकसेवा में लगे हुए थे।

वे वर्षों तक वर्जीनिया के गवर्नर रहे पर कभी वे अपनी इच्छा से उस पद के लिये प्रत्याशी नहीं बने वरन् उनके दल के लोगों के आग्रह और प्रकारान्तर में जन आग्रह का सम्मान करने के लिये ही प्रत्याशी बने थे। गवर्नर पद को भी उन्होंने अपने देशवासियों की सेवा का एक अवसर मानकर ही ग्रहण किया था। उनकी कोई व्यक्तिगत एषणा इसके पीछे नहीं रही थी। १७९९ में जब उनका देहावसान हुआ तो वर्जीनिया के प्रत्येक व्यक्ति ने यह अनुभव किया कि उनका कोई स्वजन बिछुड़ गया है। हेनरी पैट्रिक की उदात्त देशभक्ति व राष्ट्रीयता की भावना अमेरिकावासियों के लिये ही नहीं विश्व के कई देश भक्तों की प्रेरणा-शक्ति बनी।

कर्तव्यरत-वीर दुर्गादास

औरंगजेब के दरबार में जोधपुर के महाराज यशवन्त सिंह का प्रभाव बहुत बढ़ा हुआ था, उनकी वीरता और सत्य-निष्ठा के समक्ष सभी दरबारी सिर झुकाया करते थे। औरंगजेब को महाराज यशवन्त सिंह का यह प्रभाव सहन न होता था लेकिन कुछ कर सकने की उसकी हिम्मत न होती थी। वह महाराज जशवन्त सिंह से मन ही मन भयभीत रहता था। कायर कपट का सहारा लेता ही है। औरंगजेब ने भी लिया।

औरंगजेब ने त्रिकोण चाल सोची वह यह कि यशवन्तसिंह को दरबार से बाहर रखकर लड़ाइयों में फँसाए रखा जाय। जिससे सम्पर्क में न रहने से दरबार में उनका प्रभाव स्वतः कम हो जायेगा दूसरे नितान्त युद्ध में लगे रहने से उनकी शक्ति कमजोर होगी और तब किसी न किसी लड़ाई में मारे ही जायेंगे। तीसरे उत्तराधिकारी नाबालिग होने से जोधपुर की गद्दी खाली हो जायगी जिसे मैं अपने अधिकार में ले लूँगा और राजकुमार अजीतसिंह को पालने के बहाने अपने पास रखकर ठिकाने लगवा दूँगा। हाय रे ! मनुष्य का स्वार्थ ! तू अपने आश्रयदाता को इस हद तक गिरा देता है कि वह मनुष्य से पिशाच तक बन जाता है। यही कारण है जो संसार के सत्पुरुष एक स्वर से तुझे दुत्कारते रहते हैं। तेरे वशीभूत होकर मनुष्य अन्यायपूर्वक जो कुछ संचय करता है वह सब एक दिन इसी धरती पर रह जाता है। यदि साथ कुछ जाता है तो उसका प्रभाव जो पाप बनकर नरक की ओर उसका नेतृत्व किया करता है।

औरंगजेब ने अपनी दुरभिसंधि को कार्यान्वित किया और महाराज यशवन्तसिंह निरन्तर युद्धों में रत रहने लगे लेकिन तलवार का धनी वीर हर युद्ध में विजयी होता रहा। इससे उसका यश तथा प्रभाव और भी बढ़ गया। स्वार्थी औरंगजेब की चिन्ता और ईर्ष्या दोनों और बढ़ गई। अधम की विचार गति नीचे की ही ओर होती है। बादशाह विश्वासघात पर उतर आया। महाराज यशवन्तसिंह को काबुल की दुर्गम लड़ाई पर भेजकर उसके हमराह कुछ हत्यारे भी भेज दिये। काबुल के पठानों से बड़ा दुर्धर्ष संग्राम हुआ। विजय तो महाराज

यशवन्तसिंह की ही हुई किन्तु इस बार वे बुरी तरह से घायल हो गये। पेशवार में जिस समय वे विश्राम कर रहे थे विश्वासघातियों ने छल से उन्हें मार डाला था। औरंगजेब ने चैन की साँस ली।

महाराज यशवन्तसिंह के सरदारों में एक सरदार दुर्गादास भी थे। उन्होंने बादशाह की दुरभिसंधि समझ ली और जोधपुर के नाबालिग उत्तराधिकारी अजीतसिंह को लेकर निकल गये। दूसरे सरदारों ने समझाया कि किसी के दूसरे के उत्तराधिकार के लिये अपने पर संकट क्यों लेते हो ? बादशाह से मिल जाओ हो सकता है वह जोधपुर का शासन सूत्र तुम्हारे हाथों में देदे और तब हम सब सुख-चैन की जिन्दगी पा जायेंगे।

वीर दुर्गादास ने बातें सुनकर उन सबको धिक्कारा और कहा-“सुकाल में हम सब जिसकी छाया में विश्राम और सम्मान पाते रहे, आज दुष्काल में उसी के साथ विश्वासघात करने की सोचें। यह कहाँ की मनुष्यता है ? ऐसे अबसरवादी मनुष्य की आत्मा युग-युग तक नरक की ज्वाला में जला करती है। तुम लोग चाहो तो बादशाह के तलवे चाटकर सुख की जिन्दगी जी सकते हो किन्तु मैं तो राजकुमार अजीतसिंह की रक्षा में उसे लिये जंगलों और पहाड़ों पर मारा-मारा फिरूँगा और जोधपुर को बादशाह के हाथों में जाने से बचाऊँगा और इसी कर्तव्य की पूर्ति में अपना सारा जीवन लगा दूँगा।” सभी ने दुर्गादास की वाणी में सार देखा और उसके साथ हो लिये। अन्त में तब ही संन्यास लेकर काशी गए जब स्वाधीन अधिकारों सहित अजीतसिंह को जोधपुर की गद्दी पर अभिषिक्त कर दिया।

संघर्ष, पुरुषार्थ और श्रम के प्रतीक—

देवजी भीमजी

कोचीन के भिक्कु मुरलीधर नामक एक प्रख्यात और उदारमना व्यापारी के पास एक दस वर्षीय बालक आया। शोचनीय आर्थिक स्थिति और इस अबोध आयु में ही सिर से पिता का साया उठ जाने के कारण जीवनयापन के लिए कोई काम ढूँढ़ना अनिवार्य था। व्यापारी को बालक ने सारी स्थिति अपनी टूटी-फूटी शब्दावली में सुनाई। मुरलीधर ने द्रवित होकर उसे अपने यहाँ आश्रय दिया।

बालक वर्णमाला और अक्षरों का थोड़ा सा ज्ञान रखता था। इसी पूँजी या क्षमता को अभ्यास द्वारा थोड़ा बढ़ाया और उसी व्यापारी के अधीन रहकर बहीखातों का काम सीख लिया और कुछ दिनों बाद कोचीन के ही एक और व्यवसायी के यहाँ लिखा-पढ़ी की नौकरी कर ली।

यह असहाय बालक ही अध्यवसाय, परिश्रम और ईमानदारी के बल पर देवजी भीमजी के नाम से बहुत बड़ा उद्योगपति बन गया।

सामान्य से भी बदतर असहाय स्थिति से ऊपर उठने वाले उदाहरण बहुत कम भी दीखते हैं और बहुत अधिक

सफल भी बहुत कम इसलिए कि परिस्थितियों में लोग साहस और धैर्य छोड़कर निराश और मृत जीवन जीने लगते हैं तथा जो धैर्य और प्रयत्न को अंगीकार कर लेते हैं उनके लिए वे ही परिस्थितियाँ वरदान सिद्ध होती हैं।

देवजी भीमजी-दूसरी श्रेणी के व्यक्तियों में से ही थे जिन्होंने अपने पुरुषार्थ के बल पर दुर्दैव को चुनौती को वरदान में परिणित कर लिया। लगभग पच्चीस वर्ष तक उन्होंने उक्त व्यापारी के यहाँ काम किया और अति सादगी पूर्ण जीवन बिताकर दो हजार रुपये की पूँजी जमा की। उनकी योग्यता देखकर दो अन्य व्यापारियों ने कपड़े के व्यवसाय में अपना साझीदार बना लिया। भिक्कु मुरलीधर उनका पूर्ववर्ती स्वामी सदैव उनका सहायक रहा। इसका कारण उनका विनम्र व्यवहार और ईमानदारी ही थी।

तीन वर्ष तक कपड़े का व्यवसाय नुकसान देता रहा। व्यापारी क्षेत्र में कदम रखते ही इतनी अल्पावधि में घाटा उठाकर अपनी सारी जमा पूँजी गँवाकर भी निराश नहीं हुए। उनकी साझीदारी खत्म हो गयी और तीनों व्यक्ति अलग-अलग हो गये।

देवजी भीमजी अपने पूर्व स्वामी भिक्कु मुरलीधर के पास सलाह लेने पहुँचे। मुरलीधर ने हार्दिक सहानुभूति दर्शायी और उनकी मदद की तथा नारियल के रेशे का व्यापार करने की सलाह दी। व्यापार के मूल सिद्धान्तों पर कायम रहते हुए कम मुनाफे पर ही अच्छा माल देने के कारण उनका धन्धा चल निकला और वे समृद्ध होते गये। १८६० में उन्होंने अपने कार्यक्रम का विस्तार किया और लेखन सामग्री तथा सोने, चाँदी का व्यवसाय भी शुरू कर दिया। अपने व्यवहार में सत्यनिष्ठ रहने के कारण केरल के सबसे प्रसिद्ध व्यापारी बन गए।

अपने व्यावसायिक जीवन में निरन्तर उन्नत होने के साथ ही साथ उनमें समाजसेवा की रुचि भी विकसित होने लगी। उन्होंने व्यापारियों और धनी लोगों के लिए एक अत्योत्तम आदर्श रखा। धन-सम्पदा जब आवश्यकता से अधिक आने लगती है तो समझना चाहिए कि परमात्मा की लक्ष्मी की प्रसन्नता का लाभ इसलिए मिल रहा है कि अन्य जरूरतमन्द लोगों के लिए उसका उपयोग किया जाय। उपार्जन, शक्ति भर किया जाना चाहिए परन्तु उसे व्यक्तिगत सुख-सुविधा के लिए उपयोग में न लाकर अन्य औरों के लिए काम में लाना चाहिए। देवजी भीमजी अपनी बचपन की स्थिति को कभी भी न भुला सके। वे सदैव याद रखते कि एक अकिञ्चन स्थिति से ऊपर उठकर वे धनपति बने हैं। परमात्मा ने उन्हें इस काम के लिए इतना सम्पन्न बनाया है कि वे अपने जैसे अन्य दीनजनों की सेवा कर सकें।

एक बार जब वे किसी कारणवश दूसरे प्रान्त में गए तो वहाँ एक प्रेस में पुस्तकें छपती हुई देखकर मन में सोचा कि केरल में तो अभी तक इस प्रकार का उद्योग किसी ने स्थापित नहीं किया है। क्यों न इस व्यवस्था को हाथ में लिया जाय ताकि सैकड़ों लोगों के लिए रोजगार

की व्यवस्था हो सके और प्रेस के माध्यम से विशाल मात्रा में सामाजिक और धार्मिक साहित्य का प्रचार किया जा सके ताकि शिक्षित लोगों की मानसिक क्षुधा भी तृप्त हो सके। ग्रामीण तथा अर्ध-शिक्षित लोग जो अपनी धर्म-वृत्ति को तृप्त करने के लिए बड़ी कठिनाई से धर्म-ग्रंथ जुटाकर उनका रसपान करते हैं-कि समस्याओं का आसान हल प्रस्तुत किया जा सके। केरल की मलयालम भाषा में धार्मिक पुस्तकें नितान्त अनुपलब्ध थीं फलस्वरूप पेशेवर पण्डित लोग धर्म ग्रन्थों का अधकचरा अनुवाद कर निर्धन ग्रामीणों का और भी शोषण करते।

१८६५ में देवजी ने चेरी में लिथोग्राफिक पद्धति का प्रेस 'केरल मित्रम्' प्रेस के नाम से स्थापित किया। वहाँ से वे धार्मिक साहित्य के साथ-साथ ही अन्य बहुत सी महत्वपूर्ण पुस्तकें भी प्रकाशित करने लगे। जिससे केरल निवासियों को प्रकाशन जगत् की गतिविधियों से परिचित होने तथा दुनिया की गति के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने का अवसर तथा प्रेरणा मिली।

प्रेस खुलने के कुछ ही महीने बाद कोचीन सरकार ने उन्हें नोटिस दिया और प्रकाशन को सेन्सर लगा दिया। देवजी ने यह सेन्सर हटा लेने की प्रार्थना की परन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकला तो उन्होंने सेन्सर की अवहेलना कर साहित्य छापना आरम्भ कर दिया। फलस्वरूप सरकार ने आज्ञा न मानने के अपराध में प्रेस को सीलबन्द कर दिया। देवजी ने रेजीडेण्ट से अपील की। काम बन गया और प्रेस को सेन्सर मुक्त कर दिया गया।

श्री देवजी ने तीन ईसाई सज्जनों की सहायता से एक और प्रेस खरीदकर-वेस्टर्न स्टार नाम का समाचार पत्र आरम्भ किया।

उन्होंने अन्य अंगों की सहायता के लिए औद्योगिक कार्यक्रमों के साथ ही साथ दूसरे प्रभावशाली कदम भी उठाए। 'आचार संरक्षण कम्पनी' नाम की एक संस्था का गठन कर मकानहीन लोगों के लिए बहुत सी जमीन खरीद कर उनके नाम पट्टे कर दी और उन्हें रोजगार धन्धे से लगाया।

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में सारी चल अचल सम्पत्ति 'देवजी भीमजी ट्रस्ट'-के नाम से एक लोकोपकारी संस्था का निर्माण कर उसे सौंप दी। उनका जीवन बहुत ही सादा था और ऐसे सादगीपूर्ण निर्वाह के बाद जो कुछ भी बचा उसे समाज को सौंप देने का अनुपम उदाहरण लोगों के सामने रखा।

अपनी वसीयत करने के एक सप्ताह बाद ही उनका देहान्त हो गया। परन्तु जो लोग उनके जीवन से प्रभावित थे, उनके हृदय में वे सदैव जीवित रहे हैं। उनका चरित्र जन-जन को प्रेरणा देता रहेगा कि-आदमी साधारण और असहाय स्थिति से संघर्ष, साहस और सेवा बल पर किस प्रकार ऊपर उठ सकता है और कैसे समाज की-ईश्वर की क्रियात्मक पूजा कर सकता है?

जिन्होंने सोते कुमायूँ को जगाया-

बद्रीदत्त वैष्णव

देश भर में स्वतन्त्रता पाने के लिए जन आन्दोलन और क्रान्तिकारी गतिविधियाँ चल रही थीं पर बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के आरम्भ तक कुमायूँ का पर्वतीय आँचल इस हवा से अछूता था। इस क्षेत्र के भोले-भाले पर्वत पुत्रों को अपने जीवन की सामान्य आवश्यकताओं से ध्यान हटाकर देश व समाज के लिये कुछ करने की सुध नहीं थी। समय की हवा से अछूते इस क्षेत्र में क्रान्ति, असहयोग व समाज सुधार की ज्वाला सुलगाने का श्रेय श्री बद्रीदत्त वैष्णव को जाता है जो १९२१ के असहयोग आन्दोलन में कुमायूँ क्षेत्र के एकमात्र मिलिट्री पेंशनर थे।

अल्मोड़ा से बाईस मील दूर, गाँव तोला के एक धर्म भीरू ब्राह्मण परिवार में १८७९ में जन्मे बद्रीदत्त वैष्णव को अपने पिता नारायणदास वैष्णव के हाथों अन्धविश्वास और धर्मभीरुता का जो दुर्वह दण्ड भोगना पड़ा इसकी कहानी बड़ी दुःखपूर्ण है। सन्त तुलसीदास की तरह उन्हें भी परित्यक्त बालक का जीवन जीना पड़ा था।

ग्राम के जाने माने ज्योतिषी जिनके लिये अपने पोथी पत्रे एक तरह से खेत-खलिहान थे और अपने ज्योतिष सम्बन्धी मनगढ़न्त दाँव-पेच उसमें उगने वाली फसलने कुछ ग्रह शान्ति आदि के लालच से अश्लेषा नक्षत्रोत्पन्न बालक बद्रीदत्त के माता-पिता को बताया कि ऐसे समय में पैदा होने वाला बालक माता-पिता की मृत्यु का कारण बनता है।

नारायण दास के दो पुत्र पहले ही जीवित थे सो वंश न चलने या बालक के प्रति विशेष मोह-माया होने का प्रश्न ही नहीं था और आगे भी सन्तान होने की सम्भावना भी समाप्त नहीं हुई थी, अतः उन्होंने इस तथाकथित अनिष्टकारी पुत्र का त्याग कर देना ही ठीक समझा। उन्होंने अपने पुत्र को थोड़े से धन के बदले एक पुरोहित को बेच दिया।

इस अन्धविश्वास को कहाँ तक रोया जाय। इसने जितना अनिष्ट इस हिन्दू समाज का किया है उतना तो विदेशी-विधर्मी आक्रमणकारियों ने भी नहीं किया। हिन्दू समाज के लिए ही नहीं अन्धविश्वास तो हर धर्मावलम्बियों के लिये घातक सिद्ध हुआ है और हो रहा है। पुत्र अश्लेषा नक्षत्र में पैदा हुआ या घनिष्टा में, इससे कोई अधिक अन्तर पड़ने वाला नहीं है। भला नक्षत्रों को किसी मनुष्य से क्या दुश्मनी हो सकती है और पृथ्वी से करोड़ों प्रकाश वर्ष दूर स्थित रहकर वे किसी पृथ्वीवासी का क्या अनिष्ट कर सकते हैं। किन्तु जो लोग इस अन्ध विश्वास के पीछे बैठे-बैठे खाना चाहते हैं। वे भला कब मानते हैं। उनकी मक्कारी का फल इस बालक को भोगना पड़ा।

पुरोहित के घर बेच दिये जाने पर भी बालक बद्रीदत्त के दुर्भाग्य ने उसका पीछा नहीं छोड़ा। उन्हें अपने पास रखने के बाद ही पुरोहिताइन ने एक पुत्र को जन्म दे दिया। सन्तान न होने के कारण पुरोहित ने पराये बालक को अपनाया था पर अब अपना स्वयं का पुत्र हो जाने के बाद उन्हें पराये बालक को अपने पास रखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई और उन्हें पुनः पिता को सौंप दिया गया।

माता-पिता और सन्तान के बीच अन्धविश्वास ने जो लक्ष्मण रेखा खींच दी थी उसे उनके माता-पिता कभी लाँघ नहीं पाये। उन्हें न माँ का स्नेह मिला, न पिता का दुलार। यों ही उपेक्षा सहते हुए वे बड़े हुए। उन्हें पढ़ने के लिए स्कूल नहीं भेजा गया।

पग-पग पर उपेक्षा व तिरस्कार पाने के कारण बालक बद्रीदत्त का आत्म-सम्मान कराह उठा। उसने अपनी आन्तरिक चेतना से प्रेरणा पाकर एक दिन घर छोड़ दिया। कुछ नेपाली तीर्थयात्री काशी जा रहे थे। बालक ने सुन रखा था कि काशी शिक्षा व ज्ञान का केन्द्र है। अतः उन्होंने वहीं जाकर पढ़-लिखकर विद्वान बनने का निश्चय कर लिया।

उन्होंने सोचा था कि कुछ योग्यता प्राप्त कर लेने के बाद उन्हें माता-पिता का प्यार मिल जायगा। यदि नहीं भी मिले तो वे अपना जीवन तो बना सकेंगे। जिस बालक को परिवार वालों को सहयोग नहीं मिला पर जिसने अपनी सहायता स्वयं करने का निश्चय कर लिया, उसका बनना सुनिश्चित सा हो जाता है। किन्तु इस ढंग का साहस थोड़े से ही व्यक्ति दिखाते हैं बाकी अधिकांश तो कुण्ठित होकर ही रह जाते हैं।

बचपन में उन्होंने जो तिरस्कार व कष्ट-कठिनाइयाँ सही थीं उससे वे कष्टसहिष्णु हो गये थे तथा स्वयं अपनी राह बनाने की क्षमता पा गये थे। काशी में उन्होंने चार पाँच वर्ष तक संस्कृत का अध्ययन किया, जिससे उनका ज्ञान बढ़ा और जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाने में सहायता मिली।

वाराणसी में जब प्लेग का प्रकोप हुआ तो वह अपने कुछ नेपाली सहपाठियों के काफिले के साथ अपने गाँव लौट आये। उन्होंने सोचा था चार-पाँच वर्ष के वियोग से माता-पिता के हृदय में सोया वात्सल्य जाग पड़ेगा तथा अपने शिक्षित और स्वस्थ पुत्र को देखकर वे हर्षित हो उठेंगे। किन्तु उनकी आशा के विपरीत उनके पिता ने अपने मरियल पुत्र को हृष्ट-पुष्ट दशा में लौटा देखकर उसे मूर्तियों चुराने वाले गिरोह का सदस्य समझ लिया तथा और भी उपेक्षा का व्यवहार किया। बद्रीदत्त के स्वाभिमान पर यह एक और चोट थी। वे इस चोट से तिलमिला उठे।

उस बालक के मन में उस समाज के प्रति कितना आक्रोश उपजा होगा जिसे उसके माता-पिता ने एक ज्योतिषी की बेसिर-पैर की बातों पर विश्वास करके एक पुरोहित के हाथ बेच दिया, पुरोहित ने भी उसे तभी तक

अपनाया हो जब तक उसके कोई पुत्र उत्पन्न न हो गया हो, ऐसे स्वार्थी समाज के प्रति उसके मन में आक्रोश होना अस्वाभाविक नहीं होता किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि उसी व्यक्ति ने अपने चार छोटे भाइयों को अपने खर्च से पढ़ा-लिखाकर काम धन्धे से लगाया आगे चलकर उसने उसी समाज के हित के लिये अपने प्राणों की बाजी लगादी, जिसे उसने पग-पग पर दुत्कारा था। उस समाज से उसने घृणा नहीं की वरन् उसमें फैली उन कुरीतियों, अन्ध-विश्वासों और विकृतियों से जूझना आरम्भ किया जो उन्हें दुःख देने का कारण बनी थीं।

इसका कारण उनका स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे क्रान्तिकारी, धर्म-सुधारक, समाज सुधारक से साक्षात्कार होना व उनके उपदेश से प्रभावित होना था। स्वामी जी जब वेदोक्त सिद्धान्तों का प्रचार करने वहाँ पधारे तब उन्होंने अपने मन की बात स्वामी जी को बतायी। संक्षेप में परिवार और समाज द्वारा मिले तिरस्कार का वर्णन भी उन्होंने किया। इस पर स्वामी जी ने उन्हें बताया कि जो कुछ तुम्हें समाज ने प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में अनुदान दिया है वह हिमालय उसकी तुलना में यह तिरस्कार राई सदृश्य भी नहीं है। अतः उन अनुदानों को देखो जो तुम्हें मिले हैं। तिरस्कार को देखोगे तुम अपना भी अहित करोगे और समाज का भी। समाज के अनुदानों को पहले चुका लो, स्वामी जी के इस प्रकार के निर्देश ने उनके जीवन की दिशा ही बदल दी।

वे बचपन में माता-पिता की रुखाई से त्रस्त हो आक्रोश में भरकर ब्रिटिश सेना में भर्ती हो गये थे। जब वे सेना में भर्ती हुए उन दिनों कुमायूनी ब्राह्मणों की भर्ती बन्द थी तो वे वीरसिंह के छद्म क्षेत्रीय नाम से सेना में भर्ती हो गये।

सैनिक जीवन में उन्हें रंगून, माण्डले, लास्यो, छिदबिन तथा मौलिन आदि छावनियों में रहना पड़ा था। वे अपनी सूझबूझ एवं कर्तव्य परायणता के कारण सामान्य सिपाही से फर्स्ट ग्रेड सिंगनलर पद तक पहुँच गये।

स्वामी दयानन्द के सम्पर्क में आने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि वे अब तक केवल पशु धर्म ही पाल रहे थे, अपने ही लिये जी रहे थे जो मनुष्य जैसे प्राणी की गरिमा के लिये उपयुक्त नहीं है। उन्हें मानव-धर्म पालना चाहिए, अपने लिये ही नहीं समाज के लिये जीना चाहिए। अपने सुख का ही नहीं समाज के सुख का भी ख्याल रखना चाहिए।

इसी दृष्टि को पाकर वे छुट्टियों में घर आये और अपने दो छोटे भाइयों को अपने साथ वर्मा ले गये। उन्हें पढ़ा-लिखाकर काम पर लगा दिया। वे स्वामी दयानन्द के सुधारवादी आन्दोलन से बहुत प्रभावित हुए थे। यदि इस प्रकार धार्मिक व सामाजिक रूढ़ियों व अन्धविश्वास को समाप्त किया जा सके तो पीछे आने वाली पीढ़ियों को उनका शिकार न होना पड़े। यह सोचकर वे स्वामी जी के बताये अनुसार समाज सुधार की प्रवृत्तियों का प्रचार प्रसार करने लगे। सेना की नौकरी करते हुए आंशिक रूप

से और बाद में पूर्णकालिक रूप से वे इस कार्य में लगे रहे।

सेना की नौकरी से मुक्त होते ही उन्होंने धार्मिक पाखण्ड और अन्धविश्वास को मिटाने, सामाजिक कुरीतियों का कचरा जन मानस के मस्तिष्क से बुहारने के लिये अपने गाँव आ गये और धोली में मकान बनाकर रहने लगे। यहीं से उनका ध्येय समर्पित जीवन आरम्भ हुआ। वे गाँव-गाँव जाकर स्वामी जी के बताये हुए सिद्धान्तों का प्रचार करने लगे। उन्होंने अछूतों और महिलाओं के साथ किये जाने वाले अन्याय का खुलकर विरोध किया। उनके इस प्रचार से अन्धविश्वासी जनता व पाखण्डी लोग नाराज हुए किन्तु विवेकशील और नवयुवक उनका साथ देने लगे। इस प्रकार उनका सुधार कार्य चल निकला। ग्राम-ग्राम में एक विचार से प्रेरित होकर लोग शिक्षा व ज्ञान का प्रचार-प्रसार करने लगे। इस कार्य में श्री वैष्णव की भूमिका नायक जैसी रही।

सामाजिक कुरीतियों से जनता को मुक्त करने के साथ-साथ उन्होंने अँग्रेजी शासन का भी विरोध किया, क्योंकि बिना राजनैतिक स्वतन्त्रता पाये राष्ट्र का सर्वांगीण विकास सम्भव नहीं था। स्वयं उनके मार्ग-दर्शक स्वामी दयानन्द स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक थे।

सत्याग्रह और क्रान्तिकारी आन्दोलन की चिंगारियाँ उन दिनों देश में यत्र-तत्र फूट रही थीं। वैसी ही एक चिंगारी उन्होंने अपने क्षेत्र में भी पैदा की। अँग्रेजों द्वारा प्रदेश की जनता पर लादी गयी 'कुली प्रथा' से मुक्ति पाने के लिये उन्होंने प्रबल जन आन्दोलन छेड़ा। लोग कहते हैं कि फौज का सिपाही व तौंग का घोड़ा दूसरा कोई काम नहीं कर सकते, पर उन्होंने इस उक्ति को निराधार सिद्ध कर दिखाया। उन्होंने जनहित का बहुत बड़ा काम किया।

जन आन्दोलन प्रायः उसी स्थिति में गति पकड़ते हैं जब उसके द्वारा जनता की किसी समस्या का समाधान होता हो। ग्रामीण और राजनैतिक चेतनारहित क्षेत्र में विशुद्ध रूप से देश की स्वतन्त्रता को लेकर एकदम कोई आन्दोलन सफलतापूर्वक चलाना सम्भव नहीं होता है। इस बात को बर्दीदत्त वैष्णव भली-भाँति जानते थे अतः उन्होंने आन्दोलन का प्रारम्भिक चरण ऐसा रखा जिसमें हर व्यक्ति सम्मिलित हो सके, सहयोग दे सके।

उनके द्वारा संचालित इस आन्दोलन को देखकर अँग्रेज पदाधिकारी बौखला उठे। उन्होंने श्री वैष्णव पर राजद्रोह का आरोप लगाकर उन्हें गिरफ्तार कर लिया। वे १९२१ में पहली बार इस आन्दोलन के सिलसिले में गिरफ्तार किये गये थे। अल्मोड़ा की जिला अदालत में उन पर मुकदमा चलाया गया। उनके भाई मोतीराम भी इस आन्दोलन में उनके साथ थे। दोनों भाइयों को एक-एक वर्ष के कारावास की सजा दी गयी।

वे बरेली तथा फरीदाबाद जेल में रखे गये। उनके साथ प्रसिद्ध सत्याग्रही पं. बर्दीदत्त पाण्डे भी रहे थे। उन्होंने

अपनी पुस्तक में वैष्णव जी की वीरता व साहस की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है ।

शरीर तो पहले ही वृद्ध और जर्जर हो चुका था । जेल की कठोर यन्त्रणा ने उसे और भी नकारा कर दिया पर उनकी उमंगें अभी भी नव-युवकों सी थीं । जेल से बाहर निकल कर वे पुनः जनजागरण में लग गये ताकि देश को शीघ्र विदेशी शासन से मुक्ति मिल सके । स्वतन्त्रता और समाज सुधार के क्षेत्र में उन्होंने अपनी आयु को देखते हुए जो कार्य किया है वह वृद्धों के लिये सीख और युवकों के लिये चुनौती जैसा है ।

उन्होंने अकेले ही इस आन्दोलन में भाग नहीं लिया था । वे स्वयं ही देशभक्त नहीं बने थे वरन् अपने परिवार के सदस्यों ने भी उनके चिह्नों पर चलना अपना गौरव समझा था । उनके पुत्र भी कर्म क्षेत्र में आ कूदे थे । १९४० के सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेने के लिये उन्होंने अपना नाम महात्मा जी के पास भेजा था पर उनके स्वास्थ्य और आयु को देखते हुए उन्हें आज्ञा नहीं मिली । आज्ञा मिली उनके पुत्र विद्याधर वैष्णव को । विद्याधर वैष्णव ने अपने पिता के स्थान पर 'भारत छोड़ो आन्दोलन' में भी भाग लिया । विद्याधर को इस आन्दोलन में भाग लेने के कारण पाँच वर्ष का कारावास भोगना पड़ा तथा उनके परिवार की सारी सम्पत्ति कुर्क करके नीलाम कर दी गयी । इस प्रकार पं. ब्रदीदत्त वैष्णव ने अपनी मातृभूमि के लिये सर्वस्व समर्पित कर दिया ।

पुत्र जेल काट रहा था और वृद्ध अशक्त पिता जाने किस शक्ति के सहारे घर-घर जाकर आजादी का अलख जगा रहा था । उन बूढ़ी हड्डियों में जाने कहाँ से इतनी ताकत आ गयी थी कि वे घर-घर, गाँव-गाँव जाकर लोगों को स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये विदेशी हुकूमत से टकरा जाने का आह्वान कर रहे थे । अंग्रेज सरकार ने उन्हें बन्दी बनाना चाहा पर उसके वृद्ध शरीर और जर्जर स्वास्थ्य को देखते हुए पकड़ कर छोड़ दिया गया । गाँधी जी की विदेशी शिष्या सरलाबेन ने उन्हें कौनसी व चनोदा के पास रखे गये सत्याग्रही परिवारों की देख-रेख का भार सौंप दिया ।

राष्ट्रीय स्वाभिमान के रक्षक—

बालाजी विश्वनाथ

पश्चिमी घाट के जंजीराबाद नामक प्रदेश का अधिपति कासिम अपनी बहु संख्यक पर असंगठित हिन्दू प्रजा पर मनमाने अत्याचार किया करता था । उसकी इस क्रूरता का प्रेरक दिल्ली पति औरंगजेब था । कासिम छत्रपति शिवाजी के समय से ही हिन्दुओं की अन्याय के विरुद्ध उठती हुई शक्ति को कुचलने का कुप्रयास करता रहता था ।

महाराष्ट्र में उन दिनों जागरण की लहर उठ रही थी । कान्होजी आंग्रे नामक एक महाराष्ट्रियन योद्धा ने

थोड़े से नवयुवकों की सेना गठित कर तट प्रदेश पर अधिकार कर लिया । उसके अपने युद्ध पोतों और जाँबाज साथियों के कारण कामिस की नींद-हराम हो गयी थी । कान्होजी आंग्रे की शक्ति दिन पर दिन बढ़ती जा रही थी । वह कासिम के अपनी हिन्दू प्रजा पर अत्याचार करने के मार्ग में बाधा बनता जा रहा था ।

कासिम और कान्होजी आंग्रे के बीच चलने वाले संघर्ष में चिपलून जिले के मीठ बन्दर नामक स्थान के नमक व्यापार के ठेकेदार और जिले के कर उगाहने के ठेकेदार युवक बालाजी ने अपने स्वधर्म और देश के हित में संघर्ष करने वाले कान्होजी आंग्रे का पक्ष लिया । कासिम को जब यह ज्ञात हुआ तो वह बहुत कुपित हुआ उसने बालाजी के भाई जनार्दन को हाथ पाँव बाँध कर सन्दूक में बन्द करके जीवित सागर में बहा दिया ।

ऐसी स्थिति में बालाजी का उस क्षेत्र में रहना सम्भव नहीं था । अतः वह सपरिवार वहाँ से भाग चले । यही व्यक्ति जो एक दिन कामिस के भय से अपनी प्राण प्रिय जन्म भूमि को छोड़ने को विवश हुआ था, आगे चलकर अपनी कार्य कुशलता, योग्यता, सूझबूझ तथा राष्ट्र निष्ठा के कारण महाराष्ट्र का यशस्वी पेशवा बना और उसने अपनी जन्म भूमि छोड़ते समय कासिम के अत्याचार से अपने क्षेत्र जनों को मुक्ति दिलाने की जो प्रतीक्षा की थी उसे पूरी करने में सफल हुआ ।

बालाजी का घराना जंजीराबाद के सिद्धी सरदार की आधीनता में अपने ग्राम श्री वर्द्धन पट्ट के परगने की मालगुजारी वसूल करने का काम किया करता था । बालाजी के पिता विश्वनाथ भट्ट का इस तहसीलदारी के कारण क्षेत्र में अच्छा मान था । पिता की मृत्यु के पश्चात् बालाजी के ज्येष्ठ भ्राता जनार्दन भट्ट इस कार्य को करते थे । महत्वाकांक्षी बालाजी ने भाई के आश्रय में रहकर पैतृक व्यवसाय में हाथ बँटाने की अपेक्षा अपना स्वतन्त्र व्यवसाय व आधिपत्य जमाने के लिये चिपलूक जिले में प्रवजन किया । वे सपरिवार वहीं रहते थे तभी आंग्रे का पक्ष लेने के कारण उन्हें वहाँ से भागना पड़ा ।

मीठ बन्दर से चलकर वे बलयास ग्राम पहुँचे वहाँ उनके मित्र महादेव भानु रहते थे । वह भी अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिये बाहर जाना चाहते थे सो दोनों परिवार सतारा की ओर चल पड़े । किन्तु वे अधिक दूर नहीं जापाये थे कि कासिम के सैनिकों ने उन्हें पकड़कर अंजन वेल नामक दुर्ग में बन्द कर दिया । यहाँ पच्चीस दिन बड़े कष्ट में बिताने पर भी बालाजी और महादेव भानु निराश नहीं हुए । आशा ही परम बल के सहारे उन्होंने दुर्ग पति को अपने पक्ष में कर लिया और मुक्त हुए । मुक्ति के पश्चात् वे कैसे सास बाड़ पहुँचे और आवाजी पुरदरे की सहायता से महाराष्ट्र की राजधानी सतारा में महाराष्ट्र छत्रपति के सचिवालय के अधीन मालगुजारी वसूल करने वाले प्रमुख अधिकारी बने यह लम्बी कहानी है । जब वे मीठ बन्दर से भागे थे तब उनके

साथ उनका चार वर्षीय पुत्र बाजीराव भी था जो आगे चलकर उनका उत्तराधिकारी पेशवा बना।

बालाजी जब महाराष्ट्र की राजधानी में राज्य के मालगुजारी वसूल करने वाले अधिकारी बने उन दिनों छत्रपति सिंहासन के लिये छत्रपति सम्भाजी के पुत्र शाहू और छत्रपति राजाराम के पुत्र शिवाजी की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं का द्वन्द्व हो रहा था। छत्रपति राजाराम की पत्नी महारानी ताराबाई अपने पुत्र को छत्रपति बनाना चाहती थी किन्तु प्रधान सेनापति और अधिकांश सरदार न्याय सम्मत पक्ष-शाहू की ओर झुके होने के कारण शाहू ही छत्रपति बनाए गये। शाहू का छत्रपति बनाना उचित भी था। उनकी माता येसुबाई अब तक उन्हीं के कारण मुगल सम्राट के यहाँ नजरबन्द थी। स्वयं शाहू भी सोलह वर्ष तक नजरबन्द रहने के बाद मुक्त होकर महाराष्ट्र आये थे।

बालाजी इस ओर से उदासीन रहकर अपना कार्य कर रहे थे। यद्यपि ये छोटे पद पर किन्तु उनकी बुद्धिमत्ता आगे चलकर रंग लायेगी इसकी उन्हें भी आशा थी और छत्रपति भी उनमें छिपे व्यक्तित्व को समझ रहे थे।

बालाजी का कार्य यों तो मालगुजारी वसूलने का था पर वे इस तक ही सीमित नहीं रहे। उनकी दृष्टि मात्र अधिकारी या कर्मचारी की ही न होकर उससे भी अधिक महत्व की थी। वे राष्ट्र की समृद्धि के लिये कृषकों की समृद्धि को अनिवार्य मानते थे। देश में उत्पादन बढ़ेगा तो खुशहाली अपने आप आयेगी। यह सोचकर उन्होंने खेती की उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया। कृषकों को समुचित प्रोत्साहन व मार्गदर्शन देकर उन्होंने देश की समृद्धि को बढ़ाया। किसान उन्हें देवता की तरह मानने लगे। अब पहले की तरह मालगुजारी वसूलने के लिये सैनिकों व ज्यादा कर्मचारियों की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। कृषक अपने आप गुजारी कार्यालय में जमा करा जाते थे। किसी किसान को मालगुजारी न देने के कारण दण्डित करने का अवसर ही नहीं आता था।

इससे मालगुजारी की दर तो वहीं रही पर वसूली के लिये अधिक आदमियों को न लगाने के कारण उस राशि में प्रबन्ध व्यय रूपी कटौती बहुत कम हुई। इससे प्रधान सेनापति धनानन्दजी जाधव और छत्रपति शाहू बहुत प्रभावित हुए। धनानन्द जी जाधव की मृत्यु पर सम्पूर्ण राजस्व विभाग उन्हें सौंप दिया गया।

बालाजी ने अपना प्रबन्ध कौशल व योग्यता तो राष्ट्रहित में दिखायी थी और इसी कारण उन्हें राजस्व विभाग का सर्वेसर्वा बना दिया गया था पर इसके कारण नव निर्वाचित प्रधान सेनापति चन्द्रसेन उनसे जलने लगा। आगे चल कर उसने उन्हें मारने का षड्यंत्र भी रचा और छत्रपति से द्रोह भी किया पर दूसरों के लिये कुआँ खोदने वाले को स्वयं उसमें गिरना पड़ता है उसी उक्ति के अनुसार चन्द्रसेन को अपना प्रधान सेनापति पद खोना पड़ा और बालाजी को प्रधान सेनापति पद मिल गया।

बालाजी वीर और योग्य व्यक्ति थे। इनसे भी ऊपर उनकी विशेषता यह थी कि वे हिन्दू महाराष्ट्र को प्राणों से भी प्रिय मानते थे। वे जब प्रधान सेनापति बनाए गये उस समय महाराष्ट्र के सामन्तगण राष्ट्र का हित न सोचकर व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं में उलझने लगे थे। उन्हें पुनः एक सूत्र में बाँधने वाले कुशल राजनीतिज्ञ और वीर सेनापति की भूमिका उन्होंने बखूबी निभाई।

कान्होजी आंग्रे और कोल्हापुर के राजा को हराकर छत्रपति साहू के पक्ष में करना और पेशवा भैरवपन्त पिंगले को उनकी कैद से मुक्त कराने का वीरता और चतुराईपूर्ण कार्य करके उन्होंने अपनी योग्यता प्रदर्शित की। उसका परिणाम यह हुआ कि वे पेशवा बना दिये गये। कभी सिन्धियों के डर से मारे-मारे फिरने वाले बालाजी जो आरम्भ में पेशवा के कार्यालय में मामूली क्लर्क की हैसियत से काम करते थे, अपनी राष्ट्र-निष्ठा और योग्यता के बल पर महाराष्ट्र के पेशवा पद पर अभिसिद्ध हुए।

कान्होजी आंग्रे को सैनिक सहायता देकर उन्होंने अपनी जन्मभूमि को सिन्धियों के आधिपत्य से मुक्त कराने की अपनी प्रतिज्ञा को भी पूर्ण कर लिया।

पेशवा पद प्राप्ति में उनकी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा का उतना हाथ नहीं था जितना उनकी योग्यता और उत्कट राष्ट्रीय तथा जातीय भावना का हाथ था। पेशवा बनने के बाद भी वे सुखोपभोग में नहीं डूब गये। प्रायः ऐसा होता है कि सामान्य स्थिति का व्यक्ति जब किसी उच्च पद पर पहुँच जाता है तो उसमें गर्व आ जाता है और वह कर्म-निष्ठ न रहकर विलासी बन जाता है किन्तु बालाजी ने ऐसी मूर्खता नहीं की।

उच्च पद पर रहते हुए भी वे स्वभाव, व्यवहार व हृदय से छोटे लोगों के प्रति हमदर्द ही बने रहे थे। वे जब दिल्ली के मुगल शहंशाह फरुखशियर की प्रार्थना पर उसके साथ संधि कर उसे रक्षा का वचन देने के लिये ससैन्य दिल्ली जा रहे थे तब की बात है। उन्होंने अपने सेनाधिकारियों को आदेश दे रखे थे कि मार्ग में पड़ने वाले खेतों में से अन्न या घास का एक तिनका भी अपनी सैन्य द्वारा क्षतिग्रस्त नहीं होना चाहिए। किन्तु उनके एक अभिमानी सरदार मल्हारराव होल्कर ने उनकी यह आज्ञा नहीं मानी वे अपने घोड़ों के लिये एक किसान की खड़ी फसल कटवा डाली साथ ही उसे मारा-पीटा भी।

इस बात की सूचना जब बालाजी को लगी तो वे बड़े कुपित हुए इसलिये नहीं कि उनकी आज्ञा का उल्लंघन किया गया है वरन् इसलिये कि गरीब आदमी का अहित किया गया है। अतः उन्होंने मल्हारराव की सारी सम्पत्ति जब्त करके और किसान को उसकी फसल और मार-पीट का पूरा हर्जाना दे देने का निर्णय दे दिया। कृषक उनकी इस न्यायप्रियता पर बड़ा प्रसन्न हुआ। मल्हारराव की बुद्धि भी ठिकाने आ गयी। उसने भविष्य में ऐसा न करने

की शपथ खाते हुए उनसे क्षमा माँगी। पेशवा बालाजी विश्वनाथ ने उसे क्षमा तो कर दिया पर दण्डस्वरूप उसका ओहदा घटा दिया। उनके इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर ने उन्हें सामान्य व्यक्ति से ऊपर उठाकर पेशवा पद पर इसलिये जा बिठाया कि वे उसके उपयुक्त थे। उनसे गरीबों व दुर्बलों का रक्षण ही सम्भव था उन पर अत्याचार नहीं।

मुगल सम्राट फर्रुखशियर के बेटे मुहम्मदशाह से हुई संधि के अनुसार बालाजी ने चतुरता पूर्वक न केवल मुगल साम्राज्य से अपने प्रदेश ही छीन लिये वरन् मुगल सम्राट का वीरतापूर्वक मुकाबला भी किया।

सम्प्रदायवाद से आजीवन लड़ने वाले—

मजहरुल हक

सर सैयद अहमद खाँ ने किसी समय वार्तालाप में कहा था कि हिन्दू और मुसलमान हिन्दुस्तान की दो आँखें हैं। और दो में से एक भी न हो तो माँ का चेहरा बदनुरत हो जायगा। इसी प्रकार के विचार सभी राष्ट्रीय नेताओं ने भी व्यक्त किये हैं। पाकिस्तान के निर्माता मोहम्मद अली जिन्ना भी तब हिन्दू-मुस्लिम एकता और अखण्ड भारत के समर्थक थे। लेकिन ब्रिटिश सत्ता को यह कब सहन हो सकता था। उसकी तो नीति ही फूट डालो और राज करो की थी। किसी प्रकार वह अपनी इस नीति को सफल बना गये और कुछेक मुस्लिम नेताओं के मन में क्रमशः अलग प्रतिनिधित्व, अलग राज्य और अन्ततः देश विभाजन की बात भी पैदा कर गयी।

स्वतन्त्रता से पूर्व हुआ मोपला विद्रोह, साम्प्रदायिक दंगे, उत्पात और उपद्रव सब अँग्रेजों के षडयन्त्रों का ही परिणाम थे। परन्तु जिनके हृदय में अखण्ड देश-प्रेम का प्रवाह बह रहा था और जो लोग अँग्रेजों की इस नीति का मर्म समझते थे सतर्क और सचेत ही रहे। हालाँकि बहकाने के प्रयास तो उनके लिए भी किये गये। लेकिन विवेक की आँख खुली रखने वाला सर्वत्र निश्चित दृढ़ और स्थिर ही रहता है।

ऐसे ही स्थिर मति महामानव थे मौलाना मजहरुल हक। जिन्होंने कई अवसरों पर कहा कि हम हिन्दू हों या मुसलमान, सब एक ही नाव के यात्री हैं। डूबेंगे तो साथ और पार निकलेंगे तो एक साथ। घटना उन दिनों की है जब किराये के गुण्डों और विघ्नसंतोषी तत्वों द्वारा बिहार के कुछ क्षेत्रों में सांप्रदायिक दंगे करवाये गये। जन साधारण तो भावनाओं के बल पर जीती है—उसे कोई भी थोड़ा अच्छी बुरी दिशा में प्रवाहित कर दे तो तुरन्त बड़ा से बड़ा लाभदायक और प्रशंसनीय कार्य भी बन जाता है तथा अनर्थ भी हो जाता है। किसी ने हिन्दुओं में तो यह हवा छोड़ दी कि उनके धर्मग्रन्थों का अपमान किया जा रहा है और मुसलमानों में मस्जिद नापाक करने की बात फैला दी। यहाँ तक कि किसी ने सुअर का एक नवजात

बच्चा परकोटे में फिकवा दिया। बस क्या था दोनों पक्ष अपनी चिरंतन आत्मीयता और भाई-चारे को भूल कर टूट पड़े एक दूसरे पर।

जो लोग स्वजन सम्बन्धियों से भी अधिक घनिष्टता के सम्बन्ध रखे हुए थे, वे बिना किसी कारण दूसरों के बहकाने पर बैरी बन गये। पुलिस सिपाहियों और अधिकारियों की तत्परता से किसी प्रकार बड़ी मुश्किल से स्थिति को काबू किया गया। जब पूरी तरह शांति हो गयी तो मौलाना मजहरुल हक ने हिन्दुओं और मुसलमानों की एक सम्मिलित सभा आयोजित की। इसके पूर्व वे वैधानिक ढंग से सांप्रदायिक आवेग को कम करने में लगे हुए थे। लोगों में आत्मीयता और बन्धुत्व का भाव पूर्व स्तर का ही कायम हो जाय उद्देश्य था सभा का।

हिन्दू-मुसलमान के झगड़े बाहर से शांत भले ही हो गये हो परन्तु आक्रोश तो पूर्ववत् ही बना रहा। फिर भी मौलाना हक का उस क्षेत्र पर इतना प्रभाव था कि आपस में एक दूसरे को घूरने और खा जाने वाली नजरों से देखने पर भी लोग इस सभा में आये। दोनों पक्ष के लोग सोच रहे थे कि मौलाना हमारी ओर बोलेंगे तथा दूसरे पक्ष को डाँटेंगे तथा दुतकारेंगे। अपने पक्ष में सुनने की उत्कण्ठा से सबकी नजरें सभामंच पर आसीन मौलाना हक के चेहरे पर टिकी हुई थीं। लेकिन जब उन्होंने आरम्भ किया तो दोनों पक्ष ही सकते में आ गये। मौलाना हक ने कहा—मैं जानता हूँ कि आप लोग बहकाने में हैं, गलती पर हैं। जब आप शांतचित्त हो कर विचार करेंगे तो आप को पता चलेगा कि हिन्दू और मुसलमान एक ही डाल के दो फूल हैं। एक ही माँ की दो आँखें हैं।

श्रोताओं की आँखों से बैर प्रतिशोध पानी बनकर निकल गया। मौलाना हक की धीर गम्भीर वाणी सबके कलेजे को चीरती हृदय को बेधती अन्तरात्मा में प्रवेश कर गयी और जब कोई बात उस गहराई तक पहुँच जाती है तो बाह्य स्थिति यथावत् कैसे बनी रहेगी। लोगों की आँखों में अब प्रश्न झाँक रहे थे। कौन है जो हमें बहका रहा है, हमें लड़वाने में किसका स्वार्थ सिद्ध होता है और मंच से धारा प्रवाह धीर गम्भीर वाणी में यह भाव बह रहे थे—हम लोगों को फिरंगी सरकार आपस में लड़वाकर अपने पैर भारत में जमाये रखना चाहती है। हिन्दू और मुसलमान दो सगे भाइयों की तरह हैं। आपस में हमें लड़ना शोभा नहीं देता।"

कहते हैं इस सभा के बाद वहाँ एकत्र हुए सभी लोग पूर्ण के वैमनस्य भुलाकर हृदय से गले मिले थे। जिसकी वाणी में इतना पैनापन हो उसकी स्मिदिक अंतरंग स्थिति का अनुमान लगा पाना बड़ा मुश्किल है।

मौलाना मजहरुल हक का जन्म २२ दिसम्बर १८६६ ई० को पटना जिले के एक धर्मनिष्ठ मुस्लिम परिवार में हुआ था। इस्लाम और कुरान की शिक्षाओं को उन्होंने जितना आत्मसात् किया था वह यह सिद्ध करने के लिए

पर्याप्त था कि वह पैगम्बर मोहम्मद के निष्ठावान अनुयायी हैं। इस्लाम धर्म के अनुयायी आज भी उन्हें आदर्श रूप में मानते हैं और उन्हें देखकर यह सोच पाना भी मुश्किल है कि कोई धर्मनिष्ठ मुसलमान अपने मत और विचारों के प्रति कट्टरपन्थी तथा दुराग्रही होता है। लोगों में यह एक भ्रान्त-धारणा फैली हुई है कि मोहम्मद साहब ने इस्लाम की दीक्षा जैसे भी हो देने और हर तौर तरीके को अपना कर मुस्लिम संख्या में अभिवृद्धि करने का उपदेश दिया है। मौलाना हक की यह दृढ़ मान्यता थी कि इस्लाम में इस प्रकार की संकीर्णता और कठमुल्लापन को कोई स्थान नहीं है।

मुस्लिम धर्म की वास्तविकता को समझ कर बड़ी कुशलतापूर्वक उन्होंने उसे अपने जीवन में उतारा। यह भी एक कटु सत्य है कि सांप्रदायिक वैमनस्य के विष बीज बोकर अँग्रेज इस देश में अपने पाँव और भी मजबूती से जमाना चाहते थे। लेकिन मौलाना हक ने अँग्रेजों की इस कूटनीति का बड़ी निर्भयता और साहस के साथ पर्दाफाश किया।

उन दिनों जब भारतीय जनमानस में संप्रदायवाद के विषाणु फैलाये जा रहे थे मौलाना ने उन्हें रोकने और हटाने के लिए अपना जीवन लगा दिया। इस कार्य के विरोध में वे तत्व अवरोध बनकर मार्ग में आये थे जिनका कि इसमें स्वार्थ निहित था यह विरोध यहाँ तक बढ़ा कि उन्हें जान से मार देने की सैकड़ों बार धमकियाँ दी गयीं। उनकी सभाओं में ईंटें और पत्थर फेंके गये तथा तरह-तरह के उत्पात मचे।

लेकिन यह बड़े मजे की बात रही कि ज्यों-ज्यों उनका विरोध बढ़ता गया त्यों-त्यों वे इस कार्य में और भी अधिक मनोयोगपूर्वक लगते गये। वैसे तो उन्होंने सार्वजनिक क्षेत्र में स्वराज्य के उद्देश्य से ही प्रवेश किया था। वे काँग्रेस के सच्चे और लगनशील कार्यकर्ता थे। लेकिन जब उन्होंने देखा कि गोरी सरकार प्रतिष्ठित और प्रबुद्ध व्यक्तियों के अहं को विकृत कर अपना उल्लू सीधा करना चाहती है और इसी के लिए प्रयत्न भी कर रही है तो उन्होंने स्वराज्य प्राप्ति के पथ को प्रशस्त करना ही उचित और न्यायसंगत समझा।

उन्होंने इस क्षेत्र में कार्य भी इतना किया तथा उपलब्धियाँ भी इतनी रहीं उनकी कि मुख्य रूप से उन्हें सांप्रदायिक एकता के लिए ही स्मरण किया जाता है। सम्प्रदाय उन्मादियों ने उन्हें सर्वप्रथम प्रलोभन देकर अपनी ओर मिलाना चाहा। कई मुस्लिम सांप्रदायिक नेता और रईस उनके पास आये तथा प्रस्ताव रखा-“आप मुसलमानों को हिन्दुओं से बिलकुल अलग कर लीजिए और काँग्रेस छोड़कर लीग में आ जाइये। हम आपको लीग संगठन का सर्वोच्च पदाधिकारी नियुक्त करेंगे।”

मौलाना का एक ही उत्तर होता-किसी माँ के दो बेटों में लालच देकर फूट पैदा करने की कोशिश की जाय तो मैं ऐसे बेवकूफ बेटों में से नहीं हूँ जो कुर्सी के लोभ में अपनी माँ का हृदय ही तोड़ दूँ।”

बार-बार प्रयत्न किया गया कि वे अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व का प्रयोग उन तत्वों के स्वार्थ साधने में करें। परन्तु मौलाना तो यह चाहते ही नहीं थे कि मुझे किसी प्रकार का पद या अधिकार मिले। जब लोगों का अनुचित दबाव पड़ने लगा। रिस्ते और सम्बन्धों का दुहाई दी जाने लगी तो उन्होंने एक ठोस जबाब दिया। वाणी से नहीं कार्य से। उन्होंने पटना में सदाकत आश्रम खोला जिसका उद्देश्य था राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत युवक कार्यकर्ता तैयार करना इस आश्रम में हिन्दू और मुसलमान सभी वर्ग के छात्रों को प्रवेश दिया जाता था। धर्म-निष्ठा के साथ-साथ धर्म सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया जाता। इस प्रकार उन्होंने एक तीर से दो शिकार करने का प्रयत्न किया। पहला तो यह कि असांप्रदायिक पीढ़ी का निर्माण और दूसरा प्रलोभन देकर फुसलाने की कोशिश करने वाले नेताओं को अनकहा उत्तर।

सांप्रदायिक-नेता उनकी दृढ़ता को समझ तो गये परन्तु हिम्मत उन्होंने भी नहीं हारी। लेकिन साहस जब दिग्भ्रान्त हो तो ओछे हथकण्डे ही सृज पड़ते हैं और यहीं वह सत्य तथा औचित्य के हाथों पटकनी खा जाता है। एक बार कुछ लोगों ने उन्हें घेर लिया तथा जान से मारने की धमकी दी। आसपास कोई राहगीर भी आता-जाता नहीं था। सर्वथा एकांत और सुनसान रास्ता। धर्मोन्मादी उनसे कह रहे थे या तो वे इस बात का वचन दें कि भविष्य में हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयत्न नहीं करेंगे अथवा मरने से पहले खुदा को याद करें।

सुनकर पहले तो हैंसे मौलाना। गुण्डों को खुले छुरों की नोक के सामने, साक्षात् मृत्यु को खड़ा जानकर भी मौलाना को हैंसते हुए देख आश्चर्य हुआ। जब मौलाना ने कहा कि शौक से चाकू चलाओ, तो उन बदमाशों के बन्धन स्वयमेव ही ढीले पड़ गये छुरों पर से। कोई हानि नहीं पहुँचा पाये उन्हें और वहाँ से भाग खड़े हुये। उसके बाद देर तक मौलाना उस दिशा की ओर देखते रहे जिधर कि वे लोग भागे थे। आत्मबल के आगे बड़ी से बड़ी शत्रुता भी परास्त हो जाती है। मौलाना हक ने यह अनुभव किया और इस घटना के बाद वे और भी मनोयोग तथा उत्साह से अपना मिशन पूरा करने में लग गये।

एक बार की घटना है कि सारन जिले में फरीदपुर ग्राम के निकट कुछ मुसलमानों ने बकरीद का प्रोग्राम बनाया। लीगी नेताओं ने उन्हें इस बात के लिए तैयार कर लिया कि वे ईद पर गाय की कुरबानी दें। इससे हिन्दुओं

२.७१ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

की धार्मिक भावना पर ठेस लगने का भय था। हक को जब यह पता चला तो वे अपने आवश्यक कार्य छोड़कर वहाँ गये तथा मुसलमानों को गौवध न करने के लिए समझाया। लेकिन वे लोग नहीं माने इधर मौलाना हक इस बात के लिए कृत संकल्प थे कि गौहत्या नहीं होने दूँगा। उन्होंने आमरण अनशन की घोषणा कर दी और तैयारी भी करने लगे। तब जा कर कहीं वहाँ के मुसलमानों ने गौहत्या का विचार त्यागा।

इस प्रकार आजीवन हिन्दू मुस्लिम एकता के लिए प्रयत्न करते हुए मौलाना मजहरुल हक जनवरी, १९३० को परमधाम चले गये। उनकी मृत्यु से हिन्दू मुस्लिम एकता का एक श्लाघनीय साधक उठ गया। उनके देहावसान का समाचार सुनकर लाखों लोगों के साथ महात्मा गाँधी भी रो उठे।

विद्वान् देशभक्त—

श्री श्यामकृष्ण वर्मा

पेरिस विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में एक ओर बहुत सी ऐसी अलमारियाँ पुस्तकों से भरी खड़ी हैं, जिन पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा है श्री श्यामकृष्ण वर्मा।

यह नाम उस भारतीय नररत्न का है जिसे भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन का जनक माना जाता है और जो आजीवन विदेशों में रहकर देश की स्वतंत्रता के लिये कार्य करता रहा। उनके देहावसान के बाद उनकी इच्छा के अनुसार उनकी पत्नी ने वर्मा जी का विशाल पुस्तकालय पेरिस के विश्वविद्यालय को दान कर दिया और उक्त विश्वविद्यालय ने आभारस्वरूप उनकी स्मृति बनाये रखने के लिये उनका नाम अलमारियों पर लिखवा दिया।

३१ मार्च, १९३० को जिस समय जिनेवा में उनका देहावसान हुआ उसके एक दिन पूर्व महाप्रयाण का आभास पाकर श्यामकृष्ण वर्मा ने अपनी पत्नी को बुलाकर कहा कि मेरे बाद मेरा पुस्तकालय पेरिस-विश्वविद्यालय को दे देना और मेरे नाम की धनराशि में से अधिकांश भाग शिक्षण-संस्थाओं को दान कर देना। निदान अपने स्वर्गीय पति की सदिच्छा की पूर्ति में श्रीमती वर्मा ने पुस्तकालय पेरिस विश्वविद्यालय को और धनराशि जिनेवा की अनेक शिक्षण संस्थाओं को दान कर स्वर्गीय आत्मा को सन्तोष दिया।

श्रीश्यामकृष्ण वर्मा मूलरूप में एक विद्वान् तथा विद्या-प्रेमी व्यक्ति थे। उन्होंने अनेकानेक वर्षों तक परिश्रम करके संस्कृत, अँग्रेजी तथा अन्य अनेक भाषाओं में प्रकाण्ड पाण्डित्य प्राप्त किया था। उनका विदेशों में संस्कृत भाषा तथा उसके महनीय साहित्य की गरिमा का प्रचार और देश में सामान्य शिक्षा प्रचार द्वारा समाज सेवा

करने का था। बम्बई में शिक्षा पूरी करने के बाद, इनके पिता ने चाहा कि लड़का अब अपने व्यावसायिक कार्यक्रमों में रुचि ले। उनके पिता उस समय बम्बई में व्यापार किया करते थे। किन्तु श्यामकृष्ण ने पिता को अपना जीवन ध्येय स्पष्ट बतला दिया। पिता यह जानकर कि उनका लड़का विद्या तथा ज्ञान का उपयोग पैसा कमाने में नहीं बल्कि शिक्षा प्रचार के द्वारा समाज की सेवा करने में करना चाहता है, तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और अनुमति देकर वह सिद्ध कर दिया कि वे उन संकीर्ण एवं स्वार्थी पिताओं में से नहीं हैं जो बच्चों को समाज-सेवा के परमार्थ कार्यों से विरत कर केवल धन कमाने की दिशा में हठात् विवश कर दिया करते हैं।

श्रीवर्मा ने संस्कृत का अध्ययन करने के साथ भारतीय शास्त्रों का इतना गहन अध्ययन किया कि उनके नूतनता से ओत-प्रोत प्रवचनों तथा लेखों ने तत्कालीन विद्वानों का ध्यान आकर्षित कर लिया था। उनमें युगपुरुष स्वामी दयानन्द जी भी थे। स्वामी दयानन्द जी वर्मा जी की विद्वता से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उन्हें उसे समय का अप्रतिम विद्वान निर्धारित कर लिया और जब। तब उन्हें अपने सम्पर्क में लाकर विचारों का आदान-प्रदान करने लगे।

स्वामी दयानन्द जैसे महापुरुष से प्रमाणित होकर श्यामकृष्ण वर्मा विद्वानों के बीच दिन-दिन चमकने लगे। उन्हीं दिनों आक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय में एक संस्कृत के प्राध्यापक की आवश्यकता हुई और उसके प्रधान ने भारत में स्वामी दयानन्द को उस सन्दर्भ में सहायता करने को लिखा। यद्यपि उस समय भी भारत में संस्कृत विद्वानों की कमी नहीं थी, तथापि स्वामी जी ने वर्मा जी को ही वहाँ भेजने के लिये उपयुक्त माना।

श्यामकृष्ण वर्मा ने स्वामी दयानन्द जी के अनुरोध को अपने मन्तव्य की दिशा में एक अच्छा अवसर समझा। यह उनकी पहली विदेश यात्रा थी। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय पहुँच कर श्री वर्मा जी केवल अध्यापन तक ही सीमित नहीं रहे। बल्कि उन्होंने वहाँ अध्ययन का क्रम भी चालू रखा। अपने इस अध्ययन क्रम में उन्होंने उक्त विश्वविद्यालय से बी० ए० की सम्मानपूर्ण उपाधि प्राप्त करने के साथ-साथ इंग्लैण्ड की धार्मिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक प्रवृत्तियों का भी अध्ययन किया और पाया कि अँग्रेजों में देशभक्ति, प्रगतिशीलता, परिश्रम, समय एवं नियम पालन की दृढ़ता आदि के ऐसे अनेक गुण हैं जिनका प्रसार भारतीयों में होना नितान्त आवश्यक है। उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे जल्दी ही अपना प्रवास-पूरा करके देश जायेंगे और शिक्षा प्रसार के साथ-साथ अपने नये अनुभवों का भी प्रचार करेंगे।

लन्दन-प्रवास में वर्मा जी अन्य अनेक विद्वानों के साथ श्री मैक्समूलर नामक विद्वान् के सम्पर्क में भी आये।

उन्होंने इन विद्वान् महानुभाव में भारतीय धर्म के प्रति एक जिज्ञासा देखी पर साथ ही यह भी पाया कि वे भारतीय-धर्म तथा दर्शन के प्रति अधिक स्पष्ट तथा निस्सन्देह नहीं हैं। इसका कारण भी उन्होंने खोज निकाला वह था-मैक्समूलर का भारतीय धर्म-शास्त्रों का अध्ययन आधार संस्कृत न होकर विदेशी भाषायें तथा व्याख्यायें थीं, जो किसी प्रकार भी प्रामाणिक तथा असंदिग्ध नहीं मानी जा सकती थीं।

श्री वर्मा जी ने श्री मैक्समूलर की इस कमी को दूर करने का विचार किया-क्योंकि उस दशा में हो सकता था कि उक्त जिज्ञासु विद्वान् पथ भ्रान्त हो जाता और भारतीय धर्म-शास्त्रों का विरोधी आलोचक बन जाता। ऐसी दशा में भारतीय धर्म की महिमा को तो हानि होती ही साथ ही उन जिज्ञासु का भी कल्याण न होता।

निदान श्यामकृष्ण वर्मा ने मैक्समूलर से सम्पर्क बढ़ाया। संस्कृत में उनकी रुचि उत्पन्न की, पढ़ाया भी और वैदिक धर्म पर प्रकाश भी डाला। जिसका फल यह हुआ कि उनकी जिज्ञासा ठीक दिशा पाकर इतनी तीव्रता से फलीभूत हुई कि मैक्समूलर विशुद्ध रूप से वैदिक धर्म के प्रशंसक, संस्कृत के विद्वान् और वेदों के अन्वेषक बन गये। वेदों पर मैक्समूलर की खोजें संसार में सबसे अधिक प्रामाणिक मानी जाती हैं। वेदों पर श्रीमैक्समूलर का काम देख कर बहुत से विद्वान् तो उन्हें वेदों का उद्धारक कहने तक में अतिशयोक्ति नहीं मानते। यदि ऐसा मान भी लिया जाये तो भी परोक्ष रूप से श्यामकृष्ण वर्मा को ही उसका श्रेय दिया जायेगा। श्रीवर्मा की प्रेरणा से मैक्समूलर ने जो वैदिक ज्ञान पाया उसका उन्होंने इंग्लैण्ड में खूब प्रचार किया जिससे विदेशों में भारतीय धर्म की महिमा स्थापित हो गई।

श्यामकृष्ण वर्मा अपना प्रवास पूरा कर जब देश लौटे उस समय उन्होंने अनुभव किया कि उनके पास उतने पैसे की कमी है, जो अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये चाहिए। परिवार से पैसा लेना उन्हें उचित न लगा। अतएव कुछ दिनों के लिये वे बकालत के क्षेत्र में उतर गये। बम्बई हाइकोर्ट के बाद कुछ समय तक वे अजमेर में बकालत करते रहे। उसके बाद उन्होंने रतलाम तथा अनेक अन्य देशी रियासतों में दीवान तथा प्रशासन के अनेक ऊँचे पदों पर काम किया और जब देखा कि मतलब भर का पैसा हो गया तब सारे काम छोड़ कर लोक-हितकारी कार्यों के लिये इंग्लैण्ड चल पड़े।

भारतीय स्वाधीनता तथा राजनीतिक सुधारों के लिये उन्होंने प्रयत्न एवं आन्दोलन आरम्भ किया तो इंग्लैण्ड के प्रतिगामी तथा भारत विरोधी तत्वों ने उन्हें हतोत्साह करने का प्रयत्न किया और उन्हें पराधीन देश का नागरिक कह-कह कर अपमानित किया। स्थान-स्थान पर इस अपमान की पुनरावृत्ति इतनी बार हुई कि श्यामकृष्ण वर्मा को अपने उद्देश्य पर एक बार फिर विचार करना पड़ा। वे दिनों, सप्ताहों तथा महीनों सोचते और मनन करते रहे

और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पराधीन देश की विद्या, बुद्धि, बल, नैतिकता तथा धर्म को संसार में मान्यता नहीं मिल सकती और न वह अपने कल्याण के किन्हीं कार्यक्रमों को स्वतन्त्रतापूर्वक चला सकता है। देश की पराधीनता एक भयानक अभिशाप है और जब तक इसको दूर नहीं किया जायेगा, उत्थान अथवा कल्याण का स्वप्न देखना स्वप्न ही रह जायेगा। उन्होंने अपने पूर्व-निश्चित मन्तव्य को हृदय के निभृत कोण में निहित कर लिया और देश की स्वाधीनता के प्रयत्नों में लग गये।

इस दिशा में सबसे पहला काम उन्होंने यह किया कि लन्दन में इण्डिया हाउस नाम से एक विशाल छात्रावास स्थापित किया। इसके पीछे उनका उद्देश्य था कि लन्दन के तरुण भारतीय छात्र एक स्थान पर साथ-साथ रह सकें, जिससे कि उनमें संगठन हो सके और भारतीयता का पूर्ण वातावरण बना रह सके। वे एक साथ बैठकर देश की स्वाधीनता पर विचार कर सकें और उसके लिये यदि कुछ करना चाहें तो सम्मिलित रूप से कर सकें।

‘इण्डिया हाउस’ के पूरा होते ही लन्दन के सारे भारतीय छात्र उसमें आकर रहने लगे। वर्मा उनके बीच आते और उनमें देश-भक्ति तथा स्वतन्त्रता संघर्ष की भावनायें भरते। उनके सम्मुख कार्यक्रम तथा योजनायें रखते। श्री वर्मा की प्रेरणा से भारतीय छात्रों में ज्वलन्त देश-भक्ति का जागरण हो उठा और सब के सब संघर्ष में कूद पड़ने के लिये उतावले हो उठे। वर्मा ने अपनी कोई योजना चलाने से पूर्व लन्दन प्रवास को आये दादा भाई नौरोजी तथा काँग्रेस के संस्थापक श्री ह्यूम साहब से सम्पर्क स्थापित किया और उनके विचार जाने। श्री वर्मा ने पाया कि इन लोगों की योजनारै बड़ी ही मन्द तथा समझौतावादी हैं। श्री वर्मा का विचार था कि देश की स्वतन्त्रता शांतिपूर्ण ढंग से सम्भव नहीं। उसके लिये शस्त्र क्रांति की आवश्यकता है। संसार का कोई भी देश प्रबल शस्त्र-क्रान्ति के बिना स्वतन्त्र नहीं हुआ है और न अभिमानी अंग्रेज सरकार शांति प्रयत्नों द्वारा देश छोड़ने को तैयार होगी।

मनुष्य को अपने विचारों में बड़ा विश्वास होता है। श्री वर्मा साहब को भी अपने विचारों में अखण्ड विश्वास था-उसका एक कारण यह भी था कि उस समय तक सारे देश शस्त्र-क्रान्ति के आधार पर ही स्वतंत्र हुये थे। शांतिपूर्ण आन्दोलन द्वारा भी यह सम्भव हो सकता है उस समय इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। शांति-प्रयत्नों का यह प्रयोग नया तथा पहला था। यह बात दूसरी है कि आज उसकी शक्ति की प्रामाणिकता सिद्ध हो गई है और संसार किसी उद्देश्य के लिए आतंक के स्थान पर शांति का मार्ग अधिक उपयुक्त समझने लगा है।

दादा भाई नौरोजी तथा ह्यूम साहब के विचारों से निराश होकर श्री वर्मा ने भारतीय छात्रों में क्रान्तिकारी भावनाएँ भरने तथा सभा-क्रान्ति की तैयारी करने की प्रेरणा देना शुरू कर दिया। साथ ही उन्होंने छात्रों को

अधिकाधिक आकर्षित करने के लिये, स्वामी दयानन्द, फाबर्ड स्पेनर, छत्रपति शिवाजी तथा महाराणा प्रताप के नाम पर चार छात्र-वृत्तियों की योजना भी चलाई। छात्रावास में रहने तथा छात्र-वृत्ति पाने वाले विद्यार्थियों को एक प्रतिज्ञा करनी होती थी-वह यह कि वे पढ़ लिख कर अँग्रेजों की नौकरी नहीं करेंगे और आजीवन देश की स्वाधीनता के लिये अपनी योग्यता तथा शक्ति का प्रयोग करते रहेंगे।

श्री वर्मा ने लन्दन में 'भारतीय होम लीग' की स्थापना की और 'इण्डियन गॉशिपालाजिस्ट' नाम की एक पत्रिका निकालना शुरू कर दिया। साथ ही ये प्रति वर्ष १८५७ के प्रथम स्वातन्त्र्य-संग्राम की जयन्ती भी मनाने लगे। किन्तु जब उनका पत्र अधिक आग उगलने लगा तब इंग्लैण्ड सरकार ने उन्हें गिरफ्तार करने की योजना बनाई। श्रीवर्मा ने अपना कार्यक्षेत्र बदल दिया। ये लन्दन से पेरिस चले गये और वहाँ से अपनी क्रान्तिकारी पत्रिका निकाल कर क्रान्ति की ज्वाला को हवा देने लगे। इसी समय क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिए वीर सावरकर पर वारण्ट जारी हुआ। वे भी फ्रांस चले आये किन्तु फ्रांस सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर इंग्लैण्ड की सरकार को दे दिया। वर्मा ने फ्रांस सरकार के इस कार्य को उचित न समझा और उसकी आलोचना करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में सावरकर की गिरफ्तारी को चुनौती दी।

इस प्रकार फ्रांस से विरोध हो जाने पर वर्मा ने स्विट्जरलैण्ड में रहकर अपनी योजना आगे बढ़ाने का विचार बनाया। किन्तु तभी अत्यधिक काम का दबाव अस्थिरता से उनका स्वास्थ्य इतना खराब हो गया कि वे स्विट्जरलैण्ड न जा सके और ३१ मार्च, १९३० में जिनेवा में उनका देहावसान हो गया। इन क्रान्ति के महान् उन्नायक श्री श्यामकृष्ण वर्मा का जन्म, १८५७ में कच्छ के निकट मांडवी नामक नगर में हुआ था। आज देश स्वतंत्र हो गया है और इस स्वतन्त्रता में वर्मा का कितना योगदान है इसको ठीक-ठीक नहीं आँका जा सकता, किन्तु देश की स्वाधीनता के लिए, किये गये उनके प्रयत्न तथा आत्मोत्सर्ग निःसन्देह बहुमूल्य तथा महत्वपूर्ण हैं जिसके लिये वे स्वतन्त्र भारत के सदा-सर्वदा श्रद्धा-पात्र बने रहेंगे।

जो अनीति से जूझ पड़ा-

अमर सिंह महतो परिवार

रतनसिंह दुनियाँ की निगाह में भले ही चरखारी का राजा था किन्तु अमरसिंह महतो की आँखों में उसका मोल फूटी कौड़ी के बराबर भी नहीं था। अनीति के हथियारों से सफलता भले ही उसे मिली हो किन्तु उसके कुकर्मों को, कोई भूला न था। अधिकांश लोग बिगाड़ के भय से ऐसे कुकर्मों का तिरस्कार नहीं कर पाते चाहे मन में उसके प्रति कितनी ही घृणा क्यों न हो। अमरसिंह

महतो उन लोगों में से नहीं थे, १८५७ में स्वतन्त्रता संग्राम हुआ। हमीरपुर जिले में महाराज परीक्षित उसमें जी जान से कूद पड़े थे। इस देशद्रोही रतनसिंह ने अपने चाचा परीक्षित के साथ विश्वासघात किया। अपने देश, देशवासियों तथा सगे चाचा के साथ विश्वासघात करने वाले स्वार्थी व्यक्ति को वे पशु ही मानते थे। अँग्रेजों को खुश करने के लिये उसने अपने चाचा के सेनापति के सीने में कीलें ठुकरा दीं। महाराज परीक्षित के समर्थकों को कड़ा दण्ड दिया।

अमरसिंह महतो हमीरपुर जिले के गोहाँड गाँव के छाते-पीते किसान थे। किसान क्या जमींदार ही कहना चाहिए। उनके पास ७०० बीघे जमीन थी। वे अपने घोड़े पर बैठकर कहीं जा रहे थे। राह में रतनसिंह की सवारी मिली। रतनसिंह को देखते ही उन्हें उसके दुष्कर्म चित्रपट की तरह उनके अन्तःपटल पर उभर आये। राजा परीक्षित के सेनापति वीरवार की गज भर छाती पर ठुकराती कीलें और उन्हें देखकर हैसता हुआ निर्दयी रतनसिंह साकार हो उठे। रतनसिंह का वह क्रूर अट्टहास उनके कानों में गूँजने लगा। किस बेशर्मी के साथ उसने कहा था- "देखा रणवीर तुमने अँग्रेज बहादुर की हुकूमत के खिलाफ बगावत करने में राजा परीक्षित की सहायता की उसका अंजाम। चख लिया उसका स्वाद।" देश प्रेम के रंग में रंगे उस रणवीर ने घृणा से रतनसिंह की ओर धूक दिया। इस पर रतनसिंह और भी गरम हो उठा तथा उसके साथ मनमाना दुर्व्यवहार किया। यों तो अमरसिंह ने स्वभाव से विनम्र थे किन्तु उन्हें रतनसिंह को दिखाना था कि इस प्रकार के व्यक्ति सम्मान पाने के लायक नहीं होते। अमरसिंह ने तो उसे नमस्कार नहीं किया न घोड़े से ही उतरे वरन् उपेक्षापूर्वक उसके हाथी से आगे निकल गये। रतनसिंह उनके इस व्यवहार से जल-भुन गया। उसने अपने सैनिकों को गुप्त वेश में गोहाँड ग्राम पर चढ़ाई करके लूट लेने का आदेश दिया। वे लोग गाँव पर चढ़ आये।

अमरसिंह को पहले से ही इसकी आशंका थी। उन्होंने पूरी तैयारी कर रखी थी। रतनसिंह के सैनिक अपने साथ तोपें लाये थे। गाँव वालों के पास तोपें नहीं थीं। महतो जानते थे कि लड़ाई में न तोपों का महत्व है न घोड़ों का। जी जान से लड़ने वाला, बुद्धि बल साथ रखने वाला दल जीतता है। इमली के पेड़ काटकर उन्होंने तोपें बनवा रखी थीं। वे उतना न सही आधा काम तो देंगी ही। यह उनका विश्वास था। यदि हार भी गये तो यह भी जीत ही होगी। सत्य के लिये-आदर्श के लिये लड़ने में एक व्यक्ति हार भी जाय तो कोई बात नहीं दूसरे के लिये राह तो बनती है।

लकड़ी की तोपों का आकार व गोलों की मार ने रतनसिंह के सैनिकों के छक्के छुड़ा दिये। वे भागने ही वाले थे कि गाँव का एक व्यक्ति जो अमरसिंह से जलता था, वह उनसे जा मिला। तोपों का भेद खुलते ही उनका

साहस लौट आया। अधिक संख्या में होने तथा शस्त्रों से लैस होने के कारण वे जीत गये। उन्होंने गाँव को लूटा, अमरसिंह महतो को पकड़कर ले गये तथा चरखारी की जेल में बन्द कर दिया।

शेर का बच्चा शेर ही होता है। अमरसिंह का पुत्र गणेश आयु में छोटा होते हुए भी साहस तथा अनीति से जूझने में कम नहीं था। वह पिता को छुड़ाने तथा रतनसिंह को उसके किये का परिणाम भुगताने के लिये तड़प रहा था।

भाद्रपद माह में महतो को बन्दी बनाया गया था। आश्विन में पितृ अमावस्या के दिन अमरसिंह यह पर्व मना लेने के बाद ही अन्न जल ग्रहण करते थे। इस आयोजन के लिये उनकी पत्नी को चरखारी जाना पड़ा। वहाँ उसने अपने पति की जो दशा देखी तो उसे रोना आ गया। घर आकर उसने उनकी दशा गणेश को बताई। अब गणेश चुप कैसे रह सकता था। छोटा हुआ तो क्या हुआ। उसने प्रतिज्ञा की-पिताजी को छुड़ाये बिना तथा अन्यायी रतनसिंह को दण्ड दिये बिना मैं घर की देहरी पर कदम नहीं रखूँगा।''

गणेश चल पड़ा। अपने साथ उसने अपना घोड़ा तथा कुछ धन लिया। सीधा वह स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी ताँत्या टोपे के पास पहुँचा। उसने ताँत्या टोपे को सारी बात बताई। रतनसिंह को दण्ड देने की प्रार्थना की। गणेश ने कहा-इसके लिये मुझे अपनी जमीन, घर, धन, जीवन सब कुछ न्योछावर क्यों न करना पड़े करूँगा। आप मेरी सहायता कीजिये।

ताँत्या टोपे गणेश के साथ गोहाँड़ आये। गाँव तथा आसपास के गाँवों की जनता में रतनसिंह जैसे स्वार्थी राजा तथा अँग्रेजों के प्रति तीव्र घृणा थी। ताँत्या टोपे ने इन्हीं गाँवासियों की सेना तैयार की। उन्हें प्रशिक्षित किया। बारह गाँव के नवयुवक इस सेना में आ जुटे। लोगों के मन में अन्याय, अत्याचार से जूझने का उत्साह तो होता है किन्तु पहला कदम उठाने में सभी हिचकिचाते हैं। किसी एक ने आगे कदम रखा तो फिर सब चल पड़ते हैं। यही यहाँ हुआ। देखते ही अच्छी खासी सेना तैयार हो गई।

२४ जनवरी, १८५८ के दिन इस थोड़े ही समय में प्रशिक्षित सेना ने गणेश महतो के नेतृत्व में चरखारी को जा घेरा। यह सैनिक जो खेतों में हल चलाते-चलाते आये थे। जिन्हें युद्ध का तथा मोर्चेबन्दी का कोई अनुभव नहीं था। चरखारी राज्य के वेतन भोगी प्रशिक्षित सैनिकों पर भारी पड़ने लगे।

जन सहयोग का अनुपम उदाहरण इस घेरे में प्रस्तुत हुआ। इस तथ्य को उन अँग्रेजों ने भी स्वीकार किया जो यह कहते थे कि भारतवासी आजादी पाने के लायक नहीं हुए। समय पर रसद पहुँचाने में गाँव वाले मुस्तैद थे। घर वालों ने यह समझ लिया था कि हमारे घर का एक आदमी खेत पर नहीं जाकर समय की पुकार पर इस लड़ाई में गया है।

रतनसिंह को लेने के देने पड़ गये। उसने अँग्रेजों से सहायता माँगी। अँग्रेज स्वयं फँसे हुए थे। उन्होंने मना कर दिया। दो महीने तक घेराबन्दी रही। रतनसिंह को घुटने टेकने पड़े। चरखारी पर क्रान्तिकारी सेना का अधिकार हो गया। अमरसिंह महतो स्वतन्त्र किये गये। ताँत्या टोपे को चरखारी कोष से तीन लाख रुपये तथा १४ तोपें भेंट की गई।

कुछ दिनों चरखारी पर अमरसिंह महतो का अधिकार रहा। ताँत्या टोपे लौट चुके थे। रतनसिंह अँग्रेजों के पास पहुँचा। अँग्रेजों की सहायता से उसने चरखारी पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया।

आदर्शों के लिये जीवन अर्पित करने वाले अमरसिंह तथा गणेश महतो इस पराजय से निराश नहीं हुए। अपना सर्वस्व वे दौब पर लगा चुके थे। वे कुछ दिनों गुप्त रहे। समय देखकर ताँत्या टोपे से जा मिले। पीछे से उनकी जमीन जायदाद सब अँग्रेजों ने जब्त करके नीलाम करदी। उन्हें उस क्षेत्र के लोगों के हृदयों में कितना ऊँचा स्थान मिला इसका सहज अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उनके मकान को जिस व्यक्ति ने खरीदा वह लोगों की भर्त्सना के कारण उसका उपभोग तक न कर सका।

ये दोनों पिता पुत्र ताँत्या टोपे के दो हाथ बनकर रहे। नवम्बर, १८५८ को महारानी विक्टोरिया के राज्य की घोषणा होने से ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज्य समाप्त हो गया। अमरसिंह तथा गणेश अपने गाँव लौट आये। पहले उनके पास जमीन थी-धन था किन्तु अब उससे भी बड़ी वस्तु उनके पास थी। आस-पास के गाँवों में इनका बड़ा आदर सम्मान होता था। धन का मूल्य तो होता है पर वह केवल साधन के रूप में। ये पिता, पुत्र भी उसे इतना ही महत्व देते थे। भगवान ने दो-दो हाथ दोनों को दिये हैं। इनके रहते भला धन का अभाव क्या खटकेगा? १८५९ में अमरसिंह महतो का देहावसान हो गया।

गणेश महतो काफी दिनों तक जीवित रहे। उनका विवाह बचपन में ही हो गया था। अपने परिवार को आदर्श ढंग से चलाते रहे। अपने बच्चों को भी वे यही शिक्षा देते रहे-''बेटा! मनुष्य को धन-दौलत और औहदे से मत तौलना। मनुष्य को नापने का गज है उसका चरित्र और उसके सद्विचार। यह मनुष्य योनि ही सबसे बड़ी सम्पदा है। इसे सार्थक करना चाहिए।''

मनुष्य का आदर उसके सदगुणों से हो धन-वैभव से नहीं। धन-वैभव से यदि उसका मूल्यांकन होने लग जाएगा तो समाज में अव्यवस्था फैल जायगी। इस मान्यता के मानने वाले गणेश महतो ने अपने शेष जीवन को इसी ध्येय के लिए समर्पित कर दिया कि समाज में ऐसी जाग्रति भरी जाय जिससे व्यक्ति सत्कार्यों का अभिनन्दन करना सीखे तथा दुष्कर्म करने वालों को प्रताड़ित किया जाय ताकि कोई भी व्यक्ति दुष्कर्म करने का दुस्साहस न कर सके।

उनका विवाह पहले ही हो चुका था। बच्चे-बच्चियों का पालन-पोषण करने के साधन जुटाने के बाद

बचा हुआ समय वे इसी कार्य में लगाते थे। उनके इन प्रयासों का शुभ परिणाम यह हुआ कि उस क्षेत्र में अन्याय करने वालों का प्रतिकार करने की एक सामाजिक चेतना का उदय हुआ। सच है अनीति-अन्याय तभी तक फलता-फूलता है जब तक उसकी प्रताड़ना करने के लिये जनमानस को संगठित नहीं किया जाता। यदि गणेश महतो जैसे व्यक्ति इस प्रकार की चेतना जगाने के लिये निकल पड़े तो वह सहज हो जाय।

महतो परिवार का यह उत्सर्ग व्यर्थ नहीं गया। अँग्रेजों को भारत छोड़कर जाना ही पड़ा। रतनसिंह ने जिस स्वार्थ के वशीभूत हो अनीति का मार्ग पकड़ा वह स्वार्थ का साधन राज्य भी स्थायी न रहा उल्टे उसे करोड़ों देशवासियों की घृणा का पात्र बनना पड़ा। वह राज्य और सम्पदा पुनः देश की सम्पदा ही रही। अमरसिंह और गणेश महतो अपने इस सुकृत्य के द्वारा करोड़ों देशवासियों के श्रद्धा के पात्र ही नहीं बने वरन् आने वाली पीढ़ियों के प्रेरणात्रोत भी बने।

शोषण के विरुद्ध बगावत करने वाले— मौलवी अहमदुल्ला

सादिकपुर के मौलवी परिवार को अँग्रेज अपना शत्रु समझते थे। वह उसे सदैव नीचा दिखाने का प्रयत्न करते रहते थे। पर यह परिवार अपनी सम्पन्नता ही नहीं वरन् विद्वता के कारण सम्पूर्ण भारत के मुसलमानों की दृष्टि में सम्मान का स्थान प्राप्त किये हुए था। हजारों मुसलमान इस परिवार के शिष्य थे। इस परिवार के प्रमुख थे—मौलवी अहमदुल्ला।

सीमा प्रान्त की पहाड़ियों में हिन्दुस्तानी मुसलमानों की छावनी कार्यरत थी जो अँग्रेजों को सदैव नाकों चने चबवाती रहती थी और इस छावनी का सञ्चालन करते थे मौलवी अहमदुल्ला। यह मौलवी १८४५ से १८७२ तक निरन्तर ब्रिटिश सरकार से लोहा लेने वाले आन्दोलन का नेतृत्व करते रहे। इस आन्दोलन को अँग्रेज इतिहासकारों ने 'बहावी आन्दोलन' का नाम दिया है। बाद में इसका रूप जमायत-उल-उलेमा तथा सीमा प्रांत के खुदाई-खिदमतगार आन्दोलन के नाम से लोकप्रिय हो गया।

ब्रिटिश सरकार इस मौलवी परिवार के प्रत्येक सदस्य पर कड़ी दृष्टि रखती थी और शंका की दृष्टि से देखती थी। पर उसको प्रति जन साधारण की श्रद्धा को देखकर ब्रिटिश सरकार को कुछ भी करने का साहस न होता था। १८५२ में मौलवी साहब के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए कुछ आधार मिल गया।

रावलपिण्डी छावनी के मुंशी का नाम था मुहम्मदवली। पुलिस के हाथ में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण पत्र आ गये जिनसे विदित होता था कि मौलवी साहब सतियाना ग्राम की विद्रोही छावनी को हथियार, रुपया

और आदमी भेजकर सहायता करते रहते हैं। यह पत्र मुहम्मदवली के नाम लिखे गये थे।

मुंशी मुहम्मदवली तथा उनके अन्य साथियों को दण्डित करके उस प्रकरण को समाप्त किया गया। सन् १८५७ में जब पटना का वातावरण भी उत्तेजित हो उठा तो तत्कालीन कमिश्नर टेलर ने उन्हें बन्दी बनाने का विचार किया। घर पर जाकर गिरफ्तार करना पुलिस के बश की बात न थी। अतः छल द्वारा उन्हें पकड़ने की बात तय की गई।

१९ जून, १८५७ को कमिश्नर ने मौलवी साहब तथा उनके साथियों को अपने घर बुलाने का निमन्त्रण भेजा गया। सन्देश वाहक ने सूचना दी कि कमिश्नर साहब नगर में शान्ति रखने के उपायों पर चर्चा करना चाहते हैं। योजना पूर्व आयोजित थी अतः उन्हें कमिश्नर साहब के घर पर ही गिरफ्तार कर लिया गया।

अपने प्रिय देशभक्त नेता की गिरफ्तारी पटना की जनता सहन न कर सकी। ३ जुलाई, १८५७ को वह क्रान्तिकारी दिवस जब मुगल सम्राट का हरा झण्डा लेकर वहाँ के जन समूह ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। एक सिख रेजीमेंट भेजकर भीड़ को तितर-बितर करने के आदेश दिये। जनसमूह ने डटकर मुकाबला किया।

३० व्यक्तियों को उस भीड़ में से गिरफ्तार किया गया। मुकदमें चलाये गये और ८ व्यक्तियों को फाँसी की सजा दी गई। उस समय भीड़ का नेतृत्व पीर अली कर रहे थे। जब वह फाँसी के तख्ते पर चढ़ने लगे तो उन्होंने कहा बहुत शीघ्र ही वह समय आने वाला है जब अँग्रेज इस देश से भगा दिये जायेंगे।

मौलवी अहमदुल्ला बहुत समय तक नजर बन्द रहे। उनसे किसी को मिलने न दिया जाता था। वह तभी जेल से मुक्त हो पाये जब कमिश्नर टेलर की सेवायें समाप्त की गईं। सन् १८५७ की ज्वाला बुझाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने लाखों भारतीयों का खून बहाया। सीमाप्रान्त विद्रोही छावनी की गतिविधियों में कोई अन्तर नहीं आया बल्कि उस समय क्रान्ति में भाग लेने वाले अनेक विद्रोही देशभक्तों के लिए वह छावनी आश्रय स्थल बन गई थी। अनेक विद्रोहियों ने अँग्रेजों की चौकियों तथा छावनियों को साफ करने में सफलता प्राप्त की।

सरकारी गुप्तचर विद्रोही छावनियों का भेद प्राप्त करने के लिये सदैव प्रयत्नशील रहते थे। मई, १८६२ में पुलिस इन्स्पेक्टर गज्जन खाँ ने करनाल में चार बंगाली मुसलमानों को गिरफ्तार कर लिया, जिनके पास कुछ स्वर्ण मुद्रायें तथा कागजात थे जिनसे सिद्ध हो रहा था कि सीमाप्रान्त की चारों विद्रोही छावनियों के लिये भेजे गये हैं। वह पत्र सांकेतिक भाषा में लिखे गये थे फिर भी पढ़ लिये गये। गज्जन खाँ ने अपने उच्च अधिकारियों को प्रसन्न करने के लिए अपने पुत्र को भी उन बंगाली मुसलमानों के साथ भेजकर सारी गतिविधियों का रहस्य जान लिया।

सम्पूर्ण भारत में तलाशियाँ तथा गिरफ्तारियाँ की गईं। मौलवी साहब के छोटे भाई याहिया अली को केस का मुख्य अभियुक्त माना गया। उन्हें फौसी की सजा दी गई। हाई कोर्ट में अपील करने पर फौसी का दण्ड आजीवन कारावास में बदल दिया गया। सरकार तो पूरे परिवार को तबाह करना चाहती थी, याहिया अली के साथ उनके ही परिवार के अबदुर्रहीम तथा इलाही बख्श को भी लम्बी सजायें दी गईं और उनकी सारी सम्पत्ति जब्त कर ली गई।

मौलवी अहमदुल्ला भी मौका देख रहे थे। पटना में दमन नीति का उन्होंने कोई उत्तर न दिया। पर ३ सितम्बर, १८६३ को मौलवी साहब के नेतृत्व में छावनी के विद्रोहियों ने टोपी स्थित ब्रिटिश चौकी पर हमला कर दिया। सीमाप्रान्त के सभी पहाड़ी क्षेत्रों द्वारा मौलवी साहब को सहायता मिल गई सरकारी खजाने से करोड़ों रुपये खर्च हो गये, पर शान्ति की स्थापना फिर भी न हो सकी।

सरकार ने अब प्रलोभन देकर पठान कबीलों को अपनी ओर मिलाना चाहा इसके लिए एक-एक व्यक्ति को कई हजार रुपये देकर अपनी ओर मिलाया। तब कहीं स्थिति पर काबू किया जा सका।

सीमाप्रान्त का यह युद्ध अंग्रेजों को बहुत महंगा पड़ा। उन्होंने १८६५ में मौलवी को गिरफ्तार कर लिया। अब सरकार तोड़-फोड़ करके अपने पक्ष को प्रबल करना चाहती थी उसने मौलवी अहमदुल्ला के मुख्तार इलाही बख्श को रिहाई का प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लिया और सरकारी गवाह बनाया। इलाही बख्श को मौलवी याहिया अली के साथ सजा दी गई थी।

सरकार ने अपने गवाहों को डटे रहने के लिए बड़ी-बड़ी रकम दी। मौलवी साहब पर अनेक आरोप लगाये गये। सरकार यह सिद्ध करना चाहती थी कि उसके विरुद्ध युद्ध की योजनायें बनाई गई हैं, जन साधारण को युद्ध के लिए भड़काया गया है। सीमाप्रान्त की विद्रोही छावनियों को धन, जन और शस्त्रों से सहायता दी गई। कई-कई आरोप एक साथ लगाये गये। जब न्यायधीश उनके हाथ की कठपुतली थी तो देशभक्तों के साथ कभी न्याय हो सकेगा, यह सोचना ही व्यर्थ था। मौलवी साहब को फौसी की सजा सुना दी गई। बहुत दौड़-धूप करने पर इतनी ही रियायत उनके साथ की गई कि उनके मृत्यु-दण्ड को आजीवन कारावास में बदल दिया गया।

सारी अचल सम्पत्ति जब्त कर ली गई। चल सम्पत्ति को नीलाम किया गया। पुस्तकों का विशाल संग्रह नष्ट किया गया और उन्हें जिन्दगी के दिन काटने के लिये अंडमान भेज दिया गया। अंडमान की जेल में भी वह यही प्रयत्न करते रहते थे कि किसी प्रकार सीमाप्रान्त की छावनियों को मजबूत बनाया जा सके।

पुलिस ने खोज-खोज कर उन व्यक्तियों को गिरफ्तार करना शुरू कर दिया जिसका थोड़ा भी परिचय मौलवी साहब से था। लार्ड मेयो जो उस समय भारत के वाइसराय

थे उन्होंने एक और चाल चली। देश के प्रमुख मुसलमान नेताओं को अपनी ओर मिलाकर ऐसे भाषण दिलवाये जो ब्रिटिश शासन की वफादारी प्रकट करते थे। मौलवी साहब भला यह क्यों सहन करते उन्होंने शेरअली नामक एक पठान से ८ फरवरी, १८७२ को लार्ड मेयो के अण्डमान आने पर उनकी हत्या करा दी। लार्ड मेयो जब मोटर बोट में चढ़ रहे थे मार डाले गये।

भारत को ब्रिटिश शासन से मुक्त कराने में जिन-जिन देशभक्तों ने अपनी सम्पत्ति, परिवार और प्राणों की आहुति दी उनमें से मौलवी अहमदुल्ला भी एक हैं। उनकी महत्त्वपूर्ण सेवाओं को देश कभी भी न भूल सकेगा।

मनस्वी आइजन हावर

अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति इवाइट डी० आइजन हावर वस्तुतः एक योद्धा थे। उनके जीवन का अधिकांश समय सेना का अंग बनकर व्यतीत हुआ था। कठिनाइयों से जूझने में उन्हें मजा आता था। सैन्य क्षेत्र धैर्यपूर्वक और दूरदर्शिता के साथ हल करते थे। घबराहट और उतावली कभी किसी ने उनके चेहरे पर नहीं देखी। गुत्थी जितनी ही पेचीदा होती वे उतने ही अधिक सतर्क और गम्भीर देखे जाते। बड़े शिकार पर हमला करने से पूर्व सिंह जिस तरह अपने शरीर और मन को एकाग्र करके पैनी उछाल की तैयारी करता है उसी तरह वे बड़ी समस्याओं से निपटने के लिए अपना सारा मनोयोग एकत्रित करते थे।

२४ सितम्बर, १९५५ को उन्हें भयंकर दौरा पड़ा था। डाक्टरों ने कई वर्ष तक पूर्ण विश्राम करने की सलाह दी थी। पर वे थोड़ा सुधार होते ही फरवरी, १९५६ में होने वाले राष्ट्रपति चुनाव के लिए खड़े हो गये। कुछ दिन बाद इलिटिस रोग का आक्रमण हुआ और फलतः दूसरे ही दिन एक बहुत बड़ा आपरेशन हुआ। दो महीने बाद ही वे सेनफ्रांसिस्को में हुए रिपब्लिकन नेशनल अधिवेशन के मंच पर प्रमुख वक्ता के रूप में बोलते और राष्ट्रपति पद के लिए मनोनीत होते पाये गये।

जो डाक्टर उन्हें मरणासन्न एवं जीवित मृतक कहते थे उन्होंने कुछ दिन बाद घोषित किया कि भयंकर बीमारियों को परास्त करके अब राष्ट्रपति पूर्ण स्वस्थ हो गये हैं। विज्ञप्ति के दो सप्ताह बाद ही एक समारोह में ठण्ड लग जाने से वे बीमार पड़े और डाक्टरों ने उन्हें कई मास बिस्तर में पड़े रहने योग्य बताया किन्तु दो सप्ताह बाद जब वे नारी सम्मेलन में भाग लेने पेरिस जा पहुँचे तो लोग सोचने लगे उनकी बीमारी कहीं मजाक तो नहीं।

७० वर्ष की आयु में जबकि उनके कार्य काल का अन्तिम वर्ष था तब वे योरोप, अफ्रीका, एशिया के अनेकों महत्त्वपूर्ण सम्मेलनों में धकाने वाली लम्बी यात्रा पर जाते रहे और नौजवानों जैसे उत्साह के साथ गुत्थियों को सुलझाने में ऐड़ी-चोटी का पसीना एक करते रहे।

आइजनहावर किस मिट्टी के बने हैं। इसका विश्लेषण करने वाले ने बताया था कि पैतृक साहसिकता, कठोर

२.७७ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

अनुशासन, दृढ़-निश्चय, मर मिटने की जीवट, धैर्य, अनुशासन, दृढ़ विवेक का मिश्रण, बीमारियाँ, कठिनाइयाँ और हँसी-खुशी के हलके-फुलकेपन की धातुओं को मिला जुलाकर विधाता ने उन्हें गढ़ा है।

हृदय रोग के बार-बार होने वाले दौरों उन्हें तनिक भी विचलित न कर सके, वरन् जिन्दगी की हिफाजत के लिए प्रयुक्त होने वाले अनेक सतर्क समाधान अपनाने के लिए शिक्षा देने वाले अध्यापक बनकर रह गये। जवानी में पूरे पियक्कड़ और चेन स्मोकर थे। सिगरेट उनके होठों से छूटती न थी, पर जब उन्होंने जाना कि इससे उन्हें खतरा है तो एक बार ही जिन्दगी भर की संग्रहीत आदत को तिनके की तरह तोड़ कर फेंक दिया और फिर उन्होंने मुँह से नहीं लगाया। बार-बार उत्तेजित होने की उन्हें आदत थी, पर दिल के दौरों पर इसका बुरा प्रभाव पहुँचा, यह समझने के बाद उनने अपनी आदत यकायक सन्तों जैसी बना ली। उनका शरीर भारी था, पर जब इसकी अनुपयोगिता समझ ली तो नपे-तुले आहार पर इस कदर दृढ़ हो गये कि भार फिर बड़ा कभी नहीं, घटता ही गया।

कामों का अत्यधिक दबाव और उलझनों का अम्बार लगा रहने पर भी वे पूरे आठ घंटा सोने के अभ्यस्त रहे। गोल्फ खेलना सम्भव न हो सका तो उसके देखने के लिए पहुँचते रहे। दवाएँ उन्होंने कम से कम खाईं। जब तक बिलकुल ही विवशता न आ गई तब तक उन्होंने औषधियों के प्रति उपेक्षा ही दिखाई।

आइजन हावर अमरीका के राष्ट्रपति चुने गये। इस उपलक्ष्य में उन्हें देश-भर से लाखों उपहार मिले। इन उपहारों में एक मामूली झाड़ू भी थी। भेजने वाले ने लिखा था, “आपने अपने भाषण में कहा था कि यदि मैं चुन गया तो मेरा काम राज्यतन्त्र में व्याप्त गन्दगी को साफ करना होगा। मुझे विश्वास है कि मेरा यह नन्हा-सा उपहार आपको सदा आपके उस वचन की याद दिलाता रहेगा।” इन उपहारों की प्रदर्शनी का उद्घाटन करते हुए राष्ट्रपति ने उस झाड़ू को ऊँचा उठाते हुये कहा-“यही है मेरा सर्वोत्तम उपहार। इसमें देश की आत्मा ने मुझसे सीधी बात-चीत की है।”



स्वतन्त्र भारत के आधार स्तम्भ

स्वतन्त्र भारत के कीर्तिस्तम्भ

भारत एक ऐसा देश है जहाँ अनेकों धर्मों तथा अनेकों संस्कृतियों के अनुयायी रहते हैं। अपनी-अपनी धार्मिक एवं सांस्कृतिक मान्यताओं में आस्था रखते हुए भी सभी एक अखण्ड भारत के अभिन्न अंग हैं। भारत माता किसी धर्म विशेष की नहीं, हर धर्मानुयायी की आराध्य है। इस आराध्य की जब-जब उपेक्षा हुई है तथा साम्प्रदायिकता को प्रश्रय मिला है, देश की अखण्डता को खतरा पहुँचा है। विदेशी आतताइयों को इस धरती पर चढ़ दौड़ने का अवसर इन्हीं विषम परिस्थितियों में मिला है। हजार वर्ष की गुलामी उस उपेक्षा की ही परिणति थी।

पर ऐसे अवसर भी आये हैं जब समस्त भेद-भावों को भुलाकर माँ की लाज बचाने के लिए देश के हर वर्ग ने बड़ी-चढ़ी कुर्बानी प्रस्तुत की है, चाहे वह सिक्ख रहा हो अथवा पारसी, हिन्दू रहा हो या मुसलमान। पिछला स्वतन्त्रता संग्राम इस बात का साक्षी है। देश को जब भी आवश्यकता पड़ी तो सम्प्रदाय एवं मजहब की दीवारों को तोड़कर हर वर्ग के व्यक्ति ने अविस्मरणीय त्याग एवं बलिदान का उदाहरण प्रस्तुत किया। इतिहास के पन्नों में जब भी उनकी गौरव गाथाएँ नेत्रों के समक्ष होकर गुजरती हैं, बरबस ही उनके प्रति हृदय में श्रद्धा उमड़ने लगती है तथा ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्र के वे सजग प्रहरी मरे नहीं, उनकी अमर-आत्माएँ हमारे इर्द-गिर्द ही मंडरा रही हैं, देशभक्ति की जीवन्त प्रेरणाएँ संचारित कर रही हैं। उनके जीवन के ऐतिहासिक संस्मरणों को बारम्बार दुहराने का मन करता है।

हमें स्वतन्त्रता तभी मिल सकी जब सभी वर्गों के लोगों ने संगठित होकर अत्याचारों, समस्याओं के विरुद्ध संग्राम छेड़ा सन् १८५७ का स्वाधीनता संग्राम सदा ही स्मृतिदायक बना रहेगा जिसमें सभी कौम के लोगों ने राष्ट्र हित में अपने प्राणों की बाजी लगा दी। नाना साहब, फिरोजशाह, तांत्या टोपे, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, सफ़जुल हुसैन, बरेली के बहादुर खान सबने मिलकर एक साथ ही अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया था साम्प्रदायिक सद्भावनाओं का यह प्रयास सचमुच अद्भुत था। सर्वविदित है कि इन सेनानियों के कुशल नेतृत्व में १८५७ के दौरान समस्त उत्तर प्रदेश में स्वाधीन शासन स्थापित किया गया था। उनकी संगठित शक्ति के समक्ष अंग्रेजों को अन्ततः उखड़ना ही पड़ा।

१८५७ की क्रांति में शाहजादा फिरोजशाह का नाम अतुलनीय है। वह २० वर्ष की आयु में ही फकीर का वेश धारण करके भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़ा

था, लगातार १८ वर्षों तक वह अंग्रेजी सरकार से टक्कर लेता रहा तथा लक्ष्यनिष्ठ होकर कष्ट-कठिनाई झेलता रहा। अन्त में उसने १८७५ ई० में अत्यन्त गरीबी की समस्या से पीड़ित होकर अपना बलिदान प्रस्तुत किया।

उस पारसी महिला श्रीमती कामा के बलिदान को कौन भूल सकता है। जिसने लगातार ३५ वर्ष तक (१८८५-१९२०) स्वाधीनता की चिन्ता में अपने पारिवारिक सुख को भी तिलांजलि दे दी। शादी होने के कुछ दिन बाद ही सामाजिक कार्यों से च्युत करने के उद्देश्य से उन्हें लन्दन भेज दिया गया था, परन्तु वहाँ भी वे अपने उद्देश्य के प्रति समर्पित रही। बाद में उन्होंने पेरिस को अपना कार्यस्थल चुना तथा वहाँ 'वन्देमातरम्' पत्र के प्रकाशन से क्रांति की चिंगारी को फैलाने में सफल हुई, राष्ट्र को तिरंगा झंडा उन्हीं की देन थी जो आज हम सब के गौरव का केन्द्र बना हुआ है।

गुरुगोविन्द सिंह के 'पंच प्यारे' की तरह पंजाब के पाँच शेरों ने भारत की स्वतन्त्रता हेतु जो बलिदान प्रस्तुत किया, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। वे पाँच शेर अजीतसिंह, करतारसिंह, गुरदत्तसिंह, भगतसिंह तथा उधमसिंह थे, जिन्होंने अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये थे।

अजीतसिंह लगातार भारतीय स्वतन्त्रता के लिए लड़ते रहे। १९०७ ई० में उन्हें जेल भी जाना पड़ा। सरकारी हस्तक्षेप के कारण १९०९ ई० में उन्हें देश छोड़ कर फारस, जर्मनी, ब्राजील आदि देशों में भटकना पड़ा। अन्ततः वे यूरोप पहुँचे तथा वहाँ काफी थक जाने के बावजूद आन्दोलन चलाते रहे। उन्हें टी०बी० हो चुकी थी, परन्तु प्रगति पथ के पथिक को शरीर की चिन्ता क्यों हो। जीवन की उनकी एक ही लालसा थी भारत को स्वतन्त्र रूप में देखना। सो पूरी भी हुयी। वे ठीक १४ अगस्त १९४७ को भारत पहुँचे तथा अगले ही दिन स्वतन्त्र भारत के स्वतन्त्र नागरिक कहलाने का सौभाग्य प्राप्त कर सके।

करतारसिंह १७ वर्ष की आयु में ही सैनफ्रांसिस्को की गदर पार्टी में संलग्न हुए थे। विदेशी भूमि से ही लगातार स्वाधीनता संग्राम को तीव्रतर बनाने का प्रयास करते रहे। १९१४ ई० में वे भारत पधारे तथा अगले ही वर्ष अखिल भारतीय विद्रोह का आयोजन किया। इसके आरोप में उन्हें फाँसी की सजा सुनाई गई। सरकार द्वारा जब मृत्यु दण्ड के विरुद्ध अपील करने का प्रस्ताव उनके समक्ष रखा गया तो, उन्होंने कहा- "मेरे पास यदि एक से अधिक जीवन होता तो उनमें से प्रत्येक को अपने देश के लिए न्योछावर करना मेरे लिए बड़े सम्मान की बात होती।"

गुरदत्तसिंह १९०९ ई० में सिंगपुर से पंजाब लौटने पर स्वतन्त्रता संग्राम में शामिल हुए। भेद-भाव पूर्ण अप्रवासी

३.२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

कानून का उल्लंघन करने के उद्देश्य से उन्होंने १६५ साथियों के साथ जलमार्ग से कनाडा के लिए प्रस्थान किया। रास्ते में संख्या ३७२ तक पहुँच गई थी। परन्तु तट पर पहुँचते ही वहाँ की सरकार ने उन्हें वापस लौटने का आदेश दिया। अन्ततः वे कलकत्ता वापस पहुँचे, परन्तु यहाँ उनका लाठी, बन्दूक से स्वागत किया गया। कितने ही लोग मारे गये। गुरुदत्तसिंह किसी तरह वहाँ से निकल सके।

भगतसिंह का संग्राम में प्रवेश १९२४ ई० में हुआ। १९२८ ई० में उन्होंने भगवती चरण बोहरा के साथ समाजवादी रिपब्लिकन का कार्यभार सँभाला। क्रान्ति के संदेश को विश्व के कोने-कोने में पहुँचाने के उद्देश्य से उन्होंने असेम्बली में बम फेंकने का दृढ़ कदम उठाया। पकड़े जाने पर कोर्ट में उनके बयान इस प्रकार थे- “हमारे बम फेंकने का उद्देश्य मानवता के विरोधी तत्वों के कान खोलना है। २३ मार्च, १९३१ को उन्हें फाँसी दी गई।”

उधमसिंह का सरकार के नाम संदेश यह था कि- राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए मुझे जान भी देनी पड़े तो चिंता नहीं। बुढ़ापे तक इस अवसर की ताक में कौन बैठे मुझे तो जवानी में ही मरने की इच्छा है। उनसे नाम पूछा जाने पर वे “काम मुहम्मदसिंह आजाद” बताया करते, जो पंजाब के तीन प्रमुख सम्प्रदायों और उनके जीवन लक्ष्य- ‘आजादी’ का प्रतीक था। वस्तुतः स्वतन्त्रता सारी धर्म संस्कृतियों से उभर कर आने वाले भारत माता के सपनों के बल पर हमें मिली है। उसे अखण्ड बनाये रखना हर नागरिक का मूलभूत कर्तव्य है।

जिनकी अध्यात्म साधना सार्थक रही

सुभाष बोस

कटक-उड़ीसा के एक सम्पन्न वकील की पत्नी ने जब यह देखा कि उनका बेटा सुभाष एक धोती लपेटे जमीन पर सो रहा है। सहज वत्सल मातृहृदय ने चिंता उत्पन्न कर दी कि कहीं लड़के को कुछ हो न जाय तो प्यार से डाँटते हुए कहा- क्या पागल हो गये हो सुभाष, जमीन पर क्यों सो रहे हो ?

माँ हमारे पूर्वज ऋषि-मुनि भी तो जमीन पर ही सोया करते थे। क्या उन्हें भी पागल समझती हो- बालक ने सरलतापूर्वक कह दिया।

“नहीं बेटा। वे पागल थोड़े ही थे - वे तो महान् थे परन्तु तेरी उम्र भी अभी क्या है तू जमीन का कड़ापन नहीं सह सकेगा, बेटे ! मेरी बात मान, आ पलंग पर सोजा। माँ ने कहा और बिस्तर पर सोने का आग्रह करने लगी।

माँ-बेटे की बातचीत सुनकर पास ही सो रहे जानकी नाथ बोस भी जाग गये। वे पूछने लगे-“क्या बात है ?”

“अरे यह अपना सुथ है न”- माँ ने कहा- “पता नहीं कब से पलंग पर से उठ कर जमीन पर सो रहा है। मैं उसे पुकार रही हूँ।”

पिता ने पूछा यह किसने सिखाया बेटा जमीन पर सोना।

“सिखाया किसने पिताजी। गुरुजी कह रहे थे कि हमारे ऋषि-मुनि महापुरुष थे और वे जमीन पर ही सोया करते थे, मैं भी महान बनूँगा पिताजी इसलिए जमीन पर सोता हूँ।”

“ठीक है ठीक है। जमीन पर फिर सोया करना पहले माँ का कहना मान लो”- वकील साहब ने कहा और बालक सुभाष उठ कर माँ के आँचल में जाकर सो गया। जानकी नाथ बोस नौद की खुमारी में बालक की कोमल भावनाओं को नहीं पकड़ सके। जब सुबह हुई तो उन्होंने अपने बेटे की समझाया जमीन पर सोने से कोई महाम नहीं बन जाता बेटा महान बनने का एक ही मार्ग है कठोर तप साधना और दुःखी-दरिद्रों की सेवा करना। जानकी नाथ जी अच्छे पढ़े-लिखे और आधुनिक विचारों के होने से भारतीय संस्कृति के मूल-तथ्यों को भी उपेक्षित करने में नहीं चुकते। इसे अन्ध-भक्ति का रूपांतरण कहें या चकाचौंध और ऐश्वर्य वैभव से भरी पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव कि उन्होंने अपने पुत्र को भारत की सांस्कृतिक धारा से काट कर पश्चिमी सभ्यता के वातावरण में पालना पोसना चाहा। लेकिन उसे संयोग ही कहना चाहिए कि सुभाष को रेवेनशा कालजियल स्कूल में एक ऐसे अध्यापक मिले जो भारतीय संस्कृति के अनन्य भक्त थे। कुशाग्र बुद्धि सुभाष की अंतर्निहित प्रतिभा उनसे छुपी न रही और वे समय-समय पर उन्हें सांस्कृतिक या ऐतिहासिक गौरव गाथाएँ सुनाने लगे।

सुभाषचन्द्र बोस पर अपने इन अध्यापक का ऐसा प्रभाव पड़ा कि जब भी कभी वे सुनते शहर में कोई साधु महात्मा पधारे हैं तुरन्त उनका दर्शन करने के लिए दौड़ पड़ते। उन्हीं दिनों कटक में पधारे स्वामी विवेकानन्द। सुभाषचन्द्र बोस भी पहुँचे, उनके दर्शन को। प्रथम भेंट ने ही अध्यात्म का महानतम तथ्य उद्घाटित कर दिया। सुभाषचन्द्र बोस तब गीता, रामायण और वेदान्त के सिद्धान्तों का अध्ययन करने लगे थे। स्वामी जी से इन विषयों पर लम्बी चर्चा होती रही। सुभाषचन्द्र बोस ने स्वामी विवेकानन्द से प्रभावित होकर संन्यास दीक्षा की प्रार्थना की परन्तु उत्तर मिला “संन्यास के लिए तैयारी और अभ्यास की आवश्यकता है। साधना के प्राथमिक सोपान पूरे कर लो तब तुम्हारी अन्तरात्मा स्वयंमेव ही तुम्हें इस जीवन में दीक्षित कर देगी।”

“इसके प्राथमिक सोपान कौन से हैं ?”

सेवा और सेवा-बस। इसी साधना का स्थूल अभ्यास तुम्हारी अगली सीढ़ी बन जायेगा। सेवा-शब्द से ही स्मृति

पटल पर अपने पिता का दिया हुआ उपदेश भी उभर उठा और वे तत्पर हो गये । अध्ययन और पठन-पाठन के बाद सुभाष बाबू सेवा के अवसर ही तलाश करते । धीरे-धीरे इस क्रम में अन्तर आया और सेवा-साधना प्रथम धर्म बन गयी ।

उन्हीं दिनों नगर में हैजा फैला । लोग घड़ाधड़ मरने लगे और आश्चर्य कि अपना प्राण-प्रिय लगने वाला परिजन भी ऐसे अवसर पर शत्रु की भाँति नजर आने लगा । हैजे के रोगी छूने से भी हैजा हो जाता है- इस तथ्य ने सारा संसार का मोह और कर्तव्य अपने तक सीमित कर दिया । नगर के गिने चुने डॉक्टर इस महामारी से लड़ने के लिए आगे आये परन्तु उन्हें सम्पन्न घरों की परिचर्या से अवकाश नहीं मिलता ।

सुभाषचन्द्र बोस ने अपने जीवन मंत्र को साधने का उपयुक्त अवसर पाया । मूलतः उनके अन्तःकरण में आध्यात्मिक उत्कर्ष की भावना थी इसलिए सेवा कोई अहंकार भी नहीं होता था अपने और साथियों को लेकर उन्होंने निर्धन बस्तियों को अपना कार्यक्षेत्र बनाया । जिस घर में बेटा अपनी माँ को छूने से भी परहेज करता था उस घर को सुभाष ने अपने साथियों सहित मन्दिर माना और उसमें निवास कर रहे जीते जागते देवताओं की पूजा की । जिस घर में उन्हें कोई विलाप करता दिखाई पड़ता घुस जाते उसमें और रोगी को औषधि देने से लेकर उसका वमन साफ करने तक का दायित्व निभाते । इस रूप में लोगों ने उन्हें भगवान का दूत, भयहारी प्रभु का अवतार ही जाना । लोग उनकी प्रशंसा भी करने लगे । उनकी ख्याति भी फैलने लगी । सुभाष की पुकार भी मचने लगी ।

लेकिन सुभाष को कीर्ति की कामना नहीं थी । कामना थी किसी प्रकार यह संकट टल जाये । कीर्ति से निर्लिप्त होते हुए भी उनका बढ़ता प्रभाव हैदरअली नामक एक व्यक्ति को नहीं भाया । वह चाहता था कि इस मोहल्ले के सभी लोग मुझे सबसे महान समझें । इसलिये हैदर ने सुभाष और उनके साथियों को धमका दिया- खबरदार जो अब इस मोहल्ले में कदम भी रखा एक-एक की टाँगें तोड़ दूँगा ।

कोई और अवसर होता तो सुभाष हैदर को अवश्य ठीक करते परन्तु इस समय ध्यान लोगों की सेवा-सुश्रूषा पर देना था । इसलिए सुभाष की टोली ने उस मोहल्ले में कदम ही न रखा । दो चार दिन हुए । सुभाष बाबू अपने साथियों सहित पास वाले मोहल्ले में काम कर रहे थे । अचानक हैदर आया दौड़ता हुआ । जिसने कुछ दिन पहले अपना चेहरा भयावह बनाकर धमकी दी थी उस समय की मुखमुद्रा शायद ही भुलाई जा सके परन्तु अब उसके चेहरे पर दूसरे ही भाव थे । याचना और आर्तता के भाव । उस समय उसकी मुखमुद्रा देखकर यह कह पाना ही मुश्किल था कि यह व्यक्ति किसी को धमकी भी दे सकता है । हैदर ने सुभाष को देखते उनके पाँव पकड़

लिये- मेरे देवता सहायता करो मेरी । यदि आपने अभी भी मुझे क्षमा नहीं किया तो मेरा पूरा घर उजड़ जायेगा । सारी बात इत्मीनान से कहने के लिए धीरज बँधाकर सुभाष ने सब कुछ सुना और जाना कि हैदर पर क्या बीत रही है । कटु विगत को भुलाकर सुभाष ने अपने कुछ साथियों को उसके साथ भेज दिया । सेवा उपचार से हैदर का परिवार ठीक हो गया और वह सुभाष को जीवन भर देवता मानता रहा ।

महामारी का प्रकोप जब शांत हुआ तो आत्म-अवलोकन कर सुभाष बोस ने यह अनुभव किया कि संन्यास जीवन की पात्रता उन्होंने अर्जित कर ली है । उन्हें यह भी आवश्यक लगा कि अब किसी योग्य गुरु के मार्गदर्शन में साधना पथ पर अलग कदम बढ़ाया जाना चाहिए । घर पर रह कर तो वैराग्य नहीं पाया जा सकता है । उसे सिद्ध करने के लिए तो घर परिवार के मोह जाल से मुक्त होना ही पड़ेगा । योग्य गुरु की तलाश में सुभाष बाबू घर छोड़ कर चल दिये । माता-पिता को जब यह पता चला तो वे बड़े दुःखी हुए और उन्होंने सुभाष को खूब दुँढ़वाया भी ।

लेकिन कुछ दिनों बाद वे स्वयं ही लौट आये । इस दौरान में उन्होंने काशी, वृन्दावन, मथुरा, हरिद्वार, गया आदि कई तीर्थ स्थानों पर भ्रमण कर लिया था योग्य गुरु को खोजने के लिए, उनके योग्य कोई संत गुरु तो नहीं मिला परन्तु उनकी खोज भी असफल नहीं रही । सच्चे सन्त की तलाश में उन्होंने कई आश्रम छान डाले परन्तु हर जगह वही लगा कि जो आध्यात्मिक प्रदीप उन्हें चाहिए वह यहाँ नहीं है । इन स्थानों पर आध्यात्मिकता तो ऊपरी आवरण नकाब भर बन कर रह गया है । कहीं गाँजे की चिलम चल रही है तो कहीं सुल्फा चरस खींची जा रही है । व्यभिचार, पाप, लूट, ठगी का पूरा मायाजाल सर्वत्र फैला है । इस यात्रा के दौरान उन्होंने स्वामी विवेकानन्द का साहित्य पढ़ा । अध्ययन के बाद वे इस सत्य से परिचित हुए कि- साधक का सच्चा गुरु और विश्वस्त पथ-प्रदर्शक तो उसका अन्तःकरण है, उसकी अन्तःप्रज्ञा है, उसी की शरण जाना चाहिए । अन्तःप्रज्ञा का प्रकाश पाने के लिए स्वाध्याय भी एक साधन है । गीता, रामायण आदि ग्रन्थ साधना के मार्ग पर आरूढ़ साधकों की अनुभूतियाँ ही हैं । स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा पाकर ही वे सेवा-साधना में प्रवृत्त हुए थे और उन्हीं की प्रेरणा से उन्होंने सच्चा गुरु भी पाया ।

गीताध्ययन-फिर उनका नित्य-कृत्य बन गया । इस ग्रन्थ का अध्ययन करते ही वे घर लौट पड़े । परिवार में रहकर, कर्तव्यों का पालन करते हुए भी आत्मा का ज्योतिर्मय प्रकाश पाया जा सकता है । बाद में गीता को सदैव अपने पास रखते । आजाद हिन्द सेना के अभियानों का नेतृत्व करते हुए भी उन्होंने गीता की प्रति अपने पास रखी और विश्वासपूर्वक कई अवसरों पर कहा कि मेरी प्रेरणा और शक्ति इस ग्रन्थ से निःसृत होकर मुझ तक पहुँचती है ।

३.४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

सुभाष बोस का भटकाव समाप्त हुआ। अपना इष्ट और उपास्य बाहर खोजने के बाद वे वहाँ से निराश हो अन्तर्जगत की ओर मुड़े। घर लौटने पर माँ को बड़ा दुःखी पाया। बिना कुछ कहे घर से चले जाने के शोक में वे बीमार हो गयीं थी। बड़े क्षुब्ध मन से कहा माँ ने—
“सुभाष तूने मेरी मृत्यु के लिए जन्म लिया है।”

“नहीं माँ— सुभाष बाबू ने अपनी माँ को आश्वासन देते हुए कहा मैं अपनी गलती पर था अब तुम्हें छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा।” लम्बी यात्रा में उन्हें कई दुःख, तकलीफ भी सहने पड़े। कभी भूखे भी रहना पड़ा कभी पीने को पानी भी नहीं मिलता। इस प्रकार भूखे-प्यासे रहने के कारण उनका शरीर दुर्बल हो गया था। घर लौटते ही वे बीमार हो गये। कई माह तक बीमार पड़े रहे। धीरे-धीरे स्वस्थ हुए तो पढ़ाई आरम्भ कर दी अध्ययन और अभ्यास के लिए उन्हें बहुत कम समय मिला था फिर उन्होंने १९१५ ई० में एम० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की।

अध्यात्म साधना के साथ-साथ दैवी गुणों—आध्यात्मिक विशिष्टताओं का विकास भी होता चल रहा था। उन दिनों प्रेसीडेन्सी कॉलेज में प्रोफेसर ऊटन नाम के एक अंग्रेज अध्यापक थे। बात-बात में भारतवासियों का अपमान उनका स्वभाव बन गया था। कई भारतीय छात्रों को उनके मुख के सामने उन्होंने भारतीय संस्कृति और धर्म पर गन्दगी उछाली। सुभाष बाबू से यह सहन नहीं हुआ, वे बहस करने लगे और ऊटन से अपने शब्द वापस लेने के लिए कहने लगे परन्तु प्रोफेसर और नीचता पर उतर आये। सुभाष बाबू ने कसकर एक थप्पड़ लगा दिया। बलिष्ठ और शक्तिशाली हाथों से पड़ा करारा तमाचा गाल की अपेक्षा अहं पर अधिक चोट कर गया। इस अपराध में सुभाष बाबू और उनके कुछ समर्थकों को कॉलेज से निकाल दिया गया। स्वाभिमानी सुभाष ने कॉलेज छोड़ना मंजूर कर लिया पर अनीति के सम्मुख सिर न झुकाया।

सन् १९१९ में उन्होंने बी० ए० की परीक्षा पास की। अब तक उन्होंने अंग्रेजी शासन की अत्याचारी आतताई गतिविधियों का सजग अध्ययन कर लिया था और यह संकल्प किया अंग्रेजी शासन को भारत से खदेड़ कर ही दम लूँगा यही मेरा जीवन लक्ष्य है। पिताजी चाहते थे कि सुभाष बाबू विलायत जाकर पढ़ें और अच्छे पद पर आराम का जीवन बितायें। परन्तु स्वामी विवेकानन्द के कथनानुसार उनकी सेवा साधना अगले क्रम पर विकसित हो रही थी। सामाजिक सेवा का कर्तव्य भाव उन्हें पुकार रहा था। पिता से दृढ़तापूर्वक इन्कार करने के बाद भी वे इंग्लैण्ड गये और वहाँ से आइ० सी० एस० होकर लौटे। जब नौकरी का प्रश्न उठा तो उन्होंने दृढ़तापूर्वक इन्कार कर दिया कि मैं नौकरी नहीं करूँगा। वह शासन तंत्र जो

मेरी मातृभूमि के पैरों में जंजीर बना है का पुर्जा बनना उन्हें स्वीकार नहीं था। इसके बाद का उनका जीवन देश की एक लम्बी कहानी है। जिसका क्रमवार विवरण देने के लिए कई ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं फिर भी यह माना जाता है कि लिखी और प्रकाशित सामग्री पर्याप्त नहीं है।

आजाद हिन्द सरकार के सूचना मंत्री एस० ए० अय्यर ने यह स्वीकार किया है कि उनका जीवन और पूरी दिनचर्या ईश्वर के प्रति अडिग निष्ठा तथा कर्मयोग के अनुसार संचालित हुआ करती थी। नेताजी ने पच्चीस माह तक पूर्वी एशिया में भारतीय मुक्ति आन्दोलन का नेतृत्व मिला। उनकी दृढ़ मान्यता है कि वे अपनी आस्थाओं को अडिग बनाते चलते।

सिंगापुर में नेताजी अक्सर बहुत रात गये रामकृष्ण आश्रम से स्वामी जी को लाने के लिए कार भेजते। स्वामी जी के पास आधी-आधी रात तक बैठ कर वे आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा किया करते। सत्संग में स्फूर्त हो वे अपने अध्ययन कक्ष में चले जाते और भोर होने तक काम करते रहते थे।

एस० ए० अय्यर ने लिखा है—“सभी चुनौतियों का सामना करने की शक्ति उन्होंने ईश्वर में अपनी अगाध निष्ठा से प्राप्त की थी। नेताजी के आकर्षक व्यक्तित्व और शक्ति शाली नेतृत्व का यह रहस्य था।

माँ की महिमा के दर्शन

आजाद हिन्द फौज के संगठन के लिए सुभाषचन्द्र बोस एक बार बैंकाक भी गये। वहाँ पर्याप्त मात्रा में रहने वाले प्रवासी भारतियों ने उनका भव्य स्वागत किया। एक विशाल सभा में नेताजी ने परतन्त्र भारत की दयनीय स्थिति का वर्णन करते हुए भारत भूमि की स्वतन्त्रता के लिए प्रवासी भास्तीयों को प्रेरित किया। नेताजी का एक-एक शब्द इतना मार्मिक था कि उसने यहाँ भारतीयों को कुछ करने की प्रेरणा से उद्देहित कर दिया। असंख्य प्रवासी भारतीयों ने भारतभूमि को स्वतन्त्र कराने का दृढ़ संकल्प लिया।

नेताजी का उद्देश्य यहीं पूरा नहीं हो जाता था। उन्हें आजाद हिन्द फौज के संगठन के लिए धन की भी सख्त जरूरत थी। धन के अभाव में सेना के लिए अस्त्र-शस्त्र खरीदने में बाधा हो रही थी। परन्तु नेताजी समझ नहीं पा रहे थे कि इस बात को कैसे कहें?

कुछ महिलाओं ने नेताजी के इस संकोच को समझ लिया। उन्होंने मंच पर आकर अपने आभूषण दान देने प्रारम्भ कर दिये। चार-छह महिलाओं ने भाव भीने स्वरो में अपनी यह श्रद्धांजलि अर्पित की फिर तो एक भव्य वातावरण ही बन गया। महिलाओं में यह होड़-सी लग गयी कि कौन पहले आकर अपने आभूषण दे। यहाँ तक कि बैंकाक की महिलाओं ने भी अपने गहने देने प्रारम्भ कर दिये।

यह देखकर नेताजी भावाभिभूत हो गये। यह वही मंच था जहाँ कुछ दिनों पूर्व रासबिहारी बोस को बड़ा प्रयास करने के बाद भी एक हजार पौण्ड की राशि कठिनाई से ही प्राप्त हुई थी। नेताजी रूँधे हुए कण्ठ से बोले—“पुत्र कुपुत्र हो सकता है, माता कुमाता नहीं हो सकती। मुझे यहाँ निराश, दुःखी और लाचार देखकर सैकड़ों रूपों में मेरी माँ मेरी लाज छिपाने के लिए यहाँ भी आ गयीं। माँ के दो हाथों से ही मैंने अभी तक दुलार पाया था किन्तु आज तो माँ का ऐसा प्रेम मुझ पर उमड़ा है कि हजार हाथों से मेरी माँ मुझे दुलारते मेरा रूप सँवारने के लिए आ गयी है। भारत देश की आजादी के दर्शन मेरे भाग्य में बदे हैं या नहीं, मैं नहीं जानता। किन्तु आजादी के इस अभियान में मुझे माँ की महिमा के दर्शन हो गये, मैं सचमुच कृतार्थ हो गया।” मातृ रूप की इस महिमा को सुनकर वहाँ उपस्थित प्रत्येक श्रोता की आँखें श्रद्धा से सजल हो उठीं।

सर्वोपरि शक्ति मनुष्य

आजाद हिन्द सेना के लिये धन संग्रह किया जा रहा था। सुभाषचन्द्र बोस के आवाहन पर मलाया निवासी अपना सर्वस्व सौंप देने की होड़ में थे। ऐसी ही एक सभा में एक शाम नेताजी ने स्वर्णदान की अपील की। दूसरे दिन हजारों व्यक्तियों ने स्वर्णदान किया। एक व्यक्ति ने वहाँ पहुँचकर अपने घर का सारा सोना दान देते हुए नेताजी से कहा—क्या मेरी पात्रता इतनी तुच्छ है कि आप हमसे सोने की मिट्टी माँगते हैं? क्या उससे बढ़ कर हमारे पास और कोई वस्तु नहीं?

नेताजी उस शौर्य आग्रह को सुनकर गद्गद हो उठे। छलकते नेत्रों को रोककर उन्होंने कहा—आपमें से हर व्यक्ति देवता है और जहाँ देवता मिल जायें वहाँ धन की जरूरत नहीं रह जाती, आज से आप सब मेरे सेनापति और अब मैं एक सिपाही की तरह काम करूँगा।

क्रान्ति धर्मी —

लाला हरदयाल

समय का धर्म गति है। इसी गति के साथ अभिन्न रूप से ‘परिवर्तन’ और ‘क्रान्ति’ शब्द जुड़े हुए हैं। भारत के राजनैतिक इतिहास को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि समय की गति का अनुसरण करने वाली क्रान्ति लाख दबाने पर भी दब नहीं सकी। क्योंकि वह उस युग की आवश्यकता थी। पंजाब में जब सरदार अजीत सिंह और लाला लाजपतराय को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध जन-चेतना जगाने की गतिविधियों के संचालन के कारण ‘ब्रिटिश रेगुलेशन तीन के अन्तर्गत नजरबन्द कर दिया गया। पर इनके नजरबन्द किये जाने से क्रान्ति का पहिया जाम नहीं

हो गया। क्रान्ति को नजरबन्द नहीं होना था, सो नहीं ही हुई। उसके स्थान पर कई क्रान्तिकारी नेता निकल आये। उन्हीं में से एक विख्यात नाम है—‘लाला हरदयाल’ का जिन्होंने विदेशों में रहते हुए समर्थ सशस्त्र क्रान्ति करने के उद्योग में महत्वपूर्ण सहायता दी थी।

उन्नीसवीं सदी के आठवे दशक के प्रारम्भिक वर्षों में, दिल्ली में जन्मे लाला हरदयाल को ईश्वर ने विलक्षण स्मरण शक्ति से विभूषित किया था। जिस बात को पढ़ लेते या सुन लेते वह उन्हें सदा के लिये याद हो जाती। यह अनुदान जिसे मिला हो उसके लिए विद्याध्ययन और विश्वविद्यालयों की डिग्रियाँ पाना सहज सरल होता है। साथ ही उन डिग्रियों के बल पर किसी भी कॉलेज या विश्वविद्यालय में उच्च पद पर आसीन हो सकना भी। किन्तु क्या ये अनुदान केवल व्यक्तिगत लाभ के लिए मिलते हैं तो फिर इनसे व्यक्तिगत स्वार्थ साधना ही क्यों की जाय उनका उपयोग सार्वजनिक हित में क्यों न हो।

लाला हरदयाल ने यह सोचते हुए अपनी इस विलक्षण स्मरणशक्ति का सदुपयोग अपने ही हित में नहीं राष्ट्र के हित में करना ब्रेयस्कर समझा। उन्होंने आराम-तलबी न पसन्द करके सतत कर्मठता और कष्ट-कठिनाइयों का मार्ग चुना—राष्ट्रीय क्रान्ति का मार्ग। वे चाहते तो मजे से देश विदेश के किसी कॉलेज या विश्व-विद्यालय में मान्य प्रोफेसर या प्रिंसिपल के पद पर रहकर पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों का लेखन किया करते। धन, मान और आराम सब उन्हें सहज सुलभ होता किन्तु उन्होंने इस ईश्वरीय अनुदान का महत्व समझा और उसका उपयोग वैसे ही महत्वपूर्ण कार्य में किया जहाँ किया जाना चाहिए।

मेधावी छात्र होने के कारण उन्होंने एम० ए० में इतने अंक प्राप्त किये कि उन्हें उच्च शिक्षा के लिए इंग्लैण्ड जाकर पढ़ने के लिए सरकारी छात्रवृत्ति मिली। उस छात्रवृत्ति से वे इंग्लैण्ड गये और ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में पढ़ने लगे। किन्तु उनकी यह पढ़ाई अधिक दिनों तक जारी न रह सकी। उन्होंने अन्तःकरण से आती आवाज को सुना—“तुम अकेले ही उच्च शिक्षा प्राप्त करके सम्पन्न और सुखी जीवनयापन कर लो इससे क्या होने वाला है। देश पराधीन है। देशवासी दुःखी और त्रस्त हैं। अकेले व्यक्ति की प्रगति, सुख और सम्मान तब तक बेमानी हैं जब तक वह जिस समाज में रहता है वह भी प्रगतिशील, सुखी और स्वतन्त्र नहीं होता।” अतः उन्होंने व्यक्तिगत सुख साधन की अपेक्षा देश को स्वतन्त्र कराने के लिए काम करना उचित समझा और ऑक्सफोर्ड में चल रही पढ़ाई को छोड़कर अपने देश आ गये।

उनके दिल्ली आने से पहले ही यह स्थान क्रान्तिकारी गतिविधियों का केन्द्र बनता जा रहा था। रास बिहारी बोस और मास्टर अमीरचन्द मिलकर भीतर ही भीतर क्रान्ति की आग सुलगा रहे थे। स्कूलों और व्यायामशालाओं के माध्यम से ऐसे कई युवक खोज कर

संगठित प्रशिक्षित भी किये जा सके थे जो समय आने पर प्राणों पर खेलकर भी ऐसे काम कर दिखायें जो अनगिनत देशवासियों के हृदय में देशभक्ति का ज्वार उमड़ाने में सहायक हो सकें। उन्होंने जब अपने मन की बात इन लोगों को बतायी तो मास्टर अमीरचन्द्र व रासबिहारी बोस ने उनका हार्दिक स्वागत किया और कुछ समय के लिए वे दिल्ली की क्रांतिकारी गतिविधियों के सूत्र संचालक ही बना दिये गये।

हार्डिगज बम के केस के समय वे ही दिल्ली के क्रांतिकारी संगठन के नेता थे। ब्रिटिश राजधानी कलकत्ता से बदल दिये जाने के उपलक्ष्य में २३ दिसम्बर को वायसराय लॉर्ड हार्डिगज की विराट और भव्य शोभायात्रा के पीछे अंग्रेज सरकार का यही उद्देश्य था कि भारतवासियों पर अपनी शक्ति और वैभव का सिक्का जमा दें किन्तु क्रांतिकारियों ने उनके इस उद्देश्य को सफल नहीं होने दिया। लॉर्ड हार्डिगज का जुलूस जब चाँदनी चौक की ओर बढ़ा तभी एक भयंकर धमाके के कारण जुलूस में भगदड़ मच गयी। लॉर्ड हार्डिगज पर बम फेंका गया। वह तो बाल-बाल बच गया पर उसका ए० डी० सी० मारा गया था। रंग में भंग हो गया, महीनों की तैयारी और लाखों रुपयों का खर्च बेकार गया अंग्रेज सरकार का। लोगों के दिलों पर उनकी शक्ति और वैभव की धाक तो नहीं बैठी उलटे यह भावना पुष्ट हुई कि इन्हें भगाया भी जा सकता है।

हार्डिगज बम केस के बाद जो गिरफ्तारियाँ हुई उनमें लाला हरदयाल नहीं थे। वे क्रांतिकारी आन्दोलन को गति देने के लिए विदेश जा पहुँचे क्योंकि यहाँ रहने पर उनका पकड़ा जाना सुनिश्चित था। इस केस में मास्टर अमीरचन्द्र, अवधबिहारी, भाई बालमुकुन्द और बसन्त कुमार विश्वास को फाँसी की सजा हुई और हनुमन्त सहाय और बलराज भल्ल को सात-सात वर्ष की कालेपानी की सजा हुई। क्रांति के सूत्र संचालक रासबिहारी बोस और लाला हरदयाल विदेश चले गये। वहीं से उन्होंने अपना यह स्वतन्त्र अभियान चलाया जो आगे चलकर गदर पार्टी और आजाद हिन्द सेना के रूप में सामने आया।

इन तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि उस समय भी जब ब्रिटिश ताज के अन्तर्गत जो विशाल साम्राज्य था उसमें सूर्य कभी अस्त नहीं होता था, जबकि अधिकांश भारतवासी ब्रिटिश राज्य को उखाड़ ही फेंकना असम्भव मानते थे, उस अन्धकार युग में भी कितने ही लोग ऐसे थे जो ब्रिटिश राज्य की समाप्ति को सुनिश्चित सा मानते हुए प्राण-पण से उसकी जड़ों में तेल डालने में लगे हुए थे। उन्हीं में से एक लाला हरदयाल भी थे। कहना न होगा कि आज भी जो लोग नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक क्रांति की बात करते हैं या उसके लिये अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं को, अपनी भी आर्थिक प्रगति

को बिसार कर युग परिवर्तन या सांस्कृतिक नैतिक पुनरुत्थान के अभियान में प्राण-पण से जुटे हैं। बहुत सम्भव है उसका भी वैसा ही सत्परिणाम देखने को मिले। जिसकी आज कल्पना ही नहीं की जा सकती। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में इसे देखा जाय तो यह प्रभात आना सुनिश्चित है जिसकी आज के अन्धकार युग में सम्भावना दुष्कर प्रतीत होती है।

लाला हरदयाल जब विदेश पहुँचे तो वहाँ भी उन्हें कई भारतवासी स्वदेश की स्वतन्त्रता का सुखद स्वप्न देखते हुए मिले। उस समय ऐसे कई भारतवासी विदेशों में रहकर भारत को स्वतन्त्र करने के लिये काम कर रहे थे। डा० पाण्डुरंग सदाशिव खाने खोजे इसी उद्देश्य से विदेश गये थे। कई भारतीय सुरेन्द्रमोहन बोस, अधरचन्द्र 'लश्कर' खगेन दास, तारकनाथ दास तथा गिरीन मुखर्जी आदि प्रमुख थे। अच्छी तरह से अमेरिका में जमे हुये थे। पंजाब के प्रवासी भारतीयों ने अमेरिका में रहते हुए भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए बहुत काम किया था। खाने खोजे की इण्डियन इण्डिपेंडेंस की तरह 'हिन्दी एसोसियेशन' भी इसी अभियान में जुटी हुई थी। हिन्दी से उनका भाषा नहीं भारतवासी से तात्पर्य था यह जानकर सुखद आश्चर्य होता है कि उस समय के विदेशी पंजाबियों के मानस में राष्ट्रीयता की भावना थी। उसकी तुलना में आज की पृथक् खालिस्तान की माँग कितनी छोटी और ओछी लगती है।

लाला हरदयाल ने इस हिन्दी एसोसियेशन को 'गदर पार्टी' के रूप में विकसित किया। लालाजी बहुत सुन्दर व्याख्यान दे लेते थे। उन्होंने अमेरिका में भारतीय सभ्यता और भारतीय दर्शन पर ऐसे पाण्डित्यपूर्ण और हृदयग्राही भाषण दिये थे कि सुनने वाले दंग रह गये। अमेरिका वासी उनकी इस प्रतिभा से बहुत प्रभावित हुए। कई विद्यालयों की ओर से उनके पास भारतीय दर्शन के प्रोफेसर बनने के प्रस्ताव आये। जिन्हें स्वीकार करके वे विदेशों में सम्पन्न और सम्मानित जीवनयापन कर सकते थे। किन्तु वे इस उद्देश्य से तो विदेश नहीं गये थे। उनके हृदय-कुण्ड में तो कुछ दूसरी ही आग जल रही थी।

उन्होंने वहाँ गदर-पार्टी का गठन किया जिसका उद्देश्य प्रवासी भारतीयों की सहायता से भारत में सफल विद्रोह करना था। वे इस पार्टी के मन्त्री थे। अध्यक्ष थे बाबा सोहन सिंह और उपाध्यक्ष थे बाबा केसर सिंह, कोषाध्यक्ष बने पं० काशीराम जोशी जो बाद में इसी विद्रोह के लिए भारत आये थे।

गदर-पार्टी द्वारा "गदर" नामक एक पत्र का भी प्रकाशन किया गया। इस पत्र के सम्पादन में लाला हरदयाल ने अपनी बौद्धिक क्षमताओं का नियोजन किया। नवम्बर, १९१३ में गदर का पहला अंक प्रकाशित हुआ। इसी अंक में 'गदर' पत्र का उद्देश्य भी स्पष्ट किया गया था। १९१३ के पहले नवम्बर को भारतीय इतिहास

में एक नये युग का सूत्रपात होता है, क्योंकि आज विदेश में अपनी भारत की भाषा में अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध संग्राम का आरम्भ होता है। हमारे पत्र का नाम क्या है ? 'गदर'। हमारा कार्य क्या है ? 'गदर'। यह 'गदर' कहाँ होगा ? भारत में। कब होगा ? कुछ सालों में। क्यों होगा ? क्योंकि अब भारत की जनता ब्रिटिश राज्य के अत्याचार के जुए को झेलते-झेलते उकता चुकी है और वह उसे आगे झेल नहीं सकती।

पत्र कई भारतीय भाषाओं में छपता था और दूर-दूर तक फैले हुए भारतवासियों को एक उद्देश्य-सूत्र में बाँधने का काम करता था। यह हांगकांग और सिंगापुर तक जाता था। सर्वत्र इसका स्वागत होता था। पंजाब में तो इसके सम्बन्ध में कई लोकगीत भी बन गये थे। पत्र के साथ ही संगठन का काम भी चलता था।

स्थान-स्थान पर सभायें आयोजित की जाती थीं। इनके माध्यम से धन संग्रह का काम होता था। लोगों में अपने देश को स्वतन्त्र कराने के लिये कितना जोश था इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि जब धनदान की बात आती थी तो लोग अपनी बैंक पास-बुकों को ही भेंट कर देते थे जिसका अर्थ होता था अपनी सारी सम्पदा का दान।

गदर-पार्टी के उद्देश्य के पीछे मात्र जोश रहा हो सो बात नहीं। उसको लाला हरदयाल सैद्धान्तिक अधिष्ठान देकर चले थे। गदर-पार्टी का दृष्टिकोण राष्ट्रीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय था। भारत के स्वतन्त्रता के लिये ही नहीं जहाँ कहीं भी उसके सदस्य रहते थे वे वहाँ यदि स्वतन्त्रता आन्दोलन चलता था तो उसमें पूरी-पूरी सहायता करने के भी कटिबद्ध थे।

प्रथम विश्वयुद्ध के समय विद्रोह का उपयुक्त समय समझकर १९१६ की २१ फरवरी क्रान्ति के लिए निर्दिष्ट हुई। इसमें बर्लिन की क्रान्तिकारी कमेटी और जर्मन सरकार का भी समुचित सहयोग लिया जाना था किन्तु क्रान्ति की यह योजना और तिथि गुप्त नहीं रह सकी। जिसके फलस्वरूप युद्ध सामग्री व क्रान्तिकारियों से भरे हुए जहाज तट पर लगते ही पकड़े लिये गये। क्रान्ति लगभग असफल हुई। पकड़े गये लोगों पर कई मुकद्दमे चले, कईयों को फौसी व जन्म कैद हुई।

१९१४-१८ के बीच का क्रान्ति प्रयास असफल हुआ इसका यह अर्थ यह नहीं है कि वह निष्फल गया। यद्यपि तत्कालीन इतिहास लेखकों ने सत्य पर पर्दा डाला है। फिर भी जितने तथ्य उपलब्ध हैं वे भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। लाल हरदयाल का अपना एक महत्व है जिसे भुलाया नहीं जा सकता। यह बात दूसरी है कि वे अपनी इस असफलता से निराश होकर सदा के लिये राष्ट्रीय आन्दोलन से हाथ खींच गये पर अपने जीवन के पूर्वाद्ध में उन्होंने जो आदर्श प्रतिष्ठापित किये उनसे कई लोगों ने प्रेरणा ली।

उनके अलग हो जाने पर भी क्रान्ति का प्रवाह तो बढ़ता ही गया और भारत को राजनैतिक स्वतन्त्रता मिली। राजनैतिक क्रान्ति के बाद क्रान्ति के अगले सोपानों पर भी हमें उसी प्रकार चढ़ना होगा। उसके लिये लाला हरदयाल का यह राष्ट्र प्रेम हमें बल देगा यह निश्चित है।

स्वतन्त्रता संग्राम के क्रान्तिकारी—

शम्भुनाथ आजाद

मद्रास हाईकोर्ट के आस-पास सुबह से ही भीड़ एकत्रित होने लगी। छोटे-छोटे बच्चे तक अपने पिता की अंगुलियाँ पकड़े बड़ी उत्सुकता से बढ़ते चले जा रहे थे। आज शहर में चर्चा थी कि मद्रास बम-काण्ड के अपराधियों को सजाएँ सुनाई जायेंगी। प्रातः ९ बजे पुलिस की गाड़ी शम्भुनाथ आजाद तथा अन्य क्रान्तिकारियों को लेकर न्यायालय पहुँची। गाड़ी को देखते ही 'भारत माता की जय' 'देशभक्त अमर रहें' के नारों से आकाश गूँज उठा। देशभक्तों ने बाहर निकल कर उनके स्वर में स्वर मिलाया।

न्यायालय के अन्दर का कमरा खचाखच भरा था फिर भी वातावरण एकदम शांत था। क्रान्तिकारियों के ओजस्वी चेहरों पर विशेष प्रकार की चमक थी। वकीलों तथा उपस्थित जनसमूह की दृष्टि देशभक्तों पर ही थी। निश्चित समय पर न्यायाधीश उपस्थित हुए। लोगों के मस्तिष्कों में अनेक प्रकार के विचार उठ रहे थे। सबके कान न्यायाधीश की ओर लग गए। उन्होंने बम-काण्ड की स्थिति का संक्षेप में वर्णन करते हुए क्रान्तिकारियों के भाग्य का निर्णय सुना दिया। शम्भुनाथ आजाद और प्रेमप्रकाश को आजीवन कारावास का दण्ड देकर काला पानी भेजने की व्यवस्था करदी गई।

अन्य साथियों को सजा दी गई। निर्णय सुनाकर न्यायाधीश महोदय न्यायालय से ऐसे निकल रहे थे मानो अपने पुत्र का ही अन्तिम संस्कार कर लौटे हों।

अपार जनसमूह अपनी सजल नेत्रों से क्रान्तिकारियों को एकटक देख रहा था। लोगों के मन में घोर निराशा थी, जबकि क्रान्तिकारियों के चेहरों पर तेज झलक रहा था। वे दृढ़ता के साथ पुलिस की लारी की ओर बढ़ रहे थे। भीड़ पुलिस के नियन्त्रण को तोड़कर अपने देशभक्तों के दर्शन हेतु आगे बढ़ रही थी। गाड़ी स्टार्ट हुई और सबकी आँखों से ओझल हो गई।

अक्टूबर, १९२३ में अमृतसर में क्रान्तिकारियों की एक गुप्त बैठक हुई। उसमें दक्षिण भारत में क्रान्तिकारी आंदोलन के विस्तार पर विचार-विमर्श हुआ। बैठक में शम्भुनाथ आजाद, रोशनलाल, बन्तासिंह तथा गोविन्दराम

वर्मा उपस्थित थे। इसमें रोशनलाल और गोविन्दराम वर्मा की ही ऐसी स्थिति थी कि अपने घर से धन लाकर इस आंदोलन को गति प्रदान करें। शम्भुनाथ और बन्तासिंह तो योजनाओं को कार्यरूप में परिणित करने के प्रयत्न में ही सदैव व्यस्त रहते थे। इस समय अन्तर्प्रान्तीय षड्यन्त्र के सम्बन्ध में पुलिस काफी सतर्क थी। जगह-जगह देशभक्तों की धर पकड़ जारी थी। गुप्तचर विभाग भी बड़ा सक्रिय था।

अप्रैल, १९३३ में उटकमण्ड में क्रान्तिकारियों ने एकत्रित होकर डकैती डालने की एक योजना तैयार की। २५ अप्रैल को नित्यानन्द और रतनम् ऊटी पहुँच गए। २६ अप्रैल की रात्रि को अन्य साथियों को भी प्रस्थान करना था। पहुँचने भर की देर थी उन्होंने सारी स्थिति का सूक्ष्म रूप से अध्ययन किया।

संचार व्यवस्था अस्त-व्यस्त कर दी गई। बड़ी सतर्कता के साथ बैंक पर धावा बोल दिया गया। बैंक कर्मचारी भयभीत हो गये, लोग जान बचाकर भागने लगे। कुछ देशभक्त कर्मचारी अवश्य इस कांड को चुपचाप खड़े देखते रहे। बैंक लूट गई।

बिजली की तरह यह खबर पूरे शहर में फैल गई। पुलिस ने आकर चारों ओर से रास्ता घेर लिया। नित्यानन्द और खुशीराम मेहता ईराडे स्टेशन पर पुलिस द्वारा बन्दी बना लिये गये। बन्तासिंह और बच्चलाल पुलिस पर गोली चलाते हुए निकल भागे। शम्भुनाथ भी बाल-बाल बच गए।

नित्यानन्द की गिरफ्तारी इस दल के लिए अभिशाप सिद्ध हुई। वह पुलिस का मुखबिर बन गया और उसने सारी गुप्त योजनाओं का भेद पुलिस को दे दिया। अब इन क्रान्तिकारियों के सम्मुख एक ही विकल्प था कि या तो वे अपने को पुलिस के हाथों में सौंप दें अथवा मद्रास छोड़कर अन्यत्र चले जायें। यह स्थान छोड़ने से पूर्व तय कर लिया कि जो रसायन सामग्री शेष है उससे बम बनाकर परीक्षण किया जाए और ऊटी बैंक डकैती के सिलसिले में गिरफ्तार साथियों को शीघ्र ही छुड़ाने की व्यवस्था की जाए।

अन्तोगत्वा ३० अप्रैल, १९३३ को उन्होंने पुराना मकान छोड़कर तम्बे पट्टी स्ट्रीट में एक नया मकान लेकर केन्द्र की स्थापना की। थोड़े ही समय में बम बनकर तैयार हो गया। उसका परीक्षण रात्रि में ९ बजे रामपुरम् समुद्र तट पर किया गया। इसी परीक्षण में रोशनलाल को अपनी जान गँवानी पड़ी। अब पुलिस को अच्छी तरह मालूम हो गया कि क्रान्तिकारियों की गतिविधियों का केन्द्र मद्रास शहर ही है।

४ मई, १९३३ समय दिन के ११ बजे का। क्रान्तिकारी अगली योजनाओं पर गुप्त मंत्रणा कर रहे थे। दरवाजा खटखटाने की आवाज सुनी गई। बराबर की खिड़की से झाँककर देखा मकान के पीछे हथियार बन्द

पुलिस खड़ी थी। अब उनके पास बचने का तरीका ही कौन-सा था? सभी क्रान्तिकारी सतर्क हो गये। गुप्त कागजात और ऊटी बैंक के नोट जलाकर राख कर दिये ताकि पुलिस के हाथ कुछ न लग सके। वे सभी हथियार लेकर मोर्चेबन्दी के लिए छत पर चढ़ गये।

पुलिस ने क्रान्तिकारियों को ऊपर देखा तो उन्होंने गोली चलाई, गोविन्दराम ने भी जबाब में अपनी रायफल से एक के बाद एक फायर करना शुरू कर दिया। सिपाहियों की संख्या बढ़ती जा रही थी। उन्होंने मकान को चारों ओर से घेर लिया। उसी समय उधर से ताजियों का जलूस निकला। पुलिस ने इस भीड़ का लाभ उठाया डाकू लूट रहे हैं अतः सबको पुलिस की मदद करनी चाहिए। भोली जनता को क्या मालूम था कि देशभक्तों को डाकू बताकर बन्दी बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। जनता ने पथराव शुरू कर दिया। भीड़ बढ़ने लगी। क्रान्तिकारियों ने गगनभेदी नारे लगाना शुरू कर दिया। अब जनता वस्तुस्थिति समझ चुकी थी। उसने पत्थर फेंकना बन्द कर दिया।

यह मकान आस-पास के मकानों से ऊँचा था और छत पर भी २.५ फीट ऊँची जाली लगी हुई थी। क्रान्तिकारियों ने छत पर लेटकर मोर्चा बनाया और डटकर सामना करने का निश्चय किया। दोनों ओर से गोलियाँ सनसना रही थीं। अंग्रेज अधिकारी अपनी सहायता के लिए पुलिस की टुकड़ियों को बढ़ाते जा रहे थे। मोर्चेबन्दी को सात घण्टे का समय हो गया था। जब क्रान्तिकारियों के पास सिर्फ ५ कारतूस ही शेष रह गये थे। उन्होंने सुलह के लिए सफेद कपड़ा दिखाया पर पुलिस ने इस विवशता का लाभ उठाकर और अधिक गोलियाँ चलानी शुरू कर दीं।

इच्छा न होते हुए भी क्रान्तिकारियों ने बम गिरा दिया। हाहाकार मच गया, चारों ओर विषैला धुआँ फैल गया, इसी धुँए में क्रान्तिकारियों ने अपना रास्ता खोजने का प्रयास किया। शम्भुनाथ एक छत से दूसरी छत पर और दूसरी से तीसरी पर कूदफाँद करते हुये गली में जा पहुँचे और भागने लगे। पुलिस ने पीछा किया। आजाद को एक चाल सूझी। उन्होंने नोटों के बन्डल फेंकने शुरू कर दिये। कुछ लोग तो लोभ में पड़कर सड़क पर नोट ढूँढ़ने लगे पर बाकी सिपाहियों ने उनका पीछा किया। वह पकड़े गए। हथकड़ी डाल दी गयीं। थोड़ी ही देर में हीरालाल कपूर को पकड़ लिया गया और दोनों ही क्रान्तिकारियों को जेल पहुँचाया गया। बाद में मद्रास बम कांड के नाम से मुकदमा चला।

भारत को परतंत्रता की मंखलाओं से मुक्त कराने में जिन क्रान्तिकारी देशभक्तों ने अपने सर पर कफन बाँधकर कदम बढ़ाये थे उनमें शम्भुनाथ आजाद को विस्मृत नहीं किया जा सकता। ऐसे निस्पृह सैनिक ही किसी देश की

धरोहर होते हैं। भारतमाता को भी अपने इस लाइले सपूत पर गर्व है। उन्होंने अपनी जान पर खेलकर मातृभूमि के ऋण को चुकाने में सफलता प्राप्त की और अपने उदाहरण द्वारा नवयुवकों को देशभक्ति की प्रेरणा दी।

काकोरी काण्ड के शहीद

चन्द्र शेखर आजाद

९ अगस्त, १९२५ का ऐतिहासिक दिन। शाहजहाँपुर लखनऊ एक्सप्रेस काकोरी स्टेशन पर ठहरी। तब नव-युवकों ने द्वितीय श्रेणी के लखनऊ के टिकट लेकर डिब्बे में प्रवेश किया। स्टेशन से गाड़ी चली और सिंगनल के पास जाकर रुक गई। "अवश्य किसी ने जंजीर खींचकर गाड़ी रोकी है।" एक यात्री ने कहा। तब दूसरा यात्री बोला-"शायद कोई मुसाफिर गाड़ी में चढ़ने से रह गया होगा।"

तीनों नवयुवक गाड़ी के डिब्बे में पहुँचे। हवाई फायर हुए। इस डिब्बे में सरकारी खजाने का बक्सा जा रहा था। यात्रियों को सचेत किया गया "खबरदार, किसी ने नीचे उतरने की हिम्मत की तो गोली मार दी जायगी। सरकारी खजाना लूटा जा रहा है।" ऐसा कौन सा मुसाफिर था जो जलती आग में कूदने का प्रयास करता।

यह सनसनीखेज डकैती ब्रिटिश सरकार के लिए एक चुनौती थी। इस काण्ड से संबन्धित व्यक्तियों को पकड़ने के लिए गुप्तचर विभाग के कर्मचारी चारों तरफ फैल गए थे। प्रदेश के मुख्य-मुख्य नगरों और स्टेशनों पर उनके फोटो चिपकाये गए और पकड़ने वालों को भारी इनाम देने की घोषणा भी की गई। २६ सितम्बर, १९२५ को काफी लोगों की गिरफ्तारियाँ हुईं पर चन्द्रशेखर आजाद तथा उनके अन्य साथी न पकड़े जा सके।

क्रान्तिकारी दल को सशक्त बनाने के लिये पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल के नेतृत्व में डाके डाले गये। पहला डाका फतहपुर के गाँव में डाला गया पर सफलता हाथ न लगी। क्रान्तिकारी ऐसी धातु के बने न थे कि छोटी-छोटी असफलताओं से निराश हो जायें। एक के बाद दूसरे डाके डाले गए उसी शृंखला में यह काकोरी की डकैती भी थी।

चन्द्रशेखर आजाद पुलिस से बचने के लिए साधुवेश में ओरछा चले गये। ओरछा स्टेशन के पास टिमरापुर गाँव है। गाँव के पास सांतार नदी है उसी के किनारे हनुमान जी का मन्दिर है। मन्दिर के पास कुटी बनाकर आजाद रहने लगे। इस समय इनका नाम हरिशंकर ब्रह्मचारी था। यह जंगली क्षेत्र था रात को कितने ही जंगली जानवर उस नदी में पानी पीने आते थे। अकेले

उस कुटिया में रात निकालना साधारण बात न थी। फिर भी कई दिनों तक उस मन्दिर में सोते रहे। उन दिनों रियासतों में बन्दूकों पर लायसेन्स लेना आवश्यक न था। इसलिए उनकी सुरक्षा हेतु टिमरापुर गाँव के लोगों ने एक बन्दूक की भी व्यवस्था कर दी थी। बन्दूक मन्दिर में रखी रहती।

ब्रह्मचारी अपनी तेजस्विता, मृदुलता और स्वभाव की सरलता के कारण उस क्षेत्र में लोकप्रिय होते जा रहे थे। वह रामायण का सस्वर पाठ करते और गाँव के बच्चों को पढ़ा दिया करते थे। उनकी गाँव के नम्बरदार चतुर ठाकुर से अच्छी घनिष्ठता हो गई थी। ठाकुर साहब तो ब्रह्मचारी जी को अपने सगे भाई से भी ज्यादा चाहने लगे थे। जो भी व्यक्ति ब्रह्मचारी जी से मिलने आता उसे सबसे पहले गाँव के ठाकुर से मिलना होता था, वही आगन्तुक के भोजन की व्यवस्था करते और दूध, लड्डू का नाश्ता कराते; फिर ब्रह्मचारी जी के पास संदेशा भेजते, कभी ब्रह्मचारी जी स्वयं आ जाते और कभी मन्दिर में अतिथि को बुला लेते। ब्रह्मचारी जी से मिलने के लिए कितने ही क्रान्तिकारी साथी, राजगुरु, सुखदेव, भगतसिंह, कुन्दनलाल, भगवानदास माहौर, विजय कुमार सिन्हा, रुद्रनारायण, सदाशिव राव और वैशम्पायन आदि आते रहते थे।

शीघ्र ही सांतार नदी का किनारा क्रान्तिकारी आंदोलन की गतिविधियों का केन्द्र बन गया। ब्रह्मचारी जी लगभग १८ माह तक क्षेत्र में रहकर क्रान्तिकारी दल का पुनर्गठन करते रहे। पर यह क्रम अधिक समय तक न चल सका। एक दिन एक जटाधारी बाबा कहीं से घूमते हुये वहाँ आ पहुँचे। उन्हें सांतार नदी के किनारे वाला वह स्थान बहुत पसंद आया। वह भी वहाँ मन्दिर के प्रांगण में धूनी रमाकर रहने लगे। बाबा और ब्रह्मचारी जी के स्वभाव में जमीन आसमान का अन्तर था। बाबा उग्र स्वभाव के थे। एक दिन की बात बाबा की किसी ग्रामवासी से कहासुनी हो गयी। उन्होंने आव देखा न ताब बन्दूक उठाकर उसके प्राण हर लिए। बाबा जी पकड़े गये पुलिस का आना शुरू हो गया। ब्रह्मचारी जी तो पुलिस से बचने के लिए ही यहाँ अज्ञातवास कर रहे थे। वह बिना कुछ कहे सुने अन्यत्र चले गये। ग्रामवासी तथा ठाकुर परिवार उन्हें ढूँढ़ता रहा पर उनका कहीं पता न चला।

अब ब्रह्मचारी जी अपने असली रूप में झाँसी आ गए थे। यहाँ वह मोटर चालक रामानंद के पास मोटर का कार्य करने लगे। आजाद के सारे कार्यों के पीछे क्रान्तिदल को सशक्त बनाकर देश को आजादी दिलाना ही प्रमुख उद्देश्य था। इसी समय मास्टर रुद्रनारायण के द्वारा इनका परिचय दतिया रियासत के दीवान नाहरसिंह से हुआ। दीवान साहब अच्छी तरह जानते थे आजाद के लिए ब्रिटिश सरकार ने भारी पुरस्कार घोषित किया है। फिर भी

इन्होंने इस रहस्य का उद्घाटन अंत तक न किया। कुछ समय पश्चात् दीवान साहब को दतिया छोड़नी पड़ी।

सन् १९२८ में आजाद के कहने पर उनके क्रान्तिकारी मित्र भगवान दास माहौर ने ग्वालियर में नाका चन्द्रबदनी पर एक मकान किराये से लिया। यहाँ भगतसिंह आजाद, विजयकुमार सिन्हा तथा माहौर आदि क्रान्तिकारी नेता एकत्रित होते और दल के संचालन के सम्बन्ध में समय-समय पर मंत्रणाएँ करते।

आजाद का पूरा जीवन भारतीय स्वतन्त्रता के लिए क्रान्तिकारी ढंग से लड़ाई लड़ने की कहानी का जीवन है। जिसमें छोटी बड़ी अनेक घटनाएँ जुड़ी हुई हैं। ऊपर तो कुछ घटनाएँ मात्र उनके साहस और चातुर्य का परिचय देने के लिए दी गई हैं। ऐसी घटनाओं की एक सुविस्तृत शृंखला है जो बताती है कि उनमें बड़े से बड़े खतरों को साहसपूर्वक कन्धे पर उठाने तथा देश की आजादी के लिए कुछ भी कर गुजरने की उत्कट अभिलाषा थी। क्रान्तिकारी संगठन और उसके संचालन में उन्हें मूर्धन्य गिना जाता है और उनके दुस्साहस भरे अगणित संस्मरणों को देश भर में भाव विभोर श्रद्धा के साथ सुना जाता है।

२७ फरवरी, १९३१ का दुर्दिन समय प्रातः १ बजे का। आजाद ने इन दिनों इलाहाबाद को अपने दल का केन्द्र बनाया था। किसी मुखबिर ने खबर दी कि आजाद अलफ्रेड पार्क में हैं फिर क्या था? नाट बाबर ने पुलिस के साथ पार्क का घेरा डाल दिया। आधे घण्टे तक गोलियाँ चलती रहीं। आजाद ने पिस्तौल से मुकाबला किया। पुलिस अधीक्षक नाट बाबर की गोली आजाद की जाँघ में लगी। आजाद की गोली से नाट बाबर का दाहिना हाथ घायल हो गया और पिस्तौल गिर गई। नाट बाबर ने मौलश्री के पेड़ के पीछे शरण ली। जब जब नाट बाबर के शरीर का कोई अंग मौलश्री के पेड़ से बाहर दिखाई देता। आजाद का वार उस पर होता था। ठाकुर विशेषर सिंह ने समर हाउस की ओर से आजाद पर गोली चलाई और इसके उत्तर में आजाद की गोली ने उनका जबड़ा तोड़ दिया।

इस कठिन संघर्ष से बच निकलना आजाद के लिए कठिन था। अतः उन्होंने अपनी गोली से अपनी जीवन लीला समाप्त कर ली। आजाद के शहीद हो जाने के बाद भी किसी अधिकारी और सिपाही की इतनी हिम्मत न हो रही थी कि वह लाश के पास जाये। जमीन पर पड़े जामुन के पत्ते उनके खून से तर हो गये थे।

पहले तो आजाद की माँ को यह विश्वास ही नहीं हुआ कि उनका पुत्र देश के काम आया होगा पर जब दिल्ली षडयन्त्र से छूटने के पश्चात् विश्वनाथ वैशम्पायन क्रान्तिकारी की माँ के पास गये और दिल दहलाने वाली पूरी घटना सुनाई तो माँ के कण्ठ से यही निकला—“मेरा शेर देश के काम आया, इससे अधिक किसी माँ के लिए

गौरव की बात और क्या हो सकती है, वह शरीर से भले ही शहीद हुआ हो पर नाम से सदैव जीवित रहेगा।”

स्वतन्त्रता की पावन-वेदी पर समर्पित इस शहीद का जन्म दिनांक २३ जुलाई को झाबुआ जिले के भावरा ग्राम में हुआ था। वह बचपन के १३ वर्षों तक अपने पिता पण्डित सीताराम तथा माता जगतरानी के साथ इसी गाँव में रहे। पढ़ने में उनकी तबियत न लगती थी। स्कूल के बहाने वह घर से निकल जाते और घने जंगल में अपने मित्रों के साथ थानेदार और डाकू का खेल खेलते रहते थे। तीर कमान और बंदूक चलाने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। आदिवासियों के साथ रहने के कारण ही वह तीर चलाने में बड़े कुशल हो गये थे। पिता चाहते थे कि बेटा संस्कृत का अध्ययन कर वेद का ज्ञाता और विद्वान बने पर वह घर छोड़कर स्वच्छन्द पक्षी की तरह उड़ जाना चाहते थे और एक दिन वह बिना सूचना के घर से चले गये। बाद का जीवन तो एक क्रान्तिकारी के रूप में सामने आया।

उन्होंने जिस दिन आजादी के लिए अपने खून से होली खेली। उसके बहुत समय बाद टिमरापुर गाँव के ठाकुर परिवार तथा अन्य लोगों को यह पता चला कि मन्दिर के पास में रहने वाले ब्रह्मचारी कोई और नहीं वरन् चन्द्रशेखर आजाद ही थे तो उन सबने अश्रुपूरित नेत्रों से आजाद को मौन श्रद्धांजलि दी साथ ही अपने भाग्य को सराहा कि देशभक्त की सेवा करने, सम्पर्क में रहने और सहयोग प्रदान करने का उन्हें सौभाग्य मिला।

सांतार नदी तट पर स्थित वह कुटिया जैसी थी आज भी वैसी ही बनी हुई है। वहाँ का घाट मन्दिर पक्का बन गया है। कुटिया में आजाद का चित्र टंगा है जहाँ प्रतिवर्ष सैकड़ों नर-नारी उन्हें अपने श्रद्धा सुमन चढ़ाने जाते हैं। इसी तरह उनके जन्म स्थान भावरा की कुटिया भी सुरक्षित रखी गई है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए दीर्घकाल तक सतत संघर्ष करने वाले और अपने प्राणों को भी भारत माता के चरणों में न्योछावर करने वाले देशभक्तों की याद सदैव आती रहेगी और नयी पीढ़ी को राष्ट्रहित में अपनी सेवाएँ प्रदान करने के लिए संदेश देती रहेगी।

रौद्रता के भीतर सहृदयता के अंकुर

भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम अपने वेग पर था। उग्रवादी नया खून शान्त तरीकों के अतिरिक्त हिंसात्मक प्रतिकार पर भी उतर आया था। अंग्रेजों को अपनी दमन-नीति पर गर्व था— वे प्रदर्शित करने लगे थे कि भारतीय जवानों में कड़े प्रतिकार की क्षमता नहीं है। ऐसी स्थिति में शान्ति पूर्ण आन्दोलन तथा सहनशीलता पूर्ण प्रतिकार के साथ, शौर्य एवं उग्रता का नमूना भी उनके सामने रखना आवश्यक—सा लगा। उन परिस्थितियों में जो युवक उस

आन्दोलन में कूद पड़े- उनके कार्य को देखकर बड़े-बड़ों के हाँसले पस्त हो गये। दहकते हुए अंगार जैसे उनके व्यक्तित्व का तेज सहन करना कठिन था। फिर भी उनके अन्तःकरण में मानवता, सहृदयता तथा भावनाशीलता के जो पावन स्रोत बहते थे- उनको देख सकने वाले गद-गद हो उठते थे। उनका मानवीय गुणों से पूरित अन्तःकरण ही वह प्रधान कारण था जो उन्हें अनर्थकारी विघटन से रोके रहा तथा उनके विद्वेष को भी रचनात्मक बनाये रहा।

चन्द्रशेखर आजाद उस समय अखिल भारतीय स्तर के क्रान्तिकारी के रूप में सामने आ चुके थे। अंग्रेज सरकार उनकी खोज में थी और वे उन दिनों ओरछा के जंगलों में थे। तभी उन्हें सूचना मिली कि उनके क्रान्तिकारी स्वरूप के गठन में सहयोग देने वाले एक शिक्षक की बच्ची का विवाह होने वाला है।

चन्द्रशेखर आजाद यों ही जोश में आकर मैदान में नहीं कूद पड़े थे। उन्होंने हर संभावित स्थिति के उपयुक्त योग्यता एकत्र की थी हर आवश्यक कार्य का प्रशिक्षण लिया था। उसी अभ्यास क्रम में उन्होंने मोटर चलाने तथा उसकी मरम्मत सम्बन्धी कुशलता भी प्राप्त की थी। यह अभ्यास उन्होंने झाँसी में 'दी हिन्दुस्तान मोटर वर्क्स' में किया था। उनके प्रशिक्षक इस्लाम धर्म के अनुयायी, सहृदय तथा राष्ट्रीय विचारधारा से ओत-प्रोत व्यक्ति थे। उन्हीं की लड़की की शादी होने वाली थी।

उन दिनों स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लेने वाले हर व्यक्ति को कठोर परिस्थितियों का सामना करना पड़ता था। क्रान्तिकारियों के समर्थक होने का शक भी जिस पर हो, उसे तो सरकारी दरिन्दे अकारण ही परेशान किया करते थे। अस्तु, अधिकांश आर्थिक कठिनाइयों में ही रहते थे। फिर भी परस्पर सहयोग तथा अपने साहस एवं पुरुषार्थ के बल पर वे सदा मस्तक ऊँचा ही किये रहे। चन्द्रशेखर आजाद के उक्त प्रशिक्षक के भी सभी हितैषी उनके सहयोग के लिए एकत्र होकर कन्या के विवाह की व्यवस्था करने लगे।

चन्द्रशेखर आजाद के कार्य और उनकी कठिन परिस्थितियों से सभी परिचित थे। अतः उनसे सहयोग लेने की किसी को कल्पना भी नहीं थी। किन्तु वे एक रात स्वयं उनके यहाँ पहुँच गये। उन्हें देखते ही उनके उस्ताद चौंके बोले 'क्यों आजाद खैरियत तो है?' आजाद को अचानक प्रकट होने से उन्हें चिन्ता हो गई थी, पता नहीं जब आजाद ने आने का कारण बतलाया तो चिन्ता का निवारण तो हुआ पर उन्होंने प्यार भरी डाँट भी दी। बोले "ऐसी स्थिति में तुम्हें अकारण आने की क्या आवश्यकता थी? यहाँ जो लोग हैं वही क्या काफी नहीं हैं? एक तुम्हारे बिना ही क्या काम रुकता था।"

आजाद नम्रतापूर्वक उनकी बात सुनते रहे और फिर बोले-"उस्ताद जी मैं नाचीज किसी काबिल होऊँ या

नहीं, मेरे किये कुछ हो या न हो, किन्तु बहिन की शादी के लिये मैं सहयोग करने का कोई प्रयास भी न करूँ इतना नीच तो मैं नहीं ही हूँ।"

आजाद के नाम पर ब्रिटिश सरकार काँप रही थी, उनके पुरुषार्थ से देश में आग बरस रही थी, पर अपने शिक्षक के सामने उनके सीधे-सादे निश्चल शब्द उनके शुद्ध पवित्र अंतःकरण के प्रतीक थे। उस्ताद ने भी प्रेम के नाते अकारण खतरा न लेने के आग्रह से उनको मीठी झिड़की दी थी, पर आजाद के आग्रह के आगे वह पानी-पानी हो गये। चुपचाप अन्दर गये और कुछ रुपये लाकर उनके हाथ में दिये और बोले "काम तो तुम्हें देता हूँ पर अब और बात न सुनूँगा। यह रुपये ले जाओ- अपनी ओर से कुछ खर्च करने का न आग्रह करना और न प्रयास ही। यह मेरी आज्ञा है। यहाँ झाँसी की अपेक्षा ओरछा में घी काफी सस्ता है। वहाँ से दो तीन घी खरीद कर अपनी बहिन की शादी के लिए भेज देना। बस इतना ही कार्य तुम्हारे लिये बहुत है। बेटा तुम्हारा काम बड़ा है उसमें ही समय लगाओ।" और आदेश प्राप्त करके, रुपये अन्टी में लेकर चन्द्रशेखर आजाद उसी रात वापस ओरछा के जंगलों में पहुँच गये।

विवाह व्यवस्था अपने मार्ग पर चलती रही। घी की व्यवस्था चन्द्रशेखर आजाद के हाथों में देने के बाद लोग उस तरफ से निश्चित हो गये। उन्हें विश्वास था कि आजाद किसी न किसी सूत्र से समय के अन्दर व्यवस्था कर ही देंगे। पर ऊपर से फौलाद की तरह कठोर, जरा से संदेह पर मनुष्य को गोली से उड़ा देने वाले चन्द्रशेखर आजाद के अन्तःकरण को शायद उनके निकटस्थ आत्मीय भी पूरी तरह न पहचान सके थे।

उक्त घटना के एक सप्ताह के अन्दर ही एक रात्रि को फिर दरवाजा खटका। उस्ताद ने उठकर दरवाजा खोला तो देखा कंधे पर बहँगी पर दो तीन घी लिए चन्द्रशेखर आजाद खड़े हैं। पलक मारते उस्तादजी सब समझ गये। ओरछा से झाँसी तक घी स्वयं आजाद अपने कंधे पर लाये थे। सीधे रास्ते तो वैसे भी घी नहीं लाया जा सकता था। फिर आजाद को, जिन्हें पुलिस से लेकर गुप्तचर तक खोजते रहते थे- कितनी सावधानी से-बीहड़ जंगलों में होकर आना पड़ा होगा, यह समझते उन्हें देर न लगी। उनकी भावना पर हृदय भी उमड़ा, किन्तु खतरा लेने पर क्रोध भी आया। तुरन्त अन्दर करके दरवाजा बन्द किया और प्यार व रोषपूर्ण फटकार फिर निकल पड़ी।

"आजाद तुम कितने लापरवाह आदमी हो? और कोई साधन तुम्हें न मिला, किसी और तरीके से भेजना क्या सम्भव नहीं था तुम्हारे लिये?" और आजाद का फिर वही नम्रता भरा अकाद्य प्रेम से भरा बेजोड़ उत्तर था "इस पवित्र कार्य में मुझे एक ही तो मौका मिला था उस्ताद जी, उसी को किसी और से करा लेता तो मेरा शरीर किस काम आता?"

६.१२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

“पर आजाद सोचो तो, देश को तुम्हारी कितनी आवश्यकता है— उसको भुलाकर ऐसा खिलवाड़ क्या शोभा देता है ? समय के अनुसार उपयोगिता का ध्यान भी तो रखना चाहिए ।” आजाद उसी प्रकार सिर झुकाये खड़े रहे । जिस गले की कड़क लोगों की रूह कैपा देती थी— वही जैसे शहद में डुबोकर वाक्य निकाल रहा था । बोले “उपयोगी-अनुपयोगी के स्थापन में मेरी बुद्धि काम नहीं कर पाती । मुझे ढालते समय मेरे रौद्र रूप के अन्दर किसी ने एक मनुष्यता का अंकुर भी जगा दिया है । वह भी तो अपनी खुराक, अपना हक माँगता है । उसकी उपेक्षा कर देने के बाद यह चलती-फिरती विध्वंसक मशीन देश के कितने काम आ सकेगी यह मैं नहीं समझता ?

अब उस्ताद से न रहा गया । बनावटी क्रोध बह गया । आजाद को उन्होंने गले लगा लिया और देर तक मूर्तिवत स्थिर से खड़े रह गये, केवल आँसू बह रहे थे । फिर भरे कंठ से बोले “बेटा हमारा जमाना तो गया; अब तुम्हीं पर देश को आशा है तुम्हें देखकर हमें संतोष है कि आपत्तिकालीन धर्म के रूप में हमने जो तोड़-फोड़ स्वीकार की है— वह देश का अहित न कर सकेगी । जाओ भगवान तुम्हें सफल करें ।” और चन्द्रशेखर आजाद उनके चरण छूकर पुनः लौट पड़े अपने कार्यक्षेत्र की ओर ।

तथ्य साक्षी हैं—गुणों को हृदय में धारण करके तोड़-फोड़ भी स्वीकार करने वाले क्रान्तिकारी देश के निर्माण में बाधक कभी नहीं बने और शान्ति की दुहाई देने वाले अन्तःकरण के हीन व्यक्तित्वों के कारनामे हमारे सामने रोज आया करते हैं, फिर भी नयी पीढ़ी को बनाने ढालने में हम उनके आन्तरिक गठन की उपेक्षा करके अपने मानसिक दिवालियेपन का नमूना प्रस्तुत किए जा रहे हैं ।

आदर्श का शुभारम्भ स्वयं से

लाहौर के एक मकान के कमरे में एक नवयुवक बैठा सूखी रोटियाँ चबा रहा था । उसकी कद-काँटी और चेहरे के हाव-भाव से कोई भी सहज अन्दाजा लगा सकता था कि वह बलिष्ठ और चरित्रवान है ।

उसे घेरे बैठे अन्य नवयुवक साथियों में से एक ने कहा “क्यों ज़िद करते हैं, पण्डित जी ?” “यह ज़िद नहीं किफायतशारी है ।”

“तो अब सूखी रोटियाँ चबाने का आपने नया नामकरण भी कर लिया ।”

“समझने की कोशिश करो रणजीत” खा रहे युवक ने पूछने वाले को सम्बोधित करते हुए कहा । “चलिए आप ही समझाइये ।”

दल की वर्तमान आर्थिक स्थिति के अनुरूप प्रत्येक सदस्य को दो आने भोजन के लिए मिलते हैं । एक आने की रोटियाँ और एक आने का गुड़ । पर मेरा पेट एक

आने की रोटियों से नहीं भर सकता । इसी कारण समूचे दो आने की रोटियाँ खरीद खा रहा हूँ । आयी बात समझ में ।

“बिल्कुल नहीं सुनने वालों ने एक साथ कहा । “दल के पास बहुत पैसा है ।”

“पर खाने के लिए नहीं” बात काटते हुए नवयुवक ने कहा ।

“ठीक है पर आप हमारे प्रमुख हैं इसलिए आप यदि खाने में कुछ थोड़ा ज्यादा खर्च कर लें तो कोई एतराज नहीं । पर यहाँ तो मामला ही उलटा है । आप सूखी रोटियाँ चबाते हैं और हम सबको अपेक्षाकृत अच्छा भोजन मिल जाता है । यह नीति कब तक चलेगी ?”

“जब तक संगठन को जीवित रखना है ।” अपने प्रति कठोरता, दूसरों के प्रति उदारता । “संगठन के जिम्मेदार लोग जब तक इस नीति के अनुरूप व्यवहार करते हैं, तभी तक संगठन जीवित रहता है । सामूहिकता तभी बरकरार रह सकेगी जब तक किफायतशारी को अपनाया और महत्वाकांक्षाओं को ठुकराया जाता रहेगा ।”

“आ गए न आप घूम-फिरकर वहीं । सिद्धान्त सूर्य की तरह है, जब तक मानवीय जीवन के विभिन्न ग्रह उसके चारों ओर चक्कर लगाते हैं, उसकी प्रेरणा के अनुरूप अपने को संचालित करते हैं तभी तक उनका अस्तित्व है । सिद्धान्त से विलग हुए कि अस्तित्व समाप्त हुआ ।”

“बड़प्पन सुविधा सम्बर्द्धन का नहीं सदगुण सम्बर्द्धन का नाम है ” कहने वाले के स्वरों में पीड़ा थी । “जिसने संगठन बनाया है उसे ही बिखरने का दर्द होता है । खूबसूरत माला के टूटने की सबसे अधिक पीड़ा माली को होती है । कहते-कहते गला भर आया ।”

साथियों ने एक स्वर से क्षमायाचना की । हमने आपकी किफायतशारी का मखौल उड़ाया इसके लिए माफी चाहते हैं । आप जो भी दण्ड दें, स्वीकारने के लिये तैयार हैं ।

“दण्ड नहीं अच्छाई का महत्व समझो और स्वीकारो । देश को हम सब लोगों से कितनी आशा है । हम क्रान्तिकारी माने जाते हैं एक बड़े परिवर्तन के लिए प्रयत्नशील हैं ।”

“क्रान्तिकारी का मतलब जानते हो ?” कुछ चुप रहकर वह बोले जो वर्तमान में भी भविष्य में होने वाले परिवर्तन के अनुरूप जी रहा हो । जिसकी जिन्दगी के छोटे-छोटे क्रियाकलाप को देखकर हर कोई कह सके, अहा ऐसा होगा स्वर्णिम भविष्य जिसके लिए वे लोग प्रयासरत हैं ।”

हम सभी प्रतिज्ञा करते हैं पण्डित जी । सच आपकी शपथ, हम वैसे ही क्रान्तिकारी बनेंगे जैसे आप चाहते हैं ।

यह पण्डित जी थे, हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी नामक क्रान्तिदल के कमाण्डर इन चीफ चन्द्रशेखर आजाद, जिनके आदर्शवादी जीवन ने अनेकों में प्राण फूँके ।

सर्वजयी आत्मीयता का प्रतिफल

एक साधारण परिवार के युवक ने विदेशी साम्राज्य-वादियों से टक्कर लेने की ठानी, वह क्रान्तिकारी बन बैठा । यों जवानी के जोश में-भाववेश में आकर दीपक पर पतंगे की तरह जल मरना एक बात थी और क्रान्ति का सफल संचालन दूसरी ।

इस युवक ने जो न विशेष पढ़ा-लिखा ही था, न उसका परिचय क्षेत्र ही विस्तृत था, न पर्याप्त धन तथा सम्मान उसे उत्तराधिकार में मिला था फिर भी वह वर्षों उन साम्राज्यवादियों को नाकों चने चबवाता रहा जिनके राज्य में कभी सूरज भी अस्त नहीं होता था । सरकार उसे जीवन भर पकड़ नहीं सकी । उसने अपने से अधिक पढ़े-लिखे तथा शक्तिशाली क्रान्तिकारियों का सफल नेतृत्व किया । इसके पीछे उसकी बहुत बड़ी सम्पदा-बहुत बड़ी सामर्थ्य-बहुत बड़ी प्रतिभा थी उसकी सर्वजयी आत्मीयता । आजाद जहाँ भी जाते वहीं अपनापन, प्रगाढ़ आत्मीयता जोड़ लेते थे ।

आजाद काकोरी काण्ड से फरार होकर झाँसी आ गये । झाँसी आने के बाद अपने अन्तिम समय-अल्फ्रेड पार्क में शहीद होने तक उनकी गतिविधियों का केन्द्र यही स्थान रहा । अंग्रेज सरकार ने इन्हें पकड़वाने के लिए हजारों रुपयों के इनाम घोषित किये पर क्या मजाल कि वे आजाद की छाया को भी पकड़ पाते ।

झाँसी में उनकी ठिकाना था मास्टर रुद्रनारायण का घर । उनकी आस-पास के गाँवों में तलाश होती और ये मजे से यहाँ रहते थे । इस परिवार के वे सहज ही अभिन्न सदस्य बन गये थे । पड़ोसी तक इन्हें मास्टर साहब के भाई समझते रहे । उनकी पत्नी के प्रिय देवर तथा बच्चों के प्रिय चाचा के रूप में आजाद परिवार की अमूल्य निधि बन गये थे । मास्टर रुद्रनारायण के लिए आजाद का पारिवारिक मूल्य उनके राजनैतिक मूल्यों से राई रती कम नहीं था ।

झाँसी ही नहीं झाँसी और ओरछा के बीच सांता नदी के तट पर बसे ग्राम टिमरापुर के ठाकुर के छोटे भाई बनने में भी उन्हें विशेष समय नहीं लगा । झाँसी में रहना जब निरापद नहीं रहा तो उन्होंने इस नदी के तट पर अपना आसन जमाया । एक ब्रह्मचारी के छद्म वेश में आजाद यहाँ रहने लगे । मधुकरी वृत्ति से उदरपोषण होने लगा । उनकी रामायण की कथा कहने के ढंग तथा दृढ़ चरित्र से प्रभावित होकर गाँव के ठाकुर ने सदा के लिए इन्हें अपने परिवार का पूज्य बना लिया । अपने चार भाइयों पर उन्हें विश्वास नहीं था जितना आजाद पर हो

गया । ठाकुराइन की तिजूरी की चाबियाँ इनके यज्ञोपवीत में बँधी रहने लगीं ।

इसी ग्राम में बैठे-बैठे आजाद ने काकोरी केस के बिखरे क्रान्तिकारियों को एक सूत्र में पिरोकर संगठित रूप दिया । ठाकुर साहब के परिवार के सदस्य की तरह वे साइकिल पर दूसरे-तीसरे दिन झाँसी की दौड़ कर आते थे ।

बहुसंख्यक क्रान्तिकारी अपने साथियों के विश्वास-घात के कारण पकड़े गये तथा दण्डित हुए । किन्तु आजाद के साथ ऐसा कभी नहीं हो सका । उनकी आत्मीयता ने दल के सभी सदस्यों को अपना अंतरंग बना लिया था उनकी आत्मीयता इतनी विस्तृत थी कि जो भी उनके सम्पर्क में आता, उन्हें अपना मानने लगता था । उन्हें प्यार करने लगता था, उन पर विश्वास करने लगता था ।

ऐसी आत्मीयता के महान गुण को मनुष्य की सच्ची सम्पदा मानकर जिसने विकसित कर लिया, उसको अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफलता मिलकर रहती है । वह जिस क्षेत्र में जाता है, जिस काम में हाथ डालता है वहाँ सम्पदा उसके साथ दैवी शक्ति की तरह सहायक होती है । दूसरों का यह सहयोग मिलते देर नहीं लगती । आजाद की तरह हर कोई इसका विकास करके महान कार्य सम्पादित कर सकता है ।

**महत्व व्यक्ति को नहीं आदर्शों को देना
श्रेयस्कर है**

सरदार भगतसिंह

शहीद भगतसिंह तथा उनके जाग्रत-प्राण साथियों ने लाला लाजपतराय की मृत्यु का बदला सान्डर्स का वध करके ले लिया था । उसके पश्चात् वे बड़ी दक्षता से अपने आपको छिपाने में सफल भी हो चुके थे । किन्तु भगतसिंह को जो आत्सन्तोष मिलना चाहिए था वह नहीं मिल रहा था । उन्हें कहीं-कोई न कोई भूल नजर आ रही थी ।

हत्या करना तो क्रान्तिकारियों का आदर्श नहीं था । उनका आदर्श तो देशप्रेम की अग्नि को जन-जन के हृदय कुण्ड में प्रज्वलित करना था । उनके इस आदर्श का, उनके इस उद्देश्य का स्पष्ट स्वरूप सान्डर्स वध से जन-मानस के सामने प्रस्तुत नहीं हो सका था । जिन लोगों में देश प्रेम की भावना थी वे तो उनके उद्देश्यों का परिचय पा सके थे । किन्तु ऐसे लोग थोड़े से ही थे । अधिकांश जनता के लिये तो यह कृत्य विशेष महत्व का नहीं था ।

सरदार भगतसिंह ने अपने अन्तर में झलकने वाले इस असन्तोष के सम्बन्ध में गहन चिन्तन किया तो उनके समक्ष यह तथ्य स्पष्ट हो गया कि इस प्रकार के कृत्य से जनता

को जगाया नहीं जा सकता । आदर्शों को प्रमुखता देनी होगी चाहे उसके लिये हमें अपने जाँबाज साथियों का बलिदान ही क्यों न देना पड़े । तभी हम अपने आदर्शों का सच्चा स्वरूप देशवासियों के सामने रख सकेंगे । यह स्वरूप प्रस्तुत नहीं किया जा सका तो ये हत्यायें तथा विद्रोह-अपराध का उदाहरण बनकर रह जायेगा ।

अपनी प्रथम भूल को उन्होंने दूसरी बार सुधारा । उन्होंने ऐसेम्बली में बम फेंका, यह विस्फोट भर बनकर नहीं रहा । इस विस्फोट के माध्यम से उन्होंने अंग्रेज सरकार के कान खोल दिये तथा जनता की नींद को इस धमाके से तोड़ा । इस कृत्य की सफलता के लिये उन्होंने अपने उद्देश्यों का परिचय छापी हुई विज्ञप्तियों (पेम्फलेट्स) की वर्षा करके दिया । इनमें यह बताया गया था कि बहरों को जगाने के लिये आवाज की नहीं विस्फोट की आवश्यकता होती है । यह संकेत अंग्रेज सरकार की ओर था । परोक्ष में भारतवासियों को जगाने का लक्ष्य भी प्रमुख रहा था ?

बम विस्फोट से ऐसेम्बली में भगदड़ मच गई । सारा 'हॉल' धुँएँ से भर गया था । इस प्रकार के विस्फोट की अंग्रेजों ने कल्पना तक नहीं की थी । ऐसी स्थिति में भगतसिंह अपने साथियों सहित बाहर निकल भाग सकते थे । इसके लिये प्रबन्ध पहले से ही किया जा चुका था । बाहर इनके भागने के लिये मोटरसाइकिल का प्रबन्ध था ।

भगतसिंह भागने के लिये नहीं आये थे । वे अपनी पहली भूल को दोहराना नहीं चाहते थे । उनका उद्देश्य जनता में राष्ट्रीय भावना उत्पन्न करना था । यह भावना जगाने के लिये उनका बलिदान आवश्यक था-उनका बन्दी होना आवश्यक था ताकि न्यायालय के सम्मुख वे अपने मन की बात कह सकें-अपने उस उद्देश्य को स्पष्ट कर सकें जिसके लिये उन्होंने हिंसा का औचित्य स्वीकार किया था ।

इन लोगों के बन्दी हो जाने के कारण क्रान्तिकारियों के प्रति जनमानस में नया आकर्षण और ब्रद्धा भाव जागा । उसे इन कानून विरोधी कृत्यों के पीछे जो उद्देश्य- आदर्श छिपा था उसके दर्शन होने लगे थे । नवजागरण की एक लहर उठने लगी थी ।

भगतसिंह क्रान्तिकारियों के नेता थे । उनका जेल में बन्दी हो जाना इन लोगों को असह्य हुआ । इन क्रान्तिकारियों को खतरनाक कैदी समझ कर लाहौर के किले में रखा गया जो जेल भी थी व गुप्तचर विभाग का मुख्यालय भी । उसके अधिकारी अपने बन्दियों को भयंकर यन्त्रणा देने के लिए कुख्यात थे । इसके सबसे बड़े अधिकारी खान बहादुर अब्दुल अजीज ने इन देशभक्तों को अमानुषिक यंत्रणाएँ दीं । भगतसिंह तथा उनके साथी इन्हें हैंसते-हैंसते झेल गये । राष्ट्र की स्वतन्त्रता के आदर्श

के सम्मुख शरीर को दी जाने वाली यह यन्त्रणा उनके लिये नगण्य सिद्ध हुई । मनुष्य को दुःख-कष्टों की अनुभूति अपनी भावनाओं से होती है । उन्हें इस यन्त्रणा में भी अद्भुत सुख मिल रहा था ।

इन दिनों न्यायालय में इन क्रान्तिकारियों के अभियोग पर विचार हो रहा था । इन्हें मृत्यु दण्ड से हल्का दण्ड तो मिलने वाला न था ।

क्रान्तिकारी जो भगतसिंह के बन्दी हो जाने से पहले ही क्षुब्ध थे । उन पर होने वाले अत्याचारों को सुनकर किसी भी शर्त पर इन्हें जेल से मुक्त कराने के लिए कृत संकल्प हो चुके थे, उसे पूरा करने के लिये उन्होंने तत्परता से तैयारियाँ आरम्भ कर दीं ।

तब तक भगतसिंह लाहौर की बोस्ट्रल जेल में स्थानान्तरित कर दिये गये थे । उन पर लाहौर के न्यायालय में अभियोग चल रहा था । उसके लिये उन्हें नित्य बोस्ट्रल जेल से सेन्ट्रल जेल तक मोटर लारी में बिठाकर लाया जाता था । इसी मार्ग पर इस मोटर लारी पर अधिकार करके इन सबको छुड़ाने की योजना बनाई गई । चन्द्रशेखर आजाद इस योजना के सूत्रधार थे ।

लाहौर में सारे भारत के प्रमुख क्रान्तिकारी एकत्रित हो गये । साइकिलों, मोटरसाइकिलों तथा मोटरगाड़ी का प्रबन्ध किया जा चुका था । उन्हें मुक्त कराने के पश्चात् रखने के लिये कई मकानों का प्रबन्ध भी किया जा चुका था । बम बनाये गये थे, पिस्तौलें तथा अन्य हथियार जुटा लिये गये थे । शहीद भगवती चरण इनमें से एक बम का परीक्षण करते हुए दिवंगत हुए थे ।

सरदार भगतसिंह इस तैयारी से अनभिज्ञ न थे । वे भी इसमें ऊपरी मन से सहमत हो चुके थे । समय, स्थान तथा कार्यक्रम का निर्धारण भी हो गया था । उसे क्रियान्वित करने के लिये भगतसिंह की सहमति भी मिल गई थी, किन्तु उनका उद्देश्य कुछ और ही था ।

जिस दिन यह सब होना था उस दिन उन्होंने अपने इस उद्देश्य को स्पष्ट किया । दो चार व्यक्तियों के पीछे इतने व्यक्तियों की जान जोखिम में डालना उन्हें उपयुक्त नहीं लगा था । वे जानते थे कि महत्व भगतसिंह को दिया जा रहा है, दिया जाना चाहिए राष्ट्र के स्वतन्त्रता आन्दोलन को । क्रान्तिकारियों को जेल से मुक्त कराने के चक्कर में आन्दोलन कमजोर पड़ जायेगा । इसलिये वे इस योजना को कार्यान्वित करना नहीं चाहते थे । उनकी झूठी सहमति के पीछे यह लक्ष्य था कि उस बहाने क्रान्तिकारियों की एकता दृढ़ हो जायेगी ।

जैसा कि भगतसिंह चाहते थे जिस असहमति की आशंका क्रान्तिकारियों ने कदापि नहीं थी, वही हुआ । बोस्ट्रल जेल के द्वार पर जहाँ पुलिस की मोटर लारी बन्दियों को सेन्ट्रल जेल ले जाने को तैयार खड़ी थी ।

भगतसिंह छद्मवेश में खड़ी क्रान्तिकारियों के नेता को योजना कार्यान्वित करने का संकेत देने वाले थे, वैसा नहीं हुआ। भगतसिंह को जब लारी में बैठाने के लिए ले जाया गया तो उन्होंने संकेत दिया—“नहीं यह सब कुछ नहीं होगा।” इस पर क्रान्तिकारी समझे कि आज कोई खतरा है अगले किसी दिन इस कार्य को पूरा किया जायेगा।

दूसरे दिन जब एक व्यक्ति उनका मन्तव्य जानने के लिये जेल पहुँचा। उनसे मुलाकात हुई। उनसे मनाही का कारण पूछा गया तो उन्होंने बताया—“यह उचित नहीं होगा कि थोड़े से व्यक्तियों की जान बचाने के लिये हम कितने ही देशभक्तों का रक्त बहा दें। हम जिस उद्देश्य को लेकर अपना सब कुछ छोड़कर क्रान्ति पथ पर आये हैं वह इसकी आज्ञा नहीं देता। हम तो अपना कफन अपने ही सिर पर बाँधकर निकले हैं। महत्ता व्यक्ति की नहीं इस आदर्श की है। हमें ही श्रेय मिले या हमसे ही क्रान्ति होगी— देश स्वतन्त्र होगा यह तो हम लोग नहीं सोचते किन्तु यह कार्य हमें ऐसा ही सिद्ध करेगा। हमारे बलिदान से हमारे आदर्श को बल मिलेगा तो कल इसी जनसमुदाय में से सहस्रों भगतसिंह पैदा हो जायेंगे तथा भारत स्वाधीन होकर रहेगा।”

क्रान्ति दृष्टा भगतसिंह के इन शब्दों में जो सत्य छिपा है, उसे काल की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता। समय की पुकार पर आज भी आदर्शों के लिये जीवन समर्पित करने की परम्परा बनाये रखना आवश्यक है।

देश सेवक का वेतन

क्रान्तिकारी शहीद सरदार भगतसिंह एक खाते-पीते परिवार के पुत्र रत्न थे। किन्तु जब उन्होंने देश सेवा में पदार्पण किया और उपार्जन का विचार त्याग दिया तब उन्होंने अपने खर्च के लिये परिवार पर भी निर्भर न रहने का निश्चय कर लिया। कारण पूछने पर उन्होंने बतलाया कि वे परिवार के सिर पर बोझ बनकर देश सेवा करना पसन्द नहीं करते।

निदान जिस समय १९२७ में पंजाब-बंगाल और उत्तर प्रदेश के क्रान्तिकारी नेताओं के बीच सम्पर्क स्थापित करने में व्यस्त थे, उनको आर्थिक कठिनाई का अनुभव हुआ। उन्होंने तत्कालीन कांग्रेस कार्यकारिणी के प्रभावशील सदस्य श्री शार्दूलसिंह को कहलाया कि वे अपनी गुजर-वशर के लिये कुछ काम करना चाहते हैं। श्री शार्दूलसिंह ने अमृतसर कांग्रेस कार्यालय में काम करने के लिये डेढ़ सौ रुपये महावार पर नियुक्त करा दिया किन्तु सरदार भगतसिंह ने बहुत कुछ कहने पर भी ३० रुपये मासिक से अधिक स्वीकार न किया और कहा—मैं तो देश की सेवा करने के लिए जीवित रहने

का साधन चाहता हूँ न कि अधिक कमाई करके सुख के साथ जीवन बिताने के लिये। तीस रुपये मेरे गुजारे के लिये बहुत हैं।

क्रांति की भावनात्मक वसीयत

धन सम्पदा की वसीयतों की तो बात आम है पर भावनाओं की वसीयत के उदाहरण भी देखने को मिल जाते हैं। सरदार भगतसिंह के होश सम्हालने से पहले ही उनके चाचा अँग्रेजी सरकार से विद्रोह करने के सिलसिले में फरार हो चुके थे। भगतसिंह को उसके बाद उनके दर्शन भी नहीं हो सके।

भगत अपने प्रिय चाचा के चरण चिन्हों पर चलकर देश के लिये मर मटे। मरते दम तक उनकी यही ख्वाहिश रही कि उनको अपने उस चाचा के दर्शन हो जाते जिन्होंने उन्हें देशभक्ति की प्रबल उमंगें अनदेखे सूत्रों से उन्हें सौंप दी थीं, भावनात्मक वसीयत के रूप में।

सर्वस्व समर्पित करने वाले आहुत-आत्मा

महावीर सिंह

प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त होने के बाद भारत में एक भीषण राजनैतिक चेतना की आँधी आयी। देश का बच्चा-बच्चा अँग्रेजों के प्रति आक्रोश से भर उठा। विदेशी सरकार की जड़ें हिलने लगीं। गोर्रा-शासन लंगड़ा उठा तो उसे बैसाखियों का सहारा देने का प्रयास किया गया। विप्लवी-जन भावनायें उबल कर सरकार के लिए कोई प्रकट अदम्य विद्रोह खड़ा न कर दे, इसलिए स्थान-स्थान पर अमन-सभायें कायम की गयीं। कमेटीयाँ आम सभा आयोजित करतीं, जन् सम्पर्क बनातीं और लोगों से शांत रहने की अपील करती थीं।

ऐसी ही एक अमन कमेटी की सभा आयोजित हुई उत्तर प्रदेश के (तब संयुक्त प्रान्त) के एटा जनपद की कासगंज तहसील में। इस सभा में तहसील के सभी नागरिकों को बुलाकर एकत्रित किया गया। जो नहीं आना चाहते थे या आने में असमर्थ थे, लाख काम छोड़कर उन्हें भी सभा में उपस्थित होना पड़ा। कारण था— राजाज्ञा और उसके पालन के लिए सरकारी मशीनरी का दबाव। मन से बेमन से तहसील के सभी बूढ़े, बच्चे, युवा, किशोर स्त्री-पुरुष सभा में आये। इस सभा में बताया गया कि अँग्रेजी शासन भारत का कितना शुभचिन्तक है। एक मात्र अँग्रेज जाति ही ऐसी है जो इस देश का कल्याण कर सकती है और करने में जुटी हुई है।

जो ना समझ थे उनके गले तो ये बातें उतरती जा रही थीं। राजभक्ति की मन्त्र-दीक्षा से दीक्षित ठेठ ग्रामीणों का हृदय अँग्रेजों को अपना भाग्य विधाता

३.१६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

अनुभव कर रहा था । हालांकि ऐसे लोगों की संख्या नगण्य थी । बहुलता ऐसे ही नागरिकों की थी जो अंग्रेजी-शासन की वास्तविकता को अच्छी तरह जानते थे और समझते थे कि यह सभा लोगों की भावनाओं को जीतने के लिए नहीं, वरन् उन पर राजशक्ति थोपने के लिए की जा रही है । जी चाहता था बस चले तो अभी इसके संयोजकों का गिरेबान पकड़ कर मंच से खींच लिया जाय । परन्तु राजदण्ड का भय उन्हें अपनी कुदृष्ट को व्यक्त करने से रोक रहा था । एक अधिकारी ने अपना भाषण समाप्त कर जैसे ही आसन ग्रहण किया । श्रोताओं की भीड़ में से एक किशोर कण्ठ की आवाज आयी-“महात्मा गांधी की जय” इसके बाद तो वहाँ उपस्थित सभी बच्चों और किशोरों ने नारे लगाये ।

सभा मंच पर जमे हुए वक्ता अधिकारी भौचक्के रह गये । आस-पास पहरा दे रही पुलिस ने भीड़ में घुसकर उस किशोर को गिरफ्तार कर लिया जिसने सर्व प्रथम महात्मा गाँधी की जय का उद्घोष किया था । इस अपराध में किशोर को आठ-दस बेंतें पड़ीं । निर्ममतापूर्वक की गयी पिटाई के कारण किशोर बेहाल हो गया । घर लौटा तो पिता ने गर्व से सीना फुलाकर कहा-मेरे प्यारे बच्चे मुझे तुझ पर नाज है ।

और इस प्रोत्साहन वाक्य ने बेंत की मार से पड़े नीले निशानों पर जो बुरी तरह जलन कर रहे थे, ठंडे मरहम का काम किया । यही किशोर आगे चलकर महान विप्लवी क्रान्तिकारी शहीद महावीर सिंह के नाम से विख्यात हुआ । महावीर सिंह का जन्म १९०४ में एटा जिले की कासगंज तहसील में हुआ था । उनके पिता कुँवर देवीसिंह वैद्यक के द्वारा अपना निर्वाह करते थे ।

कुँवर देवीसिंह अच्छे शिक्षित और जागरूक व्यक्ति होने के कारण उस समय की देशकाल की परिस्थितियों से अच्छी तरह परिचित थे । उनके हृदय में भी राष्ट्रभक्ति और स्वातन्त्र्य प्रेम की उत्कट लालसा हिलोरें मार रही थी । उन्होंने अपने पुत्र को भी उस मार्ग पर निर्विरोध बढ़ने दिया । सन्धिवेला में ऐसी आत्मायें जन्म लेती ही हैं जो अपनी सन्तान को पेट-प्रजनन की परिधि सीमा तोड़कर देश और समाज के लिए कुछ करने को उत्सुक बनाने में प्रयत्नशील रहती हैं । कुँवर देवीसिंह भी ऐसे ही युगीन महामानवों, लोक मंगल के सन्धकों में से एक थे । उन्होंने अपने पुत्र को तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप समाज की आवश्यकता तथा उसे पूरी करने में रत होने के लिए प्रशिक्षित किया ।

एटा के राजकीय हाईस्कूल में महावीरसिंह ने मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की । विद्यार्थी जीवन में उन्होंने देशभक्ति और स्वाधीनता संग्राम की भूमिका निभाने का भी पाठ पढ़ा । वहाँ भी उनका विद्रोह और

स्वाभिमान प्रकट हुए बिना न रहा । उन दिनों जब महावीर सिंह हाईस्कूल के छात्रावास में रह रहे थे, एटा में किसी राष्ट्रीय नेता का आगमन हुआ नेताओं की सभा में लोग उत्साहपूर्वक भाग लिया करते थे । फिर महावीरसिंह जैसे देशभक्त युवक जाने से कब चूकते । उन्होंने अपने कुछ साथियों के साथ सभा में जाने की योजना बनायी । इस योजना की खबर जैसे ही छात्रावास के अधीक्षक को मिली तत्काल प्राचार्य का आदेश निकलवा दिया कि उस समय सभी विद्यार्थी छात्रावास में उपस्थित रहें ।

महावीर सिंह को इस आदेश का पता चला तो बड़ा क्रोध आया । जान लिया कि छात्रावास तथा विद्यालय के राजभक्त अधिकारी और कर्मचारी उन्हें सभा में भाग नहीं लेने देना चाहते, सो विद्रोह और तत्जनित अवज्ञा का भाव यहाँ खुलकर सामने आया । महावीर सिंह ने तो दृढ़ निश्चय कर रखा था कि चाहे जो हो वे सभा में अवश्य जायेंगे । अपने इस निश्चय से उन्होंने आदेश प्रसारित करने वाले चपरासी तथा प्राचार्य को भी अवगत करा दिया । अधिकारियों ने इस पर शक्ति प्रयोग कर उन्हें रोकने का षड्यन्त्र रचा परन्तु सबकी आँख बचाकर वह ऐसे निकले किसी को खबर तक नहीं हुई ।

सभा से लौटने पर प्राचार्य ने उन पर अनुशासनहीनता और नियम भंग करने का आरोप लगाकर दण्डित किया । महावीर सिंह ने हर्ष के साथ दण्ड भोगा । उनकी दृष्टि में यह कार्य किंचित भी अनुशासन भंग नहीं था । वस्तुतः वह अनुशासन और प्रतिबन्ध अनुचित ही है जो पालनकर्ता को उसके कर्तव्यों से विमुख कर दें । नियम और व्यवस्था का प्रयोजन ही यह है कि उससे बँधकर व्यक्ति अधिकाधिक कुशलता पूर्वक अपने कर्तव्य का पालन कर सके और जब वह व्यवस्था उस प्रयोजन की पूर्ति में अनापेक्षित और औचित्य विरोधी रुकावट पैदा करती है तो उसे तोड़ ही देना चाहिए । इस दण्ड ने महावीर सिंह को विद्रोही छात्रों का नेता बना दिया ।

हाईस्कूल की शिक्षा समाप्त कर वे कानपुर के डी० ए० वी० कॉलेज में भर्ती हुए उस समय महात्मा गाँधी द्वारा संचालित प्रथम असहयोग आन्दोलन अंग्रेजों के लाठियों और दमन षड्यन्त्रों के बीच दब-सा गया था । विद्रोह की भावना क्षण भर के लिए भले ही दबा दी गयी हो परन्तु विद्रोह की आग अन्दर ही अन्दर सुलग रही थी । नवयुवकों का गर्म खून दमन और आतंक का प्रत्युत्तर उसी भाषा में देने को कसमसा रहा था ।

ऐसे ही जोश और उत्साह की हवा से डी० ए० वी० कॉलेज भी अछूत नहीं रह गया था । महावीर सिंह यहाँ उसकी हवा के संस्पर्श में आये और उन्होंने क्रान्तिकारी का व्रत धारण कर लिया । कॉलेज में उन्हें प्रोफेसर मुंशीराम का संरक्षण मिला जिसकी छत्र-छाया में वे

अपनी गतिविधियाँ चलाते रहे। क्रान्तिकारी युवकों ने तब 'हिन्दुस्तान समाजवादी गणतंत्र सेना' का गुप्त रूप से संगठन किया था। इस सेना में चन्द्रशेखर, सरदार भगतसिंह, शचीन्द्र सान्याल जैसे विख्यात विप्लवी नेता थे। महावीर सिंह ने इन्हीं की जमात में भर्ती होकर क्रान्ति के माध्यम से अँग्रेजी शासन का तख्ता उलटने का लक्ष्य बनाया। कॉलेज से निकलते ही उन्होंने इस सेना की सक्रिय सदस्यता ग्रहण कर ली और चौबीसों घण्टे पार्टी को देने लगे।

घर से पिता जी का संदेश आया। महावीर सिंह को जल्दी अपने पास बुलाया था। वे घर गये तो पिताजी ने शादी का प्रस्ताव रखा। उन्हें नहीं पता था कि महावीर सिंह किसी गुप्त संगठन का सदस्य है। वस्तुस्थिति बताकर उन्होंने अपने पिता से कहा-मेरी तो शादी हो चुकी है अपने लक्ष्य से। अब घर-गृहस्थी के पचड़े में न पड़कर देशसेवा करने की इच्छा है। जिसके लिए आप इजाजत तो देंगे ही।

आँखों में आँसू भरकर कुँवर देवीसिंह ने कहा-मुझे बड़ी खुशी है बेटे। परन्तु मेरी एक बात को याद रखना। देश की सेवा का जो रास्ता तुमने अख्तियार किया है, वह बड़ी तपस्या और कठिनाता से भरा पड़ा है। लेकिन अब तुम उस पर चल ही दिये हो पीछे न मुड़ना। साथियों से विश्वासघात न करना और अपने बूढ़े पिता का ख्याल रखना।

"पिताजी आप आशीर्वाद तो दे रहे हैं परन्तु आपकी आँखों से बहती आँसुओं की धारा बता रही है, कहीं आप मजबूरी के कारण तो यह सब नहीं कह रहे"- महावीर सिंह ने कहा।

"नहीं बेटा। ये तो हर्ष के आँसू हैं। जिस काम को करने के लिये मैं जिन्दगी भर सपने देखता रहा। वह तू कर रहा है तो मुझे कोई दुःख होगा पगले!"-देवीसिंह जी ने कहा और उनके मुँह पर खुशी नाच उठी। दुःख था- तो सही-अपने बेटे के बिछुड़ने का। लाख कितने ही अच्छे उद्देश्यों के लिए अपना पुत्र विदा ले रहा हो परन्तु उस हृदय में जहाँ ममता, वात्सल्य ही वात्सल्य और प्यार ही प्यार भरा हो वह भला कैसे मानेगा।

निकट रहने से पिता कहीं और दुःखी न हों इसलिए महावीर सिंह उनकी चरण रज अपने मस्तक से लगाकर चल दिये। चलते-चलते पिता ने उन्हें फिर पुकारा-"बेटा तुझे किसी चीज की जरूरत हो वह मुझ से मिल सके तो संकाच मत करना। यह सब कुछ तेरा है।" मकान और सम्पत्ति की तरफ इशारा करते हुए कुँवर देवीसिंह ने कहा।

"पिताजी मेरी तो कोई व्यक्तिगत आवश्यकता आकांक्षा है नहीं। मैंने अपना सब कुछ देश को सौंप दिया है। अब तो जो कुछ भी जरूरत होगी सब उसी की।

"उसके लिये भी तू यह सब अपना समझना और देश के लिए अपने साथियों के लिए ही इन सबका उपयोग करना।"

सर्वस्व समर्पण की दीक्षा लेकर महावीर सिंह ने उस जगह से प्रस्थान किया और पार्टी कार्यालय में जाकर पिता की प्रेरणा से अपने संकल्प की घोषणा की। पार्टी संगठन के लिए उस समय धन की आवश्यकता तो थी ही। वे दल के आदेशानुसार १९२७ में लाहौर गये और वहाँ पर 'हिन्दुस्तान समाजवादी गणतंत्र सेना' का गठन किया। यह सारा काम उन्होंने छद्मवेश में- मोटर ड्राइवर के रूप में रहकर किया। क्रान्तिकारियों के इस संगठन की सूचना तब सरकार को मिल चुकी थी इसलिए छद्मवेश में रहना आवश्यक था। मोटर ड्राइवर के रूप में उन्होंने बड़े साहसिक कार्य किये। उस समय की व्यवस्था के अनुसार उनका स्वरूप तो गैरकानूनी था। परन्तु क्रान्तिकारियों का लक्ष्य ही तब इसी प्रकार का था। जनता में असन्तोष और प्रशासन में अव्यवस्था फैलाकर अँग्रेजी शासन की नींव कमजोर करना।

बाद में जब 'हिन्दुस्तान समाजवादी सेना' के सदस्य क्रान्तिकारियों की धर पकड़ आरम्भ हुई तो १९२९ में उन्हें भी गिरफ्तार कर लिया गया। राजद्रोह और अशान्ति फैलाने के कई अभियोग उन पर चलाये गये। यह सब तो महज नाटक ही था। सच बात तो यह थी कि सरकार इस खुले सिंह को स्वतन्त्र घूमते देखना पसन्द नहीं करती थी। इसलिए उन्हें लम्बे समय तक कारावास का दण्ड दिया गया। जेल के अधिकारी कैदियों से बड़ा दुर्व्यवहार करते थे। महावीर सिंह ने इसके विरोध में अपने साथियों सहित अनशन किया। उनका अनशन तुड़वाने के लिए प्रलोभन से लेकर बल प्रयोग तक सभी तरीके अजमाये गये परन्तु महावीरसिंह के दृढ़ निश्चयी स्वभाव के सम्मुख एक भी सफल न हो सका। अन्ततः विजय उन्हीं की हुई।

सन् १९३० की ७ अक्टूबर को उन्हें आजन्म कैद की सजा सुनाई गयी। उन्हें क्रमशः लाहौर, मुलतान और मद्रास की जेलों में रखा गया। तीन वर्ष तक इस प्रकार स्थान बदल-बदल कर रखने के बाद उन्हें अण्डमान भेज दिया गया। भारत भूमि से आठ सौ मील दूर पोर्ट ब्लेयर का भयावह यन्त्रणा गृह। उसमें सीलन और बदबूदार कोठरी। भोजन के साथ कीड़े और कंकड़। पत्र, मुलाकात, समाचार पत्र सब कुछ बन्द। इन नारकीय यातनाओं को बंद करने के लिए महावीर सिंह ने आमरण अनशन किया। अधिकारीगण तो देशप्रेम में मतवाले इन अपराधियों को निर्जीव वस्तुओं से भी गया गुजरा समझते थे। मानवीय विरोध को पहचानने की क्षमता उनमें कहाँ से आती। उसी प्रकार और उससे अधिक निकृष्ट पशु व्यवहार किया जाता रहा। जिसके

परिणाम स्वरूप १७ मई, १९३३ को उनका देहान्त हो गया। इस अपराजित महामानव का जीवन युग सैनिकों के लिये भी प्रकाश दीप है।

अमर शहीद-

रामप्रसाद बिस्मिल

फन्दे पर लटकाने की तारीख से पूर्व सन्ध्या को कैदी के लिए दूध आया। अब तक तो दूध आता नहीं था, ब्रिटिश सरकार के अनुग्रह का लाभ लेने का कभी मन नहीं हुआ तो अब भी क्यों उसकी कृपा प्राप्त की जाये सो उन्होंने कहा-“अब तो माँ का ही दूध पियूँगा।” सुबह हुई स्नान आदि किया, सन्ध्या-वन्दन, जप-उपासना से निवृत्त हुए और अपने भाइयों के नाम एक लेख लिखा।

फाँसी का समय हो गया था। उन्हें तख्ते की ओर ले जाया जाने लगा तो- वन्देमातरम् और भारत माता की जय उनका कण्ठ चीत्कार कर उठा। रास्ते में वे उच्च स्वरों से गीत गाते जा रहे थे -

मालिक तेरी रजा रहे और तू ही तू रहे,
बाकी न मैं रहूँ, न मेरी आरजू रहे।
जब तक कि तन में जान, रंगों में लहू रहे,
तेरा ही जिक्र और तेरी ही जूस्तजू रहे ॥

फाँसी घर के द्वार पर पहुँचकर उन्होंने उच्च कण्ठ से पुकारा-“मैं ब्रिटिश साम्राज्य का विनाश चाहता हूँ और फिर वेदमन्त्रों का पाठ करते हुए फाँसी के फन्दे पर झूल गये। जब उनकी देह निष्प्राण हो गई तो जनता ने उनके शव को लेकर बड़े सम्मान के साथ नगर भर में घुमाया और बड़ी धूमधाम से उनकी अन्त्येष्टि की गई।

अनेकों लोग होते हैं, जो जीते-जी मौत से भी बदतर दुर्दशा में रहते हैं और कई एक होते हैं जो मरते भी हैं- तो जिन्दगी से बेहतर स्थिति में जा पहुँचते हैं। दूसरी श्रेणी के सूरमा कम ही होते हैं पर उनका होना मुश्किल नहीं है क्योंकि वे आदर्शों के लिए जीते हैं और आदर्शों के लिए ही अपने प्राणों का भी उत्सर्ग कर जाते हैं। ऊपर जिस नरपुंगव की मृत्यु-मृत्यु नहीं अमर जीवन में प्रवेश का जिक्र किया गया है, का नाम है रामप्रसाद 'बिस्मिल'। जिनका आदर्श था देशभक्ति, जिनका ध्येय था स्वतन्त्रता, जिनका परिवार था देशव्यापी और जिनकी माता थी मातृभूमि। यह उनके व्यक्तित्व का उच्चतम पहलू ही है। स्थूलदृष्टि से तो वे सामान्य मानवों जैसे ही थे।

उनका जन्म ग्वालियर राज्य के रहनेवाले और शाहजहाँपुर में आ बसे मुरलीधर जी के यहाँ ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष १९ संवत् १९५४ बिक्रमी को हुआ था। उनके पूर्वज जमींदार थे, परन्तु वक्त की मार ने परिवार की आर्थिक स्थिति को डगमगा दिया। इसलिए उनके पूर्वजों को अपना पैतृक आवास छोड़कर शाहजहाँपुर में आ

बसना पड़ा था। रामप्रसाद जी को उनकी दादी का विशेष स्नेह मिला था, वे थे भी पहली सन्तान। इसीलिये बड़े-बूढ़ों का लाड़-प्यार मिलना स्वाभाविक ही था।

सात वर्ष की आयु में सन् १९१४ में उन्हें पढ़ने के लिए स्थानीय पाठशाला में भर्ती कराया गया। वे बचपन से ही बड़े उद्दण्ड थे। कभी घर में बैँधी गायों के थन से मुँह लगाकर दूध पीते तो कभी अपने संग-साथियों के साथ दिन भर घर से गायब रहते। पिता को पता चलता तो पिटाई भी हो जाया करती पर उससे उनकी चंचलता और उद्दण्डता में रत्ती भर भी फर्क नहीं आया। फर्क आया तब जब उनकी माताजी उन्हें अपने साथ मन्दिर ले जाने लगीं। मन्दिर में रोज सत्संग चलता और वहाँ सदाचार, नीति और चरित्र की शिक्षायें धर्म पुराणों की कथाओं द्वारा दी जातीं। इन शिक्षाओं का किशोर रामप्रसाद के हृदय पर बड़ा प्रभाव हुआ। उनकी चंचलता और उच्छ्वलता जाती रही तथा शैतान बालक कुछ ही दिनों में शरीफ और परिश्रमी बन गया।

प्राइमरी शाला में अपनी शिक्षा पूरी कर लेने के बाद उनका नाम मिशन स्कूल में लिखाया गया। यहाँ वे बड़े परिश्रम, मनोयोग और एकाग्रतापूर्वक पढ़ने लगे। इन्हीं दिनों उनकी मैत्री अपने ही समान परिश्रमी और लगनशील छात्र सुशीलचन्द्र सैन से हुई। उसके व्यक्तित्व का रामप्रसाद पर बड़ा प्रभाव हुआ सहपाठी सुशील का परिवार उस समय आर्य समाज की विचारधारा से अभिभूत था। सुशील ने उन्हें स्वामी दयानन्द का 'सत्यार्थ प्रकाश' ग्रन्थ दिया, जो आर्य समाजी विचारधारा का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। सत्यार्थ प्रकाश ने रामप्रसाद के जीवन को सर्वथा नई ही दिशा दी और वे संस्कृति के गौरवमय तथा गरिमामय स्वरूप से परिचित हुये। धर्म और अध्यात्म के विवेकसम्मत स्वरूप ने उनके मन को ऐसा रंग दिया कि वे तख्ता पर एक कम्बल बिछाकर सोने लगे। रात्रि समय भोजन भी छोड़ दिया और भोजन में नमक का प्रयोग भी बन्द कर दिया। शुद्ध, सात्विक और ताजा भोजन तथा व्यायाम के साथ-साथ मानसिक और आत्मिक विकास का प्रयत्न उनका साधन बन गया। भारतीय दर्शन की आदि विचारधारा ने उन्हें इतना अभिभूत कर दिया कि नगर में जब कभी सुधारवादी और विवेक धर्म के अनुयायी महात्मागण आते तो ऐसा हो ही नहीं सकता कि रामप्रसाद उन्हें सुनने या उनकी सेवा करने न जायें।

आर्य समाज और स्वामी दयानन्द के प्रति जब उनकी श्रद्धा इस कदर बढ़ने लगी तो घरवालों को लगा कि वे पटरी से हट रहे हैं और उन्होंने रामप्रसाद को आर्य समाज से विच्छेद करने के लिए कहा। पर उन्हें यह बात नहीं जंची थी, तब घर वाले दबाव डालने लगे। धुन के धनी और लगन के पक्के रामप्रसाद को विरत नहीं किया जा सका। एक दिन पिता ने कहा-“राम यदि तुम अपने मन की ही करना चाहते हो तो इस घर में तुम्हारे लिए कोई स्थान नहीं है।

“ठीक है पिताजी-रामप्रसाद ने कहा- “मैं यह घर छोड़ दूँगा।”

पिता ने तो सोचा था कि इस धमकी को सुनकर उनका बेटा उनकी बात मान लेगा पर आशा के प्रतिकूल जब यह उत्तर सुना तो वे भभक उठे और बोले-“तुम अभी ही इसी वक्त घर छोड़कर चले जाओ।”

और सचमुच रामप्रसाद जैसे के तैसे ही घर से निकल गये। परिवार के लोगों ने सोचा कि नादान उमर का लड़का दुनिया की ठोकरें खाकर शाम तक ही वापस आ जायगा। परन्तु रामप्रसाद नहीं आये। थोड़ी चिन्ता तो हुई पर जी को कड़ा कर लिया। दूसरे दिन भी नहीं आये तो चिन्ता जरा बढ़ी और तीसरे दिन तो उसकी सीमा का कोई ठिकाना ही नहीं था। मुरलीधर जी अपने दो साथियों को साथ लेकर उन्हें खोजने निकले। उनके मिलने की सम्भावना किसी सत्संग में ही थी अतः उन्हीं-उन्हीं ठिकानों पर उन्हें खोजा भी गया। एक स्थान पर किसी प्रसिद्ध स्वामीजी का प्रवचन चल रहा था। पिता को रामप्रसाद प्रवचन पण्डाल के पास एक वृक्ष के नीचे खड़े प्रवचन सुनते दिखाई दिये, और उन्हें पकड़ कर घर लावा ले गये?”

माँ ने पूछा-“क्यों रे राम ! तू चला क्यों गया था?”

“पिताजी ने तो कहा था।” - रामप्रसाद का कहना था।

“तो फिर आया क्यों?”

“वे ही लाये भी हैं। इसीलिए।”

“पर तू आर्य समाज न छोड़ेगा? है न।”

“नहीं” - यह संक्षिप्त उत्तर था।

घर आने के बाद पिताजी उन्हें स्कूल में अपने साथ लेकर गये और वहाँ के प्रधानाध्यापक से रामप्रसाद जी के सम्बन्ध में कई बातों की प्रधानाध्यापक ने उन्हें कई सुझाव दिये और उनको क्रियान्वित करते हुए मुरलीधर जी ने कभी अपने बेटे पर हाथ नहीं उठाया।

पढ़ते समय ही रामप्रसाद जी क्रान्तिकारी नेताओं के सम्पर्क में आये। तदविषयक साहित्य का उन्होंने गहन अध्ययन किया। अब वे यह सोचने लगे कि हमारा देश हमारा परिवार है और अपने परिवार के अधिकांश सदस्य दुःखी और खिन्न हैं। इन्हीं दिनों लखनऊ में काँग्रेस अधिवेशन होने जा रहा था। रामप्रसाद जी भी वहाँ गये और अधिवेशन की कार्यवाही देखी। सम्मेलन में हुई कुछ घटनाओं का रामप्रसाद जी पर अच्छा प्रभाव नहीं हुआ और वे क्रान्ति के द्वारा ही स्वतन्त्रता की प्राप्ति को सम्भव देखने लगे। इस अधिवेशन में लोकमान्य तिलक को युवकों ने एक बग्घी पर बिठाकर खुद के हाथों से खींचते हुए उनका स्वागत जुलूस निकाला था। युवा हृदय रामप्रसाद बिस्मिल ने लोकमान्य की चरणरज को अपने माथे से लगाया।

लखनऊ में ही उन्हें पता चला कि क्रान्तिकारियों की एक गुप्त समिति भी है, जो लड़कर स्वतन्त्रता पाने में विश्वास करती है। इस समिति के नेता पं० गेंदालाल दीक्षित हैं। समिति के पास पर्याप्त साधन नहीं थे फिर भी उसके अन्य सदस्य सामर्थ्य के अनुसार क्रान्ति के विचारों का प्रचार कर रहे थे। गेंदालाल दीक्षित और उनके अन्य सहयोगी इस विचार की आग-जन-जन के मन में धधका देने के लिए प्रयत्न कर रहे थे। रामप्रसाद को जब इस बात का पता चला तो वे भी दल के सदस्य बन गये।

इन्हीं दिनों समिति ने एक पुस्तक- ‘अमरीका को स्वाधीनता कैसा मिली’ छपवाई और उसे लोगों में वितरित किया। यह पुस्तक विस्फोटक और विचारोत्तेजक थी। संयुक्त प्रान्त सरकार को इसका पता चलते ही पुस्तक जब्त कर ली गई। तो भी पुस्तक की कई प्रतियाँ बच गयीं, जो दिल्ली काँग्रेस में बाँटी गयीं। दिल्ली की पुलिस को पता चला तो वहाँ भी पकड़ा-धकड़ी हुई। रामप्रसाद के पास लगभग दो सौ पुस्तकें थीं। वे किसी प्रकार अपने आपको बचा-छुपाकर वहाँ से निकल सके। इस घटना के बाद उत्साह कई गुना बढ़ गया था। इसी प्रकार वे एक बार अपने साथियों के साथ दिल्ली से शाहजहाँपुर जाते समय बाल-बाल बचे।

उनकी गतिविधियों को बढ़ते देखकर उनकी गिरफ्तारी का वारण्ट जारी कर दिया गया तो रामप्रसाद भूमिगत हो गए। गुप्त रूप से क्रान्ति प्रचार और प्रखर साहित्य का सृजन प्रकाशन भी चलता रहा। निहिलिस्ट रहस्य का अनुवाद, मन की लहर, कैथराइन, स्वदेशी रंग आदि पुस्तकों का अनुवाद और लेखन किया। इस काम में उन्हें घाटा उठाना पड़ा पर घाटे की यहाँ किसे चिन्ता थी। चिन्ता थी तो अपना लक्ष्य प्राप्त करने की और वे उस दिशा में दृढ़गति से बढ़ते जा रहे थे।

‘बिस्मिल’ नाम उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम भातृभाव से रखा था। उत्तर प्रदेश में तब क्रान्तिकारियों में उनकी ख्याति फैलती जा रही थी और बिस्मिल का सम्बन्ध शचीन्द्रनाथ सान्याल की उग्रवादी पार्टी ‘हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसियेशन’ से भी हो गया था और उसके सदस्य क्रान्तिवीरों द्वारा बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाई जा रही थीं। दल की आर्थिक आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए सरकारी खजानों और सम्पत्ति को लूटने का निश्चय किया गया।

उन्हीं दिनों निश्चित किया गया कि सहारनपुर से लखनऊ तक जाने वाली गाड़ी को लूटा जाय। क्योंकि छोटी-मोटी डकैतियों में कम ही पैसा मिलता था जबकि उसकी तुलना में अधिक क्षति होती थी। अनुमान था कि ऐसी गाड़ी में कम से कम दस हजार रुपये तो जाते ही होंगे, अतः रामप्रसाद बिस्मिल के अतिरिक्त चन्द्रशेखर आजाद, राजेन्द्र लाहिड़ी, शचीन्द्रनाथ बख्शी, अशफाक

उल्ला खाँ, मुकुन्दलाल, केशव चक्रवर्ती, मुरारीलाल, बनवारीलाल मन्मथनाथ गुप्त ने उस डकैती में भाग लेने का निर्णय लिया।

लूट की योजना बनाकर सभी क्रान्तिकारी ट्रेन में सवार हुए और रास्ते में ही जंजीर खींच कर गाड़ी रोक ली गई। उसमें बैठे सभी यात्री सहम गए और कुछ नीचे भी उतरने लगे। उन्हें आश्वत करने के साथ-साथ नीचे उतरने से भी रोका गया। गाड़ी में रखा लोहे का सन्दूक जिसमें माल रखा हुआ था, नीचे उतार लिया गया और उसे तोड़कर क्रान्तिकारियों द्वारा पैसा हथिया लिया गया था और वहाँ से चले गये। डकैती के समय इस बात का पूरा-पूरा प्रबन्ध किया गया था कि उसमें किसी भी प्रकार जन क्षति न पहुँचे और इसका बराबर ध्यान भी रखा गया था।

इस रेल डकैती का समाचार जब फैला तो सारे देश में बड़ी खलबली मच गई। पुलिस की सरगर्मी अब इतनी तेज हो गई थी कि लगता था वह क्रान्तिकारियों का मूलोच्छेदन ही कर डालना चाहती है। इस सिलसिले में स्थान-स्थान पर गिरफ्तारियाँ होने लगीं और धीरे-धीरे सभी क्रान्तिकारी- जिन्होंने काकोरी रेल डकैती में भाग लिया था गिरफ्तार कर लिए गये। रामप्रसाद बिस्मिल भी गिरफ्तार हुए और उन पर मुकदमा चला। बिस्मिल ने अपनी सफाई में कुछ नहीं कहा, कहने का अर्थ भी क्या था? ब्रिटिश गवर्नमेंट के दमन चक्र में किसी की सुनवाई होना तो मुमकिन था ही नहीं। बिस्मिल ने बड़ी वीरता के साथ अपने कृत्य को स्वीकार किया। इसके उपहार में मिला उन्हें मृत्युदण्ड। इनके साथ ही राजेन्द्र लाहिड़ी, तथा रोशनसिंह को भी फाँसी की सजा हुई। अशफाक उल्ला खाँ को गोरखपुर जेल में फाँसी दी गयी।

इन देशभक्तों को १९ दिसम्बर, १९२७ को फाँसी के फन्दे पर लटका दिया गया और वे भारत माता की जय कहते हुए मातृभूमि की गोदी में चिरनिद्रा में लीन हो गये लेकिन उनकी सहादत असंख्य देशभक्तों के लिए जागरण का शंखनाद बन गई।

स्वतन्त्रता संग्राम का बीज बोने वाला

खुदीराम बोस

जब कोई बड़ा कार्य सामने आता है तो लोग यह कह कर "हमारी शक्ति छोटी है, हमारी योग्यता कम है, हम अभाव ग्रस्त हैं, हमें समय नहीं मिलता, " प्रयास टाल देते हैं और सामाजिक या वैयक्तिक जीवन विकास की अवस्थाएँ ढकी पड़ी रह जाती हैं।

अपनी शक्ति सामर्थ्य और योग्यता को छोटा मानकर प्रयत्नों से मुख मोड़ना वस्तुतः बहाना मात्र है। अन्यथा

मनुष्य जिस बीज से बना है, उसकी शक्ति और क्षमता का पारावार नहीं। बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक न तो उसकी शक्ति कम होती है न सामर्थ्य। यदि कुछ घटता-बढ़ता है तो मनोबल और प्राणबल। यदि इन दोनों शक्तियों को चिरंजीव रखा जाये तो साधन, अल्पायु, सीमित शारीरिक क्षमताओं का व्यक्ति भी क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित कर सकता है।

किशोर क्रान्तिकारी खुदीराम बोस को ११ अगस्त, १९०८ को विभिन्न क्रान्तिकारी वारदातों के अभियोग में मुजफ्फरपुर जेल में फाँसी पर चढ़ा दिया गया। तब उसकी कुल आयु १८ वर्ष ८ माह और ८ दिन की ही हुई थी। इतनी अल्पायु में ब्रिटिश सामन्तशाही की नींव को धड़ाम करने वाले इस बालक में और कुछ था केवल अपने को छोटा और न्यून शक्ति समझने की आत्महीनता भर न थी। यही वह कमजोरी है जो मनुष्य को ऊपर उठने और कोई उल्लेखनीय कार्य करने से रोकती और बाधा पहुँचाती हैं।

खुदीराम का जन्म ३ दिसम्बर, १८८९ में हबीबपुर जिला मिदनापुर (बंगाल) में हुआ था। पिता त्रैलोक्यनाथ घोस नारानैल के तहसीलदार थे। माता का नाम लक्ष्मीप्रिया था। खुदीराम भाई-बहनों में सबसे छोटा था। वह अभी ७ वर्ष का ही था कि उसके माता और पिता दोनों का देहान्त हो गया। पालन-पोषण उसकी बहन-बहनोई ने किया तथापि वे एक प्रकार से संरक्षक मात्र रहे। अपने मूर्धन्य जीवन और गतिविधियों का विकास खुदीराम बोस ने स्वतः किया। इसके लिए उसके विचार और भावनाएँ ही मार्गदर्शक और अभिभावक रहीं।

बंगाल में बंग-भंग आंदोलन उठा, उस समय खुदीराम मिदनापुर के कॉलेजिएट स्कूल के छात्र थे। विद्यार्थी जीवन में उसमें रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया था। यद्यपि उसका स्वरूप राजनैतिक था पर सम्बन्ध विशुद्ध रूप से ऐसे समाज से था जिसमें वे पले और बड़े हुए थे। वे देख रहे थे कि भारतीयों को किस प्रकार कुचला दबाया और मानवोचित अधिकारों से वंचित किया जा रहा है। जहाँ अपनी भूलें थी उनके सुधार के लिए उन्होंने स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार-प्रसार, युवक-संघ को बढ़ाने का रचनात्मक कार्य प्रारम्भ किया। उनकी यह रचनात्मक कुशलता ही बड़े-बड़े क्रान्तिकारियों के लिए भी मार्ग दर्शक बन गई। लोगों ने अनुभव किया बाहरी शक्तियों को तभी मुँह तोड़ जवाब दिया जा सकता है जब अपनी शक्तियाँ संगठित और समर्थ हों। राजनीति में चमक यहाँ से प्रारम्भ होती है।

सामान्य संगठन कार्यों से भावी जीवन की नींव बाँधने वाले बालक में केवल लगन ही नहीं दृढ़ता भी बढ़ती है इस बात का पता १९०६ में ही चल गया। क्रान्तिकारी पंथ

बाँटने के अभियोग में एक पुलिस कर्मचारी ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। अदालत में प्यारे लाल नामक वकील ने पैरवी करनी चाही। उन्हें सम्बोधित कर बोस ने कहा “वकील साहब ! आप इस छोटे से कार्य में अपना बहुमूल्य समय नष्ट न कीजिए। मुझे फाँसी होगी तो राष्ट्र में जीवन और जागृति ही आयेगी इसलिए आप मेरी चिन्ता न करें, अपना समय किसी बड़े कार्य में लगायें।”

खुदीराम प्रतिदिन गीता का पाठ किया करते थे। उनके इन शब्दों में वही दर्शन प्रस्फुटित था जो गीता में- भगवान कृष्ण ने अर्जुन को समझाया था-“हे अर्जुन ! तू कर्म कर, फल की चिन्ता न कर, आत्मा अमर है उसका मोह न कर। न ही माया ममता के बन्धन में पड़कर श्रेयस्कर को तिलांजलि दे।”

मजिस्ट्रेट ने छोटी उम्र का विचार कर खुदीराम बोस को रिहा कर दिया। उनकी दृढ़ता और वीरता की बहुत प्रशंसा हुई पर साथ ही अब उन पर पुलिस की कड़ी निगरानी रहने लगी। काँटों में उलझकर उनसे पीछे हटना भारतीय परम्परा के खिलाफ है। बोस उसका निर्वाह क्यों न करते ? कठिनाइयाँ आनी ही थीं। बड़ा उद्देश्य लेकर चले थे तो बड़ी मुसीबतों से कैसे छूटते ? मिदनापुर छोड़ना पड़ा पर अपने उद्देश्य की पूर्ति ही उनके जीवन का अन्तिम ध्येय बना रहा।

इन दिनों कलकत्ता के सेशन जज किंग्सफोर्ड के अत्याचार बहुत बढ़ गये थे। राजनैतिक सत्याग्रहियों को मामूली कारणों को लेकर कठोर सजायें देना उनके बाँये हाथ का खेल हो गया था। ‘युगान्तर’, ‘संध्या’, ‘हितवादी’, ‘वन्देमातरम्’ नामक राष्ट्रवादी समाचार पत्रों के सम्पादकों को किंग्सफोर्ड उग्र राजनीतिक लेख लिखने के अपराध में कठोर दण्ड दे चुके थे। अत्याचार का मुँह बन्द करने के लिए लोगों ने छिटपुट प्रयत्न भी किए किन्तु उनकी शक्ति सामर्थ्य बड़ी थी, कम न थी, काबू में आना कोई आसान बात न थी। उसके लिए किसी न किसी कर्मठ योद्धा की जरूरत थी। कोई बुलन्द बलिदानी ही अत्याचार और अन्याय का मुँह मोड़ा करता है।

खुदीराम बोस उसके लिए तैयार हुआ। किंग्सफोर्ड सुरक्षा की दृष्टि से मुजफ्फरपुर (बिहार) पदोन्नत करके भेज दिए गए पर जिसे अपने कर्तव्य को पूरा करना आता है उसके लिए कर्तव्य की एक और कसौटी भला क्या महत्व रखती है। अभी तक राजनीतिक हिंसाओं में रिवाल्वर का ही प्रयोग हुआ था। राष्ट्रवादी मोर्चा चाहता था कि ब्रिटिश गवर्नमेंट विद्रोहियों की शक्ति भी अनुभव करे और भयभीत हो, बम फेंक कर किंग्सफोर्ड का प्राणान्त करने की योजना बनाई गई। बम लेकर कलकत्ता से मुजफ्फरपुर पहुँचने का दुःसाहस किशोरों ने ही किया। एक तो खुदीराम थे ही दूसरा उन्हीं का साथी प्रफुल्ल चाकी था।

बम फेंका गया किंग्सफोर्ड की गाड़ी पर किन्तु दुर्भाग्य से उसमें किंग्सफोर्ड के स्थान पर अन्य कोई दो महिलाएँ थी उनकी मृत्यु ही गयी। पुलिस की कठोर जाँच के कारण खुदीराम बच कर न जा सके। मोकामा स्टेशन पर प्रफुल्ल चाकी भी गिरफ्तार कर लिए गए। १९०८ में उनका मुकदमा प्रारम्भ हो गया।

वकीलों के समझाने पर भी खुदीराम ने अपनी सफाई देने से इन्कार कर दिया। मुकदमे के दौरान जब बर्टहुड ने खुदीराम से अपने कृत्य पर खेद प्रकट करने को कहा तो उसने तत्काल उत्तर दिया-“जिस तरह मैं अपनी सफाई नहीं दे सकता उसी तरह खेद प्रकट करना असम्भव है। मैं गीता पढ़ता हूँ और सदैव सच बोलता हूँ।

विश्वास नहीं होता कि उसी खुदीराम ने गीता के कर्मवाद को इतना स्पष्ट कैसे समझा था कि सच मनुष्य का ध्येय है। पर यदि किसी महान कार्य की पूर्ति के लिए झूठ बोलना पड़े तो वह धर्मसंगत है। बोस जब पहली बार जेल गये थे और पर्चा बाँटने का अभियोग लगाया गया था तो उन्होंने कहा-“इनमें पर्चा देने वाला व्यक्ति एक भी नहीं है।” जबकि सत्येन्द्र जिन्होंने इन्हें पर्चे दिये थे इनकी बगल में ही खड़े थे। वास्तव में सिद्धान्त की रक्षा के लिए दूसरी बार आत्म बलिदान के लिए ऐसा आचरण किया ताकि राष्ट्र की चेतना प्रखर हो उठे।

छोटी आयु में थोड़ा समय मिला था, वह भी संघर्ष में गुजरा कि देश, धर्म और समाज का पुनरुद्धार हो तो अन्तिम समय वह अपने अभीष्ट से कैसे हट जाते। खुदीराम को फाँसी हो गई। बम फेंकने से एक सप्ताह पूर्व जब वे बड़ी सजधज के साथ जा रहे थे तो उनके एक मित्र पूनचन्द राउत ने पूछा-“खुदीराम ! यार तू तो हमेशा सादगी से रहता था आज यह चमक-दमक कैसी ?” बोस ने मधुर मुस्कान के बीच कहा-“मित्र ! मेरी शादी हो रही है। यह तो पता नहीं कब, पर दावत अवश्य मिलगी।”

खुदीराम फाँसी के समय ठीक चौसी ही सजावट में थे। जैसा दूल्हा बारात के समय सजा होता है। भय और निराशा की एक भी शिकन माथे पर न थी। दिन भर उनकी कोठरी राष्ट्रीय गीतों से गूँजती रही, पर वह सदैव गहरी नींद में सोये। आत्मा की अमरता पर उन्हें विश्वास था तो फिर मृत्यु जैसी घटना से वह क्यों घबराते। जेल में उनका वजन आश्चर्यजनक रूप से बढ़ गया, उसका कारण था उनका कर्तव्य प्रेम।

११ अगस्त को, जिस दिन उन्हें फाँसी होनी थी, प्रातः-काल जल्दी उठे। शरीर संवारा ऐसे जैसे वरयात्रा में जाना हो। हँसते हुए गए और वन्देमातरम् का जयघोष करते हुए फाँसी के तख्ते पर झूल गए। कर्तव्य-पालक का जन्म कर्तव्य के पालन के लिये हुआ था सो पूर्ण हुआ।

परमात्मा भी आखिर कैसे चैन से बैठा रहता । खुदीराम बोस के बलिदान ने करोड़ों देशवासियों का हृदय झकझोर कर रख दिया उसने अपनी साधना से करोड़ों लोगों में जान फूँक दी । लोकमान्य तिलक ने अपने 'केशरी' में- 'देश का दुर्भाग्य' नामक शीर्षक से खुदीराम के त्याग पर श्रद्धांजलियाँ व्यक्त की थी जिसे पढ़कर सारा देश गर्म हो उठा था । तिलक उसी लेख के सम्बन्ध में ६ वर्ष के लिए देश से निकाल दिए गए थे ।

किशोर क्रान्तिकारी खुदीराम बोस का जीवन वृत्त पढ़कर किसी को अविश्वास नहीं रह जाना चाहिए कि हमारी शक्ति और सामर्थ्य छोटी है । हर बच्चा, युवक या वृद्ध परमात्मा की एक शक्ति है, उसे क्रियाशील होने का अवसर दिया जाए तो किसी भी युग और परिस्थितियों में राजक्रान्ति की तरह उल्लेखनीय परिवर्तन किया जा सकता है ।

शहादत की अद्वितीय मिशाल-

बन्दा वैरागी

फरवरी, १७१६ में लाहौर नगर में विशाल शाही सेना ने प्रवेश किया । अब्दुल खाँ के सेनापतित्व में यह सेना पंजाब के गुरदास नंगल को जीत कर लौटी थी । आठ सौ सिख सैनिकों को बन्दी बनाकर गधों और ऊँटों पर बिठाकर लाया गया था । बड़े अपमानपूर्ण तरीके से इन लोगों का जुलूस निकाला गया । बाँसों पर सिक्खों के कटे हुए सिर, जिनके बीच में मरे हुए बिल्लियाँ और कुत्ते तथा ऊँटों पर उलटे हुए बिठाये सिख थे । जुलूस के बीच में एक पिंजरा था और उसमें कैद थे वीर बन्दा वैरागी । पंजाब के इस शेर को खुला लाने की हिम्मत भी दो हजार शाही सिपाहियों में नहीं थी ।

अप्रैल, १५७५ को लाहौर के शाह जफरिया खान ने अपनी आठ हजार सेना के साथ अब्दुल समद खाँ को गुरदास नंगल को जीतने के लिए भेजा था । गुरदास नंगल के पास केवल आठ सौ सैनिक थे । जिन्होंने शाही फौज का आठ माह तक मुकाबला किया । परन्तु हजारों की संख्या में घेरा डाले शाही सेना का मुकाबला कब तक किया जा सकता था । गाँव की रसद समाप्त हो गयी तो सिपाहियों ने वृक्षों की छाल तथा सूखी हुई शाखायें कूट-कूट कर आटे की तरह फाँकना शुरू किया । भूखा क्या न करता के अनुसार सिक्खों ने गाँव के सारे पशु मारकर खा डाले फिर भी बन्दा वैरागी जीते दम तक लड़ने का उत्साह उनमें फूँकते रहे । मातृभूमि के प्रति अगाध प्रेम तथा धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए उनके सैनिक उस क्षण तक लड़ते रहे जब तक कि शरीर ने साथ दिया ।

देशभक्त सिपाही भूख के कारण जल्दी ही अशक्त और अयोग्य होने लगे । कई सैनिकों को खून के दस्त होना शुरू हो गये । बहुत से बीमार पड़ गये । अन्त में आत्मसमर्पण का निर्णय लिया गया और उससे पूर्व यह दृढ़ संकल्प कि हम मरते दम तक अपने धर्म और संस्कृति के प्रति निष्ठा का त्याग नहीं करेंगे और सब किले से बाहर आ गये । इतने दिनों में शाहीसेना की संख्या आठ हजार से दो हजार मात्र ही रह गयी थी ।

उन सिपाहियों को ही पाँवों में बेड़ियाँ और हथकड़ियाँ डालकर लाहौर लाया गया था । रास्ते में अब्दुल समद धर्म परिवर्तन करने के लिए कइयों को ललचाता बहलाता रहा और काटता-मारता भी रहा । परन्तु एक भी सिक्ख सैनिक न तो प्रलोभनों से आकृष्ट रहा और न कोई भी मारकाट व प्राण-दण्ड से भयभीत हुआ । देश, धर्म और संस्कृति की रक्षार्थ एक व्यक्ति के कहने पर कुछ सौ लोग ही सही मरने के लिए तैयार हो जायें तो निश्चित ही उनके प्रेरणा और अग्रज का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली तथा प्रामाणिक रहा होना चाहिये । जो कहा वह केवल मुँह से ही नहीं अपनी निष्ठा तथा प्रामाणिकता से व्यक्त हो तो साथियों पर भी वीरचित्त प्रभाव पड़ता है ।

यह प्रामाणिकता बन्दा वैरागी ने अपनी संस्कृति पर आये संकट और उसके निवारणार्थ गुरुगोविन्द सिंह द्वारा चलाये जा रहे प्रयास से प्रभावित होकर उत्पन्न की थी इसके पूर्व वे एक संन्यासी थे और भजन ध्यान में ही अपना समय व्यतीत करते थे ।

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कश्मीर के डोगरा राजपूत परिवार में जन्मे लक्ष्मण देव (बाद में बन्दा वैरागी) आरम्भ से देशधर्म और स्वाभिमान की रक्षा के लिए अत्याचारी मुगल शासकों का अन्त करने की बातें सोचा करते थे । इसके लिए उन्होंने प्रयत्न भी किये परन्तु कोई विशेष सफलता नहीं मिली । अपनी सन्तान से मनुष्य अपने अधूरे सपने पूरे करने की आशा करता है । इसलिए रामदेव ने अपने पुत्र को बचपन से ही हथियार चलाने, घुड़सवारी करने और रणविद्या सिखाना आरम्भ कर दिया । बाल्यावस्था में ही किसी को उपयोगी दिशा में लगा दिया जाय तो प्रगति की सम्भावना दृढ़ बन जाती है । लक्ष्मण देव भी निष्णात सफलता की ओर उसी प्रकार अग्रसर होते गये ।

एक दिन शिकार खेलते समय उन्होंने एक हरिणी पर तीर छोड़ा निशाना ठीक बैठा वह मर गयी । नीचे गिरते हरिणी के गर्भ में से दो बच्चे छिटक गये और कुछ समय बाद मर गये । इस घटना ने उन्हें इतना शोक ग्रस्त बना दिया कि उन्होंने तत्काल तीर कमान और तलवार आदि हथियारों को प्रणाम कर लिया । यही नहीं उन्होंने वैराग्य धारण करने का निश्चय भी कर लिया ।

१६ वर्ष के लक्ष्मण देव घर बार छोड़कर सन्यासी बन गये और उन्होंने अपना नाम बदल कर माधवदास रख लिया । देश भर की तीर्थ यात्रा करते हुए भी वे नासिक के पास पंचवटी पहुँचे । हरिणी के शिकार की घटना और उससे वैराग्य धारण कर लेने के कारण लोग उन्हें असली नाम माधवदास, के नाम से कम बैरागी के नाम से अधिक जानने लगे थे । पंचवटी का रमणीक स्थान उनके मन भा गया और वहीं रहकर उन्होंने चौदह-पन्द्रह वर्ष तक कठोर तप किया । वहाँ उनकी बड़ी ख्याति फैली और हजारों लोग उनके शिष्य बनने के लिए आने लगे । वे लोक ख्याति से घबराने लगे । सामान्य जन तो अपना परिचय और प्रभाव क्षेत्र थोड़ा भी बढ़ते देख अति प्रसन्न हो उठते हैं । परन्तु महानता के साधक जानते हैं कि यह एक मीठा जहर है, जो उसकी साधना और उपलब्धि को चौपट करके रख देगा । बैरागी भी सोचकर पंचवटी छोड़कर पंजाब के दक्षिण प्रदेश चले आये ।

उन दिनों गुरु गोविन्दसिंह जन जागरण के लिए पंजाब और देश भर की यात्रा पर निकले थे । उन्हें जब बैरागी बाबा और उनके पूर्व-जीवन का पता चला तो सोचा कि प्रासंगिक घटनाओं से भावावेश में आकर मार्ग ही बदल देने वाले प्रतिभशाली योग्य व्यक्ति को उपयुक्त दिशा में आसानी से नियोजित किया जा सकता है ।

गुरु गोविन्दसिंह ने बैरागी बाबा से सम्पर्क साधा और उन्हें अपने विचारों तथा प्रयासों से अवगत कराया । धर्म का प्रचार ही नहीं उसकी सुरक्षा के लिए बलिदान करने की निष्ठा भी स्वयं में तथा लोगों में पैदा की जानी चाहिए । अत्याचार और अन्याय सहने की कायरता के स्थान पर उसका मुकाबला कर पराजित करने तथा उन्मूलन करने का प्रयत्न आवश्यक ही नहीं अनिवार्य धर्म कर्तव्य है । गुरुजी से चर्चा के द्वारा इन तथ्यों को सुनने के बाद बैरागी का सोया हुआ क्षात्र तेज, शौर्य और साहस के रूप में पुनः जाग उठा । गुरु गोविन्दसिंह के सम्मुख नतमस्तक होकर उन्होंने कहा- "मुझे आपकी आज्ञा शिरोधार्य है । आप जैसा कहेंगे, मैं तो आपका बन्दा हूँ । इस परिपूर्ण समर्पण की स्मृति बनी रहे इसलिये गुरुजी ने महन्त माधवदास बैरागी को उठाकर छाती से लगा लिया और धर्म दीक्षित करते हुए बन्दा बैरागी नाम दिया । यह नाम उन्हें आजीवन अपने गुरु के आदर्शों तथा उनके प्रति अपने समर्पण को स्मरण कराता रहा । नाम भी विचारशील व्यक्तियों के अपने अर्थ के अनुरूप प्रेरणायें प्रदान करता रहता है ।

गुरुजी से आशीर्वाद प्राप्त कर बन्दा बैरागी पंजाब के लिए रवाना होने लगे तो गुरु गोविन्दसिंह ने एक हुक्म नामा और २५ शिष्य दिये । इन जवानों को खालसा दल कहा गया । बन्दा बैरागी को सैन्य संगठन का काम सौंपा गया । हुक्मनामा भी इसी उद्देश्य से लिखा गया था । सिक्ख लोगों को गुरुजी का आदेश पढ़-पढ़कर सुनाया गया तथा

सैनिक शक्ति बढ़ाने के लिए धन-संग्रह, जन-संग्रह और भाव-संग्रह किया जाने लगा । कुछ ही दिनों में अच्छी खासी सेना तैयार हो गयी । सभी सैनिक प्रखर निष्ठा और देशभक्ति की भावनाओं से भरे हुए थे । ये दो हृदय गत विभूतियाँ जिस व्यक्ति या संगठन के पास होती हैं वह अपनी सामर्थ्य से भी कई गुना अधिक कर दिखाता है । संख्या में बन्दा बैरागी की सेनायें भले ही कम हों परन्तु उक्त दोनों विशेषताओं के कारण अच्छी खासी सेना से भी अधिक लगता है ।

बन्दा बैरागी ने अपना पहला लक्ष्य बनाया सरहिंद के धर्मोन्मादी नवाब बजीर खाँ को । जिसने गुरु गोविन्दसिंह के दोनों पुत्रों को जिन्दा दीवार में चिनवाया था । रास्ते में शाहाबाद, मुस्तफाबाद, समाना आदि रियासतों को जीतते हुए सन् १७१० में खालसा सेना ने सरहिंद पर आक्रमण बोल ही दिया । रणकुशल और छल-बल में चतुर विशाल पठान सेना मुठ्ठी भर खालसा सैनिकों के सामने टिकी नहीं । चौदह दिन की लड़ाई में ही सरहिंद पर बन्दा बैरागी का कब्जा हो गया ।

सरहिंद को विजय कर बन्दा बैरागी ने दुआबा के जलन्धर और माझा के इलाकों को भी जीत लिया और एक स्वदेशी राज्य का निर्माण कर लिया । अपने राज्य में उन्होंने गुरु गोविन्दसिंह के नाम के सिक्के चलाये । दिनों-दिन उनकी विजयवाहिनी आगे बढ़ती गई । पठानों और मुगलों को इससे बड़ी चिन्ता हुई । दिल्ली, अवध, इलाहाबाद, मुरादाबाद आदि के सुल्तानों ने एक स्थान पर अपनी सेनायें इकट्ठी कर १७१० में बन्दा बैरागी के राज्य पर हमला बोल दिया । परिस्थितियों और घटनाओं का ऐसा क्रम चला कि सिक्खों को अपनी राजधानी छोड़कर पहाड़ियों में शरण लेनी पड़ी ।

परन्तु इसके बाद भी बन्दा बैरागी चुप नहीं बैठे उन्होंने पहाड़ी क्षेत्रों में ही सिक्ख राज्य की स्थापना कर ली और पंजाब के बहुत से भागों पर केशरिया झण्डा फहरा दिया । इतिहास हार कर बैठ जाने वालों से नहीं असफल हो जाने के बाद फिर प्रयत्न करने वालों से बनता है । इसी कारण इतिहास के लेखकों ने बन्दा बैरागी को इतिहास का निर्माता कहा है ।

लाहौर के सूबेदार अब्दुल समद खाँ ने फिर बन्दा-बैरागी पर हमला बोला । जिसमें पूर्वोक्त कारणों से सिक्खों को आत्मसमर्पण करना पड़ा । उनकी हत्या भी बड़ी पाशविक यन्त्रणायें देकर की गयी परन्तु वे अन्त समय तक अपने निश्चय पर दृढ़ रहे । यहाँ तक कि जहन्नम ने उनके बच्चे को उनकी आँखों के सामने बड़ी निर्ममता से काटकर बच्चे की कलेजी तक मुँह में ठूस दी थी । फिर भी वे अविचल ही रहे ।

केवल मुँह से इस्लाम कबूल कर लेने के लिए वे राजी न हुए, क्योंकि हृदय और वचन की समानता उच्च चरित्र की पहली शर्त है । इस पर उनकी हत्या के रोज सबसे पहले बाईं आँख फोड़ी गयी, फिर दायीं पैर काटा

गया। दोनों हाथ काटने के बाद गरम चिमटों से उनकी बोटी-बोटी नौच डाली गयी और यह क्रम तब तक जारी रहा जब तक कि वे जिन्दा रहे। जून, १७१६ में भयंकर यन्त्रणायें तथा यातनायें देकर उनकी हत्या की गयी। फिर भी संकल्प और निष्ठा के धनी बन्दा बैरागी के मुँह पर एक आत्मदीप्त मुस्कान खेलती रही और हृदय में अपने प्रभु और गुरु गोविन्दसिंह का स्मरण गूँजता रहा।

अपने धर्म, संस्कृति और जन्म सिद्ध स्वत्व-स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए शहीद हो जाने वाले बन्दा बैरागी की सत्कीर्ति युगों-युगों के लिए अमर बन गयी। संसार ऐसे निष्ठावान भक्तों का नाम सदैव श्रद्धा के साथ लेता रहेगा। बन्दा बैरागी ने धर्म के लिए भी ही अपना अंग-अंग नुचवा लिया हो परन्तु उनके बलिदान ने आगे चलकर कई वीरों के अंग इतने गर्मा दिये हैं कि आताताइयों को उल्टे पाँव जान बचाकर भागना पड़ा।

शरीर तो एक न एक दिन छूटना ही है। अच्छा हा अगर वह धर्म के लिए छूटे।

एक और बाल्मीकि—

ठाकुर रोशनसिंह

अपने साथी की नियमित दिनचर्या, प्रातः चार बजे निद्रा त्याग तदनन्तर शौच, व्यायाम, स्नान, उपासना, हवन और तत्पश्चात् हिन्दी, उर्दू साहित्य और धार्मिक पुस्तकों का लम्बा स्वाध्याय क्रम कुछ ऐसा था कि जीवन के एक-एक क्षण का बड़ी सावधानी के साथ सदुपयोग करते देखकर काकोरी केस के एक क्रान्तिकारी अभियुक्त को बड़ा आश्चर्य हुआ और जब उन महाशय ने बंगला भाषा सीखने का क्रम चलाया और थोड़े ही दिनों में वे बंगला भाषा का सत्साहित्य भी पढ़ने लगे तो साथी से न रहा गया। वह पूछ ही बैठा—“ठाकुर साहब अब नयी भाषा सीखकर क्या करेंगे।”

“क्यों अब क्या हो गया।”

“आपको तो फौसी पर चढ़ना है। आपको इससे हलकी सजा होने वाली है नहीं फिर इस स्वाध्याय का सदुपयोग कब करेंगे।”

“भाई जब तक जीवित हैं, साँस चलने के साथ ही कर्म भी चलता रहना चाहिए। इस जन्म में इसका लाभ नहीं मिल सकेगा यह सोचकर कर्म ही न करना तो बहुत बड़ी भूल होगी। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में तो उसका लाभ मिलेगा और फिर आज ही तो फौसी नहीं होने वाली है, तब तक भी तो इनसे बहुत कुछ लाभ उठाया जा सकता है।”

अपने साथी को ऐसा तथ्यपूर्ण उत्तर देने और कर्ममय जीवन के प्रति ऐसी निष्ठा रखने वाले यह व्यक्ति थे ठाकुर रोशनसिंह, जिन्होंने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में अपने

कालिमायुक्त पूर्वाह्न को पूरी तरह धो-पोंछ दिया था। अन्तिम समय में ही सही उन्हें जो सच्ची राह दिखायी उस पर वे दृढ़ चरणों से चले ही नहीं तीव्रगति से दौड़े भी उनका यह साहस कम प्रशंसनीय नहीं है। नहीं तो सौ में से पिछानवे व्यक्ति यह जानते हुए भी कि पिछला जीवन जैसा भी उन्होंने जिया वह गलत था पर अब सही मार्ग पा जाने पर भी वे उस पर चलने का साहस नहीं कर पाते। उनकी मनःस्थिति शावर गालिब की— सी हो जाती— ‘जिन्दगी भर तो इसके बुतों में गुजरी, अब मरते दम क्या खाक मुसलमों होंगे’ और ऐसे व्यक्ति मनुष्य जीवन का लाभ पा सकने की स्थिति में होते हुए भी लाभ उठा नहीं पाते।

ठाकुर रोशनसिंह काकोरी केस में फौसी की सजा पाने वाले चार यशस्वी क्रान्तिकारियों में से एक होते हुए भी अपने तीन फौसी पाने वाले साथियों से सर्वथा भिन्न प्रकार के व्यक्ति थे। क्रान्तिकारी तो डाके इसलिए डालते थे कि उन्हें अपनी गतिविधियों के लिए धन चाहिए था जो उनके पास था नहीं और दूसरे धनी-मानी लोग स्वेच्छा से इस कार्य में आर्थिक सहयोग देते नहीं थे सो वे देश के काम के लिए बलात् धन ले लेना विवशतापूर्ण औचित्य के रूप में स्वीकार लेते थे। किन्तु रोशनसिंह तो डाकू थे, शौकिया डाके डाला करते थे।

उनका जन्म शाहजहाँपुर जिले के नवादा ग्राम में हुआ था, जहाँ के ठाकुर डाका डालने के लिये उस क्षेत्र भर में कुख्यात थे। नवादा ग्राम जिले का सबसे कुख्यात गाँव माना जाता था। मध्ययुगीन सामन्तशाही ने ठाकुरों में कुछ ऐसे दुर्गुण रूपी घुन लगा दिये थे जिनमें विलासिता और मुक्तहस्त खर्च करना मुख्य थे। इन्हीं दुर्गुणों के पाश में फँसे कुछ लोग धन व सुन्दर स्त्रियों के लिए डाकों का सहारा लिया करते थे। नवादा ग्राम के अधिकांश ठाकुर भी ऐसे ही थे।

इसी ग्राम में रोशनसिंह जन्मे, पले और बड़े हुए। स्वाभाविक ही था कि उनके ऊपर संगति और ग्राम के अनीति तथा दुराचारपूर्ण वातावरण का प्रभाव पड़ता। रोशनसिंह में भी वे कमजोरियाँ उत्पन्न हो गयीं जो वहाँ के ठाकुरों में आम थीं। इससे उनकी अन्तःचेतना पर कुसंस्कारों की कालिमा-सी चढ़ती गयी। उन्हें पेशेवर तो नहीं पर शौकिया डाकू कहा जा सकता है।

इसे संयोग ही कहना चाहिए कि वे पण्डित रामप्रसाद ‘बिस्मिल’ जैसे क्रान्तिकारी और सुधारक के सम्पर्क में आये। पण्डित जी कट्टर आर्य समाजी थे— सत्कर्मों और भारतीय संस्कृति के प्रबल पोषक। इनके सम्पर्क में आने से रोशनसिंह को ज्ञात हुआ कि वे आज तक जो कुछ करते आये गलत था।

उनका सम्पर्क भी एक संयोग ही था। क्रान्तिकारी लोगों को जब अपनी अंग्रेज सरकार विरोधी क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिए सीधी राह से धन मिलता नहीं दिखा तो उन्होंने जबरदस्ती का मार्ग अपनाया— डाके डालकर धन जुटाने का निश्चय किया। किन्तु पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल के अतिरिक्त दल का कोई व्यक्ति इस काम का अनुभव नहीं रखता था। वे तो पण्डित गैदालाल दीक्षित और ब्रह्मचारी नामक उनके दस्यु साथी के क्रान्तिकारी दल में रह चुके थे।

प्रारम्भिक एक दो मौकों पर एक आध अनुभवी डाकू को साथ रखने का निश्चय किया गया। सौभाग्य से वे व्यक्ति ठाकुर रोशनसिंह ही थे—शरीर से तगड़े, बलिष्ठ और पक्के निशानेबाज।

यों १९२१ में वे एक बार पकड़े जाने पर जेल में असहयोग आन्दोलन के अन्तर्गत बन्दी हुए कुछ सत्याग्रहियों के सम्पर्क में आये थे तभी से उनके मन में अच्छा बनने की उमंगें अंगड़ाइयाँ लेने लगी थीं। पर उनका आलस्य या कमजोरी कहें या किसी सचेतक का अभाव, वे उन उमंगों को जीवन में उतार न सके। उस बीज को सिंचन मिला पण्डित रामप्रसाद 'बिस्मिल' के सानिध्य से।

पहले एक दो बार उन्हें साथ रखने पर जब 'बिस्मिल' ने देख लिया कि उनके साथी नवयुवक कुछ कम साहसी नहीं हैं तो उन्होंने रोशनसिंह को जबाब दे दिया। पर रोशनसिंह तो अब डाकू से क्रान्तिकारी बनने की तैयारी कर चुके थे। सो वे दल से विलग नहीं हुए वरन् उन्होंने अपने को सुधार कर अच्छा आदमी बनाने का प्रयास आरम्भ कर दिया।

पण्डित रामप्रसाद 'बिस्मिल' ने उन्हें सदाचरण और धर्माचरण का पाठ पढ़ाया। उनके मन पर कुसंग और अनिष्टकारी वातावरण में रहने के कारण जो कुसंस्कार पड़ गये थे वे धीरे-धीरे घुलने लगे। हवन, पूजा, उपासना, स्वाध्याय और चिन्तन-मनन द्वारा उनके मन-मस्तिष्क में ज्ञानलोक फैलने लगा। वे अपने पहले के दुष्कर्मों का प्रायश्चित्त करने लगे। उन्होंने अपने शेष जीवन को स्वदेश के लिये समर्पित कर दिया। काकोरी ट्रेन डकैती के समय भी वे दल के साथ थे।

२६ दिसम्बर, १९२५ में उन्हें भी मुख्य अभियुक्तों के साथ गिरफ्तार कर लिया। उन्होंने यही सोचकर जेल में कदम रखा था कि अपने पापों का प्रायश्चित्त यहाँ हो जायेगा। जेल में भी उनका पूजा, उपासना, हवन, स्वाध्याय और चिन्तन, ध्यान आदि का सात्त्विक क्रम चलता ही रहा था।

यों तो उन पर भी वही अभियोग था जो काकोरी केस के अन्य अभियुक्तों पर था। पुलिस को उनके विगत जीवन के बारे में भी बहुत कुछ ज्ञात था कि वे पहले डाके

डालते थे। पुलिस अधिकारी समझते थे कि उनमें डाकुओं वाली वे सभी चारित्रिक कमजोरियाँ विद्यमान होंगी। उनके सहारे वह उन्हें अन्य क्रान्तिकारियों की अपेक्षा आसानी से सरकारी गवाह या मुखबिर बना सकेगी। किन्तु उनका यह विश्वास गलत था कि वे अपनी जान बचाने के लिये सब कुछ उगल जायेंगे। वे एक भी शब्द मुँह से नहीं बोले, इस विषय में। उन्हें और भी कई प्रलोभन दिये पर वे भरमाने वाले नहीं थे। अब तक अज्ञानवश जो कुछ करते आये थे, उसे तो लौटाना सम्भव नहीं था पर अब वे अपने साथियों के साथ गहरी नहीं कर सकते थे न प्रकारान्तर में अपने देश के प्रति। उन्हें तो फक्र था कि वे भी किसी महान उद्देश्य के साथ जुड़कर श्रेय के भागी बन गये।

उन्होंने पुलिस वालों से बात करना तक नापसन्द कर दिया। इससे पुलिस अधिकारी उनसे बहुत नाराज हुए। इस कारण उन्हें मुख्य अभियुक्तों में शामिल बताया गया। जबकि न तो वे दल में प्रमुख थे और न ही संगठन और योजना बनाने में उनका कोई हाथ ही रहा था। फिर भी उन्हें अपने आपको सुधारने के साहस का शुभ परिणाम तो मिलने ही वाला था सो उन्हें भी फाँसी की सजा सुनाई। उनके मुख से दो बार 'ॐ' शब्द की ध्वनि निकली। अपने साथियों से उन्होंने यही कहा—“मुझे फाँसी हुई इसका कोई गम नहीं, पर तुमने तो अभी जीवन का कुछ भी नहीं देखा।”

अंग्रेज सरकार की अन्यायपरक नीति ने रोशनसिंह को अपने पुराने पापों का प्रायश्चित्त करने का पूरा अवसर दिया और उन्होंने भी उस अवसर पर बड़ी वीरता का परिचय दिया। यह वीरता भी अपने ढंग की अनौखी थी। पूरे आठ महीने तक वे फाँसी घर में रहे। उनकी स्थिति में कोई और आदमी होता तो पागल हो जाता या आत्म-हत्या कर लेता। उस आदमी की दयनीय स्थिति का अनुमान सहज नहीं लगाया जा सकता कि जिस आदमी को आठ महीने तक जीवन और मृत्यु के बीच अधर में लटका कर रखा जाय। पर वाह रे रोशनसिंह। वे जीवन और मृत्यु से निरपेक्ष हो गये थे। उनके मन में वही उत्साह और निष्ठा फाँसी के फन्दे को चूमने तक रही। वही अंधेरे मुँह उठ जाना फिर शौचादि के अनन्तर व्यायाम, स्नान, उपासना आदि का क्रम चलता रहा जैसे कुछ होना ही न हो।

१३ दिसम्बर, १९२७ को उन्होंने अपने मित्र को जो पत्र लिखा था, उससे उनकी मनःस्थिति का सच्चा परिचय मिल जाता है। पत्र में लिखा था—

“इस सप्ताह के भीतर ही फाँसी होगी।

दो साल से मैं बाल-बच्चों से अलग हूँ। इस बीच ईश्वर भजन का खूब मौका मिला, इससे मेरा मोह छूट गया और कोई वासना बाकी न रही। मेरा पूरा विश्वास है कि दुनिया की कष्ट भरी यात्रा समाप्त कर मैं आराम की

जिन्दगी के लिये जा रहा हूँ। हमारे शास्त्रों में लिखा है कि जो आदमी धर्म युद्ध में प्राण देता है, उसकी वही गति होती है जो एकांत में रहकर तपस्या करने वाले की होती है।" धन्य है वे हमारे धर्मशास्त्र और धन्य हैं वे व्यक्ति जो उनको अपने जीवन में आत्मसात करके क्या से क्या बन जाते हैं।

१९ दिसम्बर, १९२७ को ठाकुर रोशनसिंह को इलाहाबाद जिला जेल में फाँसी हुई। फाँसी के दिन वे तैयार बैठे थे। गीता हाथ में लेकर वन्देमातरम् का जयघोष करते और 'ॐ' का स्मरण करते हुए वे फाँसी के फन्दे पर हँसते-हँसते झूल गये। उनका शव लेने के लिये जेल के बाहर हजारों व्यक्ति एकत्रित थे। लोग उनकी शव यात्रा को जुलूस का रूप देना चाहते थे पर सरकारी अधिकारियों ने इजाजत नहीं दी। वेदोक्त रीति से उनका अन्तिम संस्कार सम्पन्न हुआ, जिसमें हजारों की संख्या में जनता उपस्थित थी सबकी आँखों में आँसू थे। कल का डाकू रोशनसिंह सन्मार्ग पर चलकर आज हजारों के लिये ब्रह्मस्पद बन गया था, यह हमारा अध्यात्म विद्या और देवोपम संस्कृति का ही परिणाम था।

महान क्रान्तिकारी देशभक्त— विनायक सावरकर

१ जुलाई, १९०९ के दिन मदन लाल ढींगरा नामक एक भारतीय युवक ने सर कर्जन वाइली नाम के अंग्रेज को लन्दन के जहाँगीर हॉल में हो रही एक सभा में गोली मार दी और उसका प्राणान्त हो गया। कर्जन वाइली लन्दन में रहने वाले भारतीय छात्रों पर जासूसी किया करता था और भारत की स्वाधीनता के लिये प्रयत्न करने वाले भारतीयों की गतिविधियों की सूचना पुलिस को दिया करता था। क्रान्तिकारी युवक ढींगरा को यह सहन नहीं हुआ और उसने ब्रिटिश साम्राज्य की राजधानी में ही उसकी धजियाँ उड़ा दीं।

उन दिनों इंग्लैण्ड में रह रहे भारतीयों तथा पढ़ने के उद्देश्य से गये भारतीय युवकों के दो दल थे। एक तो वे लोग थे जो देश को स्वतन्त्र कराने के लिए प्रयत्नशील थे दूसरे वे जो ब्रिटिश राजभक्ति जतलाकर सरकार की कृपा पाना चाहते थे। मदनलाल ढींगरा पर अभी अदालत में मुकदमा चल ही रहा था कि इस दूसरे राजभक्त दल ने हिंसात्मक कार्य के विरुद्ध एक निन्दा प्रस्ताव पारित कर अपनी राजभक्ति का प्रमाण देने की गरज से एक सभा आयोजित की। सभा में कई राष्ट्रभक्त भी उपस्थित थे। यह सभा कुछ अंग्रेज के इशारों पर चल रही थी। इस सभा में जो प्रस्ताव पारित होने जा रहा था उसे विनायक दामोदर सावरकर नामक एक राष्ट्रभक्त भारतीय युवक ने यह तर्क देकर रुकवा दिया कि मामला न्यायालय में

विचाराधीन है, अतः प्रस्ताव पारित करने का मुकदमे पर गलत असर पड़ सकता है।

जिन अंग्रेजों ने यह सभा आयोजित करवायी थी वे अपना खेल बिगड़ते देखकर सावरकर पर क्रोधित हो उठे। उनमें से एक उनके मुँह पर घुँसा मारने के लिए उद्यत हुआ और बोला—“ब्रिटिश घुँसे का मजा चखो, यह मुँह पर बड़ा फिट बैठता है।” इसके पहले कि वह चोट करता एक भारतीय ने उसके सिर पर डन्डा मार दिया और बोला—“यह भारतीय डण्डा है तुम पहले इसका स्वाद तो चख लो।”

इन परतन्त्र भारत के स्वतन्त्रता प्रेमी युवकों पर रक्क होता था जो ब्रिटिश शासन की नाक तले अपनी इस राष्ट्र भक्ति का परिचय देते थे। अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की तनिक भी परवाह नहीं की। उन्होंने उन्हें एक महान ध्येय को समर्पित कर दिया था किन्तु उनकी तुलना हम आज के स्वतन्त्र भारत के अपने स्वार्थ में बँधे भारतीयों से कर, जो अपने थोड़े से स्वार्थ के लिए देश का बड़ा से बड़ा अहित करने से नहीं चूकते, तो बड़ा दुःख होता है और लज्जा भी आती है कि हम इतने बेगैरत कैसे हो गये कि उन लोगों के त्याग-बलिदानों को भूल गये जिनके त्याग, बलिदान एवं रक्त से इस आजादी का विनिमय हुआ था।

अंग्रेजों की इस दुरभिसंधि को नाकाम करने वाले युवक विनायक सावरकर को पच्चीस वर्ष की आयु की भरी जवानी में क्रान्तिकारी विचारधारा, गतिविधियों तथा लेखनी के कारण पचपन वर्ष के काले पानी का दण्ड दिया गया। उन्होंने अपने जीवन के—जवानी के तीस वर्ष काले पानी की नारकीय यंत्रणाओं को भोगते हुए गुजारे। इस जीवन दानी के बलिदान को भुलाकर उसके बदले में मिली आजादी का मूल्य न समझना और राष्ट्रीय दायित्व से द्रोह करना कितनी बड़ी कृतघ्नता है।

विनायक सावरकर का जन्म उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक के प्रथम चरण में हुआ था। वे जब अल्पायु ही के थे कि अपने राष्ट्रभक्ति पूर्ण क्रिया-कलापों के कारण उन्हें ब्रिटिश हुकूमत ने फाँसी की सजा दे दी थी। बालक विनायक के मन पर इस घटना का बड़ा प्रभाव था। कोई व्यक्ति अपने देश के लिये प्राणोत्सर्ग भी कर सकता है यह भावना उन्हें बड़ी स्पृहणीय लगी थी।

उनके परिवार का वातावरण भी उनमें जातीय और राष्ट्रीय स्वाभिमान जगाने में सहायक हुआ था। बचपन में अपनी माता के मुँह से छत्रपति शिवाजी की वीरता, साहस और देशप्रेम की जो गौरव-गाथाएँ विनायक ने सुनीं, उन्होंने उनके व्यक्तित्व को एक साँचा प्रदान कर दिया—आदर्शों के लिये बलिदान हो जाने वाले व्यक्तित्व का साँचा। बचपन में उन्हें जीवन का जो लक्ष्य मिला उसने

उन्हें वीरता, विद्वता, तेजस्विता, क्रान्तिदर्शिता और आदर्शवादिता की महिमाओं से मण्डित एक राष्ट्रीयता के रूप में यशस्वी बना दिया। भारत की स्वाधीनता के लिये उन्होंने जो योगदान दिया उसे कभी विस्मृत नहीं किया जा सकेगा।

चाफेकर बन्धुओं को हुई फाँसी ने बालक विनायक और उनके बन्धु गणेश सावरकर को स्वातन्त्रता की लड़ाई में कूद पड़ने के लिए प्रेरित कर दिया। इस स्वातन्त्र्य यज्ञ में प्रथम आहुति उनके अग्रज गणेश सावरकर द्वारा दी गई। १९०९ में उन्हें राजद्रोहात्मक कवितायें रखने के अपराध में गिरफ्तार कर लिया गया और बाद में ब्रिटिश राज्य के विरुद्ध षडयन्त्र रचने और युद्ध घोषणा करने के अपराध में आजन्म काले पानी की सजा दी गई। साथ ही उनकी सारी सम्पत्ति जब्त करने का भी आदेश ब्रिटिश शासन ने दिया।

ब्रिटिश शासन की शक्ति और सामर्थ्य के सामने विनायक और गणेश सावरकर जैसे युवकों की क्या तुलना थी, पर्वत के सामने राई जैसी ही, पर जहाँ नीति और न्याय के समर्थक की शक्ति की बात है वह राज्य शक्ति और सैन्य बल की परवाह नहीं करता। न्याय और नीति के साथ ईश्वरीय शक्ति होती है। इनके पक्ष में बड़ी से बड़ी ताकत से टकराने वालों को वह शक्ति मिलती भी है। अपनी इसी शक्ति के बल पर साधनहीन युवकों ने ब्रिटिश हुकूमत को चुनौती देने का साहस कर ही लिया।

विनायक सावरकर स्कूल में पढ़ते थे तभी उन्होंने बच्चों की एक समिति बनायी थी- 'राष्ट्रभक्त समूह'। इस समिति का काम ऐसे स्वयंसेवक तैयार करना था जो आगे चल कर आजादी की लड़ाई में भाग लें। आगे चलकर यही संस्था 'मित्र मेला' के रूप में परिवर्तित हो गयी। अब इसका क्रियात्मक पक्ष भी सामने आया। गणेश-पूजा और शिवाजी-उत्सव जैसे अभिनव पर्वों के आयोजनों पर साधारणजनों में देशभक्ति की भावनाओं का प्रचार करना और वह जोश उत्पन्न करना कि वे अपनी शक्ति को समझें और उसका प्रयोग करके विदेशी शासकों को देश के बाहर निकालने के लिये व्यापक क्रान्ति करें।

१९०२ में महारानी विक्टोरिया के देहावसान पर और एडवर्ड सप्तम के राज्याभिषेक पर जो उत्सव भारतीय जनता ने मनाये, उस पर इन युवकों ने उन्हें बतलाया कि ये उत्सव उनकी पराधीनता के द्योतक हैं। यह राज्य-भक्ति देश-द्रोह की अभिव्यक्ति भर है। इनकी इस तथ्य पूर्ण बात का प्रभाव उस समय भले ही लोगों पर न पड़ा हो पर आगे चलकर उन्होंने इस सत्य को स्वीकार किया।

सावरकर जब फर्ग्युसन कॉलेज में प्रविष्ट हुए तो लोकमान्य तिलक से उनका सहज सम्पर्क जुड़ गया। लोकमान्य उनकी भावना और व्यक्तित्व की प्रखरता से बहुत प्रभावित हुए। उनकी 'मित्र-मेला' मण्डली, जिसका नाम अब 'अभिनव भारत' हो गया था, ने महाराष्ट्र में

पहले ही विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार की धूम मचा रखी थी। लोकमान्य तिलक तो ऐसे युवकों को खोजते फिरते थे।

१९०६ में बी० ए० पास करने पर लोकमान्य तिलक ने उन्हें श्याम जी कृष्ण वर्मा नामक प्रख्यात देशभक्त द्वारा भारतीय छात्रों को विदेश जाकर पढ़ने के लिए दी जाने वाली छात्रवृत्ति दिलवादी और वे इंग्लैण्ड पहुँच गये। ज्ञानार्जन और विद्योपार्जन के प्रति सावरकर पूरे तत्पर थे पर उसका उपयोग भी वे देश के लिए ही करना चाहते थे। इंग्लैण्ड से उच्च शिक्षा ग्रहण करने के बाद भारत आने पर उनके लिए ब्रिटिश शासन तंत्र में उच्च ओहदे, सम्मानित जीवन और अच्छा खासा वेतन मिलना सहज सम्भव था पर यह सब गुलामी की शर्त पर मिलता था और फिर सावरकर का निर्माण कुछ और ही ढंग से और ही मिट्टी से हुआ था। उनके लिये ये प्रलोभन तिनके की तरह तुच्छ थे। वे तो सरफरोशी की तमन्ना रखने वालों में थे। अपने स्वार्थ और सुख के लिये अन्याय, अनीति से समझौता करके झुक जाने वाले लोगों में से नहीं थे। यह आदर्शवादिता उनके लिये घाटे का सौदा नहीं रही, कितने ही विदेशों से पढ़कर भारत आये और सरकार के उच्च पदों पर रहे, ऐसे लोगों का आज कहीं नाम-निशान ही नहीं मिलता, वे भीड़ में खो गये हैं।

भारतीय युवकों में स्वदेश प्रेम और क्रान्तिधर्मिता उत्पन्न करने के लिए उन्होंने चौबीस वर्ष की आयु में '१८५७ के स्वाधीनता संग्राम का इतिहास' नामक एक पुस्तक लिखी। ब्रिटिश सरकार ने यह पुस्तक इतनी खतरनाक समझी कि यह प्रकाशित होने के पहले ही जब्त घोषित कर दी गई। ब्रिटिश सरकार के इस निर्णय से यह प्रचलित मान्यता कि ब्रिटेन में स्वतन्त्र चिन्तन और स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का अधिकार प्राप्त है भी झूठी सिद्ध हो गयी। ब्रिटिश सरकार का यह कदम इंग्लैण्ड के सबसे बड़े समाचार पत्र 'लन्दन टाइम्स' को भी अशोभनीय लगा। इस प्रतिबन्ध के बाद भी गाई अल्ड्रेड नामक एक ब्रिटिश पत्रकार के सहयोग से इसका प्रकाशन किया गया। यह पुस्तक भारत भी पहुँची।

इस पुस्तक को जब्त करने के निर्णय से स्पष्ट हो जाता है कि सावरकर की लेखनी में कितना दम था। यह तथ्य विचारों की अद्भुत शक्ति का परिचायक भी है। सरकारी इस आज्ञा के उल्लंघन के फलस्वरूप सावरकर को बन्दी बना लिया गया। वे जब जहाज द्वारा भारत लाये जा रहे थे तो फ्रांस के मासेल्लज नगर के निकट उन्होंने मौका देखकर खतरनाक मछलियों और समुद्री जन्तुओं से भरे सागर में छलाँग लगाकर अद्भुत साहस का परिचय दिया। उनमें इस साहस का संचार आत्मा की अमरता की हमारी भारतीय आध्यात्मिक विचारधारा ने ही किया था। उन्होंने तैरकर सागर भी पार कर लिया था पर ब्रिटिश

पुलिस उन्हें पुनः बन्दी बनाने में सफल हो गयी। फ्रांस सरकार ने इसमें हस्तक्षेप न करके अपने ही कानून का उल्लंघन किया।

उन्हें ५५ वर्ष के काले पानी की सजा हुई। सावरकर को पूर्ण विश्वास था कि इतने लम्बे समय तक तो अंग्रेज सरकार भारत पर अधिकार जमाए रखने में सफल भी नहीं हो सकेगी। उनका अनुमान सही निकला उनको जेल भेजने के चौबीस वर्ष बाद ही अंग्रेजों को भारत से भाग खड़ा होना पड़ा। अपने ध्येय के प्रति सावरकर को कितना विश्वास था। यह ध्येयवृत्तियों के लिये उत्कृष्ट उदाहरण है।

सावरकर ने अपने जीवन के तीस वर्ष अण्डमान द्वीप समूह की काले पानी जेल की काल कोठरी में बिताये। इस जेल की यंत्रणायें इतनी अमानुषिक थीं कि सुनकर उन पर सहज विश्वास नहीं होता। साथ ही इस बात पर भी विश्वास नहीं होता कि ऐसी नारकीय यंत्रणाओं को सहते हुए भी कोई व्यक्ति तीस वर्ष तक जीवित ही नहीं बरन् कार्यक्षम भी रह सकता है। वहाँ रहते हुए अपने देश सेवा के ध्येय को पूरा भी कर सकता है। पर यह सब असम्भव ही दीखने वाली बातें सावरकर ने सम्भव कर दिखाई थी। मनुष्य की अदम्य जिजीविषा किसी महान ध्येय के साथ मिलकर कैसा चमत्कार कर दिखाती है यह सावरकर के जेल जीवन में देखा जा सकता है।

यह वही अण्डमान की जेल थी जिसमें कितने ही राजनैतिक कैदी सावरकर के सामने आये और वहाँ की अमानुषिक दरिदगियों से त्रस्त होकर मर गये, कितने ही पागल हो गये। सावरकर यह सब देखते-सुनते और सहते हुए भी अविचलित रहे। अण्डमान में तीस वर्ष की जेल काटने वाला आदमी सही सलामत लौट आये यह आश्चर्य की बात थी।

जेल में भी वे निष्क्रिय नहीं रहे। वहाँ भी हिन्दी भाषा का प्रचार किया। १९३७ में जेल से छूटकर स्वदेश लौटने पर भी उनका देश सेवा का कार्य रुका नहीं। शरीर से जर्जर पर मन और आत्मा से सबल सावरकर अपने ढंग से देश का काम करते रहे। उनके विचारों में जातीय स्वाभिमान की जो प्रेरणायें विद्यमान हैं उन्हें यदि विशद दृष्टिकोण से देखा जाय तो उनकी उपयोगिता आज भी दिखलाई देती है। तृष्टीकरण की नीति के वे उतने ही विरोधी थे जितने सुभाष बाबू।

सावरकर एक प्रखर सिद्धान्तवादी व्यक्ति के रूप में सदा स्मरण किये जाते रहेंगे। आदर्शों की हत्या करके व्यक्तिगत स्वार्थ के स्तर पर समझौता करने की जो हवा आज चारों दिशाओं में चल पड़ी है, उसके विपरीत रुख में खड़े आदर्शवादियों के लिये उनका चरित्र एक दृढ़ पतवार का काम देने वाला है। १९६६ में इस महान

क्रान्तिकारी उत्कृष्ट राष्ट्रवादी और प्रखर साहित्यकार के पार्थिव जीवन का अन्त हुआ, पर अपने प्रेरक कर्तृत्व के रूप में वे आज भी हमारे बीच विद्यमान हैं।

बाँध न पायीं, जिन्हें जेल की दीवारें भी

साम्राज्यवादी अंग्रेजों के घर इंग्लैण्ड की राजधानी में भारतीय युवकों की क्रान्तिकारी गतिविधियों का सूत्र संचालन करने और अंग्रेजों के नाकों दम करने वाले साहसी युवक को भारतीय न्यायालय ने आजन्म काले पानी की सजा दी। इस पर लोगों ने कहा—“पचास वर्ष की सजा बहुत अधिक होती है।”

“पचास वर्ष की बात करते हो? क्या इतने दिनों ये अंग्रेज हमारे यहाँ रहने वाले हैं? कभी नहीं।”

यही दृढ़मना युवक मार्च, १८९९ में अण्डमान द्वीप समूह में काले पानी की सजा काटने के लिये भेज दिया गया। लम्बी जेल यात्रा के बाद वह अण्डमान पहुँचा तब तक तो उसने तय कर लिया था कि उसे वहाँ जाकर क्या करना है। जहाज चलने के साथ ही उसका मस्तिष्क भी चलता रहता था। उसकी अपनी सारी योजना और सम्भावित गतिरोध और उनसे निपटने के सारे तरीके उसके उर्वर मस्तिष्क में उपज आये थे।

उसके चिन्तनशील मस्तिष्क में यह बात पहले ही स्पष्ट हो चुकी थी कि अब अंग्रेज अधिक दिनों भारत पर शासन नहीं कर पायेंगे क्योंकि भारतवासी उनके विरुद्ध उठ खड़े हुए हैं। किन्तु उनके जाने के बाद जो ऐक्य उनसे विरोध करते समय बना था वह बना रहना सम्भव नहीं है। क्योंकि भारत जैसे विशाल देश के निवासी धर्म, रीति, रिवाजों तथा भाषागत विभिन्नता के कारण एक होकर सोच नहीं पायेंगे। जातिवाद, भाषावाद व सम्प्रदायवाद के काले नाग फन उठाने लगेंगे। ऐसी स्थिति में राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधे रखने के लिए भावनात्मक ऐक्य के लिए देश भर में एक राष्ट्रभाषा का होना आवश्यक है और वह भाषा हिन्दी ही हो सकती है। अतः उन्होंने जेल में ही हिन्दी प्रचार करने का निश्चय कर लिया। इस निश्चय को उसने अनेकानेक कठिनाइयों असुविधाओं, विरोधों के अनन्तर भी पूरा कर दिखाया। यह युवक थे भारत के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी विनायक दामोदर सावरकर जिन्होंने दस वर्ष तक अण्डमान जेल में रहकर वहाँ ९० प्रतिशत बन्दियों को हिन्दी सिखायी।

अंग्रेजी ने अपने शासन के साथ ही साथ अपनी भाषा और संस्कृति भी भारतवासियों पर थोपी थी। अंग्रेजी भाषा व अंग्रेजी वेशभूषा के बौद्धिक परावलम्बन का जुआ उन्होंने भारतवासियों के कन्धों पर रख दिया था। यह मानसिक दासता उस राजनैतिक दासता से कम भयंकर नहीं थी। इससे उसी समय सावरकर ने जूझना आरम्भ कर दिया था।

अण्डमान की जेल में जाते ही उन्होंने अण्डमान जेल स्थित बंदियों को साक्षर बनाने अहिन्दी भाषियों को हिन्दी सिखाने का कार्य आरम्भ कर दिया। बन्दी जीवन की कष्ट, कठिनाइयों व अत्याचारों ने लोगों को इतना निराश बना दिया था कि उन्हें पढ़ने के लिये तैयार करने में भी सावरकर को बड़े धैर्य का परिचय देना पड़ा। कोई कहता—“भैया जाने कब यहाँ से मुक्ति मिलेगी तब तक तो हम मर खप ही जायेंगे।” कोई कहता—“अब तक तो पंजाबी बोलता रहा हूँ अब हिन्दी पढ़कर क्या तीर मार लूँगा।” कोई बुढ़ापे का रोना रोते—“पक्की हड्डियों पर क्या कच्ची मिट्टी का पेबन्द लगता है बेटे।” इन सबके मन में उन्होंने अपनी युक्तियों व अपने आशावाद के कारण उत्साह उत्पन्न किया। वे लोग भी देखें कि यह तीस वर्ष का युवक यहाँ पचास वर्ष की जेल भोगने आया है। यहाँ से जायगा तब तक तो अस्सी का हो जाएगा फिर भी यह हैसता-मुस्कराता है और कहता है कि इतने वर्ष तक अंग्रेज भारत में रहेंगे भी नहीं और फिर हमें साक्षर बनाने के लिये कितना परिश्रम करता है। इसने जीवन के मर्म को समझा है हमें उसकी बात माननी चाहिए।

सावरकर की कर्मनिष्ठा और उत्साह ने मरे हुये दिलों में आशा की संजीवनी की छुट्टी पिलाकर प्राण संचार किये और उनका शिक्षण क्रम तेजी से चलने लगा। अनपढ़ पढ़ने लगे। अहिन्दी भाषी हिन्दी सीखने लगे।

उनकी इस सफलता पर जेल के अंग्रेज अधिकारी क्षुब्ध हो उठे। उन्होंने देखा कि यदि लोगों में उत्साह उत्पन्न हो गया और हिन्दी सीखकर वे हिन्दुस्तानी बन गये उनके बीच पड़ी हुई पंजाबी, गुजराती, मराठी, दक्षिण भारतीय की अदृश्य दीवारें उठ गयीं तो हमारी मुश्किल हो जायगी। भारत रूपी यह दैत्य जो अभी सोया हुआ है जाग पड़ेगा तो जाने क्या हो जायगा। अतः उन्होंने “फूट डालो और राज करो” की नीति के अनुसार काम करना आरम्भ कर दिया।

थोड़े ही समय में सावरकर से पढ़ने वालों ने पढ़ने से इंकार कर दिया। सब लोग उनसे कतराने लगे। इसका कारण अधिकारियों द्वारा फैलाई गयी यह अफवाह थी कि वे बंगाली, सिन्धी, पंजाबी, मराठी आदि भाषा-भाषियों पर हिन्दी, जो कि थोड़े से लोगों की भाषा है, लादने के कुचक्र रच रहे हैं। इस पर बड़ा बखेड़ा उत्पन्न हो गया। कुछ लोग तो उनका प्रबल विरोध करने लगे। वे हिन्दी को समस्त भाषाओं से श्रेष्ठ कैसे मान लें। बंगाली कहते—“हमारी भाषा का साहित्य इतना समृद्ध है कि हिन्दी में उनके अनुवाद होते हैं फिर उसे ही क्यों प्रमुख मान लिया जाय?। इतने में मराठी बोल पड़ता—“मराठी क्या किसी से कम है।” कोई कहता—“हिन्दी का तो अपना व्याकरण भी नहीं।” इस प्रकार तरह-तरह के विरोध उठ खड़े हुए।

इस विरोध का उत्तर एक-एक व्यक्ति को पृथक्-पृथक् देने की अपेक्षा उन्होंने सब बन्दियों की एक सामूहिक सभा बुलाकर उसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया। पृथक्-पृथक् समझाने में कितना ही समय लग जाता और अनावश्यक गतिरोध उत्पन्न हो जाता। उन्होंने सब भाषाओं को अपने-अपने स्थान पर उपयुक्त मानते हुए हिन्दी को सबके बीच की सम्पर्क भाषा मान लेने के औचित्य को समझाया। साथ ही साथ उन्होंने इसकी व्यावहारिकता पर भी प्रकाश डालते हुए बताया कि हमारा देश भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों व भाषाओं वाले लोगों का होते हुए भी धर्म और संस्कृति के सूत्रों में बँधकर एक बना है वैसे ही हिन्दी को भी एकता का एक सूत्र मान लेना चाहिये।

उनकी युक्ति युक्त बात लोगों के गले उतर गयी। वे हिन्दी पढ़ने के लिये तैयार हो गये। हाँ कुछ कठोर चर्चों की तरह गले नहीं वे विरोध करते रहे किन्तु उनकी आवाज अब नक्कारखाने में तूती की तरह अप्रभावी बन गयी। सावरकर का प्रयास सफल होता दिखाई देने लगा।

अब समस्या आयी पुस्तकों की। जेल के कुछ सहृदय भारतीय अधिकारियों के सहयोग से कुछ पुस्तकें उपलब्ध हुईं। उनसे ज्ञान मन्दिर (पुस्तकालय) की स्थापना की गयी। किन्तु पढ़ने वालों की संख्या देखते हुए पुस्तकें बहुत कम थीं। उसका तरीका खोजा गया कि बंदी पैसा इकट्ठा करें और अवसर देखकर बाहर से पुस्तकें मँगालें। इन्हीं दिनों दीवान सिंह नामक एक व्यक्ति की मृत्यु हो गयी। पुस्तकें मँगाने का यह अच्छा बहाना था। कैदियों ने जो पैसा-पैसा जोड़ा था वह इकट्ठा किया गया। कोई दो सौ रुपये एकत्रित हुए। उन रुपयों से दिवंगत बंदी की स्मृति में पुस्तकें मँगायीं। सामान्य व्यक्ति के स्तर से लेकर उच्च साहित्यिक पुस्तकें भी मँगायी गयीं जिससे सभी स्तर के लोग लाभ उठा सकें।

अब हिन्दी के साथ-साथ दूसरी भाषाओं का शिक्षण भी आरम्भ किया गया। सम्पर्क भाषा बनी हिन्दी। तब लोगों की समझ में आ गया कि इसे सीखने से कितना लाभ हुआ। हिन्दी सीखने से परस्पर एक दूसरे की भाषा समझने, सीखने में बड़ी आसानी हो गयी।

जेल से जिन व्यापारियों का सम्पर्क रहा करता था उन्हें भी सावरकर ने कहा—हिन्दी सीखने का प्रयास करो, अपने बच्चों को हिन्दी सिखाओ ताकि सरकार उनके लिये पाठशाला खोल सके। हिन्दुओं की राष्ट्रभाषा हिन्दी है। पंजाबी, गुजराती, मराठी बंगाली होते हुए भी जैसे हम हिन्दू हैं। वैसे ही धर्म की तरह भाषा को भी हमें सीखना चाहिए।”

सावरकर को जेल में कोठाधिकारी बनाया गया। उन दिनों तेल व खली खरीदने के लिये जो व्यापारी आते, उन्हें

३.३० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

वे अपनी यह बात समझाना नहीं भूलते। यही नहीं उन्हें महाभारत, रामायण तथा अन्य महापुरुषों की जीवनियाँ भी पढ़ने के लिए देने लगे, जिन्हें पढ़कर वे लोग वापस उन्हें लौटा देते थे। इस प्रकार जेल की चहारदीवारी में लगाये गये ज्ञानरूपी वृक्ष के जब फूल आये तो उनका सौरभ उन सीखचों के बाहर भी विचरने लगा।

किसी को बंदी बना देने से उसके क्रिया-कलाप रुकते नहीं। जिनमें कुछ कर गुजरने की भावना होती है तो वे पर्वतों को तोड़ कर भी उन्हें बना लेते हैं। बस लगन और धैर्य की आवश्यकता होती है। अंग्रेजों ने देखा कि यह सावरकर यदि खुला फिरता रहा तो जाने क्या-क्या बखेड़े उत्पन्न करेगा इसलिये न्याय का गला घोटकर उन्हें सुदूर काले पानी की सजा काटने भेज दिया पर वहाँ भी वे चुप नहीं बैठे।

उन्होंने भारतवर्ष के क्रान्तिकारियों से भी सम्पर्क बनाये रखा। उनके इस जेल में चलाये गये साक्षरता आन्दोलन को इन क्रान्तिकारियों की सहायता मिलती रही थी। इस कार्य से दोहरा लाभ हुआ एक तो निरक्षर लोग साक्षर हो गये। उनके लिये ज्ञान प्राप्ति का मंगल द्वार खुल गया दूसरे राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार हो गया।

जेल में उन्हें भी अन्य बंदियों की तरह कोल्हू चलाना पड़ता था, चक्की पीसनी पड़ती थी। भोजन ढंग का नहीं मिलता था। जलवायु तो पहले ही खराब थी ही। मलेरिया का भीषण प्रकोप होता था। इन सब बाधाओं को झेलते हुए भी उन्होंने अपने संकल्पों को साकार करने में कभी आलस्य नहीं किया। उन्हें जब भी समय मिलता अपना पढ़ाने का काम पकड़ लेते।

दस वर्ष तक वे इन काल-कोठरियों में पाठशाला चलाते रहे- अपने ढंग की अनेखी पाठशाला जिसके लिये न समय था, न साधन और ऊपर से अंकुश लगा ही रहता। फिर भी दस वर्ष तक वे वहाँ रहे तो उन्होंने ९० प्रतिशत बन्दियों को साक्षर बना दिया। लोग कहते हैं, क्या करें परमार्थ का काम करने पर इतने व्यवधान सामने हैं इनके लिए यह उदाहरण अपर्याप्त नहीं। संकल्पों की कमी है और किसी की नहीं अन्यथा परमार्थ के काम में न समय बाधक बनता है न साधनों का अभाव ही।

हाजिर जवाब में भविष्यवाणी

“दण्डित १९१० में, रिहाई १९६० में, इन शब्दों से अंकित तख्ती गले में लटकाये वीर सावरकर दोहरे आजीवन कारावास का दण्ड भोगने के लिये काले पानी की कोठरी में प्रविष्ट हो रहे थे। किन्तु न मुख म्लान, न मन में ग्लानि। आन्तरिक स्थिरता भी नहीं डगमगाई। पास खड़े जेल अधिकारी ने व्यंग्य किया-“घबराओ नहीं। ब्रिटिश सरकार पचास साल पूरे होते ही तुम्हें जरूर रिहा कर देगी।” सावरकर ने उत्तर दिया- “किन्तु क्या स्वयं

ब्रिटिश सरकार भारत में पचास साल टिकी रह सकेगी?”

हृदय की विशालता

स्वातन्त्र्य संग्राम के वीर विनायक राव सावरकर की स्थावर संपत्ति अंग्रेजों ने राज-सात करायी थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात इस संपत्ति की वापसी के लिये प्रयत्न किये गये परन्तु किन्हीं नियमों आदि के कारण संपत्ति वापस नहीं हो सकी। इस पर एक मित्र ने सावरकर के समक्ष स्वतन्त्र भारत की व्यवस्था की आलोचना कर इसे शासकीय उपेक्षा बताया। ऐसा कहने से रोकते हुए वीर सावरकर ने कहा-“बन्धु, जाने भी दो, जब सागर, नदियों व हिमालय जैसी मूल्यवान सम्पत्तियों वाला देश मुझे वापस मिल गया है तो थोड़ी-सी सम्पत्ति को लेकर क्या झंझट में पड़ना।”

सावरकर की यह सज्जनता व हृदय की विशालता देख उनके मित्र चुप हो गए।

वीर बालक-

हकीकत राय

मुगल शासन काल में फारसी का महत्व एक राज-भाषा जितना था। फारसी पढ़ाने के लिये मौलवी लोग मदरसे तथा मकतब (पाठशाला) चलाते थे। स्यालकोट के एक ऐसे ही मकतब के मौलवी साहब कुछ देर के लिये बाहर गए तो बालकों ने हो-हल्ला करके मकतब सिर पर उठा लिया। सभी बालक इसमें भाग ले रहे थे केवल एक बालक इन सब उच्छृंखलताओं से अलग-थलग बैठा अपनी पुस्तक पढ़ने में मग्न था। यह बालक पढ़ने में सबसे आगे था इस कारण उससे कुछ मन्दबुद्धि मुसलमान लड़के जलते थे, दूसरा कारण इस बालक का हिन्दू होना था। उन्होंने उसे छेड़ने के लिये हिन्दू देवी-देवताओं को गालियाँ देना आरम्भ कर दिया। इस बालक को यह सहन नहीं हुआ।

बालक अपनी माताजी को गीता, रामायण पढ़ते सुनता था। उसकी हिन्दू देवी-देवताओं पर बड़ी श्रद्धा थी। गीता तो उसे बड़ी प्रिय लगती थी। उसने उन्हें समझाया-“तुम हमारे देवी-देवताओं को गाली न दो। हम भी तुम्हारे पैगम्बर को गाली दें तो तुम्हें कैसा लगेगा।”

इस पर वे और जोर से गालियाँ देने लगे। हिन्दू हकीकत को यह सहन न हो सका उसने भी अस्लाह को गालियाँ दीं।

मौलवी के आने पर उन उच्छृंखल बालकों ने नमक मिर्च लगाकर हकीकत की शिकायत की। मौलवी यह सुनकर आग बबूला हो गया। उसने हकीकत को डाँटा। बालक के मन में शिक्षक के प्रति श्रद्धा थी पर वह सत्य

कहने का साहस रखता था । उसने प्रतिवाद किया व अपनी गलती नहीं मानी ।

मुसलमानों के शासन में एक हिन्दू उनके देवताओं को गाली देने का साहस करे ? यह मौलवी को सहन न हुआ । बात न्यायालय तक पहुँची । न्याय भी उन दिनों मुल्ला-मौलवी करते थे । बालक को मृत्यु दण्ड की सजा देने का निर्णय हुआ ।

मौलवी ने इस बालक को बहुत समझाया कि वह अपना धर्म छोड़कर मुसलमान बन जाय तो उसे जीवनदान ही नहीं बड़ा पद मिल जायगा । उसके माता-पिता ने भी समझाया “बेटा स्वीकार कर लो कम से कम तुम्हारी जान तो बच जायगी ।”

हकीकत ने मन में विचार किया । मृत्यु तो आज नहीं तो कल आएगी ही फिर धर्म और सत्य को छोड़कर क्यों जीवन की भीख मांगूँ । माँ रोज गीता पढ़ती है उसमें लिखा है कि आत्मा पुराने कपड़े की तरह एक शरीर छोड़कर नये कपड़ों की तरह दूसरा शरीर धारण करती है । वह न तो आग में जलती है, न शस्त्रों से काटी जा सकती है । फिर मैं इस शरीर का क्यों मोह करूँ । उसने कहा— “आप व्यर्थ चिन्ता करते हैं, मैंने कोई अपराध नहीं किया है, मैं क्यों अपना धर्म त्याग दूँ ।”

एक अबोध बालक के आगे सारा राजतन्त्र हार रहा था । ज्यों-ज्यों बालक अपने निश्चय पर दृढ़ रहा त्यों-त्यों प्रलोभन भी बढ़ते गये । उसे सभी प्रकार के भय दिखाए गए । किन्तु हकीकत अपनी बात पर अटल था ।

सन् १९३४ बसंत पंचमी के दिन रावी नदी के किनारे इसे मृत्यु दण्ड देने के लिए ले जाया गया । वहाँ बड़ी भीड़ एकत्रित हो गई थी । जल्लाद हाथ में नंगी तलवार लिये खड़ा था । मुल्लाओं ने समझा कि अब डर जायगा— “बोलो जिन्दगी चाहते हो या मौत ।”

निर्भीक स्वर में हकीकत ने कहा—“आप न तो मुझे मौत दे सकते हैं न जिन्दगी । जो करना है करें ।”

सिर काटने का आदेश हुआ । क्रूरकर्मा जल्लाद के हाथ से भी तलवार छूट पड़ी, उसे भी दया आ गई पर हकीकत ने तलवार उठाकर उसे धमा दी व कहा कि तुम अपना कर्तव्य पूरा करो ।

तलवार चली, हकीकत का सिर कट गया । सत्य पर मिटने वाला यह वीर अमर होकर लाखों की जीवन प्रेरणा बन गया ।

स्वातन्त्र्य युद्ध का प्रथम सैनिक—

मंगल पाण्डे

अंग्रेज भारत में व्यापारी बनकर आये थे । शाहजहाँ के दरबार में सर टामस रो ने व्यापारिक सुविधाओं के लिए घुटनों के बल झुक कर निवेदन किया था । वही अंग्रेज १८५० तक भारत सम्राट बन बैठे । मुगल सम्राट

उनके हाथों की कठपुतली भर रह गया । भारतीय जनता अंग्रेजों के इस कुचक्र को समझ नहीं पाई । उसे चेत तब हुआ जब राजनैतिक विजय के बाद उन्होंने सांस्कृतिक विजय करने की ठानी और वैसे ही प्रयास आरम्भ कर दिये ।

भारतीय जनमानस धर्म व संस्कृति से ही नियन्त्रित, संचालित रहा है । जब धर्म व संस्कृति पर चोट पड़ने लगी तो उन्हें चेत आया, वे क्षुब्ध हो उठे । भीतर ही भीतर विप्लव की पृष्ठभूमि बनने लगी । १८५७ में मंगल-पाण्डे नामक एक युवा सैनिक ने इस विप्लव को स्वर दिया । देखते ही देखते यह स्वर महाराग बनकर भारत के दिग्दिगंत को प्रकम्पित करने लगा । अंग्रेजों के साम्राज्य की प्राचीरें ढहने लगीं ।

अंग्रेज इतिहासकार ने उस विस्फोट को अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है—“२९ मार्च, १८५७ को बैरकपुर की ३४वीं हिन्दुस्तानी बटालियन में असाधारण हलचल दिखाई दी । भारतीय हवलदार मेजर हाँफता हुआ अपने अंग्रेज अधिकारी के पास आया और यह खबर सुनाई कि एक दबंग सिपाही ने यह घोषणा कर दी है कि वह बागी है । वह बैरकों में क्रान्ति का प्रचार करता हुआ घूम रहा है । लैफ्टीनेण्ट घोड़े पर सवार होकर लाइन की ओर गया तो क्या देखता है कि एक जवान सिपाही जिसका नाम मंगल पाण्डे था, सिपाहियों में घूम-घूमकर यह प्रचार कर रहा है । “अंग्रेज सरकार हमारे धर्म का नाश कर रही है । हमें उसकी नौकरी छोड़ देनी चाहिए ।” वह यह घोषणा भी करता जा रहा था— “मैंने प्रतिज्ञा कर ली है कि जो भी अंग्रेज मेरे सामने आयेगा उसे गोली मार कर ढेर कर दूँगा ।”

बगावत का प्रचार कर ही रहा था कि अंग्रेज लैफ्टीनेण्ट उसके सामने जा पहुँचा । मंगल पाण्डे ने क्षण भर का विलम्ब किए बिना उस पर गोली दाग दी । अंग्रेज अफसर ने गोली बचाने के लिए घोड़े को मोड़ दिया । फलस्वरूप गोली घोड़े को लग गई और वह कूद कर दूर जा खड़ा हुआ । उसने दूर खड़े मंगल पाण्डे पर गोली चलाई वह खाली गयी । बिफरे सिंह की तरह मंगल पाण्डे उस पर टूट पड़ा व अपनी तलवार से उसे परमधाम पहुँचा दिया । लैफ्टीनेण्ट की सहायता के लिए एक अंग्रेज सार्जेण्ट मेजर दौड़कर आया उसका भी मंगल पाण्डे ने काम तमाम कर दिया ।

बीस भारतीय सिपाही मंगल पाण्डे की इस कारगुजारी को देखते रहे । मेजर जनरल भी यह वारदात देख रहा था, किन्तु न वह बीच में पड़ा न उसके आदेश को मानकर भारतीय सिपाहियों ने इस बिफरे शेर को ही पकड़ा । उनमें भी देशप्रेम व स्वधर्म रक्षण की उमंगें बलवती होने लगी थीं । ३४वीं पलटन के कर्नल डीलर ने भी उन्हें मंगल पाण्डे को पकड़ने का आदेश दिया पर उन्होंने अनसुना कर दिया ।

दोनों अंग्रेज मंगल पाण्डे की असिधारा के वार से मर चुके थे। दूसरे अंग्रेज खड़े-खड़े देख रहे थे। किसी में उसे पकड़ने का साहस शेष नहीं रहा था। भारतीय सिपाही आदेश मानने को तैयार नहीं थे। छोटे अफसर इस प्रकार उस काण्ड को हतप्रभ हो देख ही रहे थे कि तभी फौज का बड़ा अफसर वहाँ आया और उसने अंग्रेजों को उनकी कायरता पर धिक्कारा। तब वे संगठित होकर आगे बढ़े। पर मंगल पाण्डे बन्दी नहीं होना चाहता था। उसने अपनी ही बन्दूक का मुँह अपने सीने की ओर कर गोली दाग दी। किन्तु वह मर नहीं सका, पकड़ा गया।

मंगल पाण्डे ने जिस क्रान्ति का शंख फूँका था उसके बीज कभी के भारतीय जनता व सैनिकों में पड़ चुके थे। उनकी अभिव्यक्ति भर होनी बाकी थी। ईसाई धर्म प्रसार के लिए अंग्रेज पादरियों की धड़ाधड़ नियुक्तियाँ होना तथा गाय व सुअर की चर्बी लगे कारतूसों का अंग्रेज सरकार द्वारा निर्माण कराया जाना, जिन्हें दाँतों से तोड़ना पड़ता था। ऐसे प्रत्यक्ष कारण थे जिनसे भारतीय जनमानस में विक्षोभ की लहर-सी फैल गई थी—यही नहीं भारतीय रीति-रिवाजों में भी अंग्रेजों ने हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया था। बिदूर के नाना साहब पेशवा व झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई भी उनकी अन्यायपूर्ण नीति के शिकार हो चुके थे। पेशवा गुप्त रूप से क्रान्ति की अद्भुत योजना के ताने-बाने बुनकर उसके सुनियोजित ढंग से विस्फोट की ताक लगाये बैठा था।

बैरकपुर के भारतीय सैनिकों में भी ऐसी ही बातों को लेकर रोष फैल चुका था। मंगल पाण्डे के इस साहसिक कृत्य से उस रोष का विस्फोट हो चुका था। अंग्रेज अब तक भारतवासियों को खरीदे हुए गुलाम समझते थे और उन्हीं के बल पर मुट्ठी भर अंग्रेजों ने अपनी कूटनीति के सहारे इस विशाल देश पर साम्राज्य जमा लिया था किन्तु उन्होंने अब इनका दूसरा ही रूप देखा था। अपने धर्म पर आँच आते देखकर वे किस प्रकार बगावत कर सकते हैं। यह इस घटना ने स्पष्ट कर दिया था।

मंगल पाण्डे को घायल अवस्था में बन्दी बना लिया गया। उसने अपना कार्य पूर्ण कर लिया था। एक क्रिया उसने की थी, उसकी प्रतिक्रिया भारतीय सैनिकों पर हो रही थी धीरे-धीरे ही सही, पर वह ठोस प्रभाव डाल रही थी और समय पाकर वह राष्ट्रव्यापी क्रान्ति के रूप में फूट पड़ी थी। कुछ दिन बाद उसका कोर्ट मार्शल किया गया, जिसमें उसे फाँसी की सजा सुनाई गयी, ताकि हिन्दुस्तानी सैनिक बगावत का परिणाम देखें। हिन्दुस्तानी सिपाहियों के प्रति अंग्रेज इतने सशंक हो उठे थे कि उन्हें फाँसी देने के लिए चार आदमी कलकत्ते से बुलाने पड़े थे। मंगल पाण्डे को भारतीय सिपाहियों के सामने फाँसी

दी गई। अंग्रेजों ने आश्चर्य से देखा कि फाँसी के फन्दे को गले लगाते समय उसके चेहरे पर कोई शिकन नहीं थी—उदासी का कोई चिह्न नहीं था, वरन् वह झुमता हुआ फाँसी के तख्ते पर चढ़ा। उस समय उसके तरुण मुख मण्डल पर देशप्रेम की स्वर्णिम आभा चमक रही थी। उसकी निगाहें कह रही थी कि तुम अब यहाँ राज्य नहीं कर सकते। उन्हें देखकर अंग्रेज सैनिक पदाधिकारी सहम उठे थे। मरने के पहले भी वह हिन्दुस्तानी सैनिकों को देश-धर्म की बलिवेदी पर प्राणोत्सर्ग करने की प्रेरणा देता रहा था।

मंगल पाण्डे का पार्थिव शरीर तो फाँसी पर झूल गया पर उसकी ये प्रेरणायें हजार गुना प्रबल होकर जनमानस को आन्दोलित करती रहीं। इसी के परिणामस्वरूप १८५७ की इतिहास प्रसिद्ध क्रान्ति हुई। एक दिन अंग्रेजों को भारत छोड़कर जाना ही पड़ा। सच है कोई बलिदान व्यर्थ नहीं जाता—कोई सत्कार्य अप्रभावी नहीं होता।

दृढ़ गर्जना

स्वतन्त्रता संग्राम के वीर सेनानी मंगल पाण्डे को तब तक फाँसी की सजा का आदेश सुनाया नहीं गया था। न्यायाधीश ने कहा—“तुमने राजद्रोह किया है अतः तुम्हें ब्रिटिश सरकार से क्षमा माँगनी चाहिए। मंगल पाण्डे ने दृढ़ता के साथ कहा—“मैं अंग्रेजों को इस देश का भाग्य विधाता नहीं मानता। वह अपने मुँह से राजा बनना चाहते हैं, तो बनते रहें। मैं उनसे अपने देश को मुक्त कराना चाहता हूँ और यदि यही मेरा अपराध है तो मैं प्रत्येक प्रकार का दण्ड स्वीकार करने को तैयार हूँ और दूसरे ही क्षण अंग्रेज न्यायाधीश ने उसे फाँसी की सजा सुना दी।

जौरापुर का राजा बालक

उस समय देश में अंग्रेजों का शासन था। सन् १८५७ की क्रान्ति सम्पूर्ण भारत में फैली तो ऐसा लगने लगा कि अब तो इन क्रूर अत्याचारियों के शासन का सूर्य अस्त होगा भी तो इसी भारत भूमि पर।

पूरे देश में क्रान्ति की लहर दौड़ रही थी। फिर हैदराबाद इस हवा से कैसे अछूता रह सकता था। यहाँ पर सर सालारजंग नामक दीवान राज्य का कार्य सँभाल रहा था। दीवान अंग्रेजों का दलाल था। उसे देशभक्तों को मृत्यु दण्ड देने में तनिक भी संकोच नहीं होता था। सालारजंग और निजाम अफजुलदौला देशभक्तों के साथ विश्वासघात कर रहे थे। उन्होंने कितने ही व्यक्तियों को पकड़वाकर अंग्रेज अधिकारियों के सुपुर्द कर दिया था।

हैदराबाद के निकट थी जौरापुर नामक एक छोटी-सी रियासत। राजा की मृत्यु हो गई तो राजकुमार को उसका उत्तराधिकारी बनाकर गद्दी पर बिठाया गया। उस बालक

की आयु अवश्य कम थी, पर वीरता, साहस, सूझबूझ और देशभक्ति में किसी से कम नहीं था।

बालक राजा की शिक्षा-दीक्षा राष्ट्रीय वातावरण में हुई थी। इसके अतिरिक्त अपने माता-पिता के संस्कारों से भी वह प्रभावित था। बचपन से ही नाना साहब, ताँत्या टोपे और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई की वीर गाथाएँ सुनता रहा था। अतः भय नाम की कोई वस्तु तो उसमें नाममात्र को न थी। वह तो उन राष्ट्रभक्तों की तरह स्वयं भी बनकर संसार के वीरों के मध्य अपना स्थान बनाना चाहता था।

निजाम और दीवान की कुदृष्टि इस रियासत पर थी। वह इसे हड़प कर अपने अधिकार में करना चाहते थे। बालक राजा रुहेलखण्ड के रहने वाले रुहेल पठानों और अरब लोगों की सेना लाकर अंग्रेजों के छक्के छुड़ाने लगा। स्वभाव का सीधा-सादा वह बालक दीवान सालारजंग की चालाकियों को न समझकर उसके चक्कर में फँस गया। दीवान ने उसे गिरफ्तार कर अंग्रेजों को सौंप दिया।

अनेक यातनाएँ तथा प्रलोभन देने के बाद भी उस बालक ने न तो क्षमा माँगी और न अपने साथियों का भेद ही बताया। अंग्रेज अधिकारी निडोल टेलर का उस बालक से बहुत प्रेम था। उसकी भी टेलर के प्रति अपार श्रद्धा थी। वह टेलर को अप्पा कहकर संबोधित करता था। टेलर को विश्वास था कि वह क्रान्तिकारियों का रहस्य जानने में सफलता प्राप्त कर लेगा। उसके बहुत पूछने पर भी बालक राजा ने यही उत्तर दिया।

“अप्पा ! आपके प्रति मेरे हृदय में आज भी वही स्नेह तथा श्रद्धा है। पर यह तो आप जानते ही हैं कि यह मेरे देश का मामला है। मैं अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए देशभक्तों के साथ विश्वासघात नहीं कर सकता। जीवन में मृत्यु तो एक बार आती है। अंग्रेज अधिकारी भले ही मुझे फाँसी पर चढ़ा दें, उनके द्वारा दिये गये प्रत्येक दण्ड को सहर्ष स्वीकार करूँगा, पर विदेशियों का दास बनकर कायरतापूर्ण जीवन जीना पसन्द नहीं करूँगा।”

अपने द्वारा समझाने का भी जब उस पर कोई प्रभाव नहीं हुआ और उसने अंग्रेज रेजिडेंट से मिलने के प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया तो टेलर को बहुत दुःख हुआ, पर एक दिन वह उस बालक के पास जेल में गया और अंग्रेजों द्वारा दिये गये मृत्यु दण्ड को सुना दिया।

बालक राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। मृत्यु दण्ड सुनकर भी मुस्कराहट। टेलर को आश्चर्य हुआ। टेलर

ने उसकी प्रसन्नता का कारण जानना चाहा तो उसने यही उत्तर दिया।

“अप्पा ! फाँसी और काले पानी की सजा से उतना कष्ट नहीं है जितना देशभक्तों के साथ विश्वासघात करने में, क्योंकि फाँसी पर चढ़कर तो हमें इसी जीवन में केवल एक ही बार कष्ट उठाना पड़ेगा। पर देशद्रोही बनने पर तो इस आत्मा को कई जन्मों तक कष्ट होगा क्योंकि इस पर राष्ट्र को धोखा देने का दोष लगा होगा। अतः ऐसे घृणित जीवन के जीने की अपेक्षा मैं मृत्यु को वरण करना अधिक अच्छा समझता हूँ।”

“बेटा ! ऐसी स्थिति में मैं तुम्हारी क्या सहायता कर सकता हूँ ?”

“यदि सहायता ही करना चाहते हैं तो आप ऐसी व्यवस्था कर दीजिए कि मैं तोप के मुँह से उड़ाया जाऊँ। मैं फाँसी को चोरों की सजा समझता हूँ। मैं चोर नहीं हूँ बल्कि देशभक्त हूँ। मेरा अपराध देशभक्ति है इसीलिए ही मुझे यह फाँसी की सजा दी जा रही है। यदि आपने तोप के मुँह से उड़ाने की सजा सरकार से दिलवाने की व्यवस्था की तो देखना यह बालक किस बहादुरी से ‘भारत माता की जय’ बोलकर शान्ति के साथ अपने जीवन को समाप्त करता है।”

टेलर उस समय तो चला गया पर शान्त नहीं बैठा रहा। उसने जाकर बहुत दौड़-धूप की, तब कहीं मृत्यु दण्ड को काले पानी की सजा में बदला जा सका। पर वह यह न जानता था कि काले पानी की सजा को वह अपमानजनक मानता है। जैसे ही बालक को सजा के परिवर्तन की सूचना मिली तो उसके मुख से यही निकला, “टेलर अप्पा ने मेरे साथ यह क्या किया ? उन्हें शायद मालूम नहीं कि मेरा प्रत्येक सैनिक जेल और काले पानी की सजा को अपमानजनक और कायरतापूर्ण मानता है। फिर मैं तो उनका राजा हूँ। यदि जिऊँगा तो वीर की तरह और यदि मरने का समय आयेगा तो उसे भी वीरता के साथ वरण करूँगा।”

बालक राजा को जब काले पानी की सजा के लिए ले जा रहे थे, तब उसने मजाक में ही पास बैठे एक अंग्रेज पुलिस अधिकारी की पिस्तौल ले ली और थोड़ी देर इधर-उधर पलट कर देखता रहा। मौका पाते ही उसने वह गोली अपने ऊपर दाग ली।

उस वीर बालक ने अपने प्रण को पूरा कर दिखाया। आज भी सारा संसार उस बालक के साहस और शौर्य की सराहना करता है। जिस देश में ऐसे वीर और राष्ट्रभक्त जन्म लेते रहे हों उसे अधिक समय तक दासता का जीवन नहीं जीना पड़ता और एक दिन ऐसा आया भी जब देशवासियों को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई।

भारतीय सशस्त्र क्रान्ति के प्रथम नायक वासुदेव बलवंत फड़के

गुरिल्ला पद्धति द्वारा लड़ाई लड़कर सीमित संख्या में होते हुए भी गुरिल्ले विशाल सेनाओं को भी छका सकते हैं। चीन की जनता ने इसी पद्धति से पूर्व सरकार का खात्मा किया था। अन्य देशों में भी जहाँ की जनता ने शास्त्रों से आततायी अत्याचारी शासन व्यवस्था का खात्मा किया यही युद्ध शैली अपनाई। हाल ही में वियतनाम और कम्बोडिया की मुक्ति का उदाहरण सामने है। इस रणनीति में नब्बे प्रतिशत गुरिल्ला पक्ष को जीतने की सम्भावना रहती है, अतः भारत में भी जिन दिनों अंग्रेजी राज था उन दिनों गुरिल्ला युद्ध द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करने के प्रयास चले। यह बात और है कि उन्हें सफलता नहीं मिल सकी। पर इतना निश्चित है कि अंग्रेजी शासन को समाप्त करने के लिए इन निष्ठावान देशभक्तों ने भी बहुत बड़ी और महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी।

जिन लोगों ने गुरिल्ला युद्ध के माध्यम से भारत की स्वतन्त्रता के लिए प्रयास किए उनमें से कइयों के तो नाम अज्ञात हैं। पर जिन लोगों के नाम स्मरण किए जाते हैं और यशोगान गाये जाते हैं उनमें सर्वाधिक श्रेय दिया जाता है—महाराष्ट्र के वासुदेव बलवंत फड़के को। कहा जाता है कि १८५७ की सैनिक क्रान्ति के बाद ब्रिटिश सरकार किसी से बुरी तरह आतंकित और भयभीत थी तो वह ये वासुदेव बलवंत फड़के और उनकी गुरिल्ला टुकड़ियाँ। यहाँ तक कि उनका पता देने वाले के लिए भी काफी इनाम घोषित किया गया था।

महाराष्ट्र के कोंकण क्षेत्र में एक छोटा-सा गाँव है—शिरडोण। यह गाँव प्रकृति की गोद में बैठा एक नन्हा-सा शिशु लगता है। घाटियों के अलावा कोंकण प्रदेश वन और पर्वतों से भी घिरा हुआ है, वन और पर्वत ऐसे दुर्गम कि कोई व्यक्ति खो जाये तो वापस लौटने की राह भी न मिले। कुछ विशेष जातियाँ हैं जो वहाँ की मूल निवासी कही जाती हैं और इन वन-पर्वतों की इंच-इंच जमीन से परिचित हैं। ये जातियाँ लूटमार और डकैती का काम करती हैं तथा जरायमपेशा भी हैं—ऐसा लोग मानते हैं पर साथ ही स्वामिभक्त, मैत्री धर्म को आखिरी साँस तक निभाने वाले और विश्वासपात्र भी होते हैं। जो भी हो, इसी भूभाग में शिरडोण गाँव में ४ नवम्बर, १८४४ ई० को वासुदेव ने जन्म लिया। उनके पिता बलवंत राव उस क्षेत्र के सभी निवासियों द्वारा आदृत और सम्मानित व्यक्ति थे। कहा जाता है कि मुगल काल में उनके पूर्वज जागीरदार थे। उस समय का वैभव तो तब नहीं रहा था। लेकिन प्रतिष्ठा और सम्मान

में वह कुल उसी स्थान पर बना रहा। इसका एक कारण यह भी था कि परदुःख कातरता शायद उस कुल के सभी सदस्यों को संस्कारों के रूप में विरासत से मिलती थी। कोई भी दुःखी या विपदा का मारा उस परिवार में जाकर शरण पा लेता था। इसलिए लूटमार और डकैती करने वाले जरायम पेशा जाति के लोग भी फड़के परिवार को वही आदर देते थे जो वहाँ के आम आदमी।

फड़के की प्रारम्भिक शिक्षा मराठी भाषा में हुई और फिर उन्होंने थोड़ी बहुत अंग्रेजी भी पढ़ी। पर उनका मन पढ़ने-लिखने या स्कूल में नहीं लगता, शिरडोण क्षेत्र की प्राकृतिक सुषमा और रम्य घाटियाँ उन्हें अपने पास बुला लेतीं और वे घने जंगलों, घाटियों में घूमते रहते। वहाँ के देहाती और आदिवासी लोगों के बीच रहकर फड़के ने शरीर साधना की, खूब व्यायाम करने लगे और घुड़सवारी भी सीख ली। आगे की शिक्षा पूरी करने के लिए उन्हें पूना भेज दिया गया। उसी दौरान हुआ सन् १८५७ का स्वतन्त्रता संग्राम, जिसकी लपटें देश भर में फैलीं और जन-मानस को आन्दोलित कर गईं। अंग्रेज सरकार की जड़ें भी इस क्रान्ति से हिल उठीं। क्रान्तिकारियों की कुछ गलतियों और अंग्रेजी सेनाओं के आधुनिक साधनों—सामर्थ्यों के कारण यह क्रान्ति दबा दी गई और उसे सैनिक विद्रोह (गदर) का नाम दिया गया ताकि लोगों को उसकी स्मृति भी कोई अच्छे रूप में न रहे। सैनिक क्रान्ति तो विफल हो गई पर सरकार का भी यह दूसरा प्रयास सफल न हो सका।

१८६० में फड़के बम्बई आ गये और वहाँ छोटी-मोटी नौकरियाँ करने लगे। तब उनका विवाह भी हो चुका था। पाँच वर्ष तक उन्हें इसी प्रकार अस्थायी नौकरियों से सन्तोष करना पड़ा तब कहीं जाकर उन्हें सैनिक वित्त विभाग में नौकरी मिली। तब तक फड़के पूर्ण वयस्क भी नहीं हो पाये थे, फिर भी वे सात-आठ वर्ष पूर्व घटी घटनाएँ सुनकर रोमांचित हो उठते। साथ ही यह भी अनुभव करते कि वस्तुतः अंग्रेज सरकार हमारे देश में अनाधिकारिक रूप से शासनारूढ़ है। उन्हीं दिनों उनके जीवन में कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं जिससे उनका मन अंग्रेजों के प्रति घृणा से भर उठा और उनके उतावले खून ने सशस्त्र क्रान्ति का रास्ता अपना ठीक समझा।

जिन दिनों वे सैनिक वित्त विभाग में नौकरी करते थे उन्हीं दिनों उनकी माँ बीमार हुई। फड़के के पास इसकी सूचना पहुँची और माँ की यह आकांक्षा भी कि वे अपने लाड़ले को आखिरी बार देखना चाहती थीं। उन्होंने अपनी विभागीय अधिकारी से इस प्रयोजन से छुट्टी माँगी। लेकिन गोरे अधिकारियों के लिए काले भारतीयों की भावनाओं का कोई मूल्य नहीं था। फड़के ने काफी अनुनय विनय की ताकि किसी प्रकार अधिकारीगण राजी हो सकें लेकिन उन्हें छुट्टी नहीं देना था और न ही दी।

आखिर विश्वोभ और आक्रोश से भरकर वे बिना अनुमति लिए ही अपनी माँ को देखने चल पड़े पर यह जानकर वे धक्का से रह गये कि उनके आने से पूर्व ही माँ उन्हें याद करती दम तोड़ गई है ।

एक तो इस घटना ने फड़के को आक्रोश से भर दिया, दूसरे उस समय की देश काल की परिस्थितियों ने । उस समय १८५७ का स्वतंत्रता संग्राम लड़ा जा चुका था और अंग्रेजों ने अपनी शासन नीति में कुछ इस प्रकार का परिवर्तन किया था जिससे जनता परेशान हो उठी थी । इस नीति का आधार यह था कि लोग कमाने और गुजारा करने में ही इस प्रकार व्यस्त रहें कि उन्हें राजनीति के विषय में सोचने का अवसर ही न मिले । इस नीति के कारण देश के अधिकांश भागों में अकाल जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी और महाराष्ट्र में तो और भी भयावह ।

इन्हीं दिनों फड़के गणेश जोशी तथा महादेव गोविन्द रानाडे जैसी समाजसेवी विभूतियों के सम्पर्क में आये और उनके राजनैतिक विचारों से प्रभावित हुए । रानाडे का तो उन पर ऐसा प्रभाव हुआ कि वे प्रायः उनके प्रत्येक व्याख्यान में उपस्थित रहते थे । आखिर १८७२ में उन्होंने आरम्भ किया अपना राजनैतिक जीवन । तब से उन्होंने स्वतंत्रता के विचार को गाँव-गाँव पहुँचाने का कार्य आरम्भ किया । वे अपने व्याख्यानों का प्रचार, व्यवस्था और आयोजन सब कुछ स्वयं ही करते । जिस गाँव में कार्यक्रम रखना होता वहाँ वे सुबह से ही पहुँच जाते और थाली बजा-बजाकर अपने व्याख्यान की घोषणा करते । सन्ध्या समय, नियत समय, नियत स्थान पर जो प्रायः चौराहे होते अपने ओजस्वी भाषण देते । इस समय वे यही प्रयोजन पूरा करने में लगे हुए थे कि किसी प्रकार सामान्य जनता में अंग्रेज सरकार के प्रति आक्रोश उत्पन्न किया जाय । अपने उद्देश्य की प्राप्ति हेतु अगली सीढ़ी के लिए वे स्वयं को तैयार कर रहे थे, जिसमें उन्होंने शस्त्र चलाना, घुड़सवारी करना और अन्यान्य ऐसे अभ्यास करना आरम्भ किया जिससे कि भावी कार्यक्रमों को पूरा किया जा सके । उनके बलिष्ठ शरीर और ओजस्वी विचारों ने हर स्थान पर अपना प्रभाव दिखाया ।

राजनीति में उतरने के चार वर्ष बाद महाराष्ट्र में भयानक अकाल पड़ा । कोंकण प्रदेश की तो बड़ी बुरी दुर्दशा हुई, वहाँ की सारी हरियाली सूख गई और नदी-नाले भी जलकर भाप बन उड़ गये । आदमी और जानवर भूख के मारे मरने लगे । इस अकाल के साथ महामारी का प्रकोप भी हुआ और लोग गाँव छोड़कर भागने लगे । अंग्रेज सरकार ने जिन हरे-भरे प्रदेशों से अपने राजकोषों को खूब भरा था, इस विकट परिस्थिति में वहाँ की जनता की तकलीफों से मुँह फेर लिया । ऐसे समय में फड़के ने

जनता का आह्वान किया-“लोगों को भूखों मरते चुपचाप देखने वाली सरकार को हम कब तक स्वीकार करेंगे । मरना वैसे भी है तो क्यों न बहादुरी की मौत मरा जाय ।” इस आह्वान को सुनकर, मौत को सामने खड़ा देखते हुए भी लोग आँखें मूँदकर उसे झुठलाने की कोशिश करने लगे ।

आह्वान को सुना वहाँ की मूल निवासी जातियों ने जिन्हें रोमोशि, धनगर और मांग कहा जाता है । इनके स्वभाव और पेशे का जिक्र आरंभ में कुछांश किया जा चुका है । फड़के ने उन्हें अपने साथ लिया और बताया कि हम पेट पालने के लिए, सबकी पीर हरने के लिए, सरकार को लूटेंगे और उस यहाँ से उखाड़ेंगे ताकि हम सब इज्जत की जिन्दगी बसर कर सकें । फड़के का उन पर प्रभाव तो था ही । अतः उन्होंने दो सौ हट्टे-कट्टे जवानों को चुना और एक सैनिक दल बनाया । इन दो सौ जवानों को भाले और तलवार के साथ बन्दूक चलाने का भी प्रशिक्षण दिया गया । २१ फरवरी, १८७९ को एक प्रकार से उन्होंने परिवार से संन्यास ले लिया और पत्नी को घर भेजकर एक गाँव के पास गुफा में जाकर रहने लगे । अब आगे का कार्यक्रम तय किया गया । उन लोगों को लूटना जिन्होंने अंग्रेजों की कृपा दृष्टि से गरीब जनता का खून चूस-चूस कर अपनी तिजोरियाँ भरी हैं । इस लूट से गुरिल्ला टुकडियों के खर्च की व्यवस्था भी बनाई जाती और सैनिकों को आधुनिक शस्त्रास्त्रों से लैस करने का प्रबन्ध भी किया जाता । यह दल एकदम इतना सक्रिय हो गया कि महीने भर के अन्दर इसने कई गाँवों में जमींदारों शोषणकर्ताओं को लूटा, यही नहीं पुलिस थानों को भी नहीं बख्शा ।

सेना और पुलिस चौकन्नी हो गई । इधर फड़के ने पूना का सरकारी खजाना लूटने की योजना बनाई । लोग तो समझ रहे थे कि ये साधारण डकैत होंगे पर जब फड़के ने अपने घोषणा पत्र का सार्वजनिक प्रकाशन किया तो जनता दंग रह गई और सरकार भयभीत हो उठी । इस घोषणा पत्र में गुरिल्ला लड़ाई द्वारा अंग्रेजी सरकार को भारत से खदेड़ने तथा क्रान्तिकारी सरकार बनाने का विचार दर्शन और कार्यक्रम था । पुलिस अधिकारियों ने फड़के को गिरफ्तार करने तथा उनकी टुकड़ी को नष्ट करने का अभियान एक होशियार मेजर डेनियल को सौंपा । डेनियल अपने साथ के सैनिक लेकर कोंकण प्रदेश के गाँव-गाँव में फैल गये और वहाँ के निवासियों को तंग करने लगे ।

पुलिस और सेना ने फड़के को जीवित या मृत पकड़ने वाले के लिए इनाम का इश्तहार छापकर गाँव-गाँव में चिपकाया और वहाँ पर अपने तम्बू ताने । पर उन्हें यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि दो चार दिनों बाद ही

फड़के की क्रांतिकारी सरकार ने बम्बई के गवर्नर, पूना के मैजिस्ट्रेट, सेशन जज और अन्य अंग्रेज पुलिस अधिकारियों के सर काट कर लाने वालों के लिए इनाम की घोषणा के इशतहार उन सभी गाँवों में चिपकवा दिये।

किसी प्रकार मेजर डेनियल को यह पता लग गया कि फड़के तथा उनके साथी तुलसी की घाटी में हैं। मेजर ने अपने विश्वसनीय जाँबाज सैनिकों को लेकर तुलसी घाटी को घेरा। फड़के तथा उनके साथियों को जैसे ही पता चला उन्होंने मुठभेड़ की और डेनियल को पीछे हटना पड़ा। उसने कई बार प्रयत्न किए पर सफलता नहीं मिली। गुरिल्ला-दल के पास सीमित मात्रा में ही मैगजीन हुआ करती थी। अतः लम्बे संघर्ष में दुर्भाग्यवश वह समाप्त हो गई और इस बार फड़के के साथियों को पीछे हटना पड़ा। इसके बाद फड़के कुछ समय तक शान्त रहे क्योंकि उनकी शक्ति का काफी हास हुआ था। इस शान्तिकाल में उन्होंने अपनी सेना का पुनर्गठन किया और पुनः सक्रिय हो गये। पुलिस और सेना को थोड़ा चैन मिला था कि फिर उसकी नींद हराम हो गई और मेजर डेनियल को ही फड़के से निबटने का दायित्व सौंपा गया।

२० जुलाई, १८७९ की रात। फड़के एक बौद्ध मठ में विश्राम कर रहे थे। किसी प्रकार डेनियल को इसका पता चल गया और उसने फड़के को जाकर गिरफ्तार कर लिया। उन पर देशद्रोह का मुकदमा चला, मृत्यु दण्ड की संभावना थी पर एक विख्यात वकील महादेव आटे ने उनकी पैरवी कर मृत्यु दण्ड को काले पानी में बदलवा दिया। वहाँ भी उन्होंने जेल से भागने का प्रयास किया परन्तु असफल रहे। वहाँ कुछ दिनों बाद उन्हें क्षय रोग हो गया और १७ फरवरी, १८८३ को सशस्त्र क्रान्ति का यह प्रथम नायक सदा के लिए सो गया।

महान जनसेवक—

लाला लाजपतराय

जन-कल्याण और देशहित में अपना सर्वस्व बलिदान कर देने वाले महान पुरुषों में पंजाब केसरी लाला लाजपतराय का एक विशिष्ट स्थान है। लाला लाजपतराय एक निर्धन परिवार के व्यक्ति थे। किन्तु आगे चलकर अपने अध्यवसाय के बल पर उन्होंने विद्या प्राप्त की, एक सफल वकील बने और खूब धन कमाया। लेकिन बाद में उन्होंने अपनी सारी विद्या, बुद्धि और सम्पत्ति देश-जाति के जागरण में ही लगा दी। अपने व्यक्तिगत जीवन में वे सदा सादे और सामान्य ढंग से ही रहते रहे। सारे सुखों और

सारी सम्भावनाओं को छोड़ वे आजीवन देश-धर्म की सेवा करते रहे और अन्त में स्वाधीनता के प्रयत्न में उन्होंने अपने प्राण तक उत्सर्ग कर दिये। लाला लाजपतराय का त्याग, बलिदान और जन-सेवा के कार्य सदा-सर्वदा स्मरणीय बने रहेंगे।

काँग्रेस के माध्यम से देश की सेवा करने के अतिरिक्त लाला लाजपतराय ने जनहित की अन्य और भी दिशाओं में अपनी सेवायें समर्पित की हैं। पंजाब डी. ए. वी. कॉलेज और उसकी शाखा-प्रशाखाओं के विस्तार में लाला लाजपतराय का प्रमुख हाथ रहा है। उन्होंने प्राथमिक शिक्षा का प्रसार करने के साथ-साथ एक राधाकृष्ण हाईस्कूल की स्थापना कराई और इन शिक्षा-संस्थाओं में अवैतनिक अध्यापन कार्य भी किया।

सामान्य शिक्षा प्रसार के साथ-साथ उन्होंने स्त्रियों और अछूत बालकों के लिए भी अनेक पाठशालाएँ स्थापित कराई और उनका व्यय भी अपने पास से दिया। अछूतों के उद्धार और सुधार के लिए उन्होंने न केवल प्रचार ही किया बल्कि चालीस हजार रुपये नकद अनुदान देकर अपनी सच्ची सेवा भावना प्रकट की। उन्होंने एक अखिल भारतीय अछूतोंद्वारा कमेटी बनाई और उसके कार्यकर्ताओं की सहायता से अछूतों की सेवा के कार्यक्रम चलाये। गुरुकुल काँगड़ी में अछूतों का एक अखिल भारतीय सम्मेलन बुलाकर उनकी समस्याओं पर विचार किया।

काँग्रेस द्वारा हिन्दू हितों की रक्षा न होते देखकर लाला लाजपतराय ने हिन्दू महासभा की स्थापना की और बहुत समय तक उसकी अध्यक्षता करते रहे। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'पंजाब शिक्षा संघ, तिलक स्कूल आफ पालिटिक्स' आदि संस्थाओं की भी स्थापना की। जिस समय वे काँग्रेस मिशन पर इंग्लैण्ड गये उस समय उन्होंने योरोप के अन्य देशों में भारतीय हित का प्रचार करने के साथ-साथ 'इण्डियन इन्फारमेशन ब्यूरो' की स्थापना की और 'यंग इण्डिया' एवं 'पोलिटिकल फ्यूचर ऑफ इण्डिया' आदि अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं।

लाला लाजपतराय ने भारतीय स्वतन्त्रता के हित में असहयोग, स्वदेशी, बहिष्कार आदि सभी आन्दोलनों में भाग लिया, जिसके कारण उन्हें न केवल देश की जेलों में वर्षों तक यातना सहनी पड़ी अपितु देश निकाला पाकर मांडले की नारकीय जेलों में रहना पड़ा।

बंग-भंग आन्दोलन के समय लाला लाजपतराय ने अपने प्रचार द्वारा सारे देश में आग ही लगा दी और उसके बाद तो साइमन कमीशन के बहिष्कार आन्दोलन में उन्होंने पुलिस की लाठियों का लक्ष्य बनकर अपने प्राण ही दे दिये।

इस प्रकार देश-जाति के हित में अपना जीवन और प्राण उत्सर्ग करने वाले लाला लाजपतराय ने उत्तर भारत के अकाल, राजपूताना के दुर्भिक्ष और काँगड़ा के भूकम्प के समय जो सेवाएँ कीं उसके लिए तो शत्रु सरकार ने भी उनकी प्रशंसा की थी। उन्होंने आपत्ति पीड़ितों की सेवा-सहायता में दिन-रात एक कर दिया और तब तक चैन की श्वास न ली जब तक जनता का कष्ट दूर न हो गया। इस प्रकार जनसेवा में अपना सर्वस्व दे देने वाले लाला लाजपतराय हमारी सबकी श्रद्धा के पात्र हैं।

स्वतंत्रता संग्राम का नन्हा सैनिक -

योगेन्द्रनाथ

‘हिन्दुस्तान रिपब्लिकन पार्टी’ की चटगाँव शाखा ने स्थानीय शास्त्रागार पर आक्रमण करने व उस पर अधिकार करके चटगाँव में एक ऐसा शौर्यपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करने की योजना बनाई जिससे स्वतंत्रता आन्दोलन को बल मिले, अंग्रेज भयभीत हों और दूसरे क्रान्तिकारियों के हौसले बुलन्द हो जायें।

दल के सबसे छोटे किन्तु सक्रिय सदस्य योगेन्द्र का उस अभियान में भाग लेने वाले सदस्यों में नाम नहीं था। उसे यह जानकर बड़ा दुःख हुआ। उसे कम आयु का समझकर दल के नेता सूर्यसेन जिन्हें दल के लोग ‘मास्टर दा’ के नाम से पुकारते थे, ने उसे जान पर खेलने वाले काम के उपयुक्त न समझा था। मास्टर दा ने यह निर्णय सोच-समझकर ही किया था किन्तु योगेन्द्र यह कब समझता था। देशप्रेम की चारुणी पीकर उसकी रक्त वाहिनियों में जो प्वाह आयु परिपक्व होने के पूर्व ही उठ खड़ा हुआ था वह भला कब रुकने वाला था। उससे यह निर्णय अपनी निष्ठा का-भावना का अपमान लग रहा था। उसने निश्चय कर लिया कि वह भी इस अभियान में भाग लेगा।

योगेन्द्र की उम्र भी क्या थी। अभी उसे चौदहवाँ वर्ष लगा था। स्थानीय हाईस्कूल में वह नवीं कक्षा में पढ़ता था। बाल सुलभ चंचलता और हठ अभी गया नहीं था। किन्तु वह इस आयु में भी पूरा निडर, निर्भीक था। उसी कारण उसे जरा-सी चूक पर जान से हाथ धो बैठने वाला यह अभियान भी एक खेल ही लग रहा था जो खिलाड़ियों की पिस्तौलों-बन्दूकों से नहीं सच्ची पिस्तौलों व बन्दूकों से खेला जाने वाला था।

वह अपने दल में ‘टेगरा’ के नाम से जाना जाता था। उसकी अल्पायु और नटखटपन के कारण दल के अन्य सदस्यों ने उसे यह नाम दे दिया था। यों दल के सदस्य अनन्तसिंह, गणेश घोष, अम्बिका चक्रवर्ती, लोकनाथ, प्रीतिलता, कल्पना दत्त आदि सब किशोर ही थे। दल के

नेता सूर्यसेन को छोड़कर शेष की आयु १७-१८ वर्ष के आसपास ही थी। वह सबसे कम आयु का था।

बालकों को जैसा वातावरण मिलता है, वे वैसा ही बन जाते हैं। बंग भूमि इन दिनों क्रान्तिकारियों की भरपूर फसल उगा रही थी। उसके बड़े भाई परिवार का खर्च चलाने के लिए व्यवसाय करते थे। मंझले लोकनाथ क्रान्ति दल के मुख्य सदस्य थे। उन्हीं का अनुकरण वह भी कर रहा था ऐसी स्थिति में वह अपने आपको देश का नन्हा सिपाही समझने लगा और उसके हृदय में अपने आपको आजादी के लिए न्यौछावर करने की उमंगें उठने लगीं तो आश्चर्य की बात ही क्या? इस आयु में व्यक्तित्व का जितना निर्माण होता है उतना फिर नहीं। अतः राष्ट्र निर्माण व समाज के निर्माण का आधार नयी पौध से ही आरम्भ होना चाहिए। इसके लिए पारिवारिक वातावरण को वैसा बनाना भी आवश्यक होता है।

योगेन्द्र के भाई लोकनाथ का नाम अभियान दल में भाग लेने वालों में से था। अतः वह अपने भाई की निगरानी करने लगा। लोकनाथ निश्चित समय पर योजना के कार्यान्वयन के लिए चला तो योगेन्द्र भी उसके पीछे चल दिया। वे लोग कांग्रेस हाउस में एकत्रित हुए जहाँ मास्टर दा ने उन्हें भावी युद्ध सम्बन्धी निर्देश दिये। उन्हें टेगरा को वहाँ आया देखकर वे कुछ देर तक सोच में पड़ गये, उसे साथ ले जायें या न ले जायें। अन्त में उसे वापस भेजना खतरनाक समझकर साथ लेना ही उचित समझा गया क्योंकि बालक की भावनाओं पर चोट पड़ने पर वह अपने अपरिपक्व मस्तिष्क से जाने क्या प्रतिक्रिया कर बैठे। इस प्रकार योगेन्द्र भी उस अभियान में सम्मिलित कर लिया गया। उसे लूटे हुए हथियार समेटने का काम सौंपा गया।

सत्तर क्रान्तिकारियों के इस दल में जिसमें अधिकांश अल्पवयस्क ही थे, ने चटगाँव के शास्त्रागार पर आक्रमण कर दिया। चार दलों में बँटकर वे अपनी योजना को मूर्तरूप देने लगे। लोकनाथ, निर्बल सेन, गणेश घोष तथा अम्बिका चक्रवर्ती वे अपने-अपने दल के नायक थे। १८ अप्रैल, १९३० को अल्प संख्या में होते हुए भी थोड़े से हथियारों से लैस इन क्रान्तिकारियों ने चटगाँव शास्त्रागार पर अधिकार कर लिया। अंग्रेज सरकार के हथियारबन्द प्रशिक्षित सैनिक इनके आगे हार गये क्योंकि एक ओर वेतन भोगी रक्षक थे तो दूसरी ओर सिर पर कफन बाँध कर निकले देशभक्त।

शास्त्रागार पर अधिकार करने के पश्चात् क्रान्तिकारियों ने रेल, डाक, तार, टेलीफोन व्यवस्था भंग कर चटगाँव का शेष भारत से सम्बन्ध तोड़ दिया। अब चटगाँव अंग्रेजों के आधिपत्य से बाहर था। वहाँ क्रान्तिकारी दल का अधिकार था।

अंग्रेज सरकार के अधिकारियों को जब इस बात की सूचना मिली तो वे हतप्रभ रह गये । सारे देश में तहलका मच गया । शस्त्रागार में जितने हथियार क्रान्तिकारियों के काम लायक थे वे उन्हें ले गये और शेष गोला, बारूद को उन्होंने आग के भेंट कर दिया । ब्रिटिश सरकार ने चटगाँव उनसे वापस लेने के लिए एक बड़ी सेना भेजी ।

इतनी बड़ी सेना से जूझने के क्रान्तिकारियों ने उपयुक्त स्थान जलालाबाद की पहाड़ियों पर मोर्चा लगाया। ब्रिटिश सेना ने जलालाबाद की पहाड़ियों को घेर लिया। क्रान्तिकारी इसके लिए तैयार ही थे । २२ अप्रैल, १९३० के दिन वह ऐतिहासिक युद्ध हुआ जिसमें योगेन्द्र की अपनी मनोकामना पूर्ण हुई, बड़ा ही विषम संग्राम था । एक ओर मुट्ठी भर युवक और दूसरी ओर ब्रिटिश सेना के खूँखार अंग्रेज सिपाही । फिर भी जमकर युद्ध हुआ । क्रान्तिकारी एक-एक करके धराशायी होते जा रहे थे । पहले ही दौर में योगेन्द्र को गोली लग गई । फिर भी उसने न होश खोया न साहस । वह चौदह वर्ष का किशोर रायफल कन्धा से अड़ाये मोर्चे पर डटा रहा। अपने साथियों का सफाया होते देखकर क्रान्तिकारी एक-एक करके क्रान्ति की वज्ही को और भी उग्र करने के लिए सुरक्षित स्थल की ओर खिसकने लगे । जो लोग घायल थे वे मोर्चे पर डटे रहे । योगेन्द्र के घाव से बराबर रक्त रिस रहा था फिर भी वह गोलियाँ चलाता ही रहा । अन्त में जब डटे हुए घायल लोग भी बच निकलने के लिए पीछे हटने लगे तब तक घायल योगेन्द्र में उठने की शक्ति भी नहीं थी । अतः वह मोर्चे पर ही डटा रहा और उसने उस आजादी की भावना को प्रज्वलित रखने के लिए अपनी बलि दे दी जो मनुष्य का प्रथम अधिकार है ।

उस युद्ध में कितने ही क्रान्तिकारी मारे गये थे । उनसे दुगने फौजी सिपाही मरे थे । बहुत अधिक रक्त बह जाने के कारण अपने अन्तिम क्षणों में योगेन्द्र को जोरों की प्यास लग आई थी । वह अपने भाई से पानी माँगने को ही था कि उसे अपने 'मास्टर दा' की वह बात याद आ गई- "क्रान्तिकारी को किसी प्रकार की कमजोरी नहीं दिखानी चाहिए ।" और वह चुप लगा गया ।

मातृभूमि का वह नन्हा वीर सिपाही मरकर अमर हो गया । उसका यह बलिदानी जीवन किशोरों, युवकों को बताता है कि देश और समाज की भीषणतम समस्याओं से जूझने के लिए उन्हें सभी प्रकार के बलिदान देने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए। राजनैतिक स्वतंत्रता भारत पा चुका है किन्तु अभी

आर्थिक, नैतिक, बौद्धिक स्वतंत्रता के लिए देश को ऐसे कितने ही सिपाही चाहिए ।

अत्याचार से लड़ने वाले-

चाफेकर बन्धु

सन् १९०७ में पूना में प्लेग महामारी का भयंकर प्रकोप हुआ । देखते ही देखते हजारों मरने लगे । उन्हें जलाने तथा गाढ़ने के लिए आदमी तक नहीं मिलते थे ।

पहले तो अंग्रेज शासनकर्त्ताओं ने इस ओर कोई ध्यान न दिया । जब यह भीषण रूप धारण कर गई तो उन्होंने जनता को झूठी दिलासा देने के लिये एक प्लेग निवारक समिति का गठन किया । इस समिति का अध्यक्ष बनाया गया एक अंग्रेज अफसर वाल्टर रेण्ड को । यह व्यक्ति भारतीय जनता के प्रति दुर्व्यवहार करने में पहले ही से कुख्यात था । प्लेग निवारक समिति का तो एक नाम था । रेण्ड को अपनी निर्दयता दिखाने का एक और अवसर मिला। वह स्वयं सैनिकों की टोली के साथ नगर में भ्रमण करता तथा लोगों के घर में घुसकर हर किसी को पकड़ कर अस्पताल भेज देता । रोगियों को घर वालों की सेवा से वंचित कर उन्हें अस्पताल में डलवा देता । वहाँ न तो कोई उपचार होता न सेवा-सुश्रूषा ही । परिणाम यह होता कि वे समय से पहले ही मर जाते । रेण्ड जैसे निरंकुश, निर्दय नर-पशु के नेतृत्व में अंग्रेज सिपाहियों को मनमानी करने का अवसर मिला । उन्होंने प्लेग निवारण के नाम पर सैकड़ों घरों को लूटा, लोगों को पीटा तथा स्त्रियों से दुर्व्यवहार किया ।

इस खुले अनाचार और निरंकुशता से भारतीय जनता में बहुत रोष फैला। नवयुवकों का खून खौलने लगा । मुट्ठी भर विदेशी हमारे देश में मनमाना अत्याचार करते रहें और वे कान में तेल डाले बैठे रहें यह कैसे सम्भव था आतताई चाहे कितना ही समर्थ क्यों न हो उसका प्रतिकार करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है । नवयुवकों का एक संगठन इस दुर्व्यवहार का बदला लेने के लिए गठित किया गया । इस संगठन के प्राण थे दामोदर, बालकृष्ण तथा वसुदेव चाफेकर ।

ये तीनों भाई पूना के पास चिंचवाडू ग्राम के हरिभाऊ नामक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण के पुत्र थे । तीनों भाइयों में अपूर्व स्नेह था । सन् १८८३ में आजादी के महान बलिदानी वासुदेव बलवन्त फडके का अंग्रेजी जेल में अमानवीय अत्याचार सहते हुए देहान्त हो गया । इन तीनों भाइयों को इस बलिदान से इसी राह पर चलने की प्रेरणा मिली ।

सन् १८५७ की क्रान्ति के असफल हो जाने तथा क्रान्तिकारियों के साथ किए हुए दुर्व्यवहार तथा

हत्याकाण्ड को देखकर जनता काँप उठी थी। लोगों ने अंग्रेजी शासन को मिटना असम्भव मान लिया था। फड़के के प्रयास तथा बलिदान से लोगों में नया उत्साह जागा था।

चाफेकर बन्धुओं ने एक मत होकर अपनी आहुति राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के यज्ञ में देने का संकल्प कर लिया। उन्होंने बचपन में जो धार्मिक ग्रन्थ पढ़े थे उससे उनके हृदय में देशप्रेम की ज्वाला जलने लगी थी, फड़के के बलिदान ने उसमें बी डाला। रही सही कमी रेण्ड के कुकृत्यों ने पूरी कर दी। अब ये अपना सब काम छोड़कर युवकों का एक संगठन बनाने में लग गए। करीब ३०० युवक इस संगठन के सदस्य बने।

दामोदर पन्त चाफेकर, जो सब में बड़े थे, उन्होंने देखा कि इस छोटे से संगठन से तो इतनी बड़ी हुकूमत से नहीं लड़ा जा सकता है। इसके लिए सेना का सहयोग मिल जाय तो हम सफल हो सकते हैं। उसने सेना में भर्ती होने का प्रयास किया। वह इसमें सफल नहीं हो सका। नर-केसरी फड़के ने अपने थोड़े से साथियों के साथ ही अंग्रेजों को नाकों चने चबवा दिये थे, इस कारण मराठों को सेना में भर्ती करने के पहले पूरी जाँच-पड़ताल होती थी। दामोदर पन्त को सेना में स्थान नहीं मिला।

लोकमान्य तिलक 'मराठा' व 'केसरी' के माध्यम से अंग्रेजी शासन को बुरी तरह लताड़ रहे थे। जनता में भी कुछ करने की हिम्मत आने लगी थी। १२ जून को शिवाजी की वर्षगांठ पर विठ्ठल मन्दिर पर हुई सभा में लोकमान्य तिलक ने रेण्ड के अत्याचारों की तीव्र भर्त्सना की। उनका भाषण सुनने के लिए यह युवक मण्डली भी उपस्थित थी। दामोदर चाफेकर ने भी उस सभा में भाषण दिया। तिलक ने देखा कि इसके हृदय में देशप्रेम की आग जल रही है। यह युवक कुछ करने का साहस रखता है। सभा की समाप्ति पर तिलक ने दामोदर पन्त को लक्ष्य करके कहा- 'पूना के लोगों में पुरुषत्व है ही नहीं अन्यथा रेण्ड की क्या मजाल थी कि हमारे घरों में घुस जाय।' दामोदर को यह बात लग गई। वह रेण्ड का नाम ही धरती से मिटाने को तुल गया।

चाफेकर बन्धु उन लोगों में से नहीं थे जो जमाने की हॉ में हॉ मिलाकर अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति करते हैं तथा अन्याय को आश्रय देते हैं। वह जमाने को बदलने वालों में से थे। पहले भी इन लोगों ने बम्बई में पहरों के बीच विक्टोरिया की प्रतिमा को कोलतार पोत करके जन-जाग्रति से अंग्रेजों को अवगत कराया था।

चाफेकर बन्धु रेण्ड को दण्ड देने के लिए कटिबद्ध थे। दामोदर ने गोली चलाने का भार अपने पर लिया

और बालकृष्ण व वसुदेव को सूचना देने के लिये गुप्तचरी का काम सौंपा गया। ये लोग इसी ताक में रहने लगे कि कब अवसर हाथ लगे और रेण्ड को मारा जाय।

रेण्ड को इसकी भनक पड़ चुकी थी। उसने अपना निवास बदल दिया था। एक सरकारी अफसर और इन साधनहीन अल्प वयस्क युवकों का मुकाबला था। उसके भेदिये यत्र-तत्र फैले हुए थे और इनको कदम-कदम पर विश्वासघात का धोखा था। सहयोग की आशा सँजोये हाथ पर हाथ रखे बैठे रहे तो जीवन बीत जायेगा और कुछ होगा नहीं। यह सोचकर इन थोड़े से नवयुवकों ने ही अपने देश और जाति के गौरव को कलंकित करने वाले रेण्ड को दण्ड देने के लिए जान हथेली पर रख ली।

२२ जून को विक्टोरिया की हीरक जयन्ती मनाने के लिये शहर में एक विशेष समारोह आयोजित किया गया। समारोह से लौटते हुए रेण्ड तथा डोवर शायर एवं रेजीमेण्ट के लेफ्टीनेण्ट चार्ल्स इगर्टन दामोदर चाफेकर की गोली के शिकार हुए। आतताइयों को दण्ड देने वालों के इतिहास में एक पृष्ठ और जुड़ गया।

इस काण्ड को सुनकर अंग्रेज बौखला गये समारोह का सारा रंग धुल-पूँछ गया। भारतीय जनता में उत्साह की एक लहर दौड़ गई। मारने वाले की खोज होने लगी बीस हजार रुपये के लोभ में इनके ही दल के एक युवक ने इन्हें पकड़वा दिया।

इन पर मुकदमा चला। दामोदर ने अपराध स्वीकार कर लिया। इन्हें फाँसी की सजा दी गई। फाँसी के फन्दे को चूमते समय इनकी आयु केवल २७ वर्ष की थी। विवाहित पत्नी तथा एक पुत्र को छोड़कर यह देशभक्त हँसते-हँसते अपने देश पर निष्ठावर हो गया।

बालकृष्ण व वसुदेव ने दामोदर को पकड़वाने वाले गणेश शंकर त्रिविड़ तथा उसके अन्य दो विश्वासघाती साथियों को अपने इस कुकर्म का फल भुगता दिया। वे भी इनकी गोली का शिकार होकर रेण्ड के पथ के पथिक बने। देशद्रोहियों को दण्ड देने के बाद इन्होंने स्वयं को पुलिस के हवाले कर दिया। इन पर हत्या का मुकदमा चला और इन्हें भी फाँसी की सजा हुई।

चाफेकर बन्धुओं के बलिदान के दूरगामी परिणाम हुए। जनता में विश्वास जागा, विदेशी अत्याचारियों से लड़ने की प्रेरणा मिली, बलिदानों की परम्परा चलती ही रही। विवश होकर अंग्रेजों को भागना पड़ा। ऐसे वीरों का बलिदान नित्य पथ पर बढ़ने की प्रेरणा देता रहेगा और इस पथ के राही आदर्शों के लिए जान पर खेलते रहेंगे।

मातृभूमि पर सर्वस्व निछावर करने वाले—

रोशनलाल मेहरा

‘मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए न जाने कितने लोग सुख-सुविधाओं को ठोकर मारकर मृत्यु को गले लगा रहे हैं। मुझे और मेरे परिवार को भी इस पुनीत कर्म में योगदान देना चाहिए। देश के लिए कुछ न कर पाये तो हमारा जीवन व्यर्थ है।’ ये विचार श्रीमती ललिता देवी के मन को निरन्तर मथा करते थे। परन्तु यति तो बस अपनी कपड़ों की दुकान में ही मग्न थे। उन्हें देशहित जैसे कार्यों में कोई रुचि न थी। ‘रामजी लाभ दें’ इसी में वे अपने जीवन की सार्थकता मानते थे।

पति परिवार का भरण-पोषण कर ही रहे हैं, मुझे अपनी शक्ति का सदुपयोग स्वतंत्रता संग्राम में करना चाहिए, यह सोचकर उन्होंने क्रान्तिकारियों से सम्पर्क बनाना प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे बंगाल की क्रान्तिकारी संस्था ‘अनुशीलन-समिति’ से उनके सम्बन्ध घनिष्ठ होते गये। वे क्रान्तिकारियों को जी खोल कर आर्थिक सहायता दिया करती थीं तथा अन्य विविध प्रकार से उनके कार्यों में सहयोग देती थीं।

एक बार श्रीमती ललिता देवी आसन्न प्रसवा थीं। उन्होंने निश्चय किया कि पुत्र हो या पुत्री उसे देश रक्षा के लिए दे देंगी। ‘गर्भावस्था में माता के आचार-विचारों का गर्भस्थ शिशु पर पूरा-पूरा प्रभाव पड़ता है’ यह वे भली-भाँति जानती थीं। मदालसा का उदाहरण उनके सम्मुख था। इन्होंने इस पूरी अवधि में निरन्तर क्रान्तिकारी साहित्य तथा भारत की वीर गाथाएँ पढ़ीं। माता का अभिप्राय जन्म से पूर्व ही शिशु पर वीरता और साहस के संस्कार डालना था।

सम्बत् १९७१ अगहन सुदी पूर्णमासी को उन्होंने सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। नाम रखा गया—रोशनलाल। बड़ा होकर यह बालक सचमुच माँ के नाम को—भारतमाता के वीर सुपुत्रों के नाम को ‘रोशन’ करने वाला ही निकला।

माता ने इनके मन में शौर्य, पराक्रम और अन्याय के प्रति विद्रोह की भावना बचपन में ही भर दी थी। वे क्रान्तिकारी शहीदों की जानकारीयें सहज सुबोध कथाओं के रूप में बालक रोशनलाल को सुनातीं और पूछती—‘क्या तू भी इन जैसा बनेगा?’ छोटा बालक सीना तानकर कहता ‘हाँ’ और फिर सोचते-सोचते माता के आँचल में सो जाता।

धीरे-धीरे रोशनलाल बड़े होते गये। उन्होंने हाई-स्कूल तक शिक्षा प्राप्त की। अंग्रेज ‘काले गुलाम’ बनाने की शिक्षा प्रणाली ही देश में विकसित कर रहे थे। अतएव उन्हें ऐसी शिक्षा के प्रति अरुचि उत्पन्न हो गई, और आगे की शिक्षा उन्होंने छोड़ दी।

इसी मध्य सन् १९२८ में माता का स्वर्गवास हो गया। मरते समय भी उन्होंने पुत्र को आदेश दिया कि वह पूरी तरह से स्वयं को देश की रक्षा के लिए समर्पित कर दे। जननी की इच्छा पूरी करने के लिए वह १५ वर्षीय किशोर पूरी तरह से जुट पड़ा।

१९३० में रोशनलाल क्रान्तिकारी पार्टी के सक्रिय सदस्य बन गये। यद्यपि वे अमृतसर में रहते थे तथापि पंजाब, उत्तर प्रदेश, बंगाल आदि के क्रान्तिकारियों से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखते थे।

उन दिनों सरकार तथा पुलिस जनता पर बड़ा अत्याचार करती थी। यदि उसे यह पता लग जाता कि अमुक व्यक्ति क्रान्तिकारी दल या देश की स्वतंत्रता के लिए प्रयत्नशील अन्य किसी दल से सम्बन्धित है, तो उसके पीछे निरन्तर जासूस लगे रहते थे और किसी न किसी बहाने से जेल में बन्द करा देते थे। स्वतन्त्रता संग्राम से सम्बन्धित किसी भी गोष्ठी, किसी भी समिति के विरुद्ध कड़ी से कड़ी कार्यवाही की जाती थी। अतएव क्रान्तिकारी संगठन सरकार की आँखों में धूल झाँक कर गुप्त रूप से ही अपनी गोष्ठियाँ किया करते थे।

श्री रोशनलाल ने भी उपर्युक्त मार्ग को अपनाया। उन्होंने संगठन का कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए एक मकान किराये पर लिया। यों सामान्यतः देखने पर यह विद्यालय जैसा लगता था, परन्तु वास्तव में यह क्रान्तिकारियों का गुप्त अड्डा था। उनके विविध कार्यों की रूपरेखा यहीं तैयार होती थी।

१९३०-१९३१ के असहयोग आन्दोलन के समय अमृतसर की कोतवाली काँग्रेस सत्याग्रहियों पर निरन्तर कहर डा रही थी। अपने भाइयों पर होता अन्याय, अत्याचार देखकर रोशनलाल से रहा न गया और उन्होंने सर्वसम्मति से कोतवाली पर बम फेंकने का निर्णय पास कराया। वे बर्बर अधिकारियों को सचेत करना चाहते थे कि हम खून का बदला खून से लेना भी जानते हैं। रोशन ने अपने साथी उमाशंकर की सहायता से बम फेंका जिससे कोतवाली को काफी हानि हुई। पुलिस पता-लगाकर थक गई कि ऐसा दुस्साहस करने वाला, जान-बूझकर मौत की कामना करने वाला आखिर कौन है, परन्तु असफल ही रही।

श्री रोशनलाल मेहरा ने अपनी विचारशीलता से समय-समय पर दल को लाभान्वित कराया। क्रान्तिकारियों को धन की आवश्यकता होती थी तो वे

डकैती डाल लिया करते थे । रोशनलाल व्यक्तिगत घरों पर डकैतियों के सख्त विरोधी थे । उनका मत था कि इससे जनता का अहित तो होता ही है साथ ही संगठन को भी विशेष लाभ नहीं होता । धन तो पर्याप्त रूप में मिल नहीं पाता—हाँ पुलिस से मुठभेड़ का डर अवश्य रहता है । इस कार्य में दल के कुछ साथी भी खोने पड़ते हैं । अतएव उन्होंने साथियों को यह मंत्रणा दी कि भविष्य में न ही कोई डकैती डाले, न डकैती के कार्यों में सहयोग दे ।

उस समय लगभग पूरा भारतवर्ष में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह की व्यापक चिंगारी विद्यमान थी । तथापि कुछ एक प्रान्त बिल्कुल शान्त भी थे । रोशनलाल ने एक मीटिंग में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था कि मद्रास प्रान्त में लम्बे समय से कोई भी क्रान्तिकारी संगठन कार्य नहीं कर रहा है, फलतः वहाँ अंग्रेज शासक बड़े चैन और घमण्ड के साथ बार-बार यह घोषणा करते हैं कि उनके प्रान्त की जनता सबसे अधिक राजभक्त है । यह हमारे लिए चुनौती और लज्जा की बात है । अतएव शीघ्र ही मद्रास पहुँच वहाँ की सोई हुई जनता को जंगाना आवश्यक है । रोशनलाल की यह महत्वपूर्ण राय सर्वसम्पत्ति से स्वीकृति हुई । रोशनलाल सदैव-सदैव को अपना घर-परिवार छोड़कर शम्भुनाथ आजाद, सीतानाथ डे आदि कुछ साथियों के साथ मद्रास पहुँच गये ।

अंग्रेजों को यह बताने के लिए कि अब भारतवर्ष जाग उठा है और उनकी तानाशाही अधिक न चल पायेगी, इन्होंने मद्रास के गवर्नर पर बम फेंकने का निश्चय किया । उनके साथी ने सुझाव दिया कि बंगाल का गवर्नर भी वहीं आ रहा है अतएव दोनों पर एक साथ बम फेंके जायें ।

इसी मध्य इनके संगठन के पास धन की कमी हो गई । अन्य कोई व्यवस्था न हो पाने पर क्रान्तिकारियों ने ऊटी बैंक को लूटने का निश्चय किया तथापि रोशनलाल इसके पक्ष में न थे उनका कथन था कि यह कदम घातक है तथा उससे पुलिस को हमारे संगठन का पता चल जाने का भय है, पर धन का इतना अभाव था कि साथियों ने एक न सुनी और वे ऊटी के लिए रवाना हो गये ।

डकैती सम्पन्न तो हुई परन्तु शम्भुनाथ आजाद को छोड़कर अन्य लोग गिरफ्तार कर लिए गये । शम्भुनाथ रुपया लेकर मद्रास आ गये । रोशनलाल ने जब आजाद के साथियों की गिरफ्तारी का समाचार सुना तो उन्हें बड़ी ठेस पहुँची और उन्होंने सबसे पहले ऊटी काण्ड में गिरफ्तार साथियों को जेल से छुड़ाकर लाने का ही निश्चय किया ।

पुलिस के चंगुल से साथियों को छुड़ाकर लाना कोई साधारण कार्य न था । इसके लिए असीम साहस और अच्छे हथियारों की आवश्यकता थी । रोशनलाल ने बम बनाने का निश्चय किया । उन्होंने बम का मसाला तो बना

लिया । अब समस्या खड़ी हुई कि उसे प्रयोग करके कैसे देखा जाये क्योंकि मद्रास जैसे नये अपरिचित स्थान पर बम के खोल ढलवा पाना खतरे से खाली न था । अतएव चूड़ीदार मद्रासी लोटों को ही बम के खोल के रूप में प्रयोग करने का निश्चय किया गया ।

श्री रोशनलाल ने बम तैयार किया तथा मद्रास बन्दरगाह की पूर्वी दिशा में रामपुरम् क्षेत्र के समुद्र तट पर रात्रि के आठ बजे बम परीक्षण का निश्चय किया । घातकता के कारण वे यह प्रयोग किसी अन्य को करने देने को तैयार न थे । १ मई, १९३३ को रात्रि निश्चित समय पर रोशनलाल अपने साथियों के साथ समुद्र तट पर पहुँचे । सागर की उताल तरंगें भयंकर गर्जन कर रही थीं । कोई बाहर का व्यक्ति न आ जाय इस आशंका से दो साथी पश्चिमी दिशा में चौकसी करने लगे । भयंकर काली रात्रि में रोशनलाल हाथ में बम लिए समुद्र के किनारे बढ़ते ही जा रहे थे । सहसा एक ओर जोर का धमाका हुआ । पलभर को आकाश में बिजली-सी कौंध गई फिर चारों ओर धुआँ ही धुआँ छा गया ।

रोशनलाल के तीनों साथी उनके वापस लौटने की प्रतीक्षा कर रहे थे । भीषण विस्फोट की ध्वनि के कारण रामपुरम् क्षेत्र की जनता तथा पुलिस उस ओर दौड़ पड़ी थी । पूर्वी क्षेत्र पर तैनात साथी ने सोचा कि रोशनलाल पश्चिमी क्षेत्र की ओर गये होंगे । अतएव तीनों साथी घर लौट आये । लेकिन अब वे चार न थे । यह मालूम होते ही कि रोशनलाल वापस नहीं आये एक साथी श्री इन्द्रसिंह मुनि मद्रासी का छद्मवेश बनाकर घटनास्थल की ओर दौड़ गये ।

वहाँ उन्होंने बड़ा करुण दृश्य देखा । गिरजाघर के सामने पुलिस के सख्त पहरे में रोशनलाल का क्षतविक्षत शरीर पड़ा था । दाहिना हाथ शरीर से पृथक् हो चुका था । बम के टुकड़े शरीर में गहराई से प्रवेश कर गये थे तथा स्थान-स्थान से रक्त निकल रहा था । पुलिस के पहरे से लाना उन्हें सम्भव न जान पड़ा अत इन्द्रसिंह लौट आये ।

रोशनलाल की साँस अभी मन्द गति से चल रही थी । उन्हें मद्रास के सार्वजनिक अस्पताल में भेजा गया । एक-दो बार होश आने पर उन्होंने पानी माँगा पर अधिकारी यही कहते रहे कि पहले अपना और अपने मित्रों का पता बता दो तभी पानी देंगे । वह वीर पुरुष प्यास से तड़फता रहा, परन्तु मरते समय तक भी उसने संगठन का कोई भेद न दिया । रात्रि के बाहर बजे उनके प्राण-पखेरू उड़ गये ।

बाद में सरकारी रसायन विशेषज्ञ ने अपनी रिपोर्ट देते हुये कहा था कि संभवतः रोशनलाल का पैर फिसल गया और उनके गिरने से बम का विस्फोट हो गया ।

इस प्रकार रोशनलाल आजीवन मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील रहे। जब से वे क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हुए तभी से साधारण मोटे वस्त्र पहनना, मोटा भोजन खाना तथा भूमि पर सोना प्रारम्भ कर दिया। उनका कहना था- “गरीब भारत में हम क्रान्तिकारियों को उतना ही खाना-पहनना है जिसके बिना जीवित रहना संभव न हो।”

वस्तुतः कोई भी व्यक्ति हो, कोई भी संगठन हो, वह तभी सफल हो सकता है जब कि समय, शक्ति, चिन्तन, विचारधारा, कर्तृत्व सभी लक्ष्यपूर्ति में संयोजित कर दिए जायें। हर समय कार्यकर्ता के मन में ‘गरज’ की भाँति अपना उद्देश्य गूँजता रहे तथा ‘करना चाहिए’ के स्थान पर ‘किया है’ बताने को वह आतुर रहे।

अकेले एक मिशन-

पं० काशीराम जोशी

अम्बाला जिला (पंजाब) के गाँव मडौली कलाँ में आज एक बहार आ गई है। पंडित गंगाराम की चौपाल इस बहार से भर उठी है। हजारों नर-नारी यहाँ आ जुटे हैं। इस बहार का कारण था तेरह वर्ष से बिछुड़ा उनका बेटा काशीराम।

गाँव की गलियों में घूमते-खेलते फिरने वाले बालक काशी पटियाला के स्कूल से मैट्रिक पास करके नौकरी के लिए घूम-घूम कर जूतियों के तल्ले घिसा देने वाले काशी को आज तेरह वर्ष बाद गाँव के लोगों ने एक नये रूप में देखा। बचपन में जो कहता था- “मैं पढ़-लिखकर बड़ा आदमी बनूँगा। देश की सेवा करूँगा।” उसका यह अरमान पूरा हो चुका था। अमेरिका में उसका लाखों का व्यापार चलता था। यही नहीं सात समुद्र पार करके वह अपने देश को विदेशियों के पंजों से मुक्त कराने आया था। अकेला नहीं अपने कई साथियों के साथ एक सुनियोजित ढंग से विद्रोह करने के लिए आया था।

उसकी बोली से आग बरस रही थी- “भाइयो! गुलामी की जिन्दगी से इज्जत की मौत बेहतर है। भारत माँ आज विदेशी शासन में जकड़ी सिसक रही है। हमें उसे मुक्त कराने में जुट जाना है। यह वही पंजाब है जहाँ वीर नलवा और गुरु गोविन्दसिंह जन्मे थे। हकीकत और भाई मतिदास जैसे बलिदानी जन्मे थे। उन्हीं पाँच नदियों का अमृत हमने पिया है। हमें जीना है तो उसी शान के साथ जीना है नहीं तो उसी शान के साथ मर जाना है।

पिता, चाचा, भाई तथा बेटा आश्चर्य से इस आग के पुतले को देख रहे थे। जो कभी राख में दबा पड़ा था। जिसे कभी वे पहचान नहीं पाये थे आज वही धधक कर दावानल उपस्थित करने को तत्पर हो रहा था। वह

कहता जा रहा था- “इच्छा तो बहुत थी कि कुछ दिन यहाँ रहूँ, पर क्या करूँ, यहाँ जिस उद्देश्य से आया हूँ वह पहला कर्तव्य है। अब इजाजत दीजिए।”

यह क्या तेरह बरस में वापस आये और तीन बच्चे भी रुक नहीं सके। घर वालों की आँखों से आँसू बह निकले। नन्हें किशोर पुत्र के माथे पर हाथ फेर, चाचा तथा पिता के चरण स्पर्श करके यह आजादी का दीवाना चल पड़ा। अब वह पहले आजादी का सिपाही था, बाद में पिता-पुत्र तथा और कुछ। उसका कर्तव्य उसे एक रात भी अपने घर नहीं बिता पाने को विवश कर रहा था।

पं० काशीराम जोशी १८९९ में मैट्रिक पास करके अम्बाला में नौकरी करने लगे थे पर उन्हें इससे सन्तोष नहीं हो सका। वे हाँगकाँग चले गये। हाँगकाँग से वे अमेरिका चले गये। वहाँ ओरेगान स्टेट लकड़ी के व्यापार का केन्द्र थी। ओरेगान स्टेट के पोर्टलैण्ड नगर के समीप सेंट जान नामक कस्बे की एक आरा मिल में ये काम करने लगे। मजदूर से वे मेट बने और प्रगति करते हुए वे लकड़ी के नामी व्यापारी बन गये। इनका लाखों रुपयों का कारोबार चलने लगा।

जब उन्होंने पर्याप्त सम्पदा अर्जित कर ली तो उन्हें उसके सदुपयोग की फिक्र हुई। इस सम्पदा को अर्जित करने का प्रयोजन भी उनका यही था कि किसी महत्वपूर्ण कार्य में इसका उपयोग होगा। सम्पत्ति पर सौंप बनकर बैठने तथा उसे अपने तथा अपने परिवार तक ही सीमित रखने के छोटे दृष्टिकोण से वे सर्वथा मुक्त थे। उन्हीं दिनों इतिहास प्रसिद्ध क्रान्तिकारी सरदार अजीतसिंह इनके पास पहुँचे। सरदार जी को इनसे कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। गदर पार्टी को उन्होंने अपना तन-मन-धन सब समर्पित करने की घोषणा कर दी।

इनका सेंटजान का ठिकाना उसी दिन से राजनैतिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया। यहाँ प्रायः देशभक्तों की गोष्ठियाँ होने लगीं। सोहन सिंह मकना, हरनाम सिंह टुण्डी, उद्यम सिंह कसेल, रामरक्खा सड़ोआ आदि व्यक्ति एकत्रित होकर चर्चा करते तथा अपने देश भारत को राजनैतिक दासता से मुक्त कराने की योजनाएँ बनाते।

पण्डित जी ने अमेरिका में भारत की स्वतन्त्रता के लिए सहयोग देने वाले भारतीयों के ऐसे संगठन बनाने आरम्भ कर दिये। इन संगठनों के लिए विदेशों से तथा अमेरिका से प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं यथा ‘स्वदेश सेवक’, ‘परदेशी खालसा’, ‘फ्री हिन्दुस्तान’ आदि मँगाते। इन्हें पढ़कर लोगों में देश के प्रति उत्सर्ग के विचार पनपते। जापान से मौलवी बरकतुल्ला का साहित्य तथा योरोप से श्रीमती कामा का साहित्य भी उन्होंने मँगवा कर संगठनों में वितरित किया। इस प्रकार विचार-क्रान्ति का प्रथम अभियान चल पड़ा।

प्रथम विश्व युद्ध के आसार दिखाई पड़ने लगे थे । अब यह कोई सक्रिय कदम उठाना चाहते थे । इस स्वर्ण अवसर को हाथ से जाने देने के पक्ष में नहीं थे । भारत में एक सुनियोजित विद्रोह की रूपरेखा इनके मस्तिष्क में चक्कर काट रही थी। इसी का परिणाम गदर पार्टी के रूप में परिलक्षित हुआ । सन् १९१९ में पोर्टलैंड में भारतीयों की एक विशाल सभा बुलाई गई । इसमें 'हिन्दुस्तान एसोसिएशन ऑफ पैसिफिक कोस्ट' नामक संगठन का जन्म हुआ । पण्डित काशीराम को इसका कोषाध्यक्ष चुना गया । मन्त्री बने जी. डी. कुमार तथा अध्यक्ष सोहनसिंह मकना चुने गये ।

संगठन बनने की देर थी कि इसकी शाखाएँ खुलने लगीं । संगठन का काम आँधी-तूफान की गति से प्रगति करने लगा । २५ मार्च, १९१३ में लाला हरदयाल, पण्डित जी के निमंत्रण पर सेंट्रल आये । उन्होंने पण्डित जी के प्रयत्नों की सराहना की । पण्डित जी ने अपना सर्वस्व इस संगठन को समर्पित कर दिया था। अधिकांश खर्च पण्डित जी अपनी जेब से देते थे। पिरथी सिंह आजाद का कथन नितान्त सत्य है- "पण्डित जी स्वयं एक गदर पार्टी थे ।"

संघ का पत्र 'गदर' प्रकाशित होने लगा । सरदार अजीतसिंह तथा सरदार करतारसिंह सरावा उसमें काम करने लगे । पण्डित जी ने इस काम को हाथ में लिया तो पूरे मनोयोग से किया । सन् १९१४ में तो वे गदर पार्टी ही बनकर रह गये थे । उनकी सारी प्रतिभा इसी में नियोजित हो गई । इसी का यह परिणाम था कि अमेरिका के अंचल में बसे छः हजार भारतीयों में से पाँच हजार एक सूत्र में बँध गये ।

जुलाई, १९१४ में प्रथम विश्व युद्ध आरम्भ हो गया । गदर पार्टी जिस अवसर की ताक में थी, वह अवसर आ पहुँचा था । गदर पार्टी का अधिवेशन हुआ जिसमें पाँच हजार भारतीय एकत्रित हुए । 'करो या मरो' का निर्णय लिया गया । पार्टी के प्रमुख नेता भारत के लिए रवाना हो गये ।

इन लोगों में अपार जोश था । प्रत्येक व्यक्ति सबसे पहले भारत पहुँचने को उत्सुक था । अंग्रेजी सरकार इन गतिविधियों से बेखबर नहीं थी । न्याय को ताक पर रखकर उसने देश की धरती पर पाँव रखने के पहले ही अधिकांश गदर करने वालों को बन्दरगाहों पर ही बिना किसी अपराध के बन्दी बना लिया । इस गैर कानूनी हरकत का अनुमान तक इन्हें नहीं था । इस कुकृत्य से विश्व राजनीति में अंग्रेजों का मुँह काला हो गया ।

पण्डित काशीराम तथा करतार सिंह सरावा व्यापारी के रूप में पृथक्-पृथक् जहाजों से भारत पहुँचे । इन्हें

गिरफ्तार करने में विदेशी शासन सफल न हो सका । भारत आकर इन्होंने देखा कि यहाँ तो सारी योजना ही चौपट हो चुकी है । फिर भी उन्होंने धीरज नहीं छोड़ा । पार्टी के नेताओं का फिर से चुनाव किया गया । अपनी कम आयु के बावजूद भी संगठन कुशलता तथा परिस्थितियों के अनुरूप क्रिया-कलाप अपनाने में चतुर करतार सिंह सरावा को नेता बनाया गया ।

पहला कदम फौजी शस्त्रागार पर कब्जा करने का था । मियाँ मीर तथा फिरोजपुर छावनी के शस्त्रागारों पर अधिकार करने का काम पण्डितजी ने अपने लिये चुना । सभी क्रान्तिकारी २९ नवम्बर को फिरोजपुर नगर के बाहर जलालाबाद वाली सड़क पर एकत्रित हुए । इस दिन जिस व्यक्ति ने शस्त्रागार जुटाने का वादा किया था वह पूरा नहीं कर पाया । इस प्रकार यह काम कुछ दिनों के लिए टाल दिया गया ।

सभी व्यक्ति अपने-अपने स्थानों के लिए रवाना हुए । सब लोग ताँगों में सवार थे । शहर के पास पुलिस के एक दस्ते ने इन्हें रोका । सबने अपने को अलग-अलग मुसाफिर बताया । इन्स्पेक्टर ने जाँच करने के लिए एक व्यक्ति के मुँह पर जोरदार थप्पड़ मारा । सब खून का- सा घूँट पीकर रह गये पर गाँधिसिंह कतर भन्न से न रहा गया । उन्होंने उस इन्स्पेक्टर को गोली मार दी । पुलिस में भगदड़ मच गई । दोनों ओर से मोर्चे बाँधकर गोलियाँ चलने लगीं । कई साथी बचकर निकल गये । पुलिस को सहायता मिल गई । सात क्रान्तिकारी बन्दी बना लिए गये । पण्डित जी उनमें से एक थे ।

पण्डित जी सफलता में न तो हर्ष से पागल हो जाते थे और न असफल होने पर सिर धुनने लगते थे । यह धैर्य ही उन्हें इतना बड़ा विद्रोह संचालित करने के लिए तैयार कर सका था । जब वे गिरफ्तार हो गये तो उनके मन में न कोई निराशा उत्पन्न हुई न चेहरे पर उदासी झलकी ।

न्याय और वह भी क्रान्तिकारियों के साथ बरता जाय यह तो अंग्रेजी शासन की नीति ही नहीं थी । फिर विश्व युद्ध का समय था । न्याय के नाम पर आतंक जमाने की नीति चल रही थी । विद्रोहियों को कड़ी से कड़ी सजा देकर देश प्रेम की भावना के दबा देने के उद्देश्य से इन सातों व्यक्तियों को फाँसी की सजा दी गई ।

सातों अभियुक्तों को सम्राट के विरुद्ध बगावत का अपराधी सिद्ध किया गया । फैसले में पण्डित जी को इस दल का नेता माना गया । इनकी सारी सम्पदा जो लगभग चालीस हजार थी, कुर्क कराने का आदेश दे दिया ।

सब कुछ दाँव पर लगाकर भी निराश नहीं होने वाले पण्डित जी ने यह फैसला बड़े धीरज से सुना । उन्होंने कहा- "मुझे प्रसन्नता है कि अधिक देश सेवा करने का अवसर न सही पर मातृभूमि पर प्राण न्योछावर करने का

सौभाग्य तो मिल ही गया । " उन्हें फैसले को सुनकर शान्ति मिली । उन्होंने सजा को सहज रूप में स्वीकार किया ।

एक देशभक्त के लिए इससे बड़ा सौभाग्य और हो भी क्या सकता था ? इतना साहस नहीं होता तो वे इस क्षेत्र में उतर ही कैसे सकते थे ? आदर्शवादिता भौतिक दृष्टिकोण से तो घाटे का सौदा ही है । यह जानते हुए भी इस पथ पर चलने वाले चलते हैं तथा भौतिक उपलब्धियों के पीछे भागने वालों की अपेक्षा घाटे में नहीं रहते । इन्हें आत्म सन्तोष का सुख मिलता है तथा जो अपना दृष्टिकोण संकुचित रखते हैं उन्हें जीवन भर इस सच्चे सुख से वंचित रहना पड़ता है तथा उनकी आत्मा सदा उन्हें प्रताड़ित करती रहती है ।

पण्डित जी अपने कार्यों से इतिहास में अमर हो गये । यदि वे जीवन में आदर्शवादिता की ओर उन्मुख नहीं होते तो आज उन्हें कोई जानता तक नहीं । ऐसे कई व्यक्ति जन्मे व मर गये, जिन्हें किसी ने याद नहीं किया, उनके जीवनवृत्त से किसी के मन में, आत्मा में मानवता की सेवा, राष्ट्र देवता की उपासना की ललक उत्पन्न नहीं हुई । मनुष्य जीवन पाकर भी वे उसे सार्थक नहीं कर सके थे । ऐसी भूल विवेकशील पण्डित जी कैसे कर सकते थे । उन्होंने जिन हाथों से उपार्जन किया उन्हीं से उसका सदुपयोग भी किया ।

ऐसे ही कुशल शिल्पियों ने राष्ट्र मन्दिर के भव्य भवन का निर्माण किया, उसमें राष्ट्र देवता की मूर्ति स्थापित की, उसमें प्राण भरे, जो सदा सर्वदा छोटे-छोटे मनुष्यों को महान देश भक्त बनने की प्रेरणा, प्रकाश व साहस देता रहेगा ।

अमर शहीद-पिंगले

फौसी देने के पूर्व सजा पाने वाले से पूछा गया- 'आपकी अन्तिम इच्छा क्या है ? आप कहीं तो उसे पूरी की जा सकती है ।'

मृत्यु के अतिथि ने इस प्रकार हँसकर कहा जैसे फौसी न दी जा रही हो खेल के मैदान में उतर रहे हों- "जंजीर खुलवा दीजिए ताकि दो मिनट ईश्वर का स्मरण कर सकूँ ।"

जंजीरें खुलवा दी गई । उसने बड़ी शान्ति से ईश्वर का स्मरण किया । फिर बिना किसी रंजो-मलाल के स्वयं फौसी के तख्ते पर चढ़ गया और फन्दा गले में पहन लिया । जैसे एक सफर समाप्त कर दूसरे की तैयारी की जा रही हो, इसी निर्विकार भाव से वह मौत की माला पहन चुका था ।

यह फौसी का फन्दा हँसते-हँसते गले में पहनने वाले और कोई नहीं अमर शहीद विष्णु गणेश पिंगले थे, जिन्हें भारतीय जीवन दर्शन में वर्णित आत्मा की अमरता पर पूर्ण विश्वास था । तभी उन्होंने जीवन और मृत्यु दोनों को एक-दूसरे का पूरक माना ।

इनका जन्म पूना के एक पहाड़ी ग्राम में हुआ था । बचपन से ही ये स्वाभिमान तथा निडर थे । सब बालक जब खेलकूद में मग्न रहते थे । ये अकेले में बैठे चिन्तन किया करते थे । इन्हें अपने विचारों पर दृढ़तापूर्वक चलने की आदत उसी समय से थी ।

पढ़ने के साथ-साथ इन्हें अपने देश के सम्बन्ध में ज्यों-ज्यों ज्ञान प्राप्त होने लगा इनके रक्त में उबाल आने लगा । अपनी मातृभूमि को इस दासता से छुड़ाने के लिए वे अपने मन ही मन चिन्तन किया करते थे ।

अध्ययन काल में ही उन्होंने अन्य देशों के स्वाधीनता संग्राम के इतिहास का अध्ययन किया । उन्होंने इस साहित्य के माध्यम से यह निष्कर्ष निकाला कि भारत को आजाद करने के लिए सशस्त्र क्रान्ति अनिवार्य है ।

भारतीय धर्मग्रन्थों में गीता उन्हें बड़ी प्रिय थी । गीता ने ही उन्हें निष्काम कर्म की ओर उन्मुख किया । आत्मा के सम्बन्ध में उनको गीता के माध्यम से जो ज्ञान मिला उससे उन्हें बड़ी शक्ति मिली । सुख-दुःख को समान भाव से ग्रहण करते हुए अपना कर्तव्य करते रहने की प्रेरणा मिली । अध्ययन काल में कुछ दिनों तक वे साधु वेश धारण कर देश के कई भागों में घूमे । देशवासियों की दुर्दशा देखकर वे बड़े दुःखी हुए । अपने भाइयों पर जो अत्याचार विदेशियों ने किये थे, उसे सुन-सुनकर उनकी राष्ट्र के प्रति उत्सर्ग करने की भावना और उग्र हो गई ।

अपने साथियों तथा परिचितों से उन्होंने इस कुशासन के विरुद्ध संघर्ष करने की बात कही । उन लोगों ने यह तो स्वीकार किया कि हम जिस स्थिति में हैं वह है तो बुरी पर हम कर भी क्या सकते हैं । वे अपने पारिवारिक तथा व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठने की सोच ही नहीं सकते थे ।

भारत में शिक्षा पूरी कर लेने के बाद इनके घरवालों ने उन्हें इंजीनियरिंग की उच्च शिक्षा पाने के लिए अमेरिका भेजा । वहाँ जाकर भी उन्हें इसी दुर्दशा के दर्शन हुए । गुलाम देश के नागरिक होने के कारण वहाँ भी भारतीयों को सम्मान नहीं मिलता था । वहाँ के भारतवासियों ने 'गदर पार्टी' नामक एक संस्था स्थापित कर रखी थी, जिसका उद्देश्य सशस्त्र क्रान्ति करके भारत को मुक्त कराना था । वहाँ उन्होंने उस पार्टी को और भी शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया ।

हृदय कुण्ड में अग्नि तो देशप्रेम की जल रही थी और स्वयं को इंजीनियर बनाकर उन्हें कौन-सा सुख मिलने वाला था । इस कारण वे इस चक्कर से निकल भागे । वे प्रथम विश्व युद्ध के पहले ही अमेरिका से भारत लौट आए ।

यहाँ आने पर उन्होंने क्रान्ति की तैयारी करनी आरम्भ कर दी । उन्होंने बंगाल तथा पंजाब और महाराष्ट्र के क्रान्तिकारियों से मिलकर अपनी तैयारी अन्दर ही अन्दर करते रहना आरम्भ कर दिया । उपयुक्त अवसर आते ही सभी छावनियों पर कब्जा कर लेने की योजना थी ।

प्रथम महायुद्ध आरम्भ होते ही इन्हें वह अवसर मिल गया। उन्होंने अपने साथियों को सचेत कर दिया। पंजाब में करतार सिंह सरावा, डॉ. माधुर सिंह, बंगाल में रास बिहारी बोस तथा शचीन्द्र नाथ सान्याल इनके साथ मिले हुए ही थे। २१ फरवरी, १९१५ को सभी छावनियों पर अधिकार कर लेने की योजना बना ली गई।

करतारसिंह सरावा के साथ इन्होंने मेरठ, आगरा, कानपुर, इलाहाबाद, बनारस आदि छावनियों का दौरा किया। इनमें से एक साथी कृपालसिंह ने लोभ के वशीभूत होकर इसका भण्डाफोड़ कर दिया। सरकार सचेत हो गई और सर्वत्र गिरफ्तारियाँ आरम्भ कर दी गईं।

पिंगले इस विश्वासघात से कुछ देर के लिए दुःखी अवश्य हुए पर हताश नहीं हुए। उन्होंने अपना कार्यक्रम जारी रखा तथा विद्रोह की तिथि अनिश्चित समय के लिए आगे बढ़ा दी।

उन्होंने एक नए मुसलमान मित्र पर भरोसा किया जिसका परिणाम दुःखदायी हुआ। वे वाराणसी से दस बड़े बम लेकर पुनः मेरठ लौट रहे थे कि उस मित्र ने उन्हें गिरफ्तार करा दिया। उनके सहित जितने भी क्रान्तिकारी गिरफ्तार हुए थे, सभी पर मुकदमा चलाया गया। उनमें से सात को मृत्युदण्ड की सजा दी गई। मृत्युदण्ड की सजा पाने वालों में इनके अतिरिक्त करतारसिंह सरावा, जगतसिंह, हरनामसिंह, सुमेरसिंह, बख्शीसिंह तथा सुरेन्द्रसिंह थे।

पिंगले को इस निर्णय पर कोई दुःख नहीं हुआ वरन् वे तो प्रसन्न थे कि उनका उपयोग देश के हित में हुआ। अपने इस बलिदान को वे निरर्थक नहीं समझते थे। उन्हें विश्वास था कि जिस दिन बलिदानों की यह संख्या पूरी हो जायगी उस दिन यह देश स्वतंत्र हो जायगा।

उनके बलिदानों की जो प्रतिक्रिया पीछे आने वाली पीढ़ी पर होगी उसका सहज अनुमान वे कर चुके थे। जहाँ पर चिंगारी जलती है वहीं वह हवा के झोंके से बढ़कर दावानल बन जाती है। एक दीपक की लौ से अनेकों दीपक जलाकर प्रकाश किया जाता है। उन्होंने अपने बलिदान को ऐसी ही प्रक्रिया माना।

सात नवम्बर का वह दिन आया जब ये सात आजादी के दीवाने फाँसी के फन्दों पर लटकने निकले। उस समय का दृश्य निराशाजनक नहीं था। इनके साथियों ने इन्हें गीत गाकर विदा किया—जैसे स्वतंत्रता को व्याहने बारात चढ़कर जा रही हो।

पिंगले का दैनिक क्रम इस दिन भी नहीं टूटा था। सुबह उठकर व्यायाम-स्नान किया। उसी प्रकार उपासना की।

इस बलिदानी का बलिदान पीछे कई देशभक्तों के लिए प्रेरणा बन गया। दीवानगी की एक ऐसी हवा चली कि लोग अपने स्वार्थों को भुलाकर देश के लिए सर्वस्व समर्पित कर गये।

राजनैतिक क्रान्ति हो जाने के बाद सामाजिक क्रान्ति भी अब ऐसी ही एक अनिवार्यता के रूप में आ उपस्थित हुई है, जो कितने ही ऐसे बलिदानों की माँग कर रही है। आत्मा की अमरता के ऐसे उदाहरण फिर प्रस्तुत करने का समय आ गया है।

अमर शहीद डॉ. मथुरासिंह

भारतीय स्वाधीनता संग्राम को और अधिक तीव्र करने के लिए तथा विदेशी सरकारों एवं जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए देश के कई सपूत उन दिनों बाहरी देशों में जाया करते थे। डॉ. मथुरासिंह भी रूस जाने वाले थे। उन्होंने प्रस्थान किया ही था कि किसी ब्रिटिश गुप्तचर को इसका पता चल गया और उन्हें लाहौर लाया गया। उन दिनों जलियाँवाला बाग हत्याकण्ड के कर्णधार डायर का वहाँ शासन था। दमन, अत्याचार और अन्याय का बोलबाला था इन दिनों। ऐसी दशा में न्याय और रियायत की आशा ही कैसे की जा सकती थी?

डॉ. मथुरासिंह को राजद्रोह के अपराध में फाँसी की सजा सुनाई गई। १७ मार्च, १९१७ को फाँसी होनी थी और उसके एक दिन पूर्व डॉ. मथुरासिंह का छोटा भाई उनके पास आकर बिलख-बिलखकर रोया। डॉक्टर साहब ने उसे धीरज बँधाते हुए कहा—“छिः पगले! रो रहा है। दूसरों के लिए जान देना तो सिक्खों के लिये बहुत पुरानी परिपाटी हो गई है। तुम्हें तो गर्व करना चाहिए कि तुम्हारा भाई अपने देश के लिए अपनी जान न्योछावर कर रहा है।”

इस दृश्य को देखकर जेल अधिकारी भी आश्चर्यचकित रह गये। एक मात्र बड़े भाई का साया सर से उठते देखकर छोटे भाई का दुःखी होना स्वाभाविक था। डायरशाही के पुर्जों ने शायद छोटे भाई के आँसुओं से पसीज कर अपने निर्णय पर पुनर्विचार किया होगा।

एक अधिकारी इस निर्णय पर पहुँचा और बोला—“यदि तुम अपने किए के लिए क्षमा माँग लो और आगे से ऐसी गलती न करने का वचन दो तो सरकार तुम्हारी सजा कम कर सकती है।”

“परन्तु मैंने क्षमा माँगने जैसा काम ही क्या किया है।” डॉक्टर साहब ने कहा।

“तुमने अभी दुनिया में देखा ही क्या है मथुरासिंह! इस अवसर को हाथ से मत खोओ।”

मथुरासिंह इस पर आग बबूला हो उठे और बोले—“मुझे फाँसी हो रही है। तुम समझते हो क्या मैं इससे दुःखी हूँ। नहीं, मुझे तो बड़ी खुशी और गर्व है कि मैंने विप्लव को सफल बनाने के लिए मुझसे जो कुछ हो सका है, किया है।”

और इस दृढ़ निश्चयी शूरमा ने बड़ी शान के साथ अगले दिन फौसी का फन्दा चूम लिया। देश के लिए कई वीरों ने अपनी आत्माहुति दे दी, उन्हीं की श्रेणी में डॉक्टर मथुरासिंह भी अग्रिम पंक्ति में जा बैठे। ३४ वर्ष की अवस्था में उन्होंने जो साहस, लगन और देश प्रेम का परिचय दिया वह अन्यत्र कहीं मिलना दुर्लभ है।

डॉक्टर मथुरा सिंह का जन्म झेलम जिले के दुटियाला गाँव में सन् १८८३ में हुआ। परिवार की स्थिति बहुत सामान्य थी। उन्हें कठिन से कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा परन्तु मजाल कि चेहरे पर थोड़ी-सी शिकन भी आ जाये। गरीब और विपन्न परिवारों में ही अक्सर विभूतियाँ पलती हैं। सामान्य रूप से विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति में कई प्रकार की कठिनाइयों और अवरोधों का सामना करना पड़ सकता है। जिन्हें सहते हुए उनकी उपेक्षा कर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने का प्रशिक्षण ऐसे ही परिवारों में मिलना संभव है।

उनकी प्रारंभिक शिक्षा गाँव में हुई। परिवार ने उनके विकास हेतु बाद में शहर भेजा परन्तु हाईस्कूल तक ही वे पढ़ पाये। डॉक्टर मथुरासिंह को चिकित्सा विज्ञान में असाधारण लगाव था। परिवार की स्थिति ऐसी नहीं थी कि उन्हें डॉक्टरी पढ़ा सके। हाईस्कूल भी वे बड़ी मुश्किल से कर पाये थे। परन्तु लगन और श्रम के आगे दैन्य और दरिद्रता क्या अवरोध पैदा कर सकते हैं। डॉक्टर मथुरासिंह ने नौशेरा छावनी में नौकरी कर ली और चिकित्सा विज्ञान का स्वयं ही अध्ययन करने लगे। इस विषय में उन्होंने कई डॉक्टरों का भी सहयोग लिया।

मधुर, नम्र और शिष्ट व्यवहार से किसी को भी अपने वश में किया जा सकता है। दूसरों को सम्मान देने का स्वभाव हर किसी का सहयोग उपलब्ध करा सकता है। ऐसे कई डॉक्टर जो अपने कार्य में तो अति कुशल थे परन्तु दूसरों को सहयोग देने के लिए कभी तैयार नहीं हुए, डॉक्टर साहब ने अपनी नम्रता और सेवा भाव की चातुरी से उनका अनुग्रह भी प्राप्त किया।

स्वाध्याय और सहयोग के बल पर उन्होंने अपने कार्य में बड़ी दक्षता प्राप्त कर ली, परन्तु उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। कहते हैं उस समय उनके क्षेत्र में जितने भी कुशल डॉक्टर थे उनका सहयोग मथुरासिंह ने प्राप्त कर लिया था। अब वे चिकित्सा विज्ञान के उच्च अध्ययन हेतु विदेश जाने की तैयारी करने लगे। कुछ ही दिनों बाद वे अमेरिका रवाना भी हो गये।

उनकी यह यात्रा भी बड़ी आकस्मिक रही। वे संयोग से सभी प्रकार के पारिवारिक उत्तरदायित्वों से मुक्त हो चुके थे। पत्नी और पुत्री का आकस्मिक निधन उन्हें कुछ समय को व्यथित अवश्य कर गया,

परन्तु मनस्वी मथुरासिंह ने तुरन्त ही अपनी मनोदशा सुधार ली। इस वेदना को परमात्मा का मंगल विधान समझ कर वे सह गये। अमेरिका जाते वक्त रास्ते में ही अर्थाभाव के कारण उन्हें चीन के शंघाई शहर में उतर जाना पड़ा। वहाँ वे चिकित्सा कार्य करने लगे। उस समय वहाँ चिकित्सकों की बड़ी कमी थी। डॉक्टर साहब ने काफी पैसा कमाया।

कुछ पैसा इकट्ठा हुआ तो वे अमेरिका की बजाय कनाडा के लिए रवाना हुए। कुछ कारणों से उन्हें शीघ्र ही वापस लौटना पड़ा। उस समय कनाडा के एक बन्दरगाह से 'कामा गाटा मारू' नामक जहाज भारत रवाना हो रहा था। उस जहाज में अस्त्र-शस्त्रों से लैस, उत्साही और साहसी क्रान्तिकारी भरे हुए थे। उसी में डॉक्टर साहब भी चढ़ गये। क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में आकर उन्होंने भी देश सेवा का संकल्प ले लिया। भारत वापस आने पर वे कलकत्ता से अमृतसर आये। तत्कालीन राजनैतिक वातावरण का अध्ययन कर वे बड़े क्षुब्ध हुए और शस्त्र क्रान्तिकारियों को संगठनबद्ध करने का कार्य करने लगे। उनके दल में अमेरिका से वापस लौटे भारतीय भी आकर शामिल होने लगे। संगठन दिनों दिन सुदृढ़ होता गया।

धीरे-धीरे देश भर में इस क्रान्तिकारी संस्था के सदस्य फैल गये और गुप्त रूप से सभी स्थानों पर एक ही दिन इन्क्लाब छेड़ देने का निश्चय कर लिया। पुलिस को इस संगठन की बू पहले ही लग गई थी। वह इस संगठन की गतिविधियों और सदस्यों का पता चलाने का प्रयास जी जान से कर रही थी। डॉ. मथुरासिंह के संगठन के कुछ सदस्य पुलिस से मिल गये। पुलिस सूचना पाकर सदस्यों की धर-पकड़ करने लगी। एक क्रान्ति होने से पहले ही विफल हो गयी। डॉ. मथुरासिंह तो पुलिस की आँखों में धूल झोंक काबुल पहुँच गये। उन दिनों वहाँ राजा महेन्द्र प्रताप ने भारत की अस्थायी सरकार घोषित कर रखी थी। डॉक्टर साहब उनसे जाकर मिले।

राजा महेन्द्रप्रताप ने उन्हें रुस जाने की सलाह दी परन्तु दुर्भाग्य से वे रास्ते में ही पकड़े गये।

अमर शहीद—शिवराम राजगुरु

स्वातंत्र्य-यज्ञ में अपना सर्वस्व तन, मन, धन व प्राण आहुत करने वाले नर पुंगवों में अमर शहीद राजगुरु का नाम अग्रिम पंक्ति में आता है। सरदार भगतसिंह और सुखदेव के साथ हैसते-हैसते फौसी के फन्दे को चूमने का गौरव उन्हें भी मिला था। इन तीनों देशभक्तों के प्रति

भारतीय जनमानस में जो श्रद्धा व सम्मान की भावना थी उसे देखते हुए भावी जनाक्रोश की फुफकारती, उफनती वेगवान सरिता की कल्पना से ही अंग्रेज अधिकारी सशंक हो उठे तथा उन्हें निर्धारित समय से बारह घण्टे पूर्व ही फौसी दे दी, जबकि ब्रिटिश शासन में चोर, डाकू व हत्यारों को भी रात्रि के समय फौसी नहीं दी जाती थी । किन्तु इन्हें रात्रि में ही फौसी दी गई ।

राजगुरु ने अपने यौवन के शुभारम्भ के साथ ही इस पथ पर अपने पग बढ़ा दिये थे । पराधीन, पददलित व अपमानित रहने की अपेक्षा उन्होंने अन्याय से संघर्ष करना ही अभीष्ट समझा । उन्होंने अपने जीवन का एक ही ध्येय बना लिया । वह ध्येय था भारत माता को परतन्त्रता की कारा से मुक्ति दिलाना और अपने आपको इस प्रयोजन में बलिदान कर देना ।

तत्कालीन क्रान्तिकारियों के दल में राजगुरु की तरह ही अनेकानेक युवक भिन्न-भिन्न सरिताओं के सागर में आ मिलने की तरह ही आ जुटे थे । भावनाएँ सबकी देश के लिए प्राणार्पण की थीं । किन्तु योग्यताएँ व क्षमताएँ तो एक-सी नहीं थीं । दलनायक चन्द्रशेखर आजाद थे । वे किसी भी क्रान्तिकारी को अपने काम कराने के लिए कहने से पहले उसकी योग्यता-क्षमता को भी देखते थे । यहीं राजगुरु भगतसिंह से पिछड़ जाते थे । भगतसिंह उनसे हर दृष्टि में बीस थे किन्तु राजगुरु की निष्कपट व बलिदान की उत्कट कामना को यह सद्म नहीं हो पाता था ।

साइमन कमीशन के आगमन पर लाहौर में लाला लाजपत राय के नेतृत्व में जनता ने उसका विरोध किया । शासन की तरफ से विरोध प्रदर्शन के अवसर पर निहत्थी जनता पर लाठियाँ बरसाई गईं । इस नृशंस लाठी वर्षा में लाला लाजपत राय लाठियों की मार सहते-सहते गिर पड़े । वे इतनी बुरी तरह पीटे गये थे कि उनका प्राणान्त हो गया । शान्तिवादी तो इस क्रूरता को चुपचाप सह गये किन्तु क्रान्तिकारियों के लिए यह असह्य था । उन्होंने उसका बदला लेने का निश्चय किया । यह निश्चय पुलिस अधिकारी सांडर्स का वध करना था । इसको क्रियान्वित करने के लिए भगतसिंह को चुना गया ।

राजगुरु भी इस 'एक्शन' के समय उनके साथ थे । निश्चित समय पर भी पंजाब केसरी लाला लाजपत राय की हत्या का कारण वह पुलिस अधिकारी पुलिस स्टेशन से बाहर नहीं निकला तो राजगुरु अधिक प्रतीक्षा नहीं कर सके । वे दलनायक आजाद से बोले- "अन्दर जाकर ही मार आऊँ" आजाद को उनकी यह अधीरता बहुत अखरी । यह अधीरता राजगुरु के उत्कट देशप्रेम व निर्भयता की प्रतीक थी । महान उद्देश्य के साथ बँधकर सामान्य व्यक्ति भी कितना निर्भय और साहसी हो सकता है इसका यह ज्वलंत उदाहरण है ।

सांडर्स वध के समय भी राजगुरु पहले वार करने से नहीं चूके । भगतसिंह वार करें इससे पहले ही उन्होंने मोटरसाइकिल पर चढ़ने को उद्यत सांडर्स को अपनी गोली का निशाना बना दिया । गोली उसकी कनपटी पर लगी । सत्कार्यों में भी स्पर्धा हो सकती है । राजगुरु भगतसिंह से स्पर्धा ही करते थे ।

अपनी इस स्पर्धा के कारण उन्हें बार-बार आजाद की डाँट सहनी पड़ी थी व अपने साथियों के सामने लज्जित होना पड़ता था । किन्तु उन्होंने कभी अपना अपमान नहीं समझा । उन्हें तो बस यही दुःख होता था कि उन्हें देश के लिए कुछ करने का अवसर क्यों नहीं दिया जाता ।

उनकी यह स्पर्धा केवल आवेश नहीं थी । वे क्रान्तिकारी बनने के पहले अपने आप को भावी परिस्थितियों में दृढ़ रहने के लिए शरीर, मन व आत्मा से तैयार कर चुके थे । एक समय की बात है उन्होंने भोजन बनाते समय चूल्हे में सड़ासी का मुँह रख दिया । जब वह तपकर लाल हो गई तो उसे पकड़ कर अपने सीने पर दागने लगे । गर्म लोहे से दागे जाने की शारीरिक यंत्रणा को बिना आह किये सह रहे थे । दो बार वे ऐसा कर चुके थे तीसरी बार साथियों का ध्यान उनकी ओर गया तो उन्हें रोका और पूछा गया- "यह क्या कर रहे हो ?" "कुछ नहीं, देख रहा था कि शारीरिक यंत्रणाएँ क्या मुझे इस पथ पर आने वाली किसी भी स्थिति में विचलित तो नहीं कर देंगी ।" यह उनका सीधा-सा उत्तर था ।

संसद में बम फेंकने की योजना बनी तो भगतसिंह के साथ उन्हें भेजने की बजाय बटुकेश्वर दत्त को भेजने का निर्णय किया गया । राजगुरु इस निश्चय पर चोट खाये सौंप की तरह फुफकार उठे । अपनी देशभक्ति व अपनी समर्पण भावना पर एक चोट समझकर उन्होंने खूब प्रतिवाद किया । इस निश्चय में केवल आजाद ही परिवर्तन कर सकते थे । वे कोटला मैदान में हुई गुप्त मंत्रणा के पश्चात् झाँसी के लिए प्रस्थान कर चुके थे । राजगुरु को उसके लिए आजाद के पास झाँसी जाना पड़ा किन्तु आजाद ने उनकी बात नहीं मानी । यही नहीं उन्हें झिड़कियाँ भी सहनी पड़ीं । उनका उनके सरल-निश्छल चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा । उन्हें तो यही मलाल था कि उन्हें क्यों नहीं अवसर दिया जाता सरफरोशी का ।

महाराष्ट्र के एक निर्धन परिवार में जन्मे शिवराम राजगुरु का यह अनोखा व्यक्तित्व यह बताता है कि युग की पुकार सुनकर अपने आपको किसी प्रयोजन विशेष के लिए समर्पित कर देने की स्वाभाविक अन्तःप्रेरणा को दबाया न जाय तो हर स्थिति का, हर वर्ग का व्यक्ति श्रेष्ठ पथ का पथिक बन कर गौरवान्वित हो सकता है ।

संसद में बम विस्फोट के पश्चात् भगतसिंह व बटुकेश्वर दत्त स्वेच्छा से बन्दी हो गये क्योंकि उन्हें बताया था कि क्रान्तिकारियों का दल जो क्रियाकलाप करता है उसके पीछे उनका उद्देश्य क्या है ? इनके पकड़े जाने के बाद गिरफ्तारियों का ताँता लग गया । पुलिस चाक चौकन्द हो गई । सुखदेव, जयगोपाल, किशोरीलाल, हंसराज, शिववर्मा आदि क्रान्तिकारी पकड़े गये । बाद में राजगुरु भी घूना में पकड़ लिए गये । उन पर लाहौर षडयंत्र केस चलाया गया । इस केस में सुखदेव, भगतसिंह व राजगुरु को फाँसी की सजा दी जाने का फैसला कर दिया गया । अन्य कई क्रान्तिकारियों को आजन्म काले पानी की सजा दी गई थी ।

न्यायालय में ७ अक्टूबर, १९३० के दिन जब यह फैसला हुआ तो न्यायाधीश ने अभियुक्तों की उपस्थिति को ठीक नहीं समझा क्योंकि एक साथ इतने लोगों को फाँसी व आजन्म कारावास की सजा सुनाने की जनता पर प्रतिक्रिया हो सकती थी । अतः उन्हें पृथक्-पृथक् बुलाकर फैसला सुनाया गया ।

फैसला सुनने के लिए सर्वप्रथम राजगुरु को ही बुलाया गया । मातृभूमि के लिए प्राण दण्ड पाने वालों में वह भगतसिंह के पीछे नहीं रहे थे । यह जानकर उनके हर्ष का पारावार नहीं रहा । न्यायालय में ही उन्होंने 'इन्कलाब जिन्दाबाद' का नारा पुरजोर आवाज में बुलन्द किया । इससे जज ने क्रुद्ध हो उन्हें चुप रहने का आदेश दिया । तो वे दुगने जोर से नारा बुलन्द करने लगे । पुलिस बड़ी कठिनाई से उन्हें फाँसी की कोठरी तक ले जा सकी । उनकी उत्कट अभिलाषा पूर्ण हो गई । वे फाँसी के फन्दे को चूमकर अमर हो गये । वे धन्य हैं जो इस निर्भयता, निश्छल व प्रखरता से दीप्त जीवन जीते हैं और मर कर भी अमर बनकर पीछे वालों को मनुष्य जीवन सफल कर जाने का पथ दर्शा जाते हैं ।

देश प्रेम और धर्म निष्ठा के अनूठे प्रतीक—

अशफाक उल्ला

“तुम्हारी इस प्रकार की प्रवृत्तियों को देखकर बहुतों को संदेह होता है कि कहीं तुम इस्लाम त्याग कर शुद्धि न करा लो, पर तुम्हारा हृदय किसी प्रकार अशुद्ध नहीं था फिर तुम शुद्धि किसकी कराते ? तुम्हारी इस प्रकार की प्रगति ने मेरे हृदय पर पूर्ण विजय पाली । बहुधा मित्र मण्डली में बात छिड़ती कि कहीं मुसलमान पर विश्वास करके धोखा न खा जाना ।”

“तुम्हारी जीत हुई मुझमें—तुममें कोई भेद नहीं रह गया । बहुधा मैंने तुमने एक थाली में भोजन किया । मेरे हृदय से यह विचार ही जाता रहा कि हिन्दू-मुसलमान में कोई भेद है।” ये हृदयोदगार हैं प्रसिद्ध क्रान्तिकारी पं. रामप्रसाद बिस्मिल के, जो उन्होंने गोंडा जेल के फाँसी घर में बैठ कर लिखे थे अपने निकट सहयोगी क्रान्तिवीर अशफाक उल्ला के सम्बन्ध में ।

पं. रामप्रसाद बिस्मिल जब क्रान्तिकारी आन्दोलन को गतिशील बनाने के लिये युवकों में देशभक्ति की भावना जगाने और समझ में आ जाये तो उनसे सहयोग लेने के उद्देश्य से शाहजहाँपुर आये तो एक मुसलमान युवक उनसे भेंट करने को बड़ा उत्सुक जान पड़ा । यह युवक और कोई नहीं अशफाक उल्ला ही थे जिनके हृदय में देश प्रेम की आग पहले से ही धधक रही थी । पं. रामप्रसाद बिस्मिल को भी ऐसे ही युवकों की खोज थी और अशफाक उल्ला को भी ऐसे ही मार्गदर्शक की । समय की पुकार की प्रतिध्वनियाँ एक ही व्यक्ति के हृदय में गूँजती हों सो बात नहीं है । जाग्रत अन्तःकरण में तो वह अपने आप ही प्रतिध्वनित होती रहती हैं ।

पं. रामप्रसाद बिस्मिल ने उनकी बातों का उत्तर उपेक्षापूर्वक दिया । इससे अशफाक उल्ला को बड़ा दुःख हुआ । पं. रामप्रसाद 'बिस्मिल' कट्टर आर्यसमाजी थे वे मुसलमानों का शुद्धिकरण किया करते थे । आर्य समाज मन्दिर उनका निवास हुआ करता था और अशफाक उल्ला एक कट्टर मुसलमान परिवार के सदस्य थे । इसी कारण उन्होंने अशफाक की उपेक्षा की थी, पर वह भी निराश होने वाले युवक नहीं थे । उन्होंने अपने आचरण और व्यवहार द्वारा यह प्रमाणित कर दिया कि मजहब आदमी-आदमी के बीच दीवार नहीं बन सकता ।

कट्टर आर्य समाजी और कट्टर मुसलमान युवक का यह असम्भव दिखने वाला मेल सम्भव हुआ । 'बिस्मिल' उनसे अपने छोटे भाई की तरह स्नेह रखने लगे । अशफाक बिना किसी संकोच और दुराग्रह के उनसे मिलने के लिए आर्य समाज मन्दिर जाया करते थे । घण्टों वहाँ रहा करते थे । इनके लिए हिन्दू और मुसलमान होने का अर्थ मात्र उपासनादिक विधियों में थोड़ा अन्तर मात्र था । यह व्यक्तिगत आस्था देश और समाज की एक एकाई होने के नाते पारस्परिक विभेद का कारण बनना ही नहीं चाहिए

शाहजहाँपुर में जब भी हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुये अशफाक ने इन दंगों को रोकने में सफलता प्राप्त की । पं. रामप्रसाद 'बिस्मिल' ने हिन्दू परिवारों में से कुछ ऐसे सुलझे हुए विचारों के युवकों का दल संगठित किया जिसका काम ऐसे दंगों को रोकना था । अशफाक ने वैसे

ही कुछ मुस्लिम युवकों का दल संगठित किया। इन दोनों टोलियों ने समय-समय पर उठ खड़े होने वाले दंगों की चिंगारी को भयंकर आग बनने से पहले ही बुझा दिया। हर नगर और गाँव में यदि ऐसे अशफाक पैदा हो जायें तो मजहबी झगड़े देखने को भी नहीं मिलें।

अशफाक को अपनी उस मातृभूमि से बेइन्तिहाँ मुहब्बत थी जिसके हवा, पानी और मिट्टी से उनकी बलिष्ठ और सुदृढ़ काया और फौलादी मन का निर्माण हुआ था। वे अपनी इस स्वर्गादपि गरीयसी मातृभूमि को पराधीन कैसे देख सकते थे? अशफाक ने बुजदिल होकर जीना नहीं सीखा था। उन्हीं के शब्दों में-

बुजदिलों ही को सदा मौत से डरते देखा।
गो कि सौ बार उन्हें रोज ही मरते देखा ॥
मौत से वीर को हमने नहीं डरते देखा।
मौत को जब एक बार आना है तो डरना क्या है?
हम सदा खेल ही समझा किए, मरना क्या है?
वतन हमेशा रहे शादकाम और आजाद ॥
हमारा क्या है अगर हम रहें या न रहें ॥

जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है। जो अशफाक की तरह जिन्दगी का यह अर्थ समझ लेते हैं उन्हें व्यक्तिगत शौक-मौज और खाने-पहनने की छोटी-छोटी एषणाएँ बाँधे नहीं रख सकतीं। वे समय की पुकार पर तन, मन, धन न्योछावर कर देते हैं।

भारतीय क्रान्तिकारियों में अशफाक न होते तो पिछली पीढ़ियाँ एक बहुत बड़ी प्रेरणा से वंचित रह जातीं। किस प्रकार एक युवक जाति व धर्म की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर देश के लिए बलिदान हो सकता है। ऐसा एक अकेला उदाहरण है। अशफाक उल्ला का भारतीय क्रान्तिकारियों में। मातृभूमि के प्रति निष्ठा और भक्ति का जो चरमोत्कर्ष उनके व्यक्तित्व और कृतित्व में देखने को मिलता है वह स्पृहणीय एवं अनुकरणीय ही नहीं वन्दनीय भी है।

उन्हीं की एक हिन्दी कविता की कुछ पंक्तियाँ हैं-

हे मातृभूमि तेरी सेवा किया करूँगा।
फाँसी मिले मुझे या हो जन्म कैद मेरी।
बीणा बजा-बजा कर तेरा भजन करूँगा ॥

उत्सर्ग की इस भावना का एक कण भी आज का भारतीय नवयुवक अपने हृदय में रख सके तो हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ, समस्याएँ न रहकर खेल बन जायें।

अशफाक उल्ला को काकोरी षड्यंत्र के अभियुक्त के रूप में फाँसी की सजा मिली थी। न्यायाधीश ने जब उन्हें फाँसी की सजा सुनाई तो उनका सीना गर्व से फूल गया। उनकी यह हसरत पूरी हो गई कि उन्हें जिन्दादिलों की तरह शानदार मौत मिले। जो पैदा हुआ है उसका मरना तो सुनिश्चित है पर अशफाक ने जैसी मौत पाई थी वह

उनके साधियों के लिए ईर्ष्या और भावी पीढ़ियों के लिए प्रेरणा का विषय थी।

१९ दिसम्बर, १९२७ को फैजाबाद जेल में कुरान शरीफ का बस्ता कंधे पर लटकाये हुए 'लवेक' कहते और कलमा पढ़ते हुए अशफाक उल्ला मुस्कराते हुए फाँसी के तख्ते के पास पहुँचे व उसका चुम्बन लिया और उपस्थित जन-समुदाय को सम्बोधित करते हुए बोले- "मेरे हाथ इन्सानी खून से नहीं रंगे। मेरे ऊपर जो इल्जाम लगाया गया, वह गलत है। खुदा के यहाँ मेरा इन्साफ होगा।" और वे फाँसी के फन्दे पर झूल गये। आस्तिकता और राष्ट्र-प्रेम के ऐसे उदाहरण बहुत कम देखने को मिलते हैं। देश-भक्ति और ईश्वर विश्वास के सहारे आदमी कितना अभय प्राप्त कर सकता है, यह अशफाक की शहादत में स्पष्ट देखा जा सकता है।

उनके भाई-बन्धुओं के आग्रह पर उनका शव शाहजहाँपुर लाया गया, मार्ग में लखनऊ स्टेशन पर उनके अन्तिम दर्शन के लिए लोग उमड़ पड़े थे। जिन थोड़े से लोगों को उनके अन्तिम दर्शन मिले वे मृत्यु के दस घण्टे बाद भी उनके मुख-मण्डल पर विराजती शान्ति और माधुर्य को देख विस्मित रह गये। जैसे खेल-खेल में ही सो गया हो कोई जीवन क्रीड़ा का खिलाड़ी।

काकोरी रेल डकैती के अवसर पर अशफाक उल्ला की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण रही थी, यद्यपि उन्होंने सरकारी खजाने की डकैती का विरोध किया था। इसमें पकड़े जाने का भय अधिक था। क्रान्तिकारी कोई डाकू तो थे नहीं। उन्हें अपनी क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिए धन चाहिए था जो उनके पास था नहीं और दूसरे लोग उन्हें यों ही देश के नाम पर धन नहीं देते थे। अतः विवश होकर उन्हें यह मार्ग अपनाना पड़ता था।

जब रेल खजाने की डकैती की योजना बनी तो उन्होंने विरोध किया, किन्तु जब उनका विरोध कारगर नहीं हुआ तो वे उसे सफल बनाने में जुट गये। इससे उनकी सामूहिकता की भावना का सहज ही अन्दाज लग जाता है। उन्होंने विरोध किसी भय से नहीं किया था वरन् बुद्धि से किया था और यदि उनकी बात मान ली जाती तो शायद दल के इस प्रकार छिन्न-भिन्न हो जाने का अवसर नहीं आता।

ऐक्शन के समय भी सबसे महत्वपूर्ण काम उनका तब आया जब खजाने की पेटी को तोड़ना था। डकैती में मिले खजाने के सन्दूक को तोड़कर जब धन निकालने की बात आई तो तोड़ने में कोई सफल नहीं हुआ। छोटा-सा सुराख अवश्य हुआ पर उससे रुपया निकालना सम्भव नहीं था, किसी भी तरह। तब अशफाक की बलिष्ठ काया ही काम आई। वे पहले पर खड़े थे। उन्होंने सबको असफल होते देखकर अपनी माँउजर पिस्तौल अपने साथी के हाथ में थमाई और उस सन्दूक पर पिल पड़े। थोड़ी देर में सुराख बड़ा हो गया।

डकैती के बाद भी वे अपने साथियों में सबसे तेज निकले। उन्हें पता था कि सरकार तुरन्त ही पकड़ा-धकड़ी करेगी सो वे घर ही नहीं गये और घर से आधे मील दूर एक गन्ने के खेत में छिप गये। रात को उनका खाना भी वहीं पहुँच जाता था।

जब धड़ाधड़ गिरफ्तारियाँ हुई तो वे बिहार चले गये और वहाँ डाल्टनगंज में दस महीने तक एक सरकारी दफ्तर में काम पर लगे रहे। यह उनकी चतुराई का ही परिणाम था। पर वे वहीं पर रहकर कलम घिसाई में कुछ भी सार नहीं समझते थे और चाहते थे कि किसी छद्म नाम से उच्च शिक्षा ग्रहण करने के बहाने विदेश चले जायें। यही सोचकर वे दिल्ली आये। वहाँ उन्हीं के गाँव व जाति के एक सहपाठी मित्र ने उन्हें पकड़वा दिया।

जेल में भी सरकारी गवाह बन जाने के लिए बहुत समझाया गया। इस काम में माहिर एक मुसलमान उच्चाधिकारी को उन्हें समझाने के लिए भेजा गया। अंग्रेज 'फूट डालो और राज करो' की नीति पर ही तो अपना आसन जमाये हुए थे भारत वर्ष पर। उन्होंने भारतवासियों को कभी भारतवासी की दृष्टि से नहीं सोचने दिया। वरन् वे तो उन्हें हिन्दू, मुसलमान, सिख, हरिजन आदि फिरकों में बाँटकर अपना उल्लू सीधा करते रहे। पर भला अशफाक उल्लू जैसे देशभक्त पर उनकी वह मोहिनी माया कैसे चल सकती थी। अतः उनके प्रयास व्यर्थ ही गये। समझाने वाले सुपरिण्टेण्डेंट पुलिस ने उन्हें बार-बार कहा कि यह सब हिन्दुओं का फसाद है वे यहाँ अपना राज्य जमाना चाहते हैं। मुसलमानों को उनके फेर में नहीं पड़ना चाहिए। इस पर अशफाक झुंझलाकर बोले- "हिन्दू-राज किसी भी तरह ब्रिटिश राज से अच्छा ही होगा हमारे लिए।"

अशफाक उल्लू का जन्म शाहजहाँपुर के एक प्रसिद्ध पठान परिवार में हुआ था। उनके बड़े भाई भोपाल राज्य में किसी उच्च पद पर नियुक्त थे। उनके पास एक लाइसेंसशुदा बन्दूक भी थी। अशफाक ने इसी से निशानेबाजी सीखी थी जो बाद में बहुत काम आयी। साथ ही उन्हें कन्धे पर बन्दूक रखने की आदत भी थी। जब कभी क्रान्तिकारी कामों के लिए छिपाकर बन्दूक ले जानी होती तो अशफाक उसे खुले रूप में कन्धे पर लेकर चल पड़ते और पीछे-पीछे उनके साथी। दिखने में भी उनका गोरा चिट्ठा कहावर शरीर किसी कुँवर साहब या नबाब जैसा था। किसी के शक की गुंजायश ही नहीं रहती थी ऐसे व्यक्ति पर।

हाईस्कूल तक पढ़ाई करने के बाद वे क्रान्तिकारी आन्दोलन में लगे तो फिर आगे पढ़ाई हो ही नहीं सकी। घर वालों ने, माता पिता व भाइयों ने बहुत समझाया, मना किया पर वे अपने निश्चय पर अटल रहे। इस निश्चय पर वे अन्त तक अटल ही रहे। किसी

प्रकार का लोभ उन्हें अपने पथ से विचलित नहीं कर पाया और न फाँसी का फन्दा ही।

अशफाक ने संयम सदाचार और उचित आहार-विहार के द्वारा शरीर साधना भी की थी तो शुभ विचारों से अपने मन और आत्मा को भी परिपुष्ट किया था। जेल में बिना नागा कुरान शरीफ का पाठ करते, नमाज पढ़ते और रमजान में रोजे रखते। धर्म निष्ठा और देश-प्रेम उनकी आत्म-शक्ति के अजस्र स्रोत थे, जिसके बल पर वे फाँसी के फन्दे को गले में डालते हुये भी मुस्करा सकते थे। राष्ट्रीय एकता और बलिदान की जो अनुठी मिसाल शहीद अशफाक ने कायम की है वह आज के नवयुवकों को आर्थिक, सामाजिक और नैतिक क्रान्ति के लिए बल प्रदान करती रहेगी।

अनूठे देश प्रेमी क्रान्तिकारी—

बन्तासिंह

सन् १९२९ में पंजाब के होशियारपुर जिले में मलड़ी गाँव का युवक— बन्तासिंह नौकरी की तलाश में अमृतसर आया। टहलसिंह पीतम नामक एक सरदार जी के मोटर के कारखाने में उसे नौकरी मिल गई। वह वहाँ मोटर मेकेनिक और ड्राइवर का काम सीख कर लॉरी चलाने लगा।

टहलसिंह पीतम खाली मोटर कारखाने के मालिक ही नहीं, भारत को स्वतंत्र कराने के उद्देश्य से गठित की गई नवयुवकों की क्रान्तिकारी संस्था 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट एसोसिएशन' के सदस्य भी थे। उन्होंने इस युवक को केवल मोटर मेकेनिक व ड्राइवर का काम ही नहीं सिखाया वरन् अपने क्रान्तिकारी कामों का राजदार भी बना लिया। फिर तो इस युवक का हृदय आजादी की भावनाओं से कुछ ऐसा परवान चढ़ा कि उसे ज्यादा दिनों तक मोटर लॉरी नहीं चलानी पड़ी और न वह सामान्य मोटर ड्राइवर की गुमनाम जिन्दगी जीकर समाप्त हो गया वरन् वह क्रान्तिकारी आन्दोलन का सेनानी बनकर अपना नाम चिरस्मरणीय बना गया।

इनका आरम्भिक काम पार्टी की मोटर कार से फरार क्रान्तिकारियों को, पार्टी के हथियारों व विस्फोटक पदार्थों को और गोपनीय साहित्य को इधर-उधर पहुँचाना था। १९३० में क्रान्तिकारियों द्वारा दिल्ली में डाली गई राजनैतिक डकैती में इस युवक को भी बन्दी बनाकर लाहौर के किले में भयंकर यातनाएँ दी गईं। कोई कच्चे दिल का होता तो वह जेल से छूटते ही क्रान्ति और देश-प्रेम को सदा के लिए नमस्कार कर गया होता। पर यह युवक जब सबूत के अभाव में लाहौर की कुख्यात जेल से मुक्त किया गया तो वह दुगुने जोश से क्रान्तिकारी गतिविधियों में भाग लेने लगा।

देश प्रेम की आग जो दिल में लगी थी वह बुझाये न बुझी । वे एक वर्ष बाद ही १९३१ में पार्टी के सरकार विरोधी पर्वे बाँटते हुए फिर पकड़ गये । फिर शारीरिक यंत्रणा का भयंकर दौर चला । मारते-मारते उसके केश तक उखाड़ दिये गये पर यह युवक तो जैसे दुःख-सुख की अनुभूतियों से ऊपर उठ गया था किसी पहुँचे हुए योगी की तरह । वह जब अंग्रेजी दासता की चक्की में पिसते अपने देशवासियों के दुःख-दर्द की बात सोचता तो उसे अपने दुख साधारण लगते और वह सह जाता । वस्तुतः वह 'स्व' से 'पर' की ओर चल पड़ा था ।

एक वर्ष तक लाहौर की बोरस्टल जेल में उसका सम्पर्क अपने ही जैसे अन्य देशभक्तों से रहा । इन लोगों को सरकारी प्रेस में काम करना पड़ता था । यहीं एक सिविल और मिलिट्री गजट में यह पढ़ने को मिला— "दक्षिण की जनता शान्तिप्रिय और राजभक्त है ।" यह वाक्य इन लोगों के लिए चुनौती बन गया ।

१९३२ में जब बन्तासिंह एक वर्ष की जेल काटकर बाहर निकले तो उन्हें अपने कई साथी, जिनमें सीतानाथ डे, रोशनलाल मेहरा, गोविन्दराम बहल, छविदत्त वैद्य, शम्भुनाथ पाठक आदि थे, मिल गये । अब उन्होंने इस वाक्य की चुनौती को स्वीकार कर दक्षिण भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन चलाने का निश्चय किया ।

अप्रैल १९३३ तक तीन बार में यह सम्पूर्ण दल दक्षिण भारत पहुँच गया । रामविलास शर्मा नामक एक युवक अभी लाहौर में ही था जिसके पास दक्षिण भारत की क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिए कई हजार रुपया, हथियार व बम आदि थे । दुर्भाग्य से वह ब्रिटिश गुप्तचरों द्वारा पकड़ लिया गया । हिम्मत वाला न होने के कारण वह सरकार का मुखबिर बन गया और उसने सारा भेद खोल दिया । पार्टी को पैसों की कमी व बिखराव का सामना करना पड़ा ।

आर्थिक स्थिति सुधारने की गरज से २८ अप्रैल, १९३३ को बन्तासिंह के नेतृत्व में ऊटी बैंक में डाका डाला गया । यह बड़े दुस्साहस का कार्य था । दिन के बारह बजे मुख्य बाजार में स्थिति ऊटी बैंक के कार्यालय पर डाका डाल सकना बन्तासिंह जैसे साहसी क्रान्तिकारी के लिए ही सम्भव था । बन्तासिंह ने भीड़ से घिरी मोटर टैक्सी को निकाल कर नीलगिरी की पहाड़ियों की ओर निकल भागने में चालन कौशल का जो परिचय दिया वह अनुठा ही था ।

इस एक्शन के बाद ये लोग मीलों पैदल चलकर ईरोड स्टेशन पहुँचे । सी. आई. डी. के लोग सादे वेश में यहीं से इनके पीछे पड़ गये थे । यह भाग-दौड़ खूब चली । बड़ी देर में बन्तासिंह को पुलिस पकड़ने में सफल हुई ।

क्रान्तिकारी जीवन में यह सब होता ही है । ७ जुलाई, १९३३ को उन्हें ३८ वर्ष की सजा सुनाई गई । उन्हें बिल्लारी सेण्ट्रल जेल में भेजा गया । वहाँ उन्हें फाँसी की

कोठरी में रखा गया । वहाँ उनके साथ प्रेम प्रकाश मुनी नामक एक व्यक्ति और था । जेल का अंग्रेज सुपरिण्टेण्डेंट बहुत निर्दयी था । यह दोनों साथी उसे अपनी इस क्रूरता का मजा चखाना चाहते थे ।

जेल में भी यह लोग चुप नहीं बैठे थे । यहीं जेम्स नाम का एक जेल वार्डन था, जिसे इन दोनों ने देशभक्ति की शिक्षा दी और पार्टी के लिए कार्य करने को राजी कर लिया । उसकी सहायता से ये दोनों एक दिन जेल से निकल भागे । यह इनके देश-प्रेम का ही प्रभाव था कि वे जेम्स को अपना सहयोगी बना सके थे । बाद में जब जेम्स पकड़ा गया तो उसने सारा अपराध अपने सिर पर ले लिया । उसे सात वर्ष का कारावास भोगने का दण्ड मिला ।

बन्तासिंह जैसे नवयुवकों की राष्ट्रीय भावना बड़ी उत्कट थी । भगतसिंह व चन्द्रशेखर आजाद इनके आदर्श थे । इनकी वीरता और कष्ट-सहिष्णुता तथा सरफरोशी की तो दाद देनी पड़ेगी । यह भावना हमारे युवाओं को आज भी बहुत कुछ प्रेरणा प्रकाश दे सकती है । किन्तु क्रान्ति का पथ कुछ ऐसा टेढ़ा है कि उस पर हर व्यक्ति नहीं चल सकता था और न हर व्यक्ति उनकी सहायता ही कर सकता था पर अब तक का क्रान्ति का पथ यही था । गाँधी जी का असहयोग आन्दोलन अभी सत्यता की कसौटी पर कसा ही जा रहा था ।

बन्ता सिंह और मुनी फिर गिरफ्तार कर लिए गये । उन्हें अण्डमान जेल भेजा गया । ऊटी बैंक डकैती केस के तीन अभियुक्तों के अतिरिक्त शेष सब यहाँ पहुँच चुके थे । जहाँ चार सौ के लगभग क्रान्तिकारी पहले से सजा काट रहे थे । यहाँ भी ये लोग चुप नहीं बैठे रहे । १९३७ में इन्होंने रिहाई के लिए आमरण अनशन किया । इसकी समाप्ति के बाद उन्हें अन्य थोड़े से बन्दिनों के साथ लाहौर जेल में भेजा गया जहाँ १९३७ में उन्हें मुक्ति मिली ।

१९३९ में टाटानगर के एक कारखाने में श्रमिक हड़ताल के समय वे श्रमिकों का नेतृत्व कर रहे थे । कारखाने के मालिक ने अपने गुण्डों द्वारा उन्हें ट्रक के नीचे कुचलवा कर मार डाला । इस प्रकार एक अन्याय अनीति का विरोधी शहीद हो गया ।

भारत माता के वीर पुजारी—

ज्योतिन्द्र नाथ मुखर्जी

कलकत्ता के गोरा बाजार में एक अंग्रेज अपना डंडा घुमाता हुआ बड़ी मस्ती से चला जा रहा था । जो भी भारतीय, भले ही वह स्त्री हो या पुरुष, वृद्ध हो या बालक, के सिर पर डंडे का प्रहार कर देता । वह कहता जा रहा था— ले पचास, ले इक्यावन पता नहीं वह कहाँ तक पहुँचना चाहता था । घर से निकलने के बाद इक्यावन व्यक्तियों को तो वह डंडा जमा चुका था ।